खण्ड-7
महीप सिंह
रचनावली
संपादक
अनिल कुमार

महीप सिंह रचनावली

(साहित्य)

खण्ड - 7

संपादक
अनिल कुमार

नमन प्रकाशन
नई दिल्ली -110002

समर्पण

दिवंगत अग्रज भजन सिंह की स्मृति में

क्या लिखूँ?

जीवन में बहुत कुछ लिखा। पीछे मुड़कर देखता हूं तो दूर मीलों तक हरे भरे खेत दिखाई देते हैं। लगता है कि उन्हीं में से निकलता हुआ यहां तक पहुँचा है। चारों ओर नजर दौड़ाकर देखता हूं तो लगता है कि अभी भी बहुत हरियाली है जिसमें मैं वर्षो तक विचर सकता हूं, किन्तु कितने वर्षो तक?

जो कुछ भी लिखा, उसके प्रति सार्थकता बोध से प्रेरित होकर लिखा। इसलिए लिखा कि उसके प्रति बड़ी अंतरंगता से यह अनुभव किया कि यह मुझे लिखना चाहिए। ऐसा कुछ नहीं लिखा जो मुझे नहीं लिखना चाहिए था। यह अवश्य है कि ऐसा बहुत कुछ है जो मुझे लिखना चाहिए था, किन्तु नहीं लिख सका। इसकी कसक वर्षो से अंदर ही अंदर मुझे चूहे की भांति कुतरती रही है और आज भी कुतर रही है। उपन्यास लेखन को ही लें। पहला उपन्यास वर्षो तक अंदर पलता रहा। 1974-75 में जापान के एक विश्वविद्यालय में एक रिसर्च प्रोजेक्ट 'समकालीन भारतीय साहित्य में सामाजिक परिवर्तन' पर कार्य कर रहा था। अपने शोध कार्य के साथ-साथ उपन्यास पूरा किया - 'यह भी नहीं'। फिर प्रारम्भ किया, 'अभी शेष है'। प्रारम्भ करने और पूरा करने के मध्य का अंतराल है बीस वर्ष। 'अभी शेष है' की त्रयी के लेखन का दूसरा चरण मंथरगति लिए हुए है।

यह सब कुछ बड़ी खीझ पैदा करता है। नए वर्ष का कैलेण्डर झटपट अपने पन्नों को पलटता हुआ कब दिसम्बर की तारीखों पर आ टिकता है, पता ही नहीं लगता। जीवनावधि का एक और वर्ष देखते देखते समुद्र तट की मुट्ठी भरी बालू की तरह हाथ की उंगलियों में से नीचे झर जाता है।

कहानियां तो ढेर सारी जीं किन्तु लिखीं बहुत कम। पचास वर्ष में सवा सौ के आसपास। वर्ष में तीन का औसत भी नहीं।

दूरदर्शन के लिए कुछ सीरियल लिखे- लोक-लोक की बात, रिश्ते, गदर की गूंज, 'सच तां पर जाणिए' (पंजाबी)। एक निर्माता ने महाराजा रणजीत सिंह पर एक मेगा

सीरियल की योजना सामने रखी। उसका विचार था कि इसे कम से कम 100 कड़ियों का बनाया जाए। ऐसे सीरियल में मेरी रुचि भी बहुत थी। मैंने प्रारम्भिक 10 एपीसोड लिख भी लिए, किन्तु निर्माता के सम्मुख कुछ आर्थिक संकट आ गए। योजना अधर में लटक गई। इसी प्रकार पंजाब सरकार द्वारा गठित आनन्दपुर साहिब फाउण्डेशन ने प्रसिद्ध फिल्मकार और महाभारत जैसे प्रख्यात सीरियल के निर्माता बी. आर. चोपड़ा से सम्पर्क करके सिख इतिहास पर एक धारावाहिक बनाने की योजना बनाई। उसकी पटकथा लिखने का दायित्व मुझे सौंपा गया। उस धारावाहिक की भी मैंने आठ कड़ियां लिख लीं। पंजाब की सरकार बदल गई (2002)। योजना ठप हो गई।

पत्र-पत्रिकाओं के लिए लेख लिखने का कार्य निरन्तर चलता रहा है। पंजाब में 1949-50 से भाषा विवाद उभरना प्रारम्भ हुआ। अविभाजित पंजाब की सरकारी भाषा उर्दू थी। विभाजन के पश्चात यह प्रश्न सामने आया कि उर्दू का स्थान किस भाषा को ग्रहण करना है। पंजाब में पंजाबी भाषा सदा उपेक्षित रही। वहां सभी लोग पंजाबी बोलते अवश्य थे, किन्तु कामकाज और व्यवहार में आते ही रास्ते अलग-अलग हो जाते थे। उन्नीसवीं शती के अंत में आर्य समाज के बढ़ते प्रभाव के कारण संभ्रांत हिन्दू परिवारों में हिन्दी का प्रचलन हुआ। पंजाबी से सिखों का धार्मिक लगाव था। गुरुओं के समय से ही गुरुवाणी गुरुमुखी लिपि में ही लिखी जाती रही है। उनका आग्रह यह था कि पंजाबी धरती की भाषा है और धार्मिक विभिन्नताओं के बावजूद यहां का जन-जन इसी भाषा में बातचीत करता है। इसकी समृद्ध साहित्यिक परम्परा है। सिख गुरुओं के प्रभामंडल के अतिरिक्त मुसलमान सूफी शायरों ने अपनी रचनाओं द्वारा इसमें महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसलिए स्वाभाविक रूप से उसे पंजाब की राजभाषा होने का गौरव मिलना चाहिए।

उस समय मैं कानपुर के डी. ए. वी. कालेज का छात्र था। पंजाब में उभरे भाषा विवाद और उस कारण हिन्दुओं-सिखों में निरन्तर बढ़ती हुई खाई के कारण मैं बहुत उद्विग्न महसूस करता था। मेरी मान्यता थी कि राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी इस सम्पूर्ण देश की भाषा है। यह बहुभाषी देश है और विभिन्न राज्यों की भाषाओं को अपने-अपने क्षेत्र में वही स्थान प्राप्त होना चाहिए जो राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी के लिए अपेक्षित है। पंजाब में पंजाबी को उसका उचित स्थान प्राप्त हो, मैं इस बात का भी पूरा समर्थक था।

1950 में मैंने 'पांचजन्य' साप्ताहिक में पंजाब की भाषा समस्या पर एक लम्बा लेख लिखा जो पांच किस्तों में प्रकाशित हुआ। उसके बाद मैं इस विषय पर निरंतर लिखता रहा। पंजाब में यह मानसिकता बन गई थी कि हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है और पंजाबी सिखों की। मैंने अपने लेखों में सदा ही यह आशंका व्यक्त की थी कि पंजाब का भाषा विवाद दोनों समुदायों के मध्य ऐसी खाई उत्पन्न कर देगा, जिसे पाटना बहुत दूभर हो जाएगा। ऐसा ही हुआ। पंजाब में आंतक की ऐसी भयंकर लहर उठी कि उसने वहां के जनजीवन को पूरी तरह आच्छादित कर लिया। हत्याओं के उस दौर में गहरे पारिवारिक और सामाजिक संबंध दरकने लगे। कुछ वर्षों में प्रदेश जिस दौर से गुजरा उसमें पच्चीस हजार से अधिक लोगों ने अपने प्राण गंवा दिए।

इस दौर में मैंने निरन्तर लिखा— हिन्दी में भी और पंजाबी में भी। सरकार की नीतियों की भी आलोचना की और आतंकवादियों के अमानवीय कार्यों की भी। आंतकवादियों द्वारा संत हरचंद सिंह लोंगोवाल की हत्या के पश्चात, सरकार को मेरी सुरक्षा की चिंता अनुभव हुई। मुझे एक सिक्योरिटी गार्ड दिया गया और मेरे घर पर सिक्योरिटी गारद बिठा दी गई।

मेरा ऐसा लेखन कुछ दशकों में फैला हुआ है। यह मेरे सर्जनात्मक लेखन का भाग नहीं था। यूं कहूं कि यह सब कुछ मैंने अपने सर्जनात्मक लेखन के मूल्य पर लिखा। मुझे इसका अहसास है, किन्तु यह सोचता हूं कि यह लिखना भी मेरा दायित्व था। आन्तरिक रूप से मुझ पर इसका दवाव भी था- मैं न लिखता तो कौन लिखता?

गत कुछ वर्ष से मैं 'दैनिक जागरण' के लिए प्रति गुरुवार को एक स्तम्भ लिखता हूं। दलित समस्याओं पर, पाकिस्तान पर, इस्लामी आंतकवाद पर, धार्मिक कट्टरता और कठमुल्लावाद पर, अकाली और गुरुद्वारा राजनीति पर, असमानतामूलक समाज की विद्रूपताओं पर तथा अन्य अनेक विषयों पर। इन लेखों की संख्या भी 400 पहुंच गई है। ऐसे लेखों के कारण मुझे वहुत ख्याति मिली है और मुझे कथाकार की अपेक्षा पत्रकार के रूप में अधिक पहचाना जाने लगा है। यह करक भी कम चुभने वाली नहीं है।

संचेतना की चर्चा किए विना वात अधूरी रह जाएगी। 1965 में 'आधार' का सचेतन कहानी विशेषांक प्रकाशित होने के पश्चात सचेतन कहानी की चर्चा प्रारम्भ हो चुकी थी। इस वात को अधिक पुष्ट करने और चर्चा को व्यापक मंच देने के लिए मित्रों में विचार-विमर्श हुआ कि एक त्रैमासिक पत्रिका प्रारम्भ की जाए। ऐसी पत्रिकाओं का आर्थिक पक्ष कभी साहित्यिक पत्रिकाओं की जड़ें गहरी नहीं होने देता। इस कारण सहयोगी लेखक मित्रों में सिर फुटव्वल भी हो जाती है।

मैंने अपने मित्रों से कहा कि संचेतना के लिए सहयोग सभी का, किन्तु इसके आर्थिक पक्ष को केवल मैं वहन करूंगा। दूसरे अंक के संपादकीय में मैंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि इस पत्रिका की जीवनविधि का हम कोई दावा नहीं कर रहे हैं। विना किसी दावे के संचेतना अपने जीवन के चार दशक पूरे कर रही है।

मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है कि संचेतना ने इस अवधि में वड़ी सार्थक भूमिका निभाई है। हमने कभी इस मंच को छोटे दायरे में नहीं घेरा, किन्तु यह भी सच है कि मित्र लेखक/ लेखिकाओं को यह अपनी पत्रिका लगे, इससे हमने उन्हें कभी विरत भी नहीं किया। हमने यह प्रयास भी किया कि संचेतना साहित्यिक चिंताओं के साथ उन चिंताओं की ओर भी ध्यान दे जो साहित्य की परिधि में चाहे न आती हों किन्तु उनके सरोकार लेखक-मानस से जुड़े हुए हों।

संचेतना को लेकर एक एडवेंचर भी किया गया था। 1985 में इसे समसामयिक विपयों की मासिक पत्रिका वनाने का दुस्साहस कर डाला। पांच वर्प तक मासिक बनाए रखकर हमने यह अनुभव कर लिया कि सचमुच बड़ा दुस्साहस था। तीन वर्प तक स्थगित रखने के पश्चात डॉ. (सुश्री) कनलेश सचदेव और डॉ. गुरचरण सिंह के सहयोग से पुनः

इसका त्रैमासिक प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इस बात को भी आज तेरह वर्ष होने को आए हैं।

और क्या लिखूँ?

चाहता हूं कि 'अभी शेष है' की त्रयी शीघ्र पूरी हो जाए। यह भी चाहता हूं कि अनेक अनुभवों, संघातों और मोड़ों से भरी अपनी आत्मकथा भी लिख लूं। दो-तीन उपन्यास और कुछ कहानियां भी लिखना चाहता हूं। किन्तु-

नर चाहत कछु अउर,
अउरै की अउरै भई,
चितवन रहिओ ठगउर,
नानक फासी गल परी।।

दस खण्डों में अपनी रचनावली देखकर लगता है करक, संतोष, आनन्द और आने वाले कुछ वर्ष जीवनकक्ष के चार कोनों में खड़े मुँह बिरा रहे हैं। इनमें से किसी को भी देखने का साहस मुझमें नहीं है।

रचनावली का काम कुछ वर्ष और लटका रहता, यदि प्रिय अनिल कुमार ने पीछे पड़कर मुझसे उसकी सामग्री इकट्ठी न करवा ली होती। इस आयोजन में उन्होंने जितना श्रम किया है, मैं उसका साक्षी हूँ।

नमन प्रकाशन के श्री नितिन गर्ग ने जिस गति से इस रचना के प्रकाशन को संभव बनाया है उसके सामने मेरी कृतज्ञता छोटी पड़ती है।

एच-108, शिवाजी पार्क, महीप सिंह
नई दिल्ली-110026

सम्पादक की ओर से

1960 के बाद हिन्दी कहानी में एक नया आन्दोलन प्रारम्भ हुआ-सचेतन कहानी; इसके अगुआ थे डॉ. महीप सिंह। डॉ. महीप सिंह का मानना है कि "सचेतन कहानी सक्रिय भाषा बोध की कहानी है, वह जिन्दगी की स्वीकृति की कहानी है। पश्चिम की भौंडी नकल और ओढ़ी हुई मानसिकता से प्रेरित होकर जिन्दगी की व्यर्थता, नितान्त अकेलेपन और बनावटी घुटन का प्रदर्शन नहीं करती।" सचेतन कहानी आयातित शिल्प पद्धति पर आधारित होकर भी भारतीय कथा परिवेश में अपनी मौलिक पहचान बनाए हुए है। निराशा, अकेलेपन, विसंगतिं, ऊब, उदासी, कुण्ठा, शोपण, अन्याय आदि के खिलाफ चेतना का आन्दोलन है जो संघर्ष का मार्ग प्रदर्शित करती है और जीवन में आस्था जगाती है।

डॉ. महीप सिंह ने आधार पत्रिका के सचेतन कहानी विशेषांक में लिखा है कि सचेतनता एक दृष्टि है जिसमें जीवन जिया जाता है और जाना भी जाता है। इसमें भविष्य की सम्भावनाओं का स्वर है। आत्म सजगता और व्यक्ति के अपराजेय संघर्ष क्षमता में सचेतनता एक आस्था है। कहें कि इस कहानी में सृजन की सम्भावना, आशामय भविष्य की कल्पना, संघर्षशीलता और आत्मविश्वास का भाव व्यक्त हुआ है।

डॉ. महीप सिंह जब मैट्रिक (1948) में थे तब से ही लिखना शुरू कर दिया था। प्रारम्भ में इन्होंने छोटी-छोटी ऐतिहासिक कहानियां लिखनी शुरू कीं जो उस समय की पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं, पर लेख लिखने प्रारम्भ किये 1949-50 में, जब सच्चर फार्मूला नाम से पंजाब (उस समय उसे पूर्वी पंजाब कहा जाता था) में भाषा संबंधी नयी नीति लागू की गयी और पंजाब में आर्य समाज के नेतृत्व में उसका व्यापक विरोध शुरू हुआ। उन दिनों (1950 में) पंजाब की भाषा समस्या पर इन्होंने अनेक लेख लिखे। सही ढंग से कहानियां लिखना डॉ. महीप सिंह ने 1956 से शुरू किया।

प्रथम कहानी 'मैडम' (1956) से लेकर 'निगति' (2006) तक कहानीकार के रूप में अप्रतिम ख्याति प्राप्त किये डॉ. महीप सिंह को पचास वर्ष हो चुके हैं या कह सकते हैं कि महीप सिंह का कहानीकार 50 वर्ष का जीवन पूर्ण कर चुका है।

डॉ. महीप सिंह के माता-पिता देश के विभाजन से काफी पहले पश्चिमी पंजाब के जिला गुजरात के एक गांव सराय आलमगीर से उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले में आकर बस गये। उन्नाव में ही जन्म होने के कारण इनकी सम्पूर्ण शिक्षा कानपुर में हिन्दी माध्यम से हुई। मातृभाषा पंजाबी से प्रेम होने के कारण घर पर ही इन्होंने इसे पढ़ना-लिखना सीखा और पूरी तरह से इसका अध्ययन मनन किया ताकि सूक्ष्म भावों की कलात्मक अभिव्यक्ति सहज हो सके। इसी कारण महीप जी पंजाबी में भी उसी सहजता से लिखते हैं जिस सहजता से हिन्दी में। इनके परिवार में लेखन का कोई वातावरण नहीं था और इनके बच्चों में भी लेखन के प्रति कोई रुचि नहीं है, हां इनकी धर्मपत्नी का भरपूर सहयोग इन्हें मिलता रहा है।

डॉ. महीप सिंह के अब तक 'सुबह के फूल' (1959) 'उजाले के उल्लू' (1964), 'घिराव' (1968), 'कुछ और कितना' (1973), 'मेरी प्रिय कहानियां' (1974), 'भीड़ से घिरे चहरे (1977), 'कितने संबंध, (1979),' 'इक्यावन कहानियां, (1980),' 'महीप सिंह की चर्चित कहानियां, (1994), 'धूप की उंगलियों के निशान' (1993), 'सहमे हुए' (1998), महीप सिंह की समग्र कहानियां, (तीन खण्ड) (2000), 'दिल्ली कहां है' (2002), तथा ऐसा ही है, (2002) कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं।

डॉ. महीप सिंह के साहित्यक लेखन की शुरुआत सन् 1956 में जिन कहानियों से हुई थी, वे कहानियां 'मैडम' और 'उलझन' अच्छी और मुकम्मिल कहानियां हैं। 'मैडम' में अगर सबके द्वारा बुरी समझी जाने वाली और चौतरफा अफवाहों से घिरी एक औरत के भीतरी दर्द और उजाड़ को समझने की संवेदनशील और ईमानदार कोशिश है तो 'उलझन' दाम्पत्य सम्बन्ध के तनाव को लेकर लिखी गई कहानी है। ये दोनों ही कहानियां स्त्री मन के दर्द को सहानुभूति से समझने की कोशिश ही नहीं करतीं बल्कि उसकी उलझनों को भी खोलकर देखना चाहती हैं। यह चीज महीप जी की पूरी कथा यात्रा में स्थायी टेक की तरह है। अगर यह कहा जाए कि इनकी आधी से अधिक कहानियां या तो स्त्री पर लिखी गई हैं या स्त्री की उपस्थिति वहां प्रमुख रूप से नजर आती है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

डॉ. महीप सिंह की प्रारम्भिक दौर की कहानियों में 'शास्त्री जी', 'लिफ्ट' 'सुबह के फूल', 'एक हंसी की बात' और 'पड़ोसी' जैसी कुछ अच्छी और अलग तरह की कहानियां भी हैं जिनकी अधिक चर्चा नहीं हुई। 'शास्त्रीजी' रामलीला में परसुरामी करने वाले शास्त्री जी और नौटंकी की एक बाई के संबंधों की ऐसी निश्छल और उदात्त कहानी है जिसे भुला पाना कठिन है। ऐसे ही 'लिफ्ट' एक अपाहिज की यादगार कहानी है। एक पैर वाला यह अपाहिज चिलचिलाती धूप में अपनी साइकिल के कैरियर पर संभ्रान्त कथानायक को बिठाकर किस तरह उसको मंजिल तक पहुंचाता है, यह पाठक को संवेदना से भर देता है। इसी प्रकार 'सुबह के फूल', 'एक हंसी की बात' और 'पड़ोसी' ऐसी कहानियां हैं जो छोटे-छोटे और विरल किस्म के अनुभवों से युक्त होने के साथ ही पाठक को अलग और विलक्षण चरित्रों से मिलवाती हैं।

दूसरे दौर में महीप जी की सातवें-आठवें दशक की कहानियां शामिल की जा सकती हैं। इस दौर में उन्होंने 'पानी और पुल' और 'कील' जैसी सशक्त कहानियां रचीं, जिनके जोड़ की कहानियां ढूंढ़ पाना कठिन है और इन कहानियों ने इन्हें खासी प्रतिष्ठा दिलाई।

व्यक्ति जब अपने सीमित परिवेश से आगे बढ़ता या ऊपर उठता है तो उसको राजनीति और धर्म जैसे उन प्रभावशाली तत्वों से सामना करना पड़ता है जो उसके दैनिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग तो नहीं हैं किन्तु समय-समय पर इतने प्रभावशाली हो जाते हैं कि शेष समाज से संबंध कायम करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भारतवासियों के जीवन में भारत विभाजन अथवा स्वतन्त्रता प्राप्ति की वेला में इन तत्वों का प्रभाव शिद्दत के साथ उभरकर आया जब धर्म और राजनीति के घालमेल ने सामान्य जनों के दिलों के बंटवारे कर दिए। सदियों से साथ-साथ रहने वाले प्यार भरे दिलों को अलग-अलग कर दिया। भारत विभाजन की रेखा कागज पर खिंची, भूमि पर उतरी और लोगों के दिलों को चीरती हुई निकल गई। 'पानी और पुल' में लेखक ने इन भावनाओं को बहुत ही मार्मिक ढंग से चित्रित किया है। कहानी में एक सिख परिवार धार्मिक स्थानों की यात्रा के सिलसिले में भारत से पाकिस्तान गया है। गाड़ी उस गांव से गुजरती है जहां से उजड़कर यह परिवार भारत आया है। रेलवे स्टेशन पर गाड़ी आधी रात को रुकती है तो भी उस गांव के मुसलमान लोग अपने बिछुड़े हुए पड़ोसी के परिवार से अत्यन्त गर्मजोशी से मिलते हैं। उपहार देते हैं और वापिस उस गांव में आकर बसने का अनुरोध करते हैं। लेखक को लगता है पत्थर और लोहे के बने पुल के नीचे जेहलम नदी का स्वच्छ और निर्मल पानी है जो दिलों को मिलाता है। यह कहानी धर्म और राजनीति से ऊपर उठकर मानवीय सम्बन्धों की व्याख्या करती है। इसी प्रकार की दूसरी कहानी है 'सहमे हुए'। यह कहानी आजाद भारत के नागरिकों में पनप रही धार्मिक मानसिकता की कहानी है जिसके चलते परस्पर अविश्वास और आशंका का वातावरण इतना अधिक घनीभूत अंधकार उगल रहा है कि अक्सर साम्प्रदायिक दंगे हो जाते हैं। एक ही कार्यालय में कार्य कर रहे हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, हरिजन साथ-साथ रहकर भी दूर-दूर हैं क्योंकि राजनीति और धर्म उन्हें मिलने नहीं देते। साम्प्रदायिक झगड़ों के विषय में लेखक की अत्यन्त सटीक टिप्पणी है- झगड़ों के बीज हमारी पृष्ठभूमि में पता नहीं कब किसने क्यों बो दिए। उस बोई हुई फसल को हम कब से काट रहे हैं, काटते चले जा रहे हैं, काटते चले जाएंगे। मनुष्य अवश्य लड़ेगा। वह अकेले-अकेले लड़ता है तो लोग उसे झगड़ालू, गुंडा और बदमाश कहते हैं । वह झुण्ड बनाकर लड़ता है तो देशभक्त, धर्मवीर और गाजी कहलाता है। उसे सम्मानित किया जाता है। आखिर मनुष्य यह सम्मान क्यों न ले। यह पूरी स्थति का खुलासा है क्योंकि पांचों मित्र शिक्षित हैं इसलिए बिना किसी कड़वाहट के तर्क के आधार पर स्थितियों का विश्लेषण कर सकते हैं। इसीलिए साम्प्रदायिक दंगों के पीछे एक तर्क यह भी है कि सारी लड़ाई ताकत और दौलत की लड़ाई है।

आदमी सत्ता हथियाना चाहता है इससे उसका अहम् संतुष्ट होता है। सत्ता के पीछे-पीछे दौलत आती है। अब इस लड़ाई को चाहे देश के नाम पर लड़ो, चाहे धर्म के नाम पर, चाहे किसी चमकदार वाद के नाम पर। स्थिति निरपेक्ष होकर तर्क देने वाले चारों धर्मों के ये मित्र जब साम्प्रदायिक दंगों में फंसे एक शहर के प्लेटफार्म पर खड़ी रेलगाड़ी के कैबिन में घिर जाते हैं तो सहम जाते हैं। कैबिन चारों तरफ से बंद है फिर भी ऐसा लग रहा है जैसे बाहर बेहिसाब शोर फैला हुआ है। पसीने से तरबतर और सहमे हुए आठ हाथ आपस में

एक दूसरे को पलोसते जा रहे हैं। इस स्थिति की प्रतीकात्मकता को खोलें तो लगता है जैसे यह पूरा देश ही एक कैबिन हो और देशवासी धर्म या वाद के नाम पर होने वाले राजनीतिक दंगों से सहमे हुए जीवन गुजार रहे हैं। उन्नीस सौ चौरासी के दंगे इसका ताजा उदाहरण हैं।

'कील' डॉ. महीप सिंह की विशिष्ट कहानियों में से है। यौन समस्या पर आधारित होने के बावजूद यह देह से नहीं जूझती, बल्कि एक गहरे मानसिक द्वंद्व को उभारती है। 'कील' की मोना सम्पन्न बाप की, छब्बीस वर्षीय अविवाहित है-आर्थिक कारण से नहीं, मनोवैज्ञानिक कारण से। बाप उस सुंदर बेटी के योग्य वर नहीं पा रहा है किन्तु सच्चाई यह है कि बाप मोना का साथ नहीं छोड़ना चाहता। उसके अंतर्मन में मोना के सान्निध्य की जो चाह है उसे वह योग्य वर की अनुपलब्धि का जामा पहनाता है। माँ सुरेश के साथ उसकी शादी करना चाहती है क्योंकि वह समझती है कि लड़की कितनी ही सुंदर क्यों न हो, वह डाल पर लगे फूल जैसी है, मुरझाने में देर नहीं लगती। मोना इसी द्वंद्व में पड़ी हुई बाप की सेवा करती है। रूप गुण में वह कितनी ही असामान्य क्यों न हो, पर है तो वह नारी ही, उसे एक पुरुष चाहिए लेकिन बाप की दृष्टि में वह गाडेस है जब तक कोई देवता न मिले शादी कैसे हो सकती है। वह बाप की प्रशंसाओं सद्भावनाओं और प्यार को ढोती-ढोती अनजाने ही रीत रही है। अपने रीतने को वह स्वयं नहीं समझ पाती है। मां उसे समझाती है और अंत में अपने पति को लिखती है कि मोना सुरेश से शादी को तैयार है। जब बाप पूछता है तो मोना न जाने क्यों उत्तर दे देती है- 'हाँ, वह तैयार है।' वह फिर आइने के सामने खड़ी होती है और चाहती है कि कुछ ऐसा देखे जो पहले दिखाई नहीं पड़ता रहा है और आज दाहिने गाल पर उसे एक कील दिखाई पड़ती है। वह कील पहले से थी किन्तु दृष्टि के बदल जाने से दिखाई पड़ रही है। उस कील को वह खुरच कर फेंक देती है, उसे अपने नारी सुलभ निर्णय के बीच उगे हुए व्यवधान को फेंकना ही है। 'कील' मोना की ही कहानी नहीं है, बल्कि बदले हुए वक्त में, बदली हुई मनःस्थिति वाली उन तमाम युवतियों की कहानी है जो अपनी जिन्दगी आप जीना चाहती हैं।

इसी दौर में लिखी हुई एक अलग तरह की कहानी है 'बेसुर'। इसमें एक मध्यवर्गीय दम्पती शुरू में इस बात पर चौंकता है कि उनका नौकर फिल्मी दुनिया में जाकर एक बड़ी हस्ती बन गया है। बाद में पति-पत्नी दोनों इस बात का रस ले लेकर वर्णन करते है और इस बात पर गौरवान्वित भी होते हैं कि उनका नौकर कितना बड़ा आदमी हो गया है। 'उजाले के उल्लू', 'शिफ्टों में घिरा राजकुमार', 'शोर', प्याले', 'सीधी रेखाओं का वृत्त', 'गंध', 'दुख', 'ब्लाटिंग पेपर', 'पत्नियां', 'ठग', कितने संबंध', 'जीना मरना' जैसी कई महानगरीय बोध की कहानियां हैं जिनमें संबंधों में आई टूटन, निरर्थकता आज भी जगह-जगह झांकती नजर आ सकती है।

सन् 1980 में लिखी 'सहमे हुए' से डॉ. महीप सिंह की कहानी यात्रा के तीसरे दौर की शुरुआत माननी चाहिए। यह वह दौर है जब सिखों को एक करुण त्रासदी से गुजरना पड़ा। इस करुण विडम्बना को लेखक ने 'एक मरता हुआ दिन', 'आओ हंसें', 'पहले जैसे

दिन', 'शहर ' जैसी कहानियों में कितनी ही तरह से कहा है। निःसंदेह ये ऐसी कहानियां हैं जो 1984 की क्रूर दहशत के खौफनाक चहरे को सामने लाती हैं। इनमें सबसे संजीदा कहानी 'शहर' है, जिसमें इस त्रासदी का सीधा वर्णन न हुआ हो लेकिन बड़े भाई के मन पर पड़े उसके अक्सों, उनकी डबडबाई आंखों और जीवन नैया की डगमगाहट के जरिए लेखक ने यह दिखा दिया है कि साम्प्रदायिक आतंकवाद के खूनी पंजे बिना दिखाए भी मानो आंख के आगे आ जाते हैं। इसी तरह 'सहमे हुए' साम्प्रदायिक तनावों से घिरे उन बुद्धिजीवियों की कहानी है जो सीधे-सीधे इसे स्वीकार नहीं करते, लेकिन चाहे अनचाहे झेलना उनको यही सब पड़ता है। 'धूप की उंगलियों के निशान', 'बूढ़े', 'कितनी परछाइयां', 'शोक', 'अवश' 'शराब', 'डर' 'काल - सन्ध्या', 'ताल', 'कल', 'दिन' तथा 'दोस्ती के पानीपत की चौथी लड़ाई' इस दौर की अद्वितीय कहानियां हैं।

सन् 2000 से लेकर अगस्त 2006 तक डॉ. महीप सिंह की बारह कहानियां और प्रकाशित हुई हैं। इनमें से अधिकांश कहानियां अलग पहचान बनाने में सक्षम हैं। इनमें दिशांतर, बेटी, कितने सैलाब, आधी सदी का वक्त, दंश और निगति अपनी छाप छोड़ने में सक्षम हैं। तमाम कहानियों पर दृष्टिपात करने के उपरान्त कह सकते हैं कि डॉ. महीप सिंह ने अपनी कहानियों में नारी पात्रों को गिराया नहीं है, न उन्हें पुरुष के लिए खिलौने के रूप में प्रस्तुत किया है, वल्कि वे व्यक्ति, परिवार और समाज के विकास में सहभागी हैं। उनमें अपने विचार हैं अपना व्यक्तित्व है। उनमें निर्णय लेने की क्षमता है और वे अपना काम अपने ढंग से कर सकती हैं। वह आत्मनिर्भर होकर सम्मान से जीती हैं कहानीकार ने नारी पात्रों को विविध रूप में प्रस्तुत किया है जहां वे स्थितियों से पराजित नहीं होती हैं। इन कहानियों का दायरा केवल महानगरीय और मध्यवर्गीय जीवन तक ही सीमित नहीं है अपितु उसका विस्तार गांव, कस्बे, खोली और फुटपाथ पर रहने वाले व्यक्ति तक भी हुआ है और लेखक ने मानवीय संवंधों के वनते-बिगड़ते समीकरणों को बखूबी कहानियों में उभारा है। व्यक्ति और समाज के परस्पर टकराव और सहयोग का भी चित्रण किया है। कामेच्छा, विवाह संवंध; मित्रता, परिवार, धर्म, राजनीति आदि के आधार पर होने वाले रिश्तों के टकराव और उससे उत्पन्न विविध आयामों को भी इन कहानियों में देखा जा सकता है। अधिकांश कहानियों को देखकर अकसर लगता है ये इनकी अपनी जी हुई घटनाएं है और इनके बीच वे स्वयं उपस्थित हैं किन्तु अपनी उपस्थिति को इतना परोक्ष और सूक्ष्म रखा है कि कहानी किसी एक व्यक्ति की न होकर समाज के असंख्य व्यक्तियों की कहानी बन जाती है। कहानियों की यह विशेषता ही इन्हें समसामयिक कहानीकारों में विशिष्ट स्थान बनाने में सहायता करती है।

काफी समय तक कहानियां लिखने के उपरान्त डॉ. महीप सिंह का उपन्यास 'यह भी नहीं' 1976 में प्रकाशित हुआ। इसके विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है कि यह उपन्यास मैंने अपने एक वर्ष के (1974-1975) जापान प्रवास के दौरान लिखा था, परन्तु इसकी कथावस्तु मेरे अन्दर अनेक वर्षो से पल रही थी। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कह सकते हैं कि इस उपन्यास का भ्रूण तो वर्षो से पल रहा था परन्तु इसके पूर्ण विकास का समय विदेश प्रवास के दौरान ही मिल सका और इसकी प्रसूति (प्रकाशन) 1976 में हुई। इस उपन्यास की

लोकप्रियता का सहज अहसास इसी से हो जाता कि अब तक सात भाषाओं अंग्रेजी, पंजाबी, मलयालम, मराठी, गुजराती, उड़िया और कन्नड़ में भी इसके अनुवाद छप चुके हैं। सन 2005 में हिन्दी में इसका चौथा संस्करण प्रकाशित हुआ।

महानगरीय जीवन की आधुनिकता से प्रभावित उलझे जटिल संबंधों के भीतर टूटती, पनाह खोजती वेपनाह जिंदगी का जितना यथार्थ अंकन इस उपन्यास में हुआ है वैसा कम ही उपन्यासों में हो पाता है।

'यह भी नहीं' में बम्बई के प्रमुखतः मध्यवर्गीय और प्रसंगतः उच्च और निम्नवर्गीय जीवन का चित्रण किया गया है। मध्यवर्ग का भी वह तवका जो देश के विभिन्न भागों से आकर धीरे-धीरे बम्बई का होने लगता है। ये अधिकतर आजीविका की तलाश में आते हैं और कभी-कभी अपनी यौन स्वच्छंदता को प्रश्नहीनता का वातावरण देते हैं। यह भाग बम्बई का बहुत बड़ा भाग है और इनकी समस्याओं का महीप सिंह ने सूक्ष्म और वैविध्य सम्पन्न चित्रण किया है। बम्बई में पहुंचने वाले युवक-युवतियों को बम्बई कुंठाएं देती है क्योंकि किसी की नजर होटल मैग्नेटों की ओर है किसी की सिनेमा के थैलीशाहों की ओर तो किसी की सेठों की ओर और बाकी की कमी बम्बई का मायाजाल पूरी कर देता है जिसके परिणामस्वरूप कुंठाएं उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस उपन्यास में लेखक ने सांकेतिक दृष्टि से बम्बई की जिंदगी का केन्द्रीय स्पंदन ध्वनित करने में सफलता प्राप्त की है।

'यह भी नहीं' में समस्याओं से मुंह चुराने की बजाय आगे बढ़कर उन सभी समस्याओं को लिया गया है जो समसामयिक यथार्थ के कटु अंग हैं। स्त्री-पुरुष की समस्याएं अनन्त हैं फिर भी उनके कुछ प्रमुख रूप उपन्यास में आ गए हैं जो मोटे तौर पर पुराने विश्वासों और नई मान्यताओं के बीच संघर्ष की समस्याएं हैं। तनावपूर्ण संबंधों वाले पति-पत्नी के बीच पुत्र के पालन और विकास की समस्या का सूक्ष्म चित्रण पाठक को झकझोर जाता है। शिक्षित कन्या के विवाह की समस्या भी बहुत गहरे रंगों में चित्रित हुई है। भ्रष्ट प्रबंधक और चापलूस तथा वेईमान प्रिंसिपल के बीच की साठ-गांठ से उत्पन्न होने वाली शिक्षा संस्थाओं में स्वतन्त्रता और योग्यता के हनन की समस्या भी चित्रित हुई है। भाषा की समस्या विद्यालय की पत्रिका से लेकर राजनीतिक वातावरण की समस्या के रूप में चित्रित हुई है। इसी प्रकार सेठों द्वारा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को कमजोर करने वाली टैक्स चोरी और उसे कानूनी सुरक्षा देने के लिए बिचौलियों द्वारा टैक्स अधिकारियों को घूस देने की समस्या रेलवे प्रशासन से लेकर आम प्रशासन तक भ्रष्टाचार की समस्या, अनेक प्रकार से उभर कर सामने आती है। प्रादेशिकता को राजनीतिक रंग देकर मुंबई आमची आहे का नारा लगाकर बंद का आयोजन और तत्संबंधी तोड़-फोड़ की समस्या बम्बई में मकानों की भीषण समस्या, बाजारू फिल्मों के निर्माण और उससे जनता को मूर्ख बनाने की समस्या, क्लवों और होटलों की कृत्रिम एवं भ्रष्ट जिंदगी की समस्या और पश्चिम की भोंडी नकल और अन्त में पिछले दो तीन दशकों में उत्पन्न बुद्धिजीवियों के लिए चुनौती स्वरूप उत्पन्न होने वाले भगवानों की समस्या उपन्यास की महत्वपूर्ण विवृतियाँ हैं।

घटनाओं की ही भांति भाषा के प्रयोगों में भी विशेषता है। शुद्ध कथा भाषा-सीधी

सहज, बिम्बों, प्रतीकों और अप्रस्तुतों की औपचारिकता एव रहित भावात्मकता की उलझनों से रहित, जीवन के इर्द गिर्द की स्तरीय व्यावहारिक भाषा को सहज साहित्यिक संस्कार प्रदान कर कृति में प्रयोग किया गया है। कथाकार भावुकता के साथ दार्शनिकता और कुण्ठा आदि की रहस्याच्छादित मनोवैज्ञानिक परतों के अंकन से भी बचता गया है।

'यह भी नहीं' में डॉ. महीप सिंह ने अधिकांश कहानी परम्परागत शिल्प का उपयोग करते हुए कही है। बीच-बीच में पूर्व दीप्ति, फैण्टेसी, स्वप्न आदि का भी उपयोग किया गया है। उपन्यास सुगठित न होकर बिखरावपूर्ण है। जिस लक्ष्य को लेकर उपन्यासकार चला है उसकी दृष्टि से यह दोष नहीं है। अगर पूरे बम्बई महानगर का चित्र खड़ा करना है तो उपन्यास में बिखराव आएगा ही। इस बिखराव के बावजूद उपन्यास बेहद पठनीय है।

लगभग 29 वर्ष के लम्बे अन्तराल के बाद डॉ. महीप सिंह जी का नया उपन्यास 'अभी शेष है' आया। इस उपन्यास का समय 1970 के आसपास का है और उपन्यास की सीमा देश में 1975 में की गयी आपातकाल की घोषणा तक है। आजादी तो 1947 में मिल गयी परन्तु देश की जनता ने इतिहास से कुछ भी सबक नहीं लिया। आज भी देश में जब चाहे दंगे भड़क उठते हैं। चाहे वह उग्रवाद के नाम पर हो, मन्दिर-मस्जिद के नाम पर या मजहबी जुनून के नाम पर गोधरा काण्ड। आज तक भारत में जितने भी फसाद हुए हैं उनमें 1947 में हुए दंगों की मिसाल पूरे विश्व में नहीं मिलती। कल तक जो एक साथ रहते थे, साथ उठते बैठते थे, एक दूसरे के सुख-दुख में शरीक होते थे अचानक ही एक दूसरे के खून के प्यासे हो गये। सबकी अक्ल पर परदे पड़ गये, सोचने समझने की शक्ति ही खत्म हो गयी। जो नफरत के बीज उस समय बोये गये थे वे आज भी यों ही बोये जा रहे हैं। जहाँ तक आम आदमी की बात है वह इन सब चीजों से आजिज आ चुका है। आम आदमी तो शान्ति के साथ जीना चाहता है। देश का बंटवारा हुआ तो बहुतों को भारत छोड़कर पाकिस्तान जाना पड़ा और बहुतों को पाकिस्तान छोड़कर भारत आना पड़ा। सबके दिल में अपनी जन्मभूमि को छोड़ने की कसक थी । कोई भी बेवतन नहीं होना चाहता था परन्तु देश के नेताओं के आगे किसी की नहीं चली। जिसका नतीजा था पाकिस्तान का जन्म।

अंग्रेजों ने जाते-जाते देश को दो टुकड़ों में बांट दिया पर दिलों को नहीं बांट पाये। लाखों लोगों को अपना घर छोड़कर शरणार्थी का जीवन व्यतीत करना पड़ा। भाइया जी भी उन्हीं में से एक थे जो भारत में आकर बस तो गए परन्तु दिल से कभी भी अपने मुल्क को नहीं भुला पाए। उनकी यादों में, बातचीत में हमेशा वहां का जिक्र होता। कोई भी बात हो उनके बचपन से ही शुरू होती और पाकिस्तान की गलियों में घूमती रहती। एक जगह भाइया जी कहते हैं, 'हुकूमतें बदलती रहती हैं। राज भाग कभी किसी के सिर पर, कभी किसी के सिर पर, पर आम लोग तो अपने घरों में ही बसते हैं। हुकूमतों का बनना और बिगड़ना फसलों की भांति है, बोई सींची और फिर काट ली। मन किया तो गेहूँ बो दिए, मन किया तो बाजरा या मकई बो दी। आम जनता तो धरती की भांति होती है वह अपनी जगह से नहीं हिलती।' सच ही है कि हुकूमतें तो बदलती रहती हैं, पर आम आदमी तो वही रहते हैं। आम जनता धरती की तरह ही होती है उसे ही सब कुछ सहना पड़ता है और 1947 से लेकर अब तक जितने भी दंगे हुए उसमें जो कुछ भी सहा वह आम आदमी ने ही सहा।

गांव से बिछुड़ने का दर्द भाइया जी को मरते दम तक सालता रहा और इनकी आखिरी इच्छा भी यही रही कि मरने के बाद इनकी अस्थियां जेहलम में ही प्रवाहित की जाएं। यह दर्द केवल भाइया जी का ही नहीं है उन सभी का है जिन्हें अपने वतन से बेवतन होना पड़ा। आदमी कहीं का कहीं क्यों न पहुंच जाए परन्तु उस जगह को कभी नहीं भूल सकता जहां उसने अपना बचपन गुजारा होता है। जिस मिट्टी में खेल-खेलकर बच्चा बड़ा होता है उसे भूला भी कैसे सकता है। भाइया जी पचहत्तर पार कर चुके हैं और घर परिवार में सभी अपने-अपने काम में व्यस्त हैं, किसी के पास इतना वक्त नहीं होता कि भाइया जी के पास फुरसत से बैठे। दूसरा यह कि भाइया जी जब भी बात करते हैं तो अपने बचपन के दिनों में पहुंच जाते हैं, जिसे सभी कई बार सुन चुके हैं और इनके किस्से को सुन सुनकर बोरियत महसूस करते हैं।

भाइया जी का सारा जीवन संघर्ष में ही गुजरा। शादी के तुरंत बाद ही भाइया जी को बड़े भाई लाभ सिंह ने अलग कर दिया। इनके हिस्से में कुछ बर्तन, कुछ कपड़े, टूटी फूटी हवेली का एक हिस्सा और कुछ रुपए ही आए। साइकिल की मरम्मत का काम शुरू कर जीवन की गाड़ी को आगे बढ़ाना शुरू किया। काम आगे बढ़ा परन्तु इन्हें अपना मुल्क पाकिस्तान छोड़कर भारत आना पड़ा। यहां आकर इन्होंने दिल्ली में अपना घर बसा लिया। बच्चे बड़े होने लगे और सभी का काम धंधा बढ़ने लगा। भाइया जी मन में बेटी की चाह लेकर जीते रहे परन्तु इनके अपनी कोई बेटी नहीं हुई। बेटी की चाह पूरी हुई तो बेटे बलवंत की बेटी मनजीत के रूप में। समय के साथ-साथ भाइया जी की उम्र ढलने लगी और ये 75 पार कर गए। बच्चे सयाने होने लगे। मनजीत कालेज जाने लगी और वहां उसकी एक लड़के से दोस्ती हो जाती है जो उसे मन ही मन चाहता है। मनजीत भी उसे चाहती है परन्तु रोजगार न होने के कारण दोनों का विवाह नहीं हो पाता।

'अभी शेष है' में कथानक केवल एक ही परिवार या एक ही समस्या के इर्द गिर्द नहीं घूमता। मनजीत और सुनंदा के माध्यम से नारी से जुड़ी समस्याओं को उठाया गया है। कालेज आते-जाते समय बस में मनजीत की कमलजीत से मुलाकात होती है और यह मुलाकात धीरे-धीरे प्रेम में परिणत हो जाती है। इनका प्रेम विवाह के बंधन में नहीं बंध पाता और मनजीत का विवाह लखनऊ के मनमोहन से तय होता है जो पढ़ा-लिखा और काबिल तो है परन्तु शक्ल-सूरत में मनजीत के लायक नहीं। मनमोहन नौकरी अमेरिका में करता है और मनजीत को भी विवाह के बाद अमेरिका में ही जाना पड़ता है मनमोहन कॉम्पलेक्स का शिकार हो जाता है। यहां तक कि उसे मनजीत का सजना-संवरना भी अच्छा नहीं लगता। इसी समय में अमेरिका का वियतनाम के साथ युद्ध छिड़ जाता है। वहां की राजनीति को लेकर वह अनजाने में अमेरिका के खिलाफ कुछ टिप्पणी कर बैठता है और उसके मन में डर बैठ जाता है जिसके चलते वह मानसिक रोग का शिकार हो जाता है। उसका कई जगह इलाज भी कराया जाता है परन्तु कोई परिणाम नहीं निकलता।

दूसरी तरफ सुनंदा है। उसके माता-पिता का एक दुर्घटना में देहांत हो जाता है। सुनंदा का भाई और पति अमेरिका में ही रहते हैं। शुरू में सुनंदा का पति उसके पत्रों का भी जवाब देता है परन्तु धीरे-धीरे उसकी उपेक्षा शुरू कर देता है। सुनंदा जब इसकी वजह खोजती है

तो उसके पैरों तले जमीन खिसक जाती है। उसके पति ने वहीं किसी दूसरी महिला से विवाह कर लिया, न तो उसे तलाक देना ही जरूरी समझा और न ही बताना कि उसके साथ यह सब क्यों किया जा रहा है। इस आघात को सुनंदा जैसे-तैसे झेल लेती है और खुद को व्यस्त रखने के लिए स्वतंत्र पत्रकार का व्यवसाय अपना लेती है। क्या व्यस्तता से ही किसी समस्या का समाधान किया जा सकता है? पति-पत्नी के संबंधों में कुछ वैयक्तीकरण और नितांत निजी संबंध भी होते हैं जिनकी पूर्ति वे आपस में बिना किसी औपचारिकता के करते रहते हैं परन्तु जब संबंध विच्छेद की नौबत आ जाती है तो नारी के सामने इस प्रकार की समस्या आती है कि वह इसकी पूर्ति कहाँ करें? ऐसे में ग्लैमर वीकली के सम्पादक आनंद से उसका परिचय होता है। लेखों के माध्यम से हुआ परिचय धीरे-धीरे बिस्तर तक पहुच जाता है। जब इन संबंधों का पता आनंद की पत्नी कोमल को चलता है तो वह भी काफी परेशान होती है। वह इस समस्या का समाधान सोच समझ कर निकालती है और सुनंदा को समझाती है जिसे सुनंदा मान भी लेती है।

नसरीन और अशरफ दोनों मुस्लिम समुदाय से हैं। दोनों ही एक दूसरे को चाहते हैं और पति-पत्नी के रूप में जीवन व्यतीत करना चाहते हैं परन्तु शिया सुन्नी की दीवार इनके बीच आ जाती है। इस कारण इनके माता-पिता इस रिश्ते के लिए तैयार नहीं होते। ऐसे में ये दोनों आनंद साहब की शरण में आकर अपनी समस्या से इन्हें अवगत कराते हैं और चाहते हैं कि कोर्ट मैरिज में आनंद साहब इनकी सहायता करें।

भाइया जी के बेटे बलवंत की टायर सोल की फैक्टरी है। एक मजदूर की वजह से एक दिन फैक्टरी में आग लग जाती है और उस मजदूर की मौत हो जाती है। ऐसे में यूनियन नेताओं को अपनी रोटी सेंकने का मौका मिल जाता है। यूनियन लीडर अपने स्वार्थों को साधते हैं। आनंद साहब समझौता करा देते हैं, मजदूर के परिवार को मिलता है थोड़ा सा मुआवजा और घर भरता है यूनियन लीडर चड़ती राम का।

कृति में सिख राजनीति और गुरुद्वारा कमेटियों पर कब्जा जमाने की होड़ और धांधलियों का भी खुलकर बखान किया गया है। 1971 के भारत-पाक युद्ध में पाक को पराजित करना और पाक युद्धबंदियों का रेडियो से अपने परिवारों को अपनी कुशलता का संदेश देना भाव-विह्वल करने के साथ ही 1971 के युद्ध की याद ताजा कर देता है।

1974 का छात्र आंदोलन, 1975 का आपातकाल पढ़कर ऐसा लगता है जैसे सभी पुरानी बातें एक-एक कर आंखों के सामने आ रही हैं। 1975 के आपातकाल में सरकार विरोधियों को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। सरकार विरोधी बहुत दिनों तक तो अपने घर ही नहीं जा पाए थे। जहां भी उन्हें छिपने की जगह मिलती वहीं वे शरण लेते थे। पुलिस चुन-चुन कर इन्हें जेलों में भर रही थी। प्रेस को भी सेंसर कर दिया गया। बिना सरकारी अधिकारी को दिखाए कोई भी लेख या प्रतिक्रिया नहीं छप सकती थी और जो भी ऐसा कुछ छापने की कोशिश करता उसे रातोंरात उठाकर जेल में डाल दिया जाता था। आनंद के साथ भी ऐसा ही हुआ। पुलिस उसे जानती थी परन्तु ऊपर के आदेश के सामने विवश थी। आज अखबार छोटा हो या बड़ा, उसे सरकारी विज्ञापनों के लिए कई प्रकार के

हथकंडे अपनाने पड़ते हैं, सरकारी अधिकारियों की चापलूसी करनी पड़ती है तब जाकर कहीं अखबार चल पाता है। 'अभी शेष है' में लेखक ने मनजीत, सुनंदा, कोमल के माध्यम से नारी मन की व्यथा का गहराइयों से वर्णन किया है तो नसरीन-अशरफ के माध्यम से शिया-सुन्नी समस्या का, सतवंत के माध्यम से डेरे के संत की यौन पिपासा का, सोहन सिंह, संत निधान सिंह, संत बीर सिंह के माध्यम से डेरों और सिख राजनीति का स्पष्ट और बेबाक बखान है। उपन्यास की समाप्ति पर पाठकों के मन में जिज्ञासा रह जाती है कि आनंद का क्या हुआ। सुनंदा और कोमल जब साथ-साथ रहने लगीं तो उनका जीवन कैसा रहा। नसरीन अशरफ का जीवन कैसा चल रहा है। मनमोहन वापस मनजीत के पास आता है या नहीं आदि जहां पाठक के मस्तिष्क पर छाप छोड़ती हैं वहीं इन पात्रों के विषय में आगे की जानकारी चाहने की इच्छा भी।

हिन्दी साहित्य के गम्भीर अध्येता के रूप में डॉ. महीप सिंह ने यह महसूस किया कि न तो दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र में और न ही साहित्य के क्षेत्र में सिख साहित्य का मूल्यांकन हो पाया है। ऐसे वर्णन तो पाये जाते हैं जिनमें गुरु नानक देव को सामान्य संत के रूप में देखा गया है और गुरु गोबिन्द सिंह को महान योद्धा के रूप में चित्रित किया गया है परन्तु 'दशम ग्रंथ' में गुरु गोबिन्द सिंह की रचनाओं के अध्ययन, सम्पादन और प्रकाशन आदि की ओर उपेक्षा का दृष्टिकोण ही अपनाया है। यह उपेक्षा मात्र दशम ग्रंथ तक ही सीमित नहीं थी, लगभग सम्पूर्ण सिख साहित्य और गुरु ग्रंथ साहब भी इसका शिकार रहा। डॉ. महीप सिंह ने 1954 में डी. ए. वी. कालेज कानपुर से हिन्दी साहित्य में एम. ए. करने के पश्चात गुरु गोबिन्द सिंह के काव्य को अपने शोध कार्य के लिए चुना और 1963 में आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. की डिग्री प्राप्त की। डॉ. महीप सिंह ने गुरु गोबिन्द सिंह के सम्पूर्ण काव्य के मंथन के पश्चात समकालीन वीर काव्य का गहन एवं विस्तृत अध्ययन एवं मूल्यांकन करने के बाद आश्चर्यजनक तथ्य विद्वानों के सामने प्रस्तुत किए।

डॉ. महीप सिंह ने गुरु ग्रंथ और दशम ग्रंथ के आधार पर यह सिद्ध किया कि अपने जीवन और साहित्य के बल पर भारतीय जनता की मनोवृत्ति को गुरु गोबिन्द सिंह ने बदला और यह बदलाव ऐसा आया कि कातरता, आत्मविश्वासहीनता की भावनाओं को त्याग कर 'सिंह' रूप में एक-एक व्यक्ति 'सवा लाख' से लड़ने मरने के लिए तैयार हो गया। गुरु गोविन्द सिंह ने युद्ध कौशल ही नहीं दिया, साथ ही साथ एक विशिष्ट युद्ध दर्शन भी पैदा किया। डॉ. महीप सिंह के शोध के बाद विद्वानों का ध्यान सिख साहित्य की ओर गया और खासतौर पर पिछले चालीस सालों में कई महत्वपूर्ण रचनाएं प्रकाश में आईं।

सिख जगत में बेशक डॉ. महीप सिंह को उनके शोध और समालोचना 'गुरु गोबिन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता' के साथ जोड़कर जाना जाता है, परन्तु इनकी एक अन्य कृति 'आदिग्रंथ में संगृहीत संत कवि' के. के. बिड़ला फाउण्डेशन द्वारा प्राप्त शोध वृत्ति के लिए लिखी गई और भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुई। यह पुनः सिद्ध करती है कि डॉ. महीप सिंह कहानीकार, उपन्यासकार, अखबारों के स्तम्भकार, निबंधकार, धारावाहिकों के लेखक आदि होने के साथ-साथ गुरुवाणी के चिंतक, व्याख्याकार और गम्भीर पाठक भी हैं

जो अभी तक गुरुवाणी से सम्बन्धित अनसुलझे प्रश्नों का उत्तर खोजने में लगे हैं। इस विषय में महीप सिंह अपने विचार व्यक्त करते हुए बताते हैं कि मेरी दृष्टि में अध्यात्म अंतर की खोज है, स्वयं की पहचान है और लेखक होने के नाते इसमें मेरी गहरी जिज्ञासा है। गुरुवाणी से मेरा सम्बन्ध बचपन से है। उसका मैंने अध्ययन किया। उसने मुझे बहुत प्रभावित किया।

'आदि ग्रंथ में संगृहीत संत कवि' के उपरान्त डॉ. महीप सिंह की 'गुरु नानक से गुरु ग्रंथ साहिब तक' प्रकाशित हुई। यह पुस्तक भारत सरकार के प्रकाशन विभाग के आग्रह पर लिखी गई। इसमें गुरु ग्रंथ साहिब की वाणियों के आधार पर सिख जीवन दर्शन और गुरु गोबिन्द सिंह के युद्ध दर्शन पर प्रकाश डाला गया है। सिख धर्म का आन्दोलन मात्र भक्ति आन्दोलन नहीं था, वह सामाजिक-आर्थिक और वैचारिक क्रांति का आन्दोलन था। इससे तत्कालीन मुगल साम्राज्य भी चिंतित हुआ और उसका दखल भी दिनोंदिन बढ़ता गया। परिणामस्वरूप इस भक्तिपरक सामाजिक आंदोलन को शक्ति की आवश्यकता महसूस हुई। अतः सत्ता के साथ टकराव में इस अनोखे भक्ति आन्दोलन ने शक्ति को भी अपनी जीवन शैली में रूपांतरित कर लिया यानी 'मीरी और पीरी' की विचारध ारा के साथ जीने वाला 'संत सिपाही'।

सिख इतिहास की गुरु ग्रंथ साहिब के सम्पादन के बाद सबसे क्रांतिकारी घटना थी आनन्दपुर में 30 मार्च 1699 को गुरु गोबिन्द सिंह द्वारा बुलाया गया सिखों का विशाल सम्मेलन और वैशाखी के दिन 'पाहुल संस्कार' द्वारा 'खालसा' पंथ की स्थापना और शस्त्रधारी पंज प्यारों का नया स्वरूप। इससे राजाओं, नवाबों और सूबेदारों से लेकर दिल्ली के तख्त तक को खतरे की घंटियां सुनाई देने लगीं। यह सिख विचारधारा की ऐतिहासिक परिणति थी। इससे युद्धों का और मुगल सल्तनत के लिए विनाश का इतिहास लिखा जाना था। सिख विचारधारा में युद्ध दर्शन और योद्धाओं के उत्थान का समय शुरू होना था। दलित जातियों में साहस शौर्य और आत्मसम्मान की सोच का विकास होना था। अंततः पूरा इतिहास ही करवट बदलने की तैयारी कर रहा था। इस काल खण्ड का पूरा ऐतिहासिक ब्योरा 'सिख विचारधारा गुरु नानक से गुरु ग्रंथ साहिब तक' में अंकित है।

डॉ. महीप सिंह कहानीकार के रूप में विख्यात हैं परन्तु उन्होंने समय-समय पर व्यंग्य भी लिखे हैं, जो 'एक नए भगवान का जन्म' तथा 'एक गुण्डे का समय बोध' संग्रहों में संकलित हैं। इनके व्यंग्य देश की राजनीति में व्याप्त विसंगतियों पर प्रहार करते हैं। सन् 1985-90 के दौरान देश की राजनीति में नैतिक मूल्यों का पतन, वंशवाद, गुंडागर्दी, भ्रष्टाचार, धार्मिक भावनाओं का राजनीतिक इस्तेमाल जैसे अनेक मुद्दे छाए हुए थे। लेखक ने इन सभी को अपने व्यंग्य का निशाना बनाया है। महीप जी ने समाज के अंतर्विरोधों और विसंगतियों को अत्यन्त धारदार भाषा में व्यक्त करते हुए व्यंग्य साहित्य में अपना विशिष्ट योगदान दिया है।

डॉ. महीप सिंह द्वारा समय-समय पर लिखे निबंध ''कुछ सोचा : कुछ समझा' में संकलित हैं। इनके अब तक प्राप्त निबंधों और लेखों की संख्या लगभग चार सौ है। इन

निबंधों को यहां राजनीति, साहित्य, धर्म, इतिहास, समाज आदि शीर्षकों के अंतर्गत प्रस्तुत किया जा रहा है।

डॉ. महीप सिंह के आधी सदी से ज्यादा के लेखन को दस खण्डों में प्रस्तुत किया गया है।

खण्ड एक- कहानी

खण्ड दो - कहानी

खण्ड तीन -उपन्यास

खण्ड चार - साक्षात्कार, व्यंग्य और रूपक

खण्ड पांच - शोध

खण्ड छः -आदिग्रंथ में संगृहीत सन्त कवि, सिख विचारधाराः गुरु नानक से गुरु ग्रंथ साहिब तक तथा अन्य जीवनियां

खण्ड सात - साहित्यिक लेख

खण्ड आठ - धर्म और इतिहास से संबंधित लेख

खण्ड नौ - सामाजिक लेख

खण्ड दस - राजनीतिक लेख

महीप सिंह रचनावली की सामग्री खोजते समय अनेक ऐसे दुर्लभ लेख भी प्राप्त हुए जिनकी उम्मीद स्वयं लेखक को भी नहीं थी। साथ ही कुछ चीजें खोजने पर भी नहीं मिलीं। सामग्री की खोज में डॉ. साहिब ने पूरा सहयोग किया। अप्रत्यक्ष रूप से कई और मित्रों का भी सहयोग प्राप्त होता रहा, जिनके प्रति मैं हृदय से आभारी हूं।

संपादक

अनिल कुमार

एच-3/72, विकास पुरी

नयी दिल्ली-110018

(मो. 09810226748)

अनुक्रम

1
पंजाबी बनाम हिंदी

कुछ मास पूर्व पंजाब में हिंदी भाषा की रक्षा के नाम पर एक आंदोलन हुआ, लगभग सात मास चला और वंद हो गया। अव इसे पुनर्जीवित किया जा रहा है। आंदोलन को मध्य जलूसों और सभाओं में जो नारे लगे, उनमें से कुछ थे :

"हिंदी भाषा अमर रहे," "देश का वच्चा बच्चा होगा हिंदी भाषा पर वलिदान।"

प्रश्न है कि पंजाब में हिन्दी की किस भाषा से स्पर्धा थी, जो उस के समर्थकों की उस की अमरता के लिए आंदोलन और देश के वच्चे वच्चे को उस पर बलिदान होने के लिए प्रेरित करना पड़ा?

हिंदी देश के एक बड़े भाग की भाषा है। राष्ट्रभाषा पद पर आसीन होने की क्षमता रखती है। भारत का संविधान उसे इस गौरव के योग्य मान भी चुका है। ऐसी अवस्था में यदि संसार की किसी भाषा से उसे कुछ भय हो सकता है, तो वह केवल अंग्रेजी है। अंग्रेजी की भी हिंदी से उन क्षेत्रों में कोई स्पर्धा नहीं है, जहां वह मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा के रूप में स्वीकृत हो चुकी है। उस की प्रतिद्वंद्विता तो केवल राष्ट्रभाषा के क्षेत्र में है। इस क्षेत्र में भी कभी उस के उत्साही पुत्रों को आंदोलन करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, क्योंकि हिंदी अपने घर में अमर है और राष्ट्रभाषा का पद उसे आंदोलन, सत्याग्रह और नारेबाजी से नहीं मिलेगा।

पंजाब में हिंदी की रक्षा के लिए आंदोलन किस भाषा से स्पर्धा का प्रतिफल है? पंजाबी भाषा से? संपूर्ण देश में हिंदी की स्पर्धा अंग्रजी से है और पंजाब में पंजावी से ! अर्थात पंजाब के हिंदी समर्थकों ने राष्ट्रभाषा के व्यापक क्षेत्र में अंग्रेजी से उस की स्पर्धा समाप्त कर अब उसे इस देश की क्षेत्रीय भाषाओं से ही प्रतिद्वंद्विता करने की श्रेणी में ला खड़ा किया है।

पंजाब में इस आंदोलन का मुख्य रूप से संचालन किया आर्यसमाज ने और उस का साथ दिया अनेक सांप्रदायिक संस्थाओं ने, किंतु इन आंदोलनप्रेमियों ने पंजाब में हिंदी के साथ एक ऐसा प्रश्न जोड़ा, जो पूर्णतया नवीन, अपूर्व और विचित्र है। और वह है कि हिंदी हिंदुओं, विशेष रूप से आर्यसमाजियों की धर्म और संस्कृति की भाषा है। आज तक इस देश में भाषा के साथ धर्म का संबंध केवल कुछ मुसलमान ही जोड़ते आए हैं, किंतु कदाचित यह पहला अवसर है जब इस देश में कुछ लोगों ने हिंदुत्व और आर्यत्व के नाम पर भारत की दो भाषाओं में एक का अपना और दूसरी को पराया घोषित करने की चेष्टा की है।

पंजाब में इन आंदोलनकारियों ने प्रमुख रूप से दो बातें कहीं:

अ. पंजाबी पंजाब के हिंदुओं की भाषा नहीं है।

ब. पंजाबी कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है, वह हिंदी की एक विभाषा मात्र है।

आर्यसमाज के नेताओं और पत्रों ने इस आंदोलन के मध्य और पूर्व अनेक स्थानों पर यह कहा है कि पंजाब में हिंदी का प्रश्न हिंदुओं के धर्म और संस्कृति का प्रश्न है। पंजाबी भाषा और गुरुमुखी लिपि की बलात शिक्षा से उनकी संस्कृति और धर्म पर आघात हो रहा है। इस आंदोलन में समस्त हिंदुओं को सहयोग देने का आह्वान करते हुए सार्वदेशिक आर्यवीर दल के प्रधान संचालक श्री ओमप्रकाश पुरुषार्थी ने अपने एक पत्रक—पंजाब हिंदी आंदोलन क्यों?— के अंत में ये शब्द लिखे:

"इसलिए वैदिक धर्म तथा संस्कृति से प्रेम रखने वाले प्रत्येक आर्य (हिंदू) नरनारी का यह कर्त्तव्य है कि वह तन, मन, धन से इस आंदोलन को सफल बनाने का पूर्ण प्रयार करे अन्यथा इस आंदोलन की सफलता आर्य (हिंदू) जाति के लिए पानीपत के चौथे युद्ध के समान घातक एवं विनाशकारी सिद्ध होगी।"

इस पत्रक में उन्होंने एक स्थान पर लिखा कि जालंधर क्षेत्र के आर्य (हिंदू) पंजाबी बोलते अवश्य हैं, किन्तु उनकी मातृभाषा सदैव से हिंदी रही है।

पंजाबी हिंदू को आर्यसमाज यह समझाने का प्रयास कर रहा है कि हिंदी उन के धर्म की भाषा है, इसलिए चाहे उसने अपनी मां से मातृभाषा के रूप में पंजाबी को ही क्यों न पाया हो, धर्म ने नाते उसे अपनी मातृभाषा हिंदी माननी चाहिए। इस मत की पुष्टि के लिए वहां आर्यसमाजी नेता महाशय कृष्ण द्वारा संपादित 'वीर अर्जुन' की कुछ संपादकीय टिप्पणियों के अंश उद्धृत किए जा सकते हैं:

"विभाजन के पश्चात भाषा की समस्या हमारे सामने आई और हमने मांग की कि हमारे बच्चों को हिंदी के माध्यम से शिक्षा दी जाए। हिंदुओं ने कभी गुरुमुखी को अपनी लिपि नहीं स्वीकार किया। सच बात तो यह है कि वे पंजाबी को भी अपनी भाषा नहीं मानते। यद्यपि वे पंजाबी बोलते हैं, किंतु इस से अधिक उन्होंने इसे कभी स्वीकार नहीं किया।"

—'वीर अर्जुन,' 24 अप्रैल, 1955

"पंजाबी किस तरह की भाषा है, कोई उसे बुरा नहीं कहता, हम केवल यह कहते है कि यह हमारी (हिंदुओं की) मातृभाषा नहीं है। यदि आप इसे एक क्षेत्रीय

बोली कहना चाहें तो कह लें, किंतु यह हमारी भाषा नहीं है। यदि अकालियों को यह आपत्ति है कि हिंदू पंजाब में रहते हुए अपने घरों में पंजाबी बोलते हैं, तो उसे वे अपने घरों में बोलना भी छोड़ देंगे, किंतु किसी का प्रसन्न करने के लिए वे यह भूल नहीं सकते कि हिंदुओं की मातृभाषा पंजाबी नहीं है।''

—'वीर अर्जुन,' 6 अप्रैल, 1955

दूसरी बात के कुछ उदाहरण ये हैं: आर्यसमाज के पत्र 'सार्वदेशिक' के पिछले अगस्त के अंक में स्वामी आत्मानंद सरस्वती का एक लेख प्रकाशित हुआ था: 'पंजाब की भाषा,' जिस में उन्होंने लिखा है: ''हिंदी की मुख्य उपभाषाएं निम्नलिखित मानी जाती हैं: अवधी, ब्रज, राजस्थानी, बुंदेलखंडी, बांगड़, गढ़वाली, पंजाबी, डोगरी, आदि।''

उसी अंक में श्री संतराम बी. ए. ने एक स्थान पर लिखा है: ''पंजाबी एक बोली है, जो बारह कोस पर बदलती रहती है। यह कोई साहित्यिक भाषा नहीं।''

श्री जगदेवसिंह ने भी उसी अंक के 'हरयाणा और गुरुमुखी ' नामक लेख में लिख है:

''भाषा और बोली में एक बहुत बड़ा भेद यह है कि भाषा का स्वरूप सब जगह एक समान होता है, परंतु बोली में थोड़े थोड़े अंतर पर भेद हो जाता है। उत्तर भारत में हिंदी के शब्दों का प्रयोग और उच्चारण एक समान है, कहीं भेद नहीं , परन्तु हिंदी की अवांतर बोलियों—बांगड़ पंजाबी, ब्रज, अवधी और भोजपुरी—में परस्पर उच्चारण की भिन्नता है। यदि पंजाबी भाषा होती, तो उस में भी हिंदी के समान एकरूपता होती, परंतु पंजाबी के उच्चारण में थोड़े थोड़े अंतर पर भिन्नता है। अतः यह भाषा न हो कर बोली है। भारत सरकार ने पंजाबी को भाषा का स्तर देकर बहुत बड़ी भूल की है।''

उसी लेख के अंत में उन्होंने लिखा है: ''प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह इच्छानुसार दूसरी भाषा पढ़े। पंजाबी और गुरुमुखी में समय नष्ट करने से कहीं अच्छा है कि दूसरी भाषा के रूप में संस्कृत पढ़ी जाए।''

क्या पंजाबी हिंदी की विभाषा है? पंजाबी को हिंदी की विभाषा कहना इतना बड़ा असत्य है कि न तो उसका समर्थन कोई हिंदी भाषा का विद्वान करता है, न पंजाबी भाषा का और न भाषाविज्ञान के अन्य स्वदेशी या विदेशी पंडित। हमारा संविधान पंजाबी को एक स्वतंत्र भाषा स्वीकार करता है। सर जी. ए. ग्रियर्सन ने 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया' मे भारत की आर्यभाषाओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया है।

क. मध्यदेशीय भाषा।

1. पश्चिमी हिंदी: खड़ी बोली, बांगड़।

ख. अंतर्वर्त्ती अथवा मध्य भाषाएं:

1. पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पूर्वी पहाड़ी, केंद्रस्थ पहाड़ी, पश्चिमी पहाड़ी।

2. पूर्वी हिंदी।

ग. बहिरंग भाषाएं:

1. लहंदा, सिंधी।

2. मराठी।

3. बिहारी, उड़िया, बंगाली, आसामी।

डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी का वर्गीकरण, जो अधिक वैज्ञानिक माना जाता है, इस प्रकार है:

क. उदीच्य (उत्तरी वर्ग)।

सिंधी, लहंदा, पंजाबी।

ख. प्रतीच्य (पश्चिमी वर्ग)।

गुजराती, राजस्थानी।

ग. मध्यदेशीय (मध्य वर्ग)।

पश्चिमी हिंदी।

घ. पौर्वात्य (पूर्वी वर्ग) ।

पूर्वी हिंदी, बिहारी, उड़िया, बंगाली, आसामी।

ड. दाक्षिणात्य (दक्षिण वर्ग) ।

मराठी।

डाक्टर श्माससुंदरदास तथा अन्य भाषावैज्ञानिकों ने हिंदी भाषा की जो सीमा निर्धारित की है। उस में पंजावी भाषी क्षेत्र सम्मिलित नहीं है। डाक्टर श्यामसुंदरदास की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'भाषा-विज्ञान' में यह सीमा इस प्रकार दी हुई है:

''पंजाबी में जैसलमेर, उत्तरप श्चिम में अंबाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश, पूर्व में भागलपुर, दक्षिणपूर्व में रायपुर तथा दक्षिण पश्चिम में खंडवा तक। इस प्रदेश के साहित्य, पत्रपत्रिकाओं, भाषणों तथा पत्रव्यवहार की भाषा हिंदी है।''

किंतु अंबाला से लेकर अटारी तक भारत में और वहां से रावलपिंडी तक पाकिस्तान की भाषा कौन सी है? निस्संदेह वह पंजावी है, जो एक स्वतंत्र भाषा है, न कि हिंदी की विभाषा।

भारत सरकार के प्रकाशन विभाग ने 'हिंदी और उसकी प्रादेशिक भाषाएं' नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की है। उस पुस्तक में व्रज, अवधी, बुंदेलखंडी, छत्तीसगढ़ी राजस्तानी, भोजपुरी और मैथिला पर विद्वानों के लेख संग्रहीत हैं, किंतु उस में पंजाबी या डोगरी का कहीं नाम नहीं है।

आश्चर्य तो यह है कि जिस तथ्य को देश के सभी विद्वान स्वीकार करते हैं उसे पंजाब के आर्यसमाजी नहीं मानते, जिनकी स्वयं की मातृभाषा पंजाबी है। आर्यसमाज का यह आंदोलन हिंदी रक्षा की भावना से प्रेरित नहीं, वरन उसके पीछे कुछ और ही मंतव्य था। इसका सवसे बड़ा प्रमाण यह है कि हिंदी के एक भी साहित्यकार का समर्थन उसे प्राप्त नहीं हुआ। वरन् हिंदी के प्रमुख साहित्यकारों ने अनेक वक्तव्य देकर उसे हिंदी के लिए ही घातक कहा। हिंदी के सुप्रसिद्ध भाषाविद डाक्टर धीरेंद्र वर्मा ने पजाब की भाषा समस्या पर एक बहुत ही महत्व का एवं विचारपूर्ण लेख लिखा है। जिसका शीर्षक हैं : ''पंजाब की साहित्यिक भाषा कौन होनी चाहिए—हिंदी, उर्दू या पंजावी?''

उनका यह लेख उनके निबंध संग्रह 'विचार धारा' में संग्रहीत है। उस लेख में पंजाब की भाषा और लिपि समस्या पर अपना मत देते हुए उन्होंने लिखा है :

''गुरुमुखी लिपि पंजावी की अपनी लिपि है। पंजाबी भाषा के द्वारा ही तरह-तरह का प्राचीन और आधुनिक ज्ञान पंजाव के ग्रामों तक पहुंचाया जा सकता है। भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी तथा देवनागरी लिपि का विशेष स्थान अन्य प्रांतों के समान पंजाब में भी रहेगा, किंतु प्रांतीय भाषा का स्थान पंजाव में पंजावी के अतिरिक्त और किसी को नहीं मिलना चाहिए।''

दूसरा उदाहरण हिंदी के सुप्रसिद्ध विद्वान आचार्य किशोरीदास वाजपेयी का है। लगभग सात वर्ष पूर्व लेखक की पंजाब की भाषा समस्या पर एक लेखमाला 'पांचजन्य' में प्रकाशित हुई थी। उसके समर्थन में वाजपेयीजी का उसी पत्र में निम्नलिखित पत्र प्रकाशित हुआ था :

''पांचजन्य में 'पंजाब की भाषा समस्या' शीर्षक से जो लेखमाला प्रकाशित हुई है, उसका मैं हृदय से समर्थन करता हूं। जब बंगाल में अपनी लिपि और अपनी भाषा है, जब कश्मीर में फारसी लिपि और उर्दू भाषा है, फिर भी ये सब भारतीय राज्य के अंग हैं, तो पंजाब में पंजाबी भाषा तथा पंजावी (गुरुमुखी) लिपि जारी होने से क्या वज्रपात हो जाएगा? यदि संपूर्ण राष्ट्र में एक ही भाषा रहे, सर्वत्र प्रांतीय भाषाओं को और उनकी विभिन्न लिपियों को हटा दिया जाए तब पंजाब भी कुछ न बोलेगा। पंजाबी भाषा तथा लिपि का समर्थन यह कहकर नहीं उड़ाया जा सकता कि उस के समर्थक सिख ही हैं। स्वराज्य के समर्थक हिंदू ही थे, तो क्या वह राष्ट्र की मांग न थी?''

श्री संतराम बी.ए. कहते हैं कि पंजाबी बारह कोस पर बदलती रहती है, इसलिए वह साहित्यिक भाषा नहीं है, किंतु अन्य भाषाओं की अवस्था कैसी है? स्वयं हिंदी की अनेक बोलियां पांच-पांच कोस पर बदलती रहती हैं। हिंदी का वह रूप जिसे खड़ी बोली कहा जाता है और जो आज राष्ट्रभाषा पद पर आसीन है, एक-सा नहीं है। मेरठ में उसका रूप दूसरा है और दिल्ली में दूसरा। इस प्रकार की तर्कहीन बातें करने वाले वस्तुतः साहित्यिक ज्ञान से शून्य व्यक्ति हैं। उन्हें बोली, विभाषा और भाषा के वैज्ञानिक विकासक्रम का ज्ञान नहीं है। बोली उसे कहते हैं, जो केवल बोलचाल में प्रयुक्त होती है और जिसमें कुछ भी साहित्य न हो, जैसे बुंदेलखंडी और कन्नौजी। वे बोलियां, जिनमें थोड़े-बहुत साहित्य की रचना हो जाती है विभाषा की श्रेणी में पहुंच जाती हैं, जैसे अवधी और व्रज और अनेक विभाषाओं में अनेक राजनीतिक, सामाजिक तथ्यों के कारण जो प्रमुख हो जाती हैं, वह साहित्यिक भाषा का रूप धारण कर लेती है। प्रारंभ में सभी भाषाएं बोलियां होती हैं, जो धीरे-धीरे भाषा का स्थान प्राप्त कर लेती हैं।

विभिन्न बोलियों के मध्य साहित्यिक कार्यों के लिए प्रयोग की जाने वाली बोली का एक सर्वमान्य या स्टैंर्ड रूप बन जाता है। वही उस भाषा का साहित्यिक रूप होता है। जिस प्रकार बोलियों के अंतर होते हुए भी मेरठ दिल्ली की खड़ी बोली हिंदी का, पूना की मराठी मराठी का और अहमदाबाद की गुजराती गुजराती भाषा का स्टैंडर्ड

और साहित्यिक रूप बन गई है, उसी प्रकार बारह-बारह कोस पर बदलते रहने पर भी अमृतसर और लाहौर के पास की पंजाबी पंजाबी भाषा का साहित्यिक और स्टैंडर्ड रूप है और इस प्रकार बंबई और कलकत्ते से प्रकाशित होने वाले पंजावी पत्रों में भी वही भाषा प्रयुक्त होती है, जो लुधियाना, पटियाला या अमृतसर के पत्रों में।

पंजाबी साहित्यिक भाषा नहीं है—यह कहना अज्ञान के साथ-साथ किसी भाषा के संबंध में दूषित मनोवृत्ति का भी परिचायक है। पंजाबी में प्रचुर प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य है। पंजाबी का आधुनिक साहित्य बड़ा ही गतिशील है। पंजावी साहित्यकारों की उत्तम कृतियों का अनुवाद भारत की विभिन्न भाषाओं में तथा विदेशी भाषाओं में हो रहा है। पंजाबी में एम. ए. जैसी उच्च परीक्षाएं उत्तीर्ण करने वाले विद्यार्थी सैकड़ों की संख्या में प्रति वर्ष होते हैं। मास्को विश्वविद्यालय ने अपने यहां जिन पांच भारतीय भाषाओं के शिक्षण की व्यवस्था की है, उनमें एक पंजाबी भी है।

पंजाब के हिंदू पंजाबी को अपनी मातृभाषा या साहित्यिक भाषा नहीं मानते—यह वक्तव्य भी सत्य पर आधारित नहीं है।

पंजाब में केवल आर्यसमाजियों का ही एक ऐसा वर्ग है, जो अपनी मातृभाषा को अपने किसी सांप्रदायिक द्वेष के कारण अपनी भाषा मानने से इनकार कर रहा है। अन्यथा पंजाबी के महाकवि लाला धनीराम चात्रिक, नाटककार ईश्वरचंद्र नंदा, बलवंत गार्गी, कवि उपन्यासकार देवेंद्र सत्यार्थी, आलोचक डाक्टर बनारसीदास, लाला किरपासागर, डाक्टर रोशनलाल आहूजा, लोककवि केदारनाथ 'बागी' आदि अनेक साहित्यकार सभी तो हिंदू हैं और हिंदू होने के नाते अपनी मातृभाषा से उसी प्रकार प्रेम करते हैं जैसे महाराष्ट्र, बंगाल या तमिलनाडु के हिंदू अपनी मातृभाषाओं से।

पंजाव में आर्यसमाजी पंजाबी भाषा से अधिक गुरुमुखी लिपि का विरोध करते हैं। कहा जाता है यह सिखों की धार्मिक लिपि है, क्योकि यह सिख गुरु द्वारा निर्मित है, और इसमें सिखों के धर्मग्रंथ लिखे हैं। 6 नवंबर, 1949 के 'साप्ताहिक आकाशवाणी' में पंजाब हिंदू सभा के नेता श्री पिंडीदास ने लिखा :

"गुरुमुखी लिपि गुरु अंगददेव द्वारा निर्मित होने के कारण सिखों की धार्मिक लिपि है। अतः अन्य धर्मावलंबियों पर इसे कानून के वल पर थोपना नहीं चाहिए।"

वस्तुतः दोनों में से एक भी बात ठीक नहीं है। न तो गुरुमुखी लिपि का निर्माण किसी सिख गुरु ने किया, न ही वह सिखों की धार्मिक लिपि है। सिखों के धर्म ग्रंथ अवश्य गुरुमुखी में लिखे हुए हैं, किंतु यदि इसीलिए उसे उनकी धार्मिक लिपि कहा जाता है, तो संसार की सभी लिपियों को किसी न किसी धर्म की लिपि कहना पड़ेगा, क्योंकि उनमें भी धर्म ग्रंथ लिखे गए हैं। स्वयं देवनागरी को ही हिंदुओं की धार्मिक लिंपि कहा जा सकता है, क्योंकि यह उनके पूर्वजों द्वारा निर्मित है और उसमें उनके धर्म ग्रंथ लिखे गए हैं। जिस आधार पर पंजाब के आर्यसमाजी गुरुमुखी सीखने के विरुद्ध हैं, उसी आधार पर देश के अहिंदू देवनागरी सीखने के विरुद्ध हो सकते हैं।

सिख गुरुओं ने गुरुमुखी लिपि का निर्माण नहीं किया था, वरन् उसे पुनर्जीवन दिया था। गुरुमुखी लिप के पैंतीस अक्षर उतने ही प्राचीन हैं, जितने भारत की किसी

अन्य लिपि के। यूरोपीय विद्वान ई. पी. न्यूटन का कथन है कि गुरुमुखी के इक्कीस अक्षर प्राचीन हस्तलिखित संस्कृत और अपभ्रंश पोथियों में ज्यों के त्यों मिलते हैं। 14 अगस्त, 1949 के 'साप्ताहिक आकाशवाणी' में प्रकाशित पंडित जयचंद्र विद्यालंकार का लेख इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। उसका कुछ अंश इस प्रकार है :

''गुरुमुखी लिपि का आरंभ दूसरे सिख गुरु श्री अंगददेव द्वारा हुआ बताया जाता है। कहा जाता है कि उन्होंने इसका आविष्कार किया, किंतु आविष्कार की यह कथा स्वयं आविष्कृत या गढ़ी प्रतीत होती है, क्योंकि यह कहना प्रत्यक्षतः भ्रम पर आश्रित है। इसका वर्णक्रम ब्राह्मी होने के कारण आविष्कार का प्रश्न ही नहीं उठता। यह लिपि तो कश्मीर, चंबा, कुल्लू प्रदेशों में प्रचलित उस समय की शारदा लिपि है। उस समय की लिखी अथर्ववेद (पैप्पलाद शाखा) की पुस्तक मिली है। इस पर एक दृष्टि डालते ही दोनों लिपियों की एकता का विशेष सादृश्य प्रकट हो जाएगा।

''गुरु अंगद के काम को उस युग की परिस्थितियों में रखकर समझना आवश्यक है। गुरुओं के उदय से सदियों पहले पंजाब का लौकिक जीवन गतिहीन या बिल्कुल वांझ हो चुका था। शिक्षा का स्तर या साक्षरता वहुत कम रह गई थी। वहां की बोली में कोई साहित्य नहीं था। व्यापारी अपने व्यवहार में लंडा नाम की शीघ्रलिपि का प्रयोग करते थे। इन परिस्थितियों में पंजाव के बौद्धिक पुनर्जागरण की दृष्टि से दूसरे गुरु ने प्रांत की बोली को लिखने के लिए साथ के पहाड़ी प्रदेश की लिपि को अपनाया। सिखों (शिष्यों) ने लिखने का यह तरीका गुरु के मुख से सीखा, इसलिए वे इसे गुरुमुखी कहने लगे। इस समय पंजाव के बौद्धिक पुनर्जागरण के लिए इस लिपि का प्रचलन एक बड़ा कदम था, इस विषय में मतभेद नहीं हो सकता।''

गुरु अंगददेव को इस लिपि को पुनर्जीवन देने की आवश्यकता क्यों पड़ी? इसका उत्तर पंजाब के प्रमुख आर्यसमाजी नेता दीवान अलखधारी ने अंग्रेजी साप्ताहिक 'आर्गनाइजर' के 24 अक्तूवर, 1955 के अंक में निम्न शब्दों द्वारा दिया है :

''गोविंदबाल के हठधर्मी ब्राह्मणों से अपने मतभेद के परिणामस्वरूप श्री गुरु अंगददेवजी ने गुरुमुखी अक्षरों का विकास किया।''

यह मतभेद क्या था? वे हठधर्मी ब्राह्मण यह नहीं चाहते थे कि गुरु अंगद शूद्रों और ब्राह्मणों की समानता प्रतिपादित करने वाली गुरु नानक की वाणी का लेखन उन अक्षरों में करें, जो केवल नागरी ही नहीं, 'देवनागरी' है।

गुरुमुखी के रूप में शारदा के पुनर्विकास के पश्चात् पंजाब के हिंदू और सिख पंजाबी लिखने में सदैव गुरुमुखी लिपि का उपयोग करते आए हैं। यह तो केवल आर्यसमाज है, जिसने सिखों और हिंदुओं के बीच मतभेदों की खाई चौड़ी की और आर्य के नाम पर पंजाब के हिंदुओं में उनकी मातृभाषा और उनकी अपनी लिपि के संबंध में मतिभ्रम उत्पन्न किया। देवनागरी लिपि का पंजाबी भाषा के लिए कितना उपयोग हुआ है, इसके लिए पंजाबी भाषा के हिंदू विद्वान डाक्टर बनारसीदास द्वारा रचित पुस्तक 'पंजाबी भाषा और उसका साहित्य' (पृष्ठ 190) के ये शब्द पठनीय हैं:

"पंजाबी भाषा लिखने के लिए देवनागरी लिपि का उपयोग बहुत कम हुआ है। गत दो तीन शताब्दियों में केवल पांच या छह पंजाबी पुस्तकें देवनागरी लिपि में लिखी गई हैं। पंजाबी भाषा की अपनी लिपि गुरुमुखी है। इसलिए व्यापक रूप से इस लिपि को पंजाबी लिपि कहा जाता है।"

वस्तुतः हिंदी के नाम पर आर्यसमाज तथा अपने राजनीतिक स्वार्थों के लिए उसका साथ देने वाली जनसंघ, हिंदू सभा आदि संस्थाओं के इस सांप्रदायिक आंदोलन से सर्वाधिक हानि स्वयं हिंदी की हुई है। दक्षिण भारत तथा अन्य अहिंदी भाषी प्रांतों में इस आंदोलन के कारण हिंदी का विरोध बढ़ा है। दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध हिंदी सेवी श्री एस. एम. मूर्त्ति ने अपने एक वक्तव्य द्वारा यह स्वीकार किया है कि इस आंदोलन से दक्षिण भारत में हिंदी विरोध को प्रोत्साहन मिला है। तीन सुप्रसिद्ध हिंदी साहित्यकारों—पंडित बालकृष्ण शर्मा नवीन, श्री रामधारीसिंह दिनकर और सेठ गोविंददास—ने गत उन्नीस सितंबर को एक वक्तव्य द्वारा यह कहा कि वर्तमान हिंदी आंदोलन हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में उत्साहपूर्वक स्वीकार किए जाने के सभी अवसर नष्ट किए दे रहा है। यह आंदोलन पूर्णतया सांप्रदायिक हो गया है।

पंजाबी पढ़ने की बात का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि हम कोई कारण नहीं देखते कि पंजाब में पंजाबी की आवश्यक रूप से पढ़ाई के हम विरोधी हों। यदि हम अहिंदी क्षेत्रों में हिंदी के आवश्यक रूप से पढ़ाए जाने पर बल देते हैं, तो हमें शोभा नहीं देता कि हम पंजाब में पंजाबी के आवश्यक रूप से पढ़ाए जाने का विरोध करें।

इस आंदोलन को छेड़कर आर्यसमाज ने हिंदी के प्रश्न को सांप्रदायिक बना दिया। गत वर्ष बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए श्री रामधारीसिंह दिनकर ने कहा था :

"भाषाओं के साथ हम धर्म और संस्कृति को न बांधें, तो इससे भी देश का अधिक कल्याण हो सकता है। उदाहरण के लिए गौ हत्या विरोधी आंदोलन का हिंदी के साथ कोई नित्य संबंध नहीं है। पहले भी ऐसे मुसलमान और क्रिस्तान हुए हैं, जो हिंदी जानते अथवा उसमें साहित्य की रचना करते रहे और आगे तो राजभाषा के रूप में हिंदी उन सब के घरों में पहुंचने वाली है, जहां संभव है कि खानेपीने की परिपाटी हिंदुओं की परिपाटी से भिन्न हो। हिंदी शब्द के साथ एक खास ढंग की संस्कृति की कल्पना लेकर चलने से हिंदी और देश दोनों का अहित होने वाला है।"

आर्यसमाज के इस आंदोलन ने वही किया, जिसके विरुद्ध दिनकरजी ने चेतावनी दी थी। परिस्थिति का ठीक विश्लेषण करते हुए प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने स्वामी आत्मानंद को लिखे अपने पत्र में कहा था :

"मैं इस विषय में जितना अधिक विचार करता हूं, उतना ही महसूस करता हूं कि यह भाषा का सवाल नहीं जिस पर इतना विवाद खड़ा किया जा रहा है, बल्कि बात कुछ और है और असल में भाषा का सवाल एक बहाना मात्र है। भाषा के प्रश्न पर झगड़ने की कोई बात मुझे दिखाई नहीं देती। मेरा अनुमान है कि यह केवल

राजनीतिक विषय है, जिसका भाषा के साथ कोई संबंध नहीं।"

पंजाब की भाषा समस्या की तुलना हिंदी और उर्दू की समस्या से करते हुए आर्यसमाज की भाषा स्वातंत्र्य समिति के अध्यक्ष श्री घनश्यामसिंह गुप्त ने अपने पत्रक 'दि केस आफ आर्यसमाज' में लिखा कि पंजाब की भाषा समस्या की तुलना बंगाली बंगाल में और गुजराती गुजरात में से ही नहीं की जा सकती। इसकी कुछ एकरूपता हिंदी उर्दू की स्थिति से है। दिल्ली और उसके आसपास के प्रदेश में हिंदू और मुसलमान दोनों सड़कों पर, बाजारों में और घर तक में एक ही भाषा बोलते हैं, किंतु जब वे बोली जाने वाली भाषा से आगे बढ़कर लिखित भाषा तक जाते हैं, तो अंतर बढ़ने लगता है। वहां दिल्ली के औसत हिंदू की भाषा हिंदी हो जाती है और एक औसत मुसलमान की भाषा उर्दू, और इसलिए एक औसत हिंदू एक ही बोली बोलते हुए अपने बच्चे को हिंदी स्कूल में और एक मुसलमान अपने बच्चे को उर्दू स्कूल में भेजता है, यद्यपि बाजारों में, सड़कों पर और घरों में भी यह अंतर व्यवहारिक रूप से शून्य है। यह प्रकट होता है प्राइमरी कक्षाओं से और फिर आगे बढ़ता जाता है।

गुप्तजी कहते हैं कि पंजाब की स्थिति भी इसी प्रकार की है। वहां यद्यपि सर्वसाधारण कार्यों में पंजाबी प्रयुक्त होती है, किंतु विचारों के लिखित आदान-प्रदान आदि में हिंदू हिंदी का प्रयोग करते हैं और सिख पंजाबी भाषा का।

गुप्तजी के उक्त विवेचन में द्विराष्ट्रवाद के सिद्धांत के बीज स्पष्ट हैं। दस वर्ष पूर्व श्री जिन्ना भी यही कहते थे कि हिंदू और मुसलमानों में भाषा साम्य तक नहीं है। वे बाजार में चाहे एक बोली बोलें, किंतु उनके साहित्य, पत्र-व्यवहार और भाषणों की भाषाएं पृथक-पृथक हैं। श्री जिन्ना ने भारत के मुसलमानों के धर्म, संस्कृति और भाषा को हिंदुओं से पृथक सिद्ध किया और सांप्रदायिक आधार पर भारत का विभाजन कराया। आज वही कार्य श्री घनश्यामसिंह गुप्त कर रहे हैं। वह पंजाब के हिंदुओं के धर्म, संस्कृति और भाषा को सिखों से पृथक सिद्ध करके पंजाब के विभाजन के विषबीज बो रहे हैं।

अपने पत्रक में श्री गुप्त ने कहा कि आर्यसमाजी के लिए हिंदी उसकी धर्म और संस्कृति की भाषा है। वह यह नहीं कहते कि हिंदी सिखों के धर्म और संस्कृति की भी भाषा है। इस प्रकार श्री गुप्त के कथनानुसार आर्यसमाजियों के धर्म और संस्कृति सिखों से भिन्न हैं। श्री गुप्त ने पंजाब के हिंदी भाषी वर्ग को छियासठ प्रतिशत और पंजाबी भाषी वर्ग को चौंतीस प्रतिशत कहा है। यहां उन्होंने पंजाब के सभी हिदुओं को एक और हिंदी भाषी और सिखों को दूसरी ओर पंजाबी भाषी बना दिया है। इस सिद्धांत के अनुसार पंजाब के सभी हिंदुओं की भाषा, संस्कृति और धर्म पंजाब के सिखों से अलग हैं। तब ऐसी कौन-सी बात है, जो उन्हें एक राष्ट्र के रूप में रहने की प्रेरणा देती है? श्री गुप्त ने अपने द्विराष्ट्रवाद को उसी प्रकार सिद्ध किया है, जिस प्रकार श्री जिन्ना ने किया था। नेहरूजी ने ठीक ही कहा है कि इस आंदोलन ने पंजाब को उसी प्रकार खंडित कर दिया है, जिस प्रकार श्री जिन्ना ने भारत को।

पंजाब के सिख कहते हैं कि पंजाब के हिंदुओं और सिखों के धर्म में थोड़ा

भेद होते हुए भी उनकी भाषा और संस्कृति एक हैं। देश के सभी विचारशील नेता भी यही कहते हैं। विद्वान कहते हैं कि भाषाओं का संबंध धर्म से नहीं, प्रदेश से हुआ करता है। एक प्रदेश में रहने वाले विभिन्न धर्मावलंबियों की भाषा एक होती है, किंतु आर्यसमाज और उसका साथ देने वाली कुछ सांप्रदायिक संस्थाएं कह रही हैं कि नहीं, पंजाब में रहते हुए भी धर्म की विभिन्नता के कारण पंजाब के गैरसिख हिंदुओं की भाषा पंजाबी नहीं है।

वस्तुतः पंजाब की एकता पंजाबी भाषा के आधार पर ही स्थिर रखी जा सकती है, जो वहां की जनता और भूमि की भाषा है। दिल्ली के अंग्रेजी दैनिक 'हिंदस्तान टाइम्स' का गत सात सितंबर का संपादकीय इस दृष्टि से विचारणीय है :

''हिंदी के समान ही पंजाबी किसी एक संप्रदाय की भाषा नहीं है और इसके विरुद्ध कुछ भी क्यों न कहा जाए, यह पंजाबी ही है जो पंजाब की एकता वनाए रखने वाली शक्ति है। यह जनसाधारण की भाषा है और भूमि की भाषा है। एक बार इसे इस रूप में स्वीकार कर लिया जाए तो इसे राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयुक्त किए जाने का कोई भय नहीं रह जाएगा। इसके अस्तित्व ने किसी भी दशा में हिंदी की प्रगति में बाधा नहीं उत्पन्न की है और इसकी क्षेत्रीय भाषा के रूप में मान्यता हिंदी के लिए उतनी आपत्तिजनक नहीं होगी, जितनी हिंदी की मान्यता पंजावी के लिए। पंजाब के लोगों के लिए दोनों पूरक भाषाएं रही हैं और राज्य की सांस्कृतिक प्रगति के लिए यह केवल वांछनीय ही नहीं, आवश्यक भी है कि ये इसी प्रकार रहें।''

(सरिता, अगस्त 1958)

2
पंजाब की भाषा समस्या का स्वरूप

धर्मयुग के अप्रैल के अंक में मैंने जो लेख लिखा था वह पंजाब की भाषा समस्या पर नहीं था। पंजाब में उभारा गया भाषा विवाद हमें किस बिंदु तक ले आया है, मैंने उसकी ओर दृष्टिपात किया था और इस तथ्य की ओर संकेत किया था कि जनता कि स्तर पर अब पंजाव में भाषा विवाद लगभग समाप्त हो चुका है, केवल अधेड़ और वृद्ध पीढ़ी के लोग इस विवाद को जिलाए रखना चाहते हैं, क्योंकि उसके आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थ इसमें निहित हैं।

20 मई के धर्मयुग में श्री वीरेन्द्र का लेख पढ़कर मेरी यह धारणा पुष्ट हो गई है। इसके साथ यह भी महसूस हुआ है कि गलत-सही आग्रहों की जकड़ में आना तो आसान है, पर उनसे मुक्त होना बहुत मुश्किल काम है।

श्री वीरेन्द्र ने यह ठीक लिखा है कि मैं एक अरसे से पंजाब की भाषायी समस्या पर लिख रहा हूं : उनके शब्दों में भ्रान्तियां उत्पन्न करने का प्रयास कर रहा हूं। उनकी शिकायत यह है कि मैं अपने आपको हिंदी का समर्थक भी कहता हूं। संभवतः हिन्दी समर्थक होने के नाते वे मुझसे हिंदी के संदर्भ में उस कठमुल्लेपन की आशा करते हैं, परन्तु सच्चाई तो यह है कि हिंदी समर्थक होने के कारण ही मैं पंजाब की भाषा समस्या पर गत 34 वर्ष से निरन्तर हिन्दी में लिख रहा हूं। सन् 1950 में तब लखनऊ से प्रकाशित पांचजन्य में मेरी एक लेखमाला 'पंजाब की भाषा समस्या' शीर्षक से ही प्रकाशित हुई थी। उसके बाद लगातार मैं समस्या की अवांछनीय खींचतान समाप्त हो, पंजाब का जन जीवन भाषा के नाम पर न बंटे और हिंदी को अपना सही राष्ट्रीय स्वरूप निर्मित करने में सभी वर्गों का सद्भाव और सहयोग प्राप्त हो। मेरे इस प्रयास को श्री वीरन्द्र और उनके हम ख़याल लोग भ्रांतियां उत्पन्न करने का कार्य मानते रहे हैं।

हमारे देश के अनेक प्रदेशों में बोली जानी वाली अनेक भाषाओं की स्थिति आजादी से पहले वह नहीं थी, जो आज है। प्रदेश का उस समय जिस प्रकार का गठन था उसमें तीन-तीन, चार-चार भाषाएं बोली जाती थीं और किसी एक भाषा का अनेक कारणों से प्रभुत्व बना रहता था। उत्तर भारत के लगभग सभी प्रदेशों में उर्दू का प्रभुत्व था, दक्षिण भारत की हैदराबाद रियासत, जिसमें मराठी, तेलगु और कन्नड़ भाषी प्रदेश थे, में भी उर्दू का बोलबाला था। मद्रास प्रेसीडेन्सी में तेलुगु, कन्नड़, मलयालम और तमिल बोली जाती थीं, परन्तु प्रभाव तमिल का ही था। उन्नीसवीं शती के पुनर्जागरण आंदोलन से अनेक धर्मों, सम्प्रदायों और वर्गों में नयी चेतना आई, उसी के साथ ही अनेक भाषाओं में अपनी अस्मिता के तलाश का सिलसिला शुरू हुआ।

देश विभाजन से पहले पंजाब में भी तीन भाषाएं बोली जाती थीं। अंग्रेजी भी जोड़ लें तो चार भाषाएं थीं। उर्दू सारे प्रदेश में राजकाज की भाषा थी। आजीविका का सबसे बड़ा साधन थी और अभिव्यक्ति का सबसे लोकप्रिय माध्यम थी। पूर्वी पंजाब की रियासतों, विशेषरूप से पटियाला में गुरुमुखी लिपि में पंजाबी राजकाज की भाषा और प्रारंभिक शिक्षा का माध्यम थी। वर्तमान हरियाणा और हिमाचल प्रदेश में पहाड़ी और बांगडू बोलचाल की भाषा थी और शेष पंजाब में सभी पंजाबी बोलते थे। लिखने में मुसलमान और बहुत से हिंदू-सिख भी उर्दू लिपि का प्रयोग करते थे। बीसवीं शती के प्रारम्भ तक हिन्दू-सिखों की लिपि गुरुमुखी थी। इस समय तक पंजाब में हिन्दू-सिख कवियों द्वारा रचित अधिकांश पंजाबी और बृजभाषा साहित्य गुरुमुखी लिपि में भी लिखा गया। रामायण, महाभारत, पुराण आदि ग्रंथ भी गुरुमुखी लिपि में ही उपलब्ध थे। अठारहवीं-उन्नीसवीं शती के सूफी मुसलमान कवियों ने अपनी पंजाबी रचनाओं के लिए फारसी लिपि का उसी प्रकार प्रयोग किया था, जैसे जायसी, कुतबन, मन्झान, उस्मान आदि सूफी कवियों ने अपनी हिन्दी (अवधी) रचनाओं के लिए फारसी लिपि का उपयोग किया था।

आर्य समाज के प्रचार के बाद पंजाब में हिंदी और देवनागरी का आगमन हुआ। पंजाब के शहरी हिन्दू समाज में यह आंदोलन विशेषरूप से लोकप्रिय हुआ। उसी के साथ पंजाब की हिंदू महिलाओं में हिंदी पठन-पाठन लोकप्रिय हुआ। श्री वीरेन्द्र कहते हैं कि विभाजन से पहले गुरुमुखी को ही पंजाबी कहा जाता था। यह ठीक है परन्तु वहां हिंदी को भी केवल 'शास्त्री' कहा जाता था और इसे ब्राह्मणों, पुरोहितों और महिलाओं की भाषा समझा जाता था। यह बात भी कम रोचक नहीं है कि बीसवीं शती के आगमन तक हिंदी, उर्दू, पंजाबी का प्रयोग बहुत कम होता था। बोलचाल की भाषा 'हिन्दवी' कहलाती थी। विद्वान लोग और कविगण संस्कृत के अतिरिक्त अभिव्यक्ति के माध्यम को 'भाषा' या 'भाखा' कहते थे। स्वामी दयानंद ने सत्यार्थ प्रकाश में हिंदी शब्द का कहां प्रयोग किया है? उसे मात्र 'भाषा' कहा है।

पंजाबी भाषा को पंजाब में उचित स्थान मिले इसमें साम्प्रदायिकता कहा है? भाषाओं का राजनीतिक और साम्प्रदायिक उपयोग या दुरुपयोग तो हिंदी के नाम से भी कम नहीं हुआ, परन्तु इससे हिंदी साम्प्रदायिक नहीं बन जाती। विभाजन के बाद पंजाब की हिन्दू और सिख साम्प्रदायकि राजनीति ने अपने हित साधन के लिए हिन्दी

और पंजाबी भाषाओं को अपना हथकंडा बनाया, परन्तु क्या हम इस प्रकार की राजनीति के सदा मोहरे बनते रहेंगे?

श्री वीरेन्द्र लिखते हैं—चूंकि अकाली 1947 के बाद लगातार पंजाबी द्वारा राजसत्ता प्राप्त करने का प्रयास करते चले आ रहे हैं, इसलिए हिन्दुओं ने भी पंजाबी भाषा को अपनी भाषा स्वीकार करने से इनकार कर दिया। आज जब कि अकाली यह कह रहे हैं सिख हिन्दू नहीं हैं, वे हिन्दुओं से अलग अपना अस्तित्व सुरक्षित रखना चाहते हैं, तो यह और भी आवश्यक हो जाता है कि हिन्दू भी अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए हिन्दी को न छोड़ें।

वीरेन्द्रजी के इस तर्क को पंजाब तथा सम्पूर्ण देश के संदर्भ में परखकर देखा जाए। यदि अकालियों ने पंजाबी द्वारा राजसत्ता प्राप्त करने का प्रयास किया तो क्या पंजाब की हिन्दू संस्थाओं ने (तत्कालीन जनसंघ सहित) हिन्दी द्वारा राजसत्ता प्राप्त करने का प्रयास नहीं किया। क्या उनका यह मन्तव्य नहीं था कि हिन्दी को मोहरा बनाकर वे ऐसा 'महापंजाब' बनाए रखें जिसमें हिन्दू बहुमत में रहकर राजसत्ता का सुख भोगते रहें? इस तर्क को सम्पूर्ण देश में संदर्भ में रखकर देखने पर क्या दक्षिण भारतीयों की इस आशंका को बल नहीं मिलता कि हिन्दी प्रदेश के लोग हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाकर सम्पूर्ण देश की राजसत्ता हथियाये रखने का प्रयास कर रहे हैं?

पंजाबी भाषा पंजाबी बोलने वाले सभी लोगों की भाषा है, इससे अकालियों की राजसत्ता की भूख कैसे तृप्त होती है, यह बात आज तक मेरी समझ में नहीं आई। यदि पंजाब का भाषायी आधार पर पुनर्गठन सही ढंग से किया जाता है और उसमें पंजाबी भाषी हिन्दुओं का खुला समर्थन होता तो जो 'पंजाबी सूबा' बनता उसमें सिखों की गिनती चालीस प्रतिशत से अधिक नहीं होती, परन्तु इस मांग को अकाली दल ने रखा, पंजाबी हिन्दुओं ने इसका निरन्तर विरोध किया, परिणामस्वरूप अनेक पंजाबी भाषी, परन्तु हिन्दू बहुमत वाले क्षेत्र पंजाब से बाहर रह गए और शेष पुनर्गठित पंजाब में सिख पचपन प्रतिशत हो गए। इस प्रदेश में भी अकाली कभी स्वतंत्र रूप से अपनी सरकार नहीं बना सके। जब भी उनकी सरकार बनी, वह जनसंघ या जनता पार्टी के सहयोग से बनी और गत अठारह वर्षों में (पंजाबी सूबा बनने के बाद) कम से कम बारह वर्ष वहां कांग्रेस का शासन रहा। इतना अवश्य हुआ कि अब पंजाब का मुख्यमंत्री सिख होता है, चाहे वह कांग्रेसी हो या अकाली। शायद वीरेन्द्र को यह स्थिति भी स्वीकार्य नहीं है।

सन् 1949 में बने सच्चर फार्मूले का पंजाबी हिन्दू प्रेस और आर्य समाज ने डटकर विरोध किया, परिणाम यह हुआ कि पंजाब के हिन्दुओं और सिखों के बीच पहली दरार पड़ी और अकाली दल राजनीतिक उपलब्धियों में (रीजनल फार्मूले) तक पहुंच गया। जब इस फार्मूले का विरोध हुआ और हिंदुओं को हिंदी के नाम पर पंजाब के जनजीवन से का काटने का प्रयास हुआ तो हिन्दुओं-सिखों के मध्य दरार और बढ़ी। इसका परिणाम 'पंजाबी सूबा' हुआ। 1966 में पंजाबी भाषा प्रदेश बन जाने के बाद ऐसा लगा था कि श्री वीरेन्द्र जैसे लोग गलती का एहसास करेंगे और दो सम्प्रदायों के बीच बढ़ती हुई दरार को पाटने के लिए आगे आएंगें। कुछ लोगों को इसका अहसास

भी हुआ। सन् 1966 में ही श्री बलराज मधोक ने मुझे अपने एक पत्र में लिखा था कि यदि पंजाब के हिन्दू नेतृत्व ने पंजाबी को नकारा न होता तो हरियाणा सहित पूरा पंजाब, पंजाब होता। सन् 1981 की जनमत गणना में भारतीय जनता पार्टी के उन सभी पंजावी नेताओं ने पंजाब के सभी हिन्दुओं को पंजाबी को मातृभाषा के रूप में स्वीकार करने की अपील जो उससे पहले पंजाबी का विरोध करते रहे थे।

परन्तु श्री वीरेन्द्र और उनके समाचार पत्र बिल्कुल नहीं बदले। विचार किस प्रकार आग्रह में बदलता है और आग्रह दुराग्रह में बदलकर किस प्रकार व्यक्ति के सम्पूर्ण विवेक को ढकलेता है, इसके लिए सिर्फ़ यह एक उदाहरण ही, पर्याप्त है।

मैं वीरेन्द्र जी से अत्यन्त नम्रतापूर्वक कुछ निवेदन करना चाहता हूं। पंजाबी भाषी प्रदेश के बन जाने के बाद भी उनका पंजाबी विरोध हमें जिस बिन्दू तक ले आया है उसकी अगली मंजिल क्या है? वे बिगड़ी हुई दशा को सुधारने में सहयोग देंगे, या उसे उस बिन्दु तक पहुंचा देंगे जहां हम में से कोई नहीं पहुंचना चाहता।

वीरेन्द्र जी, हिन्दी की रक्षा ही राष्ट्र की रक्षा नहीं है। अपितु राष्ट्र की रक्षा में ही हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की रक्षा समाहित है। कोई भी चीज़ राष्ट्र से बड़ी नहीं है। कृपया हिन्दी के नाम पर भारतीय भाषाओं के बीच दरारें न बनाइए। पंजाब में सदा हिन्दी के अनुकूल वातावरण रहा है और आज भी है, परन्तु जब पंजाबी को नकार कर हिन्दी का समर्थन किया जाता है उसे 'हिन्दूपन के' साथ जोड़ा जाता है तो अकाली साम्प्रदायिकता को बल मिलता है। उस समय वे अधिक आग्रही होकर हिन्दी का विरोध करते है और पंजाबी को सिख पंथ के साथ जोड़ देते हैं। पंजाबी के सभी विचारशील लेखक, विचारक पंजाबी को साम्प्रदायिक जकड़ से मुक्त करने में लगे हुए हैं। कृपया आप उनकी सहायता कीजिए। उसी के साथ हिन्दी के हिन्दूपन के साथ मत जोड़िए। इससे पंजाब में हिन्दू-सिखों के मध्य दरार बढ़ती चली जाएगी और सम्पूर्ण देश में हिन्दी की छवि को राष्ट्रीय छवि बनने में और अधिक कठिनाई होगी। ये कठिनाईयां पहले ही कुछ कम नहीं हैं।

वीरेन्द्रजी, 1981 की जनमत गणना में पंजाब के 82 प्रतिशत लोगों ने अपनी मातृभाषा पंजाबी घोषित की है। शेष 18 प्रतिशत में आठ-दस प्रतिशत लोग ऐसे होंगे जो अन्य प्रदेशों से आकर पंजाब में बसे हैं। जिनकी मातृभाषा पंजाबी नहीं है। शेष आठ-दस प्रतिशत लोग ही अपने पुराने आग्रह पर अड़े हुए हैं। आगामी जनमत गणना तक इनका दृष्टिकोण भी बदलेगा और चीज़ों को ये अधिक वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देख सकेंगे। मेरा निवेदन है कि इस तथ्य को भी आप खुली आंखों से देखिए।

और अंत में आप आयु में मुझसे बड़े हैं। विभाजन की विभीषिका को आपने अच्छी तरह देखा ही नहीं भोगा भी है। पंजाब में जो उग्रवाद आतंकवाद और धार्मिक रूढ़िवाद पनप रहा है। उसकी अंतिम परिणति क्या-क्या है यह बताने की ज़रूरत नहीं है। स्थिति हमारे हाथों से तेजी से फिसलती जा रही है। आपने पंजाब में हिन्दी के सर्वनाश को आशंका प्रकट की है, मुझे सम्पूर्ण पंजाब का सर्वनाश दिखाई दे रहा है।

कृपया इस विनाश को रोकने के लिए आगे आइए। इस कार्य में मेरा तथा मेरे जैसे बहुत से लोगों का पूर्ण सहयोग आपके साथ है।

(धर्मयुग, 197θ)

3
पंजाब समस्या : पृष्ठभूमि

देश के विभाजन के बाद या यूं कहें कि देश की आजादी के बाद सबसे गंभीर आतंकित संकट, पंजाब समस्या और दूर-दूर तक फैली उसकी परछाई में घिरी हुई भारत तथा विदेशों में बसने वाले लगभग डेढ करोड़ सिखों के अस्तित्व संकट की समस्या, के रूप में उभरा है। इस संकट क कारण देश की सबसे नाजुक उत्तरी-पश्चिमीं सीमा की सुरक्षा को गंभीर चुनौती मिल रही है, देश का सबसे समृद्ध प्रदेश और हरित क्रांति का अगुआ पंजाब साम्प्रदायिक तनाव में घिरता चला जा रहा है। सबसे बड़ी बात यह कि सारे देश में फैले हुए सिख पहली बार अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में गहरे अनिश्चय और असुरक्षा बोध के घिर गये हैं और अपने मूल, व्यापक हिन्दू समाज से निरन्तर कटते चले जा रहे हैं।

बात कहां से शुरू की जाए? संत जरनैल सिंह भिंडरांवाले के उदय से या अकाली दल के धर्मयुद्ध मोर्चे से या देश की आजादी के बंटे हुए पूर्वी पंजाब की सत्ता राजनीति से या चौथे-पांचवे दशक़ में उभरी हुई हिन्दू, मुस्लिम, सिख साम्प्रदायिकता से, पाकिस्तान, अखंड हिन्दुस्तान और आजाद पंजाब की मांग से या उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में उभरे हिन्दू मुस्लिम, सिख नव जागरणवादी आन्दोलनों से?

पंजाब में सिख राज्य की समाप्ति (1849ई.) के बाद एक नये युग की शुरूआत हुई। महाराजा रणजीत सिंह का राज्य सतलज नदी के उत्तर में था। सतलज नदी के दक्षिण का प्रदेश-जिसमें वर्तमान पंजाब के लुधियाना, फिरोजपुर, संगरुर, पटियाला, नाभा, फरीदकोट जैसे क्षेत्र ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रभाव में पहले ही आ चुके थे। वर्तमान हरियाणा भी अंग्रेजों की छत्रछाया में आ चुका था। रणजीत सिंह का राज्य भी जब अंग्रेजी राज्य में मिल गया तो दिल्ली से पेशावर तक का सम्पूर्ण प्रदेश पंजाब

कहा जाने लगा। बाद में अंग्रेजों ने सिन्धु नदी से उत्तर के पठान प्रदेश को उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त के नाम से गठित कर दिया, जिसे आमतौर पर आज भी सरहदी सूबा कहा जाता है। 1911 में अंग्रेज कलकत्ता से अपनी राजधानी दिल्ली ले आए। उस समय से दिल्ली पंजाब का भाग नहीं रहा। वर्तमान हरियाणा, पंजाब, हिमाचल प्रदेश और इस समय पाकिस्तान का पश्चिमी पंजाब आजादी से पहले एक बृहतर पंजाब बनाते थे। इसमें पटियाला, नाभा, कपूरथला, जींद और बहावल पुर जैसी देसी रियासतें शामिल नहीं थीं।

हिमाचल पूर्व ब्रिटिश पंजाब में मुसलमानों की गिनती लगभग 53 प्र. श. थी, हिन्दुओं की लगभग 30 प्र. श. और सिखों की लगभग 15 प्र. श. थी वर्गीय दृष्टि से मुसलमानों और सिखों की बहुसंख्या खेती और दस्तकारी पर निर्भर करती थी इसलिए ज्यादातर गांवों में बसती थी और शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ी हुई थी, ज्यादा गरीब भी थी। हिन्दुओं की बहुसंख्या व्यापार और नौकरियों पर निर्भर करती थी, इसलिए अधिकतर शहरी थी, शिक्षा की दृष्टि से अन्य दोनों वर्गो से कहीं आगे थी और आर्थिक दृष्टि से भी उनसे बेहतर थी। पंजाब पर राज्य चाहे जिसका हो तुर्को, पठानों, मुगलों, सिखों या अग्रेजों का—आंतरिक शासनतंत्र हमेशा खत्री, अरोड़ा ब्राह्मण वर्ग के हिन्दुओं के हाथ में ही रहा। शासन के दीवान, बख्शी, तोबरखाने का अधिकारी, गांव का पटवारी, कर वसूल करने वाला कारिंदा आदि इसी वर्ग के लोग होते थे, आज तक भी लगभग ऐसी ही स्थिति रही है। ऐसा वर्ग-सर्वण हिन्दू-एक ओर अपने कर्मकांड में पूरा रहता था, दूसरी ओर अपने शासकों का कृपा पात्र बनने के लिए उनकी भाषा में पूरी सिद्धता प्राप्त कर लेता था, उनके जैसे कपड़े पहनने लगता था, अपने बाहरी रहन-सहन में उनकी बहुत सी नकल कर लेता था।

गुरु नानक का जन्म भी इसी वर्ग में हुआ था। उनके पिता मेहता कल्याण चंद्र खत्री थे और गांव के पटवारी थे। ऐसा वर्ग जिस प्रकार का दोहरा जीवन जीता था, उसे गुरु नानक ने बहुत नजदीक से देखा था। अपने सजातियों की इस स्थिति पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने अपनी एक रचना में कहा थाः—

गऊ बिराहमण कउ करु लावहु
गोबर तरणि न जाई।
धौती टिक्का ते जप माली
धानु मलेछा खाई।
अंतरि पूजा पड़हि कतेबा
संजमु तुक्का भाई।
छोड़ीले पाखंडा,
नाम लहिए जाहि तरंदा

: तुम गऊ—ब्राह्मण पर कर लगाते हो और गोबर से लीप पोत कर अपना उद्धार करना चाहते हो। घर में धोती पहनते हो, जयमाला पकड़ते हो पर धान मलेच्छों

से लेकर खाते हो। घर के अंदर वैठकर पूजा करते हो, परन्तु तुर्कों को प्रसन्न करने के लिए कुरान भी पढ़ लेते हो। तुम यह पाखंड छोड़ कयों नहीं देते।

फारसी भाषा अपनाकर अपने आपको संभ्रान्त वर्ग में ले जाने वाले खत्री से उन्होंने कहा-तुमने अपना धर्म छोड़कर मलेच्छों की भाषा स्वीकार कर ली है—

खत्रीआ तू धरम छोडिया
मलेच्छ भाषा गही।

उन्नीसवीं सदी के मध्य में पंजाब में अंग्रेज शासन स्थापित हो जाने के वाद स्वाभाविक था कि यही वर्ग एक ओर नये ज्ञान-विज्ञान, कानून, शिक्षा आदि में अगुवा हो जाता और दूसरी ओर व्यापार तथा उद्योग की नई विधियों का लाभ भी इसी वर्ग को ज्यादा मिलता। इसीलिए अविभाजित पंजाब में उद्योग-व्यापार, वकालत, डाक्टरी, ठेकेदारी, शिक्षा क्षेत्र में प्रिंसिपली और प्रोफेसरी पर पंजावी शहरी सर्वण हिन्दू का लगभग एकछत्र राज्य था। पुस्तक-प्रकाशन और पत्रकारिता में भी यही वर्ग आगे आया।

मुसलमान और सिख अधिकतर किसान या दस्तकार थे। थोड़े से बड़ं सामंती घरानों को छोड़कर अधिकतर लोग अनपढ़ भी थे और गरीब भी। नये ढंग की शिक्षा प्रणाली पहले नगरों में आई। इस वर्ग को उसका लाभ अधिक नहीं मिला। सिखों में जिन्हें आज 'भा पा' सिख कहा जाता है, शहरी सर्वण हिन्दू का ही सिख संस्करण है—खत्री, अरोड़ा, भाटिया, व्राह्मण आदि सर्वण हिन्दू जाति से सिख बने हुए लोग। पंजाब के लाला : सर्वणः हिन्दू और भा पा सिख में बहुत कम अंतर है। दोनों की पृष्ठभूमि एक ही है इसलिए दोनों का व्यापारी, व्यवहार कुशल चरित्र भी एक जैसा ही है। विभाजन के वाद पश्चिमी पंजाब से उजड़कर भापा सिख कुछ तो पंजाब के नगरों में वसा, परन्तु ज्यादातर पंजाव से बाहर दिल्ली, उत्तर प्रदेश, विहार, प. बंगाल और मनीपुर तक, दूसरी ओर राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत तक चला गया।

जैसे सर्वण हिन्दू चरित्र हिन्दू-सिख होने के बावजूद एक जैसा ही है, उसी तरह पश्चिमी पंजाब के उत्तरी छोर से लेकर पश्चिमी उत्तर प्रदेश और राजस्थान के भरतपुर, धौलपुर, अलवर आदि क्षेत्रों तक फैला हुआ जाट समुदाय का चरित्र मुसलमान, सिख और हिन्दू धर्मों में वंटे होने के वावजूद एक जैसा है। जाटों की ही पृष्ठभूमि के संबंध में बड़ा विवाद है। कुछ विद्धान उन्हें सीथिपाई नस्ल का मानते हैं, कुछ आर्य वंश परम्परा का, परन्तु इतना निश्चित है कि हिन्दू वर्ग व्यवस्था में उनकी गणना सवर्ण वर्ग में नहीं हुई। जाट का जमीन से गहरा रिश्ता है। वह मूलतः किसान है। किसी भी स्थिति में वह अपनी जमीन-गांव छोड़कर भागना नहीं चाहता। इसी लिए तुर्कों, अफगानों और मुगलों के निरन्तर हमलों से पंजाब का क्षत्रिय :खत्रीः अपना चरित्र बदलकर बनिया बनता चला गया और उनमें से बहुत से लोग पंजाब से बाहर चले गये परन्तु जाट अपनी जमीन पर ही टिका रहा। ऐसा कोई भी धर्म जो उन्हें सामाजिक दृष्टि से बेहतर

स्थान देता था और उनकी मेहनत और वीरता की कदर करता था, उन्हें आकिर्षत करता था। सबसे पहले उन्हें इस्लाम ने आकर्षित किया। शासन सत्ता भी मुसलमानों के हाथ में थी। पंजाब के मध्य और पश्चिमी भागों में जाटों की बड़ी संख्या ने इस्लाम स्वीकार कर लिया।

गुरु नानक का जन्म खत्री कुल में हुआ था। उनके वाद के नौ गुरु भी खत्री थे, परन्तु सिख आन्दोलन को व्यापक समर्थन जाटों, दस्तकारों और छोटी जाति के हिन्दुओं से ही प्राप्त हुआ। गुरु नानक तथा परवर्ती सिख गुरुओं का संदेश और जीवन पद्धति-जाति-पात का खंडन, लंगर में एक कतार में बैठकर भोजन करने की विधि, सेवा भाव तथा बहुत सी पौराणिक मान्यताओं की अस्वीकृति ऊंची जाति के लोगों को बहुत नहीं भाती थी। ऊंच-नीच भावना से ग्रस्त उस युग में गुरु अर्जुन देव का एक ऐसे ग्रन्थ का संपादन करना जिसमें ब्राह्मणों, खत्रियों के साथ ही कबीर, रैदास, नामदेव, धन्ना और फरीद जैसे नीची जाति और मुसलमानों की रचनाएं भी शामिल हो अपने आप में बहुत बड़े अचम्भे की बात थी। अमृतसर के हरिमंदिर का पहला पुजारी (ग्रंथी) बाबा बुड्ढा (रंधावा जाट) को बनाया गया था। चार सौ साल पहले किसी मंदिर का पुजारी एक जाट किसान बन सके यह सोचना भी आसान नहीं था।

मध्य पंजाब-माझा और मालवा- के जाटों का पूरा सहयोग सिख आन्दोलन को प्राप्त हुआ। गुरु गोबिन्द सिंह ने जिस खालसा फौज को बनाया उसमें भी गुरु बन गये जिन्हें मिसल कहा जाता था अठाहरवीं शती के अंतिम वर्षों में इन मिसलों के सरदार पंजाब में झेलम से लेकर दिल्ली-सहानपुर तक हमले करते थे और आहलूवालिया मिसल को छोड़कर शेष जाट सिख सरदारों द्वारा ही संचालित और नियन्त्रित थीं।

यमुना नदी के पार जाट क्षेत्र पर न इस्लाम का विशेष प्रभाव पड़ा न सिख आन्दोलन का। उन्नीसवीं शती के अंत में उभरे आर्य समाज आन्दोलन ने पंजाब में शहरी सर्वण हिन्दू को विशेष आकिर्षत किया और इस क्षेत्र के जाटों को। इस क्षेत्र के जाटों को आर्य समाज ने वही सामाजिक प्रतिष्ठा देने की कोशिश की जो पश्चिमी पंजाब के जाटों को इस्लाम ने और मध्य पंजाब के जाटों को सिख धर्म ने दी थी।

1869 में पंजाब में भारी अकाल पड़ा। 1877 में दुबारा अनाज की भयानक कमी हो गई। इन दो घटनाओं से किसान की बुरी हालत हो गई और लगान आदि चुकाने के लिए वह क़र्जदार बन गया। इन स्थितियों ने साहूकारी या महाजनी का धंधा पंजाब में जोर पकड़ने लगा जिनके चंगुल में छोटे-छोटे किसान आने लगे। किसानों को साहूकारी के शोषण से बचाने के लिए सन 1900 में " लैंड एलीएनेशन एक्ट बनाया गया। इसके द्वारा साहुकारों को अपने क़र्ज की अदायगी के रूप में जमीन को हथिया लेने का अधिकार नहीं रहा। इस कानून के द्वारा पंजाब में काश्तकार और गैरकाश्तकार दो वर्ग बना दिए गये और गैरकाश्तकारों को विशेष अनुमति के विना काश्तकार वर्गो से जमीन खरीदने का अधिकार नहीं रहा।

अंग्रेज सरकार को पंजाब के ग्रामीण वर्गो से अपनी सेना के लिए बढ़िया से बढ़िया रंगरुट मिलते थे। वे किसानों में अंसतोष नहीं उभरने देना चाहते थे इसलिए

उन्होंने काश्तकार और गैरकाश्तकार नाम से पंजाबियों का सामाजिक विभाजन कर दिया। जाट, राजपूत और छोटी जातियों के लोग कारश्तकार घोषित हुए, खत्री, अरोड़ा बनिया वर्ग गैरकाश्तकार हो गये। इस प्रकार हिन्दू मुसलमान-सिख जाटों के आर्थिक हित सांझे हो गये और राजनीतिक चेतना के आने से इनका सांझा मंच भी बनने लगा। विभाजन से पहले पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी का जन्म :1923: मुस्लिम जमींदारों द्वारा इस उद्देश्य से ही किया गया था कि साहूकार वर्ग से काश्तकार वर्ग के हितों की रक्षा की जा सके। लम्बे समय तक इस पार्टी को मुसलमान, सिख और हिन्दू किसानों का सहयोग मिला और विभाजन से कुछ महीने पहले तक पंजाब से इसी पार्टी का शासन रहा। सर सिकन्दर हैयात खान और सर खिजर हयात खां पंजाब मंत्रिमंडल का नेतृत्व करते रहे जिसमें हिन्दू और सिख जाटों का भी प्रतिनिधित्व रहता था।

आज पंजाब की सिख राजनीति में जाटः पंजावी में जट्टः और गैर जाट की बहुत चर्चा होती है। उसी प्रकार हरियाणा में जाट गैर जाट की बात राजनीति को बहुत दूर तक प्रभावित करती है। इसकी पृष्ठभूमि में भी वही सन 1900 का लैंड एलिएनेशन बिल' काम करता है जिसमें जाट वर्ग को जमीन का स्वामी होने, उससे जुड़ने के सदियों के अहसास को वल दिया, उसके बेपरवाह, खुले, भोले और जुझारु चरित्र को वैधानिक स्वाकृति दे दी। इसके वाद भी लम्बे समय तक यह वर्ग अपनी पैदावार को वेचने के लिए हिन्दू लाले और कहीं कहीं सिख भापे पर ही निर्भर करता था और बुरी तरह शोषित होता था। आजादी के बाद वोट की ताकत ने इस वर्ग को अपनी शक्ति का अहसास कराया। इस वर्ग के नवयुवक बड़ी मात्रा में शिक्षा ग्रहण करने लगे। कल तक इनके लिए खेती और फौज की नौकरी दो ही रास्ते थे। शिक्षा ने राजनीतिक चेतना पैदा की, साथ ही आजीविका के नये रास्ते भी खोले। हरित क्रांति ने इस वर्ग में जो आर्थिक सम्पन्नता पैदा की उसने इन्हें एक नये किस्म की अक्खड़ता भरा विश्वास दे दिया, साथ ही लाला और भापा वर्ग के लिए इनमें गहरी घृणा और तिरस्कार का भाव भी भर दिया।

आज भी पंजाब और सिख समस्या को समझने में इस पृष्ठभूमि की जानकारी होना बहुत आवश्यक है।

(1975)

4
हिन्दी कहानी : समीक्षा का संकट

कहानी की कितनी ही परिभाषाएं हो चुकी हैं। मेरे लिए कहानी मेरा अपना ही पुनउर्द्घाटन है। जीवन को जीने और जानने की प्रक्रिया में हर व्यक्ति जाने-अनजाने निरन्तर जूझता रहता है। कथाकार का जूझना अनेक स्तरों पर होता है। अपने और अपने परिचय क्षेत्र के कितने ही विविध संदर्भों से प्राप्त अनुभवों को अपनी कल्पना में लपेट कर वह एक संसार की सृष्टि करना है। इसलिए कहानी मेरे लिए और कुछ नहीं, अपने ही सृजित संसार के माध्यम से अपने परिवेश, अपने समाज और उसमें जीते हुए मनुष्य को अधिक जानने का प्रयास है।

कहानी की यह परिभाषा संभवतः शास्त्रीय परिभाषा नहीं है इसलिए कहानी के किसी कथित शास्त्रीय विधान के बंधने को मैं स्वीकार नहीं कर पाता। कथानक पात्र, संवाद, देशकाल और वातावरण तथा उद्देश्य जैसे तत्व कुछ रूढ़ अर्थ में अब कहानियों के साथ जुड़े नहीं दिखाई देते, जैसे पहले दिखाई देते थे। इसलिए किसी कहानी की व्याख्या इन तत्वों के आधार पर करना सव वहुत संगत भी नहीं रह गया है, परन्तु यह भी सच है कि आज की कोई भी कहानी इन तत्वों से पूरी तरह मुक्त नहीं है। मैं कहानी को कहानी बनाए रखने के पक्ष में हूं, उसे कविता या निवन्ध नहीं बनना है। यह बात अलग है कि किसी भी अच्छी कहानी में कविता की लयात्मकता और बिम्ब-सृष्टि तथा निर्बंध की सगुढ़ता होती है। आज किसी भी कहानी के मूल्यांकन में मेरी दृष्टि उस कहानी में निहित मूल संवेदन-बिन्दु की ओर जाती है। वह बिन्दु कितनी शक्ति, कितनी चमक और कितनी सूक्ष्मता और समग्रता से अपने को अभिव्यक्ति के धरातल तक लाया है, यही मेरे लिए महत्वपूर्ण बात है।

हिन्दी में कहानी को लेकर गंभीर चर्चा की शुरुआत छठे दशक के उत्तरार्द्ध से

हुई थी। सातवें और आठवें दशक में हिन्दी कहानी इस कदर चर्चा का केंद्र रही कि इसे साहित्य की केंद्रीय विधा घोषित कर दिए जाने का आग्रह किया जाने लगा। अभी तक साहित्य-समीक्षा के सभी मान, वाद-विवाद और निष्कर्ष कविता को ही केंद्र मानकर किए जाते थे। यह बहुत स्वाभाविक भी था, क्योंकि हिंदी में काव्येतर विधाओं (उपन्यास, नाटक, कहानी) की कुछ-कुछ पहचान चौथे दशक के अंत में ही आकर उभरने लगी थी। प्रगतिशील आन्दोलन संभवतः साहित्य का प्रथम आंदोलन था, जिसने अपनी परिधि में कविता के अतिरिक्त अन्य विधाओं को समेटा था, अन्यथा आदिकाल की वीरगाथात्मक प्रवृत्तियों से लेकर नई कविता के आगमन तक चर्चा का केंद्र कविता ही रही थी। इसलिए मुझे हिन्दी कहानी के विकास में विभिन्न आंदोलनों की भूमिका और सार्थकता बहुत महत्वपूर्ण लगती है।

जिस समय हिन्दी में नयी कहानी की चर्चा शुरू हुई, उस समय तक नयी कविता की चर्चा हिन्दी में काफी गर्म हो चुकी थी। कहानी—नववर्षांक 1956 में डॉ. नामवर सिंह ने पहली बार स्पष्टतः प्रश्न के रूप में 'नयी कहानी' की बात उठाई थी। उस समय के नव लेखन की व्यापक चर्चा को देखते हुए नयी कविता की तर्ज पर नयी कहानी की चर्चा उठना स्वाभाविक था। कहानी के लिए जो नया पाठक वर्ग बन रहा था, उसमें कहानी की व्यापक रचनात्मक संभावनाओं की खोज की जानी बहुत आवश्यक थी। उस खोज के परिणामस्वरूप अनेक अच्छी कहानियां, हिन्दी कथा-क्षितिज पर उभर आईं। आजादी के बाद की मानसिकता को, समकालीन भारतीय समाज के बदलते हुए स्वरूप के संदर्भ में चित्रित करने की ताजगी इन कहानियों में थी और इसी कारण 'नयी कहानी' की चर्चा को व्यापकता मिलने और प्रतिष्ठित होने में विलम्ब नहीं लगा।

सन् 1964-65 में 'आधार' का संचेतन कहानी विशेषांक प्रकाशित हुआ। उसके संपादकीय लेख में कहा गया था कि निष्क्रियता और निरर्थकता के बहुचर्चित मुहावरों के मध्य सचेतन दृष्टि जीवन के सक्रिय भावबोध पर विशेष आग्रह करती है।

सचेतन कहानी की चर्चा के बाद हिन्दी कहानी में आन्दोलन की खूब चर्चा रही। मैं साहित्य में या जीवन के किसी भी क्षेत्र में आन्दोलनों के महत्व को नकारता नहीं हूं। आन्दोलन, यदि उनकी कुछ वैचारिक भित्ति है, कुछ नया ढूंढने, उसे चित्रित करने की तड़प है तो निश्चित ही वे साहित्य को (जीवन को) आगे बढ़ाने, नये क्षितिजों की तलाश करने और समकालीन मनुष्य के संकट को अधिक शक्ति के साथ रेखांकित करने में सहायक होते हैं। मैं यहां उन आन्दोलनों की बात नहीं कर रहा हूं जो मात्र शिगूफा करने के लिए या नितांत वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए शुरू किए जाते हैं।

आज जब हिन्दी कहानी में किसी भी वाद या आन्दोलन की तेज हवा नहीं चल रही है, अच्छी और सामान्य सभी तरह की कहानियां लिखी जा रही हैं। एक संपादक के नाते, संचेतन ... सम्मुख न तो नाम महत्वपूर्ण होता है, ... में उसके मूल

संवेदन-बिन्दु की तलाश करता हूं। और यह समझने की कोशिश करता हूं कि उस बिन्दु को कथा-कृति के रूप में ढालने में कथाकार कितना सक्षम रहा है। इस दृष्टि से अनेक चर्चित लेखकों की कहानियां कई बार निराश करती हैं और एकदम नए लेखक की कहानी आश्वस्त करती है।

यही पाठक की रुचि परिष्कार की दृष्टि से संपादकीय दायित्व का प्रश्न उठता है। एक जागरुक संपादक पाठक को मांसल सतह पर गुदगुदाने वाली या उसके कौतूहल का शमन कर उसका मनोरंजन करने वाली कहानी ही नहीं देता। मैं समझता हूं कि साहित्य का दायित्व पाठक की संवेदना को समृद्ध करना, उसे परिवेश में व्याप्त जीवन-गत प्रश्नों के प्रति जागरूक बनाना और अनृतः उसे एक वेहतर इन्सान बनाना है। संपादक साहित्य के इस महत् उद्देश्य का महत्वपूर्ण माध्यम है।

हिन्दी कथा सृजन की इस समय एक चित्य स्थिति यह है कि कहानी का अधिकाधिक नगरीकरण होता जा रहा है। नयी कहानी के प्रारंभिक दौर की एक विशेषता यह भी थी कि प्रेमचंद के पश्चात् हिन्दी कहानी में ग्राम जीवन के चित्रण की दृष्टि से जो कमी आ गई थी, वह केवल दूर नहीं हुई बल्कि तत्कालीन कथा-पीढ़ी का एक समर्थ वर्ग ग्रामीण-परिवेश की जीवंत कहानियां लेकर उभरा था। यह वर्ग गांव के कृषक परिवारों से जुड़ा हुआ था, परन्तु धीरे-धीरे स्थिति बदली और कुछ ही वर्षों में हिन्दी कहानी शहरों में सिमटने लगी। गत दो दशकों में साहित्य का सर्वाधिक चालू मुहावरा आधुनिकता है। आधुनिकता की पश्चिमी अवधारणा के साथ जुड़े अनास्था, संत्रास, कुंठा, अजनबीपन, क्षोभ, मृत्युबोध और संकट विस्फोट आदि बहुत से शब्द चर्चा सतह पर उभर आए। आधुनिकता की ये सभी अवधारणाएं संक्रमणशील मनःस्थिति में ही चित्रित की जा सकती थीं, जहां मान्यताओं और मूल्यों का विघटन स्पष्ट लक्षित हो सकता हो, ऐसी स्थिति में गांव से कस्बे, कस्बे से नगर और नगर से महानगर में संक्रमित होने वाले, औद्योगिक और यांत्रिक जीवन जीने वाले पात्रों की मानसिकता चित्रण करने के लिए कहानी भी गांव से कस्बे, कस्बे से नगर और नगर से महानगर की ओर बढ़ने लगी और कुछ ही वर्षों में कथा साहित्य में तेजी से उभरा हुआ गांव उपेक्षित होने लगा।

इसका कारण गांव से सम्बद्ध विषयों का अभाव नहीं है। मुझे लगता है कि थोड़ा-बहुत पढ़-लिखकर हमारा लेखक शहर में आ बसता है। शहर में बसकर भी वह गांव से कुछ समय तक जुड़ा रहता है फिर धीरे-धीरे शहर उसकी मानसिकता पर हावी होता चला जाता है और ग्रामीण संवेदना की पकड़ नास्टेलिया में बदलती हुई, उसकी सोच को उद्वेलित करना छोड़ देती है। आखिर हिंदी में ऐसे लेखकों का नामांकन भी मुश्किल है जो गांव में रहते हैं और वहीं खेती-किसानी या अन्य कोई व्यवसाय करते हैं। इसीलिए हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों और कहानियों का वह दौर लगभग समाप्त हो गया है जो बीस वर्ष पूर्व बड़े जोर-शोर से आया था। आंचलिक कथा ग्रामीण के आंचल विशेष से जुड़ी होती है। वैसे ऐसे अंचल भी इसमें जा सकते हैं। अमृतलाल नागर ने लखनऊ के परिवेश और उदयशंकर भट्ट ने बम्बई के मछुआरों (सागर, लहरें

और मनुष्य) में इस अंचल को तलाशा था, परन्तु नगर जीवन से जुड़े ऐसे अंचल नागरिक संस्कृति से इतने प्रभावित होते हैं कि उनका आंचलिक वैशिष्ट्य बच नहीं पाता।

मेरा ख्याल है कि पाठक अच्छी कहानी पढ़ना चाहता है, परन्तु हमारा अधिसंख्य पाठक वर्ग नगरों में रहता है इसलिए नगर परिवेश की कहानियों से वह अपना तादात्म्य जल्दी स्थापित कर लेता है, परन्तु ग्रामीण परिवेश की कोई अच्छी कहानी छपे तो पाठक उसे भी पसन्द करते हैं। उदाहरणस्वरूप रामदरश मिश्र की कहानी 'सड़क' या मिथलेश्वर की कहानी 'बंद रास्तों के बीच'। एक समर्थ लेखक ग्राम कथा को उन पाठकों की संवेदना का अंग बना सकता है जिन्होंने अभी गांव देखा भी नहीं, परन्तु निश्चित ही हिन्दी में ऐसे लेखकों की निरन्तर कमी होती जा रही है।

प्रेमचंद ने ग्राम कथा की एक पुष्ट परम्परा स्थापित की थी। उनके परवर्ती कथाकारों—जैनेन्द्र, यशपाल, अश्क, विष्णु प्रभाकर, अज्ञेय आदि ने इस परम्परा में कोई योगदान नहीं किया, परन्तु जैसा कि मैं यह कह चुका हूं कि नई कहानी के प्रारंभिक दौर में ग्राम कथा बड़ी शक्ति के साथ उभरी। आज यह परम्परा क्षीण रूप से जीवित तो है परन्तु मैं इसकी भावी संभवनाओं के प्रति में बहुत आश्वस्त नहीं हूं। इस प्रश्न के साथ अनेक राजनीतिक आर्थिक और समाजशास्त्रीय प्रश्न जुड़े हुए हैं। हिन्दी प्रदेशों में गांव से नगर की ओर भागने की प्रक्रिया बहुत तेज है। इन प्रदेशों में जिस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था विकसित हुई है और हो रही है उसमें नगर-निष्क्रमण की प्रक्रिया तेज से तेजतर होती चली जाएगी।

अब अंतिम बात समीक्षा और समीक्षकों की। संचेतना में हम पुस्तक समीक्षा उसके प्रचलित अर्थ में प्रकाशित नहीं करते हैं। हमारा प्रयास यह होता है कि उस विद्या की कुछ पुस्तकों के माध्यम से हम उस परिदृश्य का आकलन कर सकें जो सीमित आकार में इन पुस्तकों के माध्यम से उभरा है। इस दृष्टि से कभी हम एक पुस्तक की बात करते हैं तो कभी बारह पुस्तकें एक साथ आकलन का आधार बन जाती हैं, पुस्तक-समीक्षा के लिए हम सामान्यतः समकालीन साहित्य की पुस्तकें ही चुनते हैं, परन्तु ऐसी कोई भी पुस्तक जो साहित्य चिंतन में नई दृष्टि या विशिष्ट एप्रोच के कारण हमें महत्वपूर्ण लगती है, उसकी चर्चा भी हम संचेतना में करते रहते हैं।

मैं यह बात बिल्कुल नहीं मानता कि समीक्षक कोई फालतू आदमी है और लेखक पाठक के बीच उसकी ज़रूरत नहीं। मैं मानता हूं कि एक अच्छा समीक्षक लेखक (या रचना) और पाठक के बीच एक सार्थक सेतु की भूमिका का निर्वाह करता है। वह पाठक में अच्छे साहित्य को पढ़ने, उसका आस्वाद लेने और रचना के प्रति स्वयं आलोचनात्मक दृष्टि विकसित करने में सहायक होता है। लेखक की दृष्टि से भी समीक्षक का महत्व कम नहीं है। समीक्षक लेखक को उसके रचना-कर्म के प्रति सतत जागरूक रखता है और इस तरह लेखक के निरन्तर परिष्कार और विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता हैं परन्तु यह काम तभी होता है, जब समीक्षक सही अर्थों में समीक्षक हो। वह भी उतना ही जागरूक और संवेदनशील हो जितना वह लेखक से

होने की उम्मीद करता है। परन्तु जब आलोचक अपने आपको न्यायाधीश समझने लगता है, फैसले देना शुरू कर देता है और मठाधीश बनकर उठाने-गिराने को ही अपना आलोचना-कर्म मानने लगता है तो निश्चित ही वह अपनी सार्थकता खो बैठता है।

(संचेतना)

5

हिन्दी की पहचान

भाषा संबंधी विवाद संसार के उन सभी देशों में उठता रहता है, जहां एक से अधिक भाषाओं को बोलने वाले व्यक्ति रहते हैं। इस संबंध में संभवतः सबसे ताजा उदाहरण कनाडा का है। वहां अंग्रेजी और फ्रांसीसी दो भाषाएं राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत हैं, परन्तु फ्रांसीसी भाषियों को इतने से संतोष नहीं है। वहां फ्रांसीसी बहुमत वाले एक प्रांत को कनाडा से अलग करके एक स्वतंत्र राज्य बनाने की मांग लगातार बनी हुई है।

हमारे देश की यह समस्या तो कहीं अधिक पेचीदा है। राष्ट्रीय संदर्भ में हिंदी के सही स्वरूप की पहचान करने में तीन मुद्दे महत्वपूर्ण लगते हैं–1. सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रभाषा/राजभाषा/संपर्क भाषा के रूप में हिंदी की स्थिति। 2. हिन्दी का उन भाषाओं/बोलियों से संबंध जिन्हें आज सामान्यतः हिंदी के अंतर्गत स्वीकार किया जाता है और जिन्हें भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किया गया है। 3. हिन्दी बनाम हिन्दू बनाम उर्दू।

इन तीन में सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा पहला ही है। भारतीय संविधान के 343वें अनुच्छेद में कहा गया है कि संघ की राजभाषा देवनागरी लिपि में हिन्दी होगी। ध्यान देने की बात है कि हिंदी के बारे में संविधान में 'राष्ट्रभाषा' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, 'संघ की भाषा' या 'संघ की राजभाषा' इन शब्दों का ही प्रयोग हुआ है। मुझे लगता है कि हिन्दी के साथ प्रायः प्रयोग किए जाने वाले 'राष्ट्रभाषा' शब्द ने अनेक प्रकार की शंकाओं और भ्रांतियों को जन्म दिया है। हिन्दी के राष्ट्रभाषा का विशेषण आजादी की लड़ाई के दौरान किसी समय प्रारम्भ हो गया था, वैसे ही जैसे गांधी जी को 'राष्ट्रपिता' और कांग्रेस अध्यक्ष को 'राष्ट्रपति' कहा जाता था। संविधान निर्माताओं ने भारत की चौदह भाषाओं को भारतीय भाषाओं के रूप में मान्यता प्रदान की थी, जिनकी संख्या अब अठारह है। सभी भाषाएं भारत की राष्ट्रीय भाषाएं हैं तथा इनमें

से संस्कृत, कश्मीरी, सिंधी और नेपाली को छोड़कर ये भारत के किसी एक या एक से अधिक राज्यों की राजभाषाएं हैं।

फिर यह 'राष्ट्रभाषा' शब्द किस अर्थ को व्यक्त करता है? हिन्दी का प्रचार कार्य करने वाली कितनी ही संस्थाएं इस देश में हैं जिन्हें 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' कहा जाता है। इन संस्थाओं ने देश की एकता की दृष्टि से भारत के विभिन्न भागों में हिंदी प्रचार का महत्वपूर्ण कार्य किया है और आज भी कर रही हैं। देश के शीर्षस्थ नेताओं का सक्रिय सहयोग और समर्थन भी इन्हें मिलता रहा है। आजादी से पहले जब यह शब्द (राष्ट्रभाषा) प्रचलित हुआ तो उसका अर्थ यही था कि सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रीय अस्मिता की तलाश में एक ऐसी भाषा को स्वीकार किया जाए जिसे देश की बड़ी जनसंख्या बोल लेती हो, समझ लेती हो और जो सम्पूर्ण देश में संवाद और सम्पर्क माध्यम बनकर सम्पूर्ण राष्ट्रीय चेतना को समन्वित रूप में मुखर कर सके। संविधान में हिन्दी को संघ की राजभाषा के रूप में स्वीकार करने के पीछे भी यही मनोभाव था।

प्रायः हिन्दी के समुत्साही और आग्रही लोगों द्वारा इस स्थिति की गलत और भ्रामक व्याख्या की जाती है। वे समझते हैं कि 'राष्ट्रभाषा' के रूप में हिन्दी की इस देश में वही स्थिति है जो 'राष्ट्रध्वज' और 'राष्ट्रगीत' की है। कुछ समय पहले हिन्दी साहित्य सम्मेलन-प्रयाग द्वारा प्रकाशित और प्रचारित एक पोस्टर की भाषा इस प्रकार थी—हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा और देवनागरी राष्ट्रलिपि है, 'राष्ट्रध्वज' और 'राष्ट्रगान' की तरह 'राष्ट्रभाषा' के प्रति पूर्ण निष्ठा रखना और इसके गौरव की रक्षा के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना प्रत्येक भारतीय का राष्ट्रीय कर्तव्य है। उक्त कथन मात्र कथन नहीं है, बल्कि एक मानसिकता है।

राष्ट्रीय संदर्भ में हिन्दी के संबंध में इस प्रकार की मानसिकता अनेक संकट पैदा करती है। यह मानसिकता—'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' वाली मानसिकता का ही नया संस्करण है और जिस हिन्दी साम्राज्यवाद की बात कुछ लोग यदा-कदा उठाते रहते हैं उसके बीज इसमें निहित हैं। इस मानसिकता के रहते हिन्दी की बहुत हानि हो चुकी है और निरन्तर होती रहेगी।

कुछ वर्ष पूर्व कोचीन में नौ-वहन और परिवहन मंत्रालय की हिन्दी सलाहकार समिति की एक बैठक में हिन्दी के वरिष्ठ लेखक (स्वर्गीय) श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने एक सुझाव रखा था कि इस मंत्रालय से सम्बद्ध नौवहन और परिवहन के सभी माध्यमों पर यह आदर्श वाक्य अंकित कराया जाए—'भारत की सभी राष्ट्रीय भाषाएं हमारी अपनी भाषाएं हैं।' चन्द्रगुप्तजी के इस सुझाव के पीछे भावना यही थी कि इस संविधान द्वारा स्वीकृत इस देश की सभी भाषाएं हमारी राष्ट्रीय भाषाएं हैं, केवल हिन्दी ही नहीं। हमने एक राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान को स्वीकार किया है, किन्तु भाषा के रूप में हमने एक नहीं, अठारह भाषाओं को 'राष्ट्रभाषा' के रूप में स्वीकार किया है। इनमें से एक हिन्दी को हमने केन्द्रीय सरकार की संघ भाषा के रूप में राजभाषा की मान्यता दी है। हिन्दी देश के अनेक राज्यों की भी राजभाषा है। उसी प्रकार हमारी अन्य

राष्ट्रभाषाओं में से अनेक देश के विभिन्न राज्यों/भागों की राजभाषाएं हैं। वहां वे सरकारी कामकाज, अदालतों, शिक्षा तथा संवाद की प्रमुख भाषा के रूप में स्वीकृत हैं।

इसी के साथ जुड़ी हुई एक अन्य मानसिकता भी है। अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी के बढ़ते हुए विरोध को देखकर हिन्दी समुत्साही कुछ 'उदार' हो रहे हैं। ये लोग इस मानसिकता से ग्रस्त हैं कि ठीक है, क्षेत्रीय भाषाएं भी ठीक हैं, पर हिन्दी उनमें सबसे श्रेष्ठ, सबसे अधिक सम्मानित है, क्योंकि अन्य भाषाएं क्षेत्रीय भाषाएं हैं और हिन्दी राष्ट्रभाषा है। इस मानसिकता में अन्य भाषाएं मात्र दूसरे दर्जे का स्थान रखती हैं। हिन्दी के लिए किया जाने वाला कार्य उन्हें राष्ट्रीय कार्य लगता है।

हिन्दी केन्द्रीय सरकार की राजभाषा है, पर यह स्थान उसे इस कारण मिला कि उसे बोलने, समझने, पढ़ने और उसमें भावाभिव्यक्ति करने वालों की संख्या इस देश की किसी भी अन्य भाषा की तुलना में बहुत अधिक है। मध्ययुगीन हिन्दी की बोलचाल का रूप कई शताब्दियों से इस देश में संपर्क-भाषा के रूप में स्वीकृत रहता है। राजभाषा आयोग के प्रतिवेदन में इस संबंध में बड़ी महत्वपूर्ण बात कही गई है।

'अन्य बहुभाषा-भाषी देशों की अपेक्षा भारतीय भाषाओं की समस्या अधिक जटिल है, इसलिए इसका समाधान सहिष्णुता की भावना से सुदृढ़ व्यावहारिक आधार पर विवेकपूर्ण तथा विभिन्न सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के प्रति आदर भावना रखते हुए किया जाना चाहिए। इन भावनाओं को विश्व के कुछ देशों ने भाषा संबंधी कठिनाइयों के हल के रूप में बहुत कष्टप्रद अनुभूतियों के बाद सीखा है।'

दूसरा मुद्दा उन भाषाओं, उपभाषाओं, बोलियों के संबंध में है, जिन्हें हिन्दी के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। राहुल सांकृत्यायन के आधी सदी पहले लिखे दो लेखों का मुझे स्मरण हो रहा है। एक लेख का शीर्षक है 'पाकिस्तान की समस्या' और दूसरा लेख है 'मातृभाषाओं की समस्या'। इन दोनों ही लेखों में राहुलजी ने ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मगही, मैथिली, राजस्थानी, छत्तीसगढ़ी आदि भाषाओं को उन प्रदेशों में रहने वाले लोगों की मातृभाषा मानते हुए इन्हें शिक्षा का माध्यम बनाने का आग्रह किया था—मातृभाषा की हमारी परिभाषा है, जिसके बोलने में अनपढ़ से अनपढ़ आदमी और बच्चा तक भी व्याकरण की गलती नहीं कर सके।

मैं समझता हूं कि राहुल जी की मातृभाषा की परिभाषा बहुत सरलीकृत परिभाषा है। यदि इस आधार पर मातृभाषाओं का निर्धारण हो और उन्हें शिक्षा का माध्यम बनाया जाय, तो इस देश की शिक्षा व्यवस्था अराजक हो जाएगी। भारत की भाषाओं के एक सर्वेक्षण के अनुसार देश में 173 भाषाएं और 544 बोलियां हैं। क्या इन सभी को शिक्षा का माध्यम बनाया जा सकता है? इस देश में हर भाषा की अनेक बोलियां हैं और जगहों में से विकसित भाषा का एक मानक या टकसाली रूप भी है, परन्तु यह भी निश्चित है कि हिन्दी की उप भाषा घोषित करके समुन्नत भाषाओं की उपेक्षा हो रही है, जिनमें संसार का श्रेष्ठतम साहित्य रचा गया है। इनमें से मैथिली और राजस्थानी भाषाएं अपने अस्तित्व की तलाश में एक हद तक कामयाब हो गई हैं कि

साहित्य अकादमी इन भाषाओं में, रचे गये साहित्य को उसी प्रकार मान्यता देती है जैसे हिन्दी या अन्य किसी भारतीय भाषा में लिखे साहित्य को। कोई कारण नहीं कि भोजपुरी, ब्रज, अवधि आदि भाषाओं में, जिनकी अपनी लम्वी साहित्यिक परम्पराएं हैं, आधुनिक साहित्य न लिखा जाए और वह समादृत न हो।

हिन्दी की दृष्टि से सबसे विचित्र स्थिति यह है कि उत्तर भारत में वह अभी तक 'हिन्दूपन' से मुक्त नहीं हो सकी है। लगभग एक सदी पूर्व पंडित प्रताप नारायण मिश्र ने 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' का नारा दिया था। यह नारा आज भी हिन्दी के मानसिक संस्कार का अंग बना हुआ है। इस मानसिकता का सबसे ताजा उदाहरण दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार संघ (आंध्र) हैदराबाद द्वारा प्रकाशित मासिक पत्र 'सूर्य कुंभ' के एक अंक में प्रकाशित एक कविता है जिसका शीर्षक है 'हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान' (कवि- प्रो. रमेशचन्द्र सुकुल)। कविता की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

> एकदम सीधा नाता,
> हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान का।
> मां हिन्दी है मधुर फल
> हिन्दुस्तान जैसे विशाल वृक्ष का
> विविध वोलियों में
> अभिव्यक्ति करते हुए निज को
> हिन्दुस्तान के सभी जाति,
> धर्म व प्रान्त के वासी
> हैं केवल हिन्दू।

कुछ समय पूर्व कानपुर में 'विश्व हिन्दू परिषद्' की ओर से एक आयोजन किया गया। नगर में अनेक बैनर लगे थे, जिन पर ये पंक्तियां लिखी थीं—

> भारत के कण-कण में अंकित गौरव गान हमारा है।
> हम हिन्दू हैं, हिन्दी भाषी, हिन्दुस्तान हमारा है।।

इन पंक्तियों से दो बड़े भ्रामक निष्कर्ष निकलते है।—

1. इस देश में हिन्दू केवल हिन्दी भाषी हैं। मराठी-भाषी, गुजराती भाषी, पंजावी भाषी, बंगाली-भाषी, मलयालम-भाषी हिन्दू-हिन्दू नहीं हैं।
2. केवल हिन्दू ही हिन्दी-भाषी हैं, ईसाई, मुसलमान, सिख, पारसी आदि लोग हिन्दी भाषी नहीं हो सकते।

हिन्दी-उर्दू विवाद भी पुराने हिन्दू-मुस्लिम विवाद की ही आनुषंगिक उपज है। मुस्लिम समाज के उत्साही लोग उर्दू को मुसलमानों की धर्म और संस्कृति की भाषा घोषित कर उसके संरक्षण की घोषणा करते रहते हैं। जब सरकार उर्दू के लिए (मुसलमानों के वोट हथियाने के लिए) कुछ करती है तो हिन्दू महासभा, आर्य समाज,

सनातन धर्म सभा जैसी हिन्दू संस्थाएं, इस क़दम को 'अराष्ट्रीय' और 'तुष्टीकरण' की नीति घोषित करते हुए उसके विरोध के लिए कमर कस लेती हैं। हिन्दी संस्थाएं भी 'हिन्दूपन' से ग्रस्त हैं। उर्दू में उन्हें पाकिस्तान की जननी दिखाई देती है और सम्पूर्ण उर्दू साहित्य उन्हें अरबी-फारसी मानसिकता से भरा दिखाई देता है।

इस देश में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का सीधा मुकाबला अंग्रेजी से है। जब तक ये सभी भाषाएं अपने स्वत्व की तलाश में पूरी तरह सफल नहीं होंगी और आपसी विवाद में उलझी रहेंगी, अंग्रेजी का वर्चस्व बना ही नहीं रहेगा, बल्कि अपनी स्थिति को निरन्तर मजबूत करता जाएगा। देश में ऐसे तत्व भी हैं जो अंग्रेजी को इस देश की संघ भाषा और सम्पर्क भाषा के रूप में सदा-सदा के लिए बनाये रखना चाहते हैं। वे हिन्दी सहित सभी भारतीय भाषाओं को दूसरे दर्जे की मान्यता देते हैं और देश के सामान्य नागरिक से पृथक् होकर अंग्रेजी के माध्यम से अपने आभिजात्य को एवं उसी के साथ समाज और शासन में अपनी विशेषाधिकारयुक्त स्थिति को सुरक्षित चाहते हैं। इसलिए भाषा संबंधी अस्तित्व की लड़ाई केवल हिन्दी की अपनी लड़ाई है। इस सांझी लड़ाई में हिन्दी का दायित्व कहीं अधिक है। उसे सद्भाव, खुले मन और आदान-प्रदान की भावना से मुक्त होकर सभी भारतीय भाषाओं को अपने साथ लेकर चलना है तथा उनका सद्भाव और सहयोग अर्जित करना है। इसी से उसे अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में भी वह सम्मान प्राप्त होगा, जो सचमुच उसका प्राप्य है।

(राष्ट्रीय सहारा, 12 सितम्बर, 1998)

6
क्या साहित्य में भी माफिया सरगरम है?

अपने आप में यह बात सहज नहीं लगती। माफिया शब्द एक खास अर्थ में व्यवहार में लाया जाता है। इतालवी मूल के अमरीकी लेखक मारियो पुज्जो के बहुप्रसिद्ध उपन्यास 'गाड फादर' ने माफिया शब्द को सभी भौगोलिक और भाषाई सीमाएं तोड़कर सारे संसार में स्वीकृत करा दिया। अमेरिका में जा बसे सिसली द्वीप, जो इटली का एक भाग है, के लोगों ने वहां अति संगठित ढंग से अपराध-जगत् पर जो प्रभुता स्थापित की, उसे माफिया कहा जाने लगा। अब माफिया का कोशीय अर्थ हो गया—अपराधियों का गुप्त संगठन। पहले यह शब्द अमेरिका में रहने वाले सिसली मूल के अपराधियों के लिए प्रयोग में लाया गया, फिर सभी अपराधी गिरोहों के लिए इसका प्रयोग होने लगा। धीरे-धीरे इस शब्द ने अपना अर्थ विस्तार कर लिया और संसार भर के अपराधी तत्वों के लिए उपयोग में आने लग गया।

कुछ शब्द बहुत तेजी से अपने क्षेत्र का भी विस्तार कर लेते हैं। इस समय माफिया शब्द केवल अपराध-जगत् तक ही सीमित नहीं है। जहां कहीं भी कुछ लोग गिरोह बनाकर सभी प्रकार के सही-गलत साधनों का सहारा लेकर किसी खास क्षेत्र में अपना दबदबा कायम करते हैं और वहां के सभी लाभों, सुविधाओं और सम्मानपूर्ण पदों को हथिया कर योजनाबद्ध सक्रियता प्रदर्शित करते हैं, वहीं इस शब्द का प्रयोग होने लगता है।

अपराध-जगत् से यह शब्द राजनीति में आया। पहले राजनीति का अपराधीकरण हुआ, अब अपराध का राजनीतिकरण होने लग गया है।

साहित्यिक क्षेत्र में इस शब्द का प्रयोग बहुत चौंकाने वाला है, यद्यपि इसके लक्षण

पिछले दो-तीन दशकों से दिखाई देने लगे थे। साहित्य में गुटबाजी सातवें दशक के प्रारम्भ से ही व्यापक रूप से उभरने लग गई थी। फिर निरन्तर गुट बनते रहे, टूटते रहे। इन गुटों ने अपने पीछे कुछ सैद्धांतिक अवधारणाएं भी विकसित कीं। एक समय इलाहाबाद में साहित्यकार दो झंडे के नीचे खड़े दिखाई दे रहे थे, एक झंडा प्रगतिशीलों का था, दूसरा परिमल वालों का। फिर नई कहानी वालों का ऐसा गुट बना कि सभी ओर उसकी दुंदुभी बजने लगी। इसे चुनौती मिली सचेतन कहानी वालों की ओर से। नई कहानी के पुरोधाओं को लगा कि उनके अभेद्य समझे जाने वाले दुर्ग की दीवारें थरथराने लगी हैं।

साहित्य में गुटों का बनना-टूटना, अपने मित्रों के लेखन को चर्चा में लाना, उसे प्रोत्साहित करना, उसकी ओर साहित्य-जगत् का ध्यान आकर्षित करना मुझे अवांछित नहीं लगता। यह एक सामूहिक प्रयास है, जिसे जीवन के अनेक क्षेत्रों में स्वीकारा जाता है, बशर्ते यह गुट गिरोह का रूप न धारण कर ले। गुट के अंदर तो साथियों के साथ मिलकर काम करने की भावना होती है, किन्तु गिरोह केवल साथियों को लाभ पहुंचाने तक ही सीमित नहीं रहता, वह अपने रास्ते में आने वाले, विरोध का स्वर रखने वाले, असहमति व्यक्त करने वाले लोगों को हानि पहुंचाने, उन्हें लांछित, उनकी उपेक्षा करने, उन्हें प्रभावहीन बनाने और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें किसी भी प्रकार रास्ते से हटाने की बाधा रखता है और इस दृष्टि से सदा सक्रिय रहता है। यहीं से ग्रुप की सीमा समाप्त होती है और 'माफिया' प्रारम्भ होती है।

क्या हिन्दी में साहित्य की गुटबंदी ने आगे बढ़कर माफिया का रूप धारण कर लिया है? राजस्थान के सुविख्यात लेखक विजयदान देथा ने साहित्य के संदर्भ में इस शब्द का प्रयोग करने में पहल की। पिछले वर्ष एक हिन्दी दैनिक को दिए गए साक्षात्कार में उन्होंने कहा था कि साहित्य में कुछ साहित्यकार माफियाओं का कब्जा हो गया है, जिन्होंने सही और सार्थक सृजनकर्मियों की उपेक्षा करके चाटुकार और पिछलग्गू साहित्यकारों को जबरन स्थापित करने का बीड़ा उठा रखा है।

हिन्दी में यह माफिया बना किस तरह? वे कौन-से केन्द्र बिन्दु हैं जिनके माध्यम से यह साहित्यिक गिरोह अपना काम करता है? इस माफिया क्षेत्र की अपनी कार्य-प्रणाली क्या है? ऐसे कई प्रश्न हैं जिनके उत्तरों में सारी बात निहित है।

इस सारे तंत्र की शुरुआत विश्वविद्यालयों से होती है। हिन्दी से साहित्य के क्षेत्रों में प्रदूषण फैलाने का बहुत बड़ा काम हमारे विश्वविद्यालयों से प्रारम्भ हुआ। एक समय ऐसा था जब किसी विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष का पद एक बहुत बड़ा सत्ता केन्द्र था। विभागाध्यक्ष अनेक वर्गों को उपकृत करने में समर्थ था। वह बेरोज़गारी के अनंत सागर में डूबते-डूबते उतराते बहुत से उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों को एक सम्मानित आजीविका दे सकता या दिला सकता था। वह फाइनल की परीक्षा में कितने विद्यार्थियों के अंकों से खेलकर उसके भविष्य का निर्धारण कर सकता था, वह किसी भी प्रकाशक को, उसकी किसी पुस्तक को पाठ्यक्रम का भाग बनाकर उपकृत कर सकता था, वह अन्य किसी भी विश्वविद्यालय के अध्यक्ष से सौदेबाजी करके उसे

लाभ पहुंचा सकता था और स्वयं लाभान्वित हो सकता था। वह अपने पद की प्रतिष्ठा से सरकारी अर्द्धसरकारी संस्थानों का सूत्र संचालन कर सकता था। वह अनेक प्रकार की चयन समितियों का सदस्य बनकर किसी को छोटा और बड़ा पुरस्कार दिलवा सकता था और सबसे बड़ी बात कि वह बड़े अधिकारपूर्वक यह फतवा दे सकता था कि कौन अच्छा लेखक है, कौन सामान्य है, कौन अलेखक है, कौन लेखक ही नहीं है। वह मुस्कराकर किसी को अभयदान दे सकता था और आंख फेरकर किसी को भी उपेक्षा के गर्त में ढकेल सकता था।

ऐसे सर्वसत्ता सम्पन्न केन्द्र को उस समय बड़ी ठेस लगी जब विश्वविद्यालयों में लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को अपनाए जाने की लहर आनी प्रारम्भ हुई और अध्यक्ष के स्थायी पद को चुनौती मिलने लगी। कुछ संघर्ष के बाद 'रोटेशन' पद्धति आ गई। अध्यक्ष पद का लम्बा सुख भोगने वाले कुछ समय बाद अपनी कुर्सी किसी ऐसे कनिष्ठ सहयोगी को देने को बाध्य हो गए, जो कल तक उन्हें फूटी आंख नहीं सुहाता था।

विश्वविद्यालयों में अध्यक्ष पदों के कारण तानाशाही और पूर्ण स्वामित्व जैसी प्रवृत्ति तो उभरी थी किन्तु से माफिया का रूप नहीं मिला था। किन्तु जब वह सत्ता केन्द्र टूटा तो कुछ सेवा-म1क्त पुरोधाओं ने सरकार में बैठे अफसरों (जिनकी साहित्यिक लालसाएं भी अपरिमित रही हैं) से मिलकर ऐसी सांठ-गांठ की कि सभी सरकारी और गैर सरकारी प्रतिष्ठानों पर उनका वर्चस्व स्थापित हो गया। धीरे-धीरे विश्वविद्यालयों के अध्यक्षों की गरिमा और प्रभुता घटने लगी। सूत्र दूर पुरोधाओं के हाथों में आ गए कि किस विश्वविद्यालयों में रीडर किसने बनना है, प्रोफेसर पद पर किसे आना है, पाठ्यक्रम का निर्धारण किस प्रकार होना है। किसे कौन-सा पुरस्कार मिलना है, विदेश में लेखकों का यदि कोई प्रतिनिधिमंडल जाना है, तो उसमें किसे जाना है।

यहां तक की स्थिति चिंतनीय होते हुए भी मुझे आपराधिक नहीं लगती। माफिया प्रवृत्ति असामाजिक, अनैतिक, अवांछनीय होने के साथ ही आपराधिक भी और यही मेरी चिंता का सबसे बड़ा कारण है। कुछ लोग अपना गुट बनाकर अपना और अपने मित्रों का हित-साधन करें, यह बात तो समझ में आती है। किन्तु जब कुछ लोग गुट को गिरोह बनाकर यह तय करने लगे कि इसे यह लाभ देना है और इसे यह लाभ किसी भी कीमत पर नहीं लेने-देना है, तो सारी बात माफियाई अपराध में परिवर्तित हो जाती है। पिछले दिनों दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पद के लिए साक्षात्कार हुए थे। चयन समिति के अधिसंख्य सदस्यों ने एक व्यक्ति का उस पद के लिए अनुमोदन किया किन्तु चयन समिति में दो-एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने किसी अन्य व्यक्ति का उस पद के लिए समर्थन नहीं किया, वरन् अपनी सम्पूर्ण शक्ति इस बात पर लगा दी कि उस व्यक्ति को वह पद नहीं लेने देना है। वे अपने काम में सफल हुए। उस प्रत्याशी के लिए अनुकूल मत रखने वाले व्यक्ति भी लाचार हो गए और सारी चयन प्रक्रिया स्थगित कर दी गई।

मारियो पुज्जो के उपन्यास 'गॉड फादर' से माफिया के साथ ही एक और शब्द भी लोगों की जबान पर चढ़ा-डॉन। माफिया गिरोह का सरगना 'डॉन' कहलाया। वैसे

स्पेन में इस शब्द का प्रयोग किसी संभ्रान्त व्यक्ति के लिए किया जाता है, किन्तु 'गॉड फादर' का 'डॉन' सम्पूर्ण संसार में अपराधी गिरोहों का सरगना बन गया।

कितने आश्चर्य की बात है कि हिन्दी में माफिया भी पनप गया है और 'डॉन भी उभर आया है। डॉन का काम है अच्छे-बुरे का फैसला देना और बुरे के लिए दंड निर्धारित करना। साहित्य का डॉन यह तय करने लगा है कि अच्छा लेखक/कवि कौन है और कौन नहीं हैं? साहित्य में किसका उल्लेख होना चाहिए, किसका नहीं? पुरस्कार किसे मिलना चाहिए, किसे नहीं? विदेश यात्रा पर किसे भेजा जाना चाहिए? किसे नहीं। किन लेखक/लेखिकाओं को पूरी तरह खारिज करने के लिए, किसे आज का सर्वश्रेष्ठ लेखक/लेखिका घोषित किया जाना चाहिए।

'गॉड फादर' का 'डॉन' सबको अपनी गिरोह शक्ति अथवा धनशक्ति से परास्त करता था। अमेरिका की बड़ी-बड़ी अदालतों, पुरस्कार देने वाले प्रभावशील व्यक्तियों, महत्वपूर्ण पदों पर बैठे हुए लोगों को वह सभी प्रकार के हथकंडों का सहारा लेकर अपने प्रभामण्डल में रखता था। साहित्य का डॉन विश्वविद्यालयों में अपनी प्रभुता स्थापित करता है, सरकारी, अर्द्ध सरकारी संस्थानों में चेयरमैन या कम-से-कम सदस्य बन घुसता है। पुरस्कार समितियों में अपनी पकड़ मजबूत करता है, किसी पत्र-पत्रिका का संपादक बनने की जुगाड़ करता है। उसके चेहरे, हाव-भाव, व्यवहार से किसी पढ़ने-लिखने वाले व्यक्ति का नहीं, गॉडफादर फिल्म के मर्लिन ब्रांडों की पहचान झरती है।

इस देश के अपराध-जगत् में माफिया और डॉन दोनों ही सरगरम हैं। अब राजनीति भी पूरी तरह इसकी होड़ में आती जा रही है। किन्तु क्या संस्कति कर्मी भी इस दौड़ में शामिल हो रहे हैं? यदि यह सच है तो किसी देश के लिए, किसी भी भाषा के लिए इससे अधिक लज्जा और व्यथा की कोई बात नहीं हो सकती।

(दैनिक जागरण, 18 नवम्बर, 1999)

7

साहित्यिक पुरस्कार : कितने विश्वसनीय

इस समय हमारा देश विश्वसनीयता के संकट से ग्रसित है। जीवन के हर क्षेत्र में इस मूल्य का बड़ी तेजी से क्षरण हो रहा है। राजनीति में किसी राजनेता की कही हुई बात पर किसी को विश्वास नहीं होता है। धर्मक्षेत्र में साधुओं, संतों की सारी आदर्शभरी बातें विश्वसनीय नहीं लगतीं। अपने उत्पादन के लिए अनेक कसमें खाने वाले व्यापारी की बात पर हमें विश्वास नहीं होता। पुलिस अधिकारियों द्वारा हत्याओं और अपराधों के प्रति किए गए प्रयत्न और दिए गए आश्वासन हमें झूठे लगते हैं। किसी बड़ी दुर्घटना में मरने वालों और घायलों की जो सूचना हमें मिलती है, हम उस पर भी विश्वास नहीं करते। यहां तक कि सुबह दूध देने वाले ग्वाले की वात पर भी हमें भरोसा नहीं होता।

किन्तु साहित्य और साहित्यकारों की विश्वसनीयता पर प्रश्न-चिह्न लग जाए, इससे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति और नहीं है। इस क्षेत्र में साहित्य के आलोचक की स्थिति सर्वाधिक अविश्वसनीय बन गई है। शायद इसी कारण साहित्यिक पुरस्कारों की विश्वसनीयता भी काली छाया के नीचे आ गई है।

हिन्दी में प्रतिवर्ष अनुमानतः 25 लाख रुपयों के पुरस्कार दिए जाते हैं। इनमें साहित्य अकादमी, राज्य सरकारों की अकादमियां, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा अहिन्दी भाषी हिन्दी लेखकों के पुरस्कार शामिल हैं। निजी संस्थानों—के. के. बिडला फाउण्डेशन, मोदी कला भारती, भारतीय ज्ञानपीठ, जैसे अनेक संस्थान दो-ढाई तीन लाख का पुरस्कार देते हैं। ऐसे पुरस्कार पाने के लिए जोड़-तोड़ किए जाएं, लेन-देन किया जाए, किसी भी प्रकार की धांधली करने से गुरेज न किया जाए, व्यवस्था की

ऊपर वाली सीढ़ी पर बैठे हुए व्यक्ति का चरणवंदन किया जाए—ये सभी बातें इन पुरस्कारों के साथ जुड़ी हुई हैं।

पुरस्कार देने वाली सभी संस्थाओं की नियमावलियों का अध्ययन किया जाए और इस सम्बन्ध में जिस प्रकार की प्रक्रिया अपनाई जाने का दावा ऐसी संस्थाएं करती हैं उन्हें देखा जाए तो कहीं कोई स्पष्ट बड़ा दोष नहीं दिखाई देता। किन्तु व्यवहार के स्तर पर स्थिति स्वयं अपना मनचाहा रूप ग्रहण कर लेती है।

साहित्य अकादमी का ही उदाहरण लें। यह संस्था इस देश में साहित्य सृजन, प्रोत्साहन और उन्नयन करने की राष्ट्रीय स्तर की संस्था है। इसके द्वारा भारत की सभी संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त 18 भाषाओं के साथ ही राजस्थानी, मैथिली, डोगरी भाषाओं की पुस्तकों को भी पुरस्कृत किया जाता है। किन्तु इस संस्था द्वारा कुछ वर्षो में जिस प्रकार पुरस्कार दिए गए हैं उससे साहित्य अकादमी की प्रतीक्षा तो घटी ही है, उसके द्वारा दिए जाने वाले पुरस्कारों की विश्वसनीयता पर कितने ही प्रश्न उठाए गए हैं। अकादमी द्वारा बनाए गए नियमों के प्रारंभिक चरण से ही घपलेबाजी शुरू हो जाती है। अकादमी ही प्रत्येक वर्ष मान्यता प्रदत्त भाषा की विचारणीय पुस्तकों की एक आधार सूची तैयार करवाती है। अकादमी के नियमानुसार किसी विशेषज्ञ को यह काम सौंपा जाता है। यहीं से उस साहित्यिक 'डॉन' का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। अकादमी की भाषा परामर्श मंडल पर छायी होती है। विशेषज्ञ अपनी इच्छानुसार पुरस्कार प्राप्ति के लिए आधार सूची बनाते समय डॉन के निर्देशों का पालन करते हुए, उन लेखकों की पुस्तकें छोड़ देता है, जो उनकी पसंद के नहीं होते या विरोधी गुट से सम्बन्ध रखते हैं।

यह बात पहले से ही तय हो जाती है कि इस बार पुरस्कार किसे दिया जाना है। इसलिए आधार-सूची से ऐसी समर्थ पुस्तकों को पहले चरण में ही काट दिया जाता है जो अपनी साहित्यिक गुणवत्ता के कारण, उस लेखक की पुस्तक को चुनौती देने की संभावना रखती हो जिसे चयन प्रणाली पर छाया माफिया गिरोह पुरस्कार देने/दिलवाने के लिए कृत-संकल्प हों।

कुछ वर्ष पूर्व तक यही गिरोह एक प्रकाशन संस्था से जुड़ा हुआ था। इसलिए कई वर्ष तक अकादमी द्वारा उसी हिंदी पुस्तक को पुरस्कार मिलता रहा जो उस प्रकाशन संस्थान द्वारा प्रकाशित की जाती थी और जिसका लेखक एक खास विचारधारा से जुड़ा हुआ होता था। वह प्रकाशन तो अब अपना स्वामित्व बदल बैठी है, किन्तु माफिया का स्वामित्व अभी भी पूरी तरह कायम है। इसलिए 'विशेषज्ञ' द्वारा आधार सूची तैयार करने से लेकर अंतिम चरण में त्रि-सदस्यीय जूरी और उसके निर्णय तक यह प्रक्रिया बड़ी सरलता से चलती जाती है। इस सुनियोजित षड्यंत्र का परिणाम यह होता है कि श्री नेमिचंद्र जैन जैसा अत्यन्त वरिष्ठ लेखक यह पुरस्कार पाने से वंचित रह जाता है और कुल डेढ़ पुस्तक की रचना करने वाला नैसिखिया लेखक यह पुरस्कार प्राप्त कर लेता है।

यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं कि पुरस्कारों की घोषणा से पहले ही लोगों

को यह पता लग जाता है कि इस वर्ष का साहित्य अकादमी पुरस्कार किसे मिलेगा, जबकि दावा यह किया जाता है कि इस वर्ष का साहित्य अकादमी पुरस्कार किसे मिलेगा, जबकि दावा यह किया जाता है कि चयन और निर्णय की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'गोपनीय' होती है। कुछ वर्ष पूर्व मानव संसाधन विकास मंत्रालय के उच्च अधिकारी, जो संयोग से कवि भी हैं, को यह पुरस्कार प्राप्त हुआ। ध्यान देने की बात यह है कि साहित्य अकादमी इसी मंत्रालय द्वारा नियन्त्रित और अनुमोदित संस्था है और इसी मंत्रालय से उसे वित्तीय अनुदान प्राप्त होता है। उस वर्ष का पुरस्कार उस 'ब्यूरोक्रेट कवि' को मिलेगा इस तथ्य का उद्घाटन अनेक समाचार-पत्रों ने विधिवत! घोषणा से काफी पहले ही कर दिया था।

जिस साहित्यिक माफिया की चर्चा मैंने अपने पिछले लेख में की थी वह केवल साहित्य अकादमी ही नहीं अनेक राज्य अकादमियों और निजी संस्थानों द्वारा दिए जाने वाले पुरस्कारों पर भी छाया हुआ है। यदि पिछले दस वर्षों के साहित्यिक पुरस्कारों की पड़ताल की जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि किस कवि/लेखक को किन-किन संस्थानों से कितनी राशि के पुरस्कार प्राप्त हुए और उस कवि/लेखक की कुल सर्जनात्मक उपलब्धि कितनी है। यह भी स्पष्ट है हो जाएगा कि किन साहित्यकारों की उपेक्षा करके उसे पुरस्कार दिया गया। इस प्रकार के निर्णय के पीछे गिरोह-बंदी कितनी थी, जातिवाद कितना था और कुनबा-परस्ती कितनी थी।

पुरस्कारों के लिए किस प्रकार निर्णय लिए जाते हैं कुछ वर्ष पूर्व का एक उदाहरण इस प्रकार है। एक स्वनाम धन्य साहित्याचार्य एक राज्य अकादमी के पुरस्कारदात्री समिति के संयोजक थे, उसी के साथ एक अन्य निजी संस्थान द्वारा दिये जाने वाले पुरस्कार के निर्णायक मंडल के भी अध्यक्ष थे। उन्होंने एक कवि को राज्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत करने का मन बना लिया और उसे बता भी दिया। इसी समय एक अन्य लेखक ने यह दबाव बनाना प्रारम्भ कर दिया कि पुरस्कार उसे मिलना चाहिए। दबाव काफी सबल था। आचार्य महोदय दुविधा में फंस गए। उन पर जिस ओर से दबाव पड़ रहे थे, उसकी वे अपेक्षा नहीं कर सकते थे क्योंकि उन स्रोतों से उन्हें बड़े लाभ मिलते थे। दूसरी ओर जिस कवि को वे पुरस्कार देने की सूचना देकर उपकृत हो चुके थे। उसे अब क्या कहते। उसी समय एक निजी संस्थान के पुरस्कार का निर्णय होना था। रास्ता निकल आया। आचार्य महोदय ने कवि मित्र से कहा, मैं आपको इस राज्य अकादमी से बड़ा पुरस्कार दिलवा देता हूं, राज्य अकादमी वाले पुरस्कार के लिए मुझ पर बहुत दबाव पड़ रहा है। वह पुरस्कार मैं उधर दे देता हूं। इस प्रकार समस्या का समाधान कर लिया गया।

साहित्यिक पुरस्कारों की विश्वसनीयता को पुनर्स्थापित करने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि इस दृष्टि से कुछ कठोर और सार्थक कदम उठाए जाएं। सबसे पहली आवश्यकता है कि साहित्य में उभरे माफिया तंत्र को कैसे तोड़ा जाए? पुरस्कारों में फैली धांधली से ही खीझ कर अभी हाल में ही खुशवंत सिंह ने अपना मत व्यक्त किया था कि सभी पुरस्कारों को वंद कर दिया जाना चाहिए। किन्तु यह समस्या का

समाधान नहीं है। रोग कितना भी असाध्य क्यों न हो, उसका इलाज होना चाहिए, न कि रोगी को ही समाप्त कर देना चाहिए।

इस समय इस देश में पारदर्शिता की मांग सभी क्षेत्रों में की जा रही है। साहित्य में इसकी आवश्यकता सबसे अधिक है। सभी अकादमियों तथा निजी संस्थानों द्वारा दिए जाने वाले पुरस्कारों की चयन प्रक्रिया को फिर से देखा और परखा जाना चाहिए। यह भी देखा जाना चाहिए कि किसी एक पद उत्तरदायित्व और निर्णायक स्थिति में किसी एक व्यक्ति, एक गुट एक विचारधारा के लोग अधिक समय काबिज़ नहीं रहने चाहिए। किसी पद पर लंबे समय तक अधिकार जमाए हुए लोग भ्रष्ट हो जाते हैं और उनके चारों ओर निहित स्वार्थों का एक जमावड़ा तैयार हो जाता है जो सभी प्रकार के हथकंडे अपनाकर अपना वर्चस्व बनाए रखता है। इसलिए सत्ता का केन्द्र टूटता रहना चाहिए, चाहे वह राजनीति हो, धर्म-स्थान हो, विभागाध्यक्ष का पद हो अथवा साहित्य-संस्कृति से संबंधित हाई केन्द्र हो।

पुरस्कारों का संबंध इस में प्रक्रिया का प्रारम्भ साहित्य अकादमी से होना चाहिए। साहित्य अकादमी की पुरस्कार राशि अनेक राज्यों अकादमियों और निजी संस्थानों द्वारा दिए गए पुरस्कारों की राशि से बहुत कम होती है किन्तु इस पुरस्कार की राष्ट्रीय स्तर की प्रतिष्ठा है। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि इस प्रतिष्ठा की रक्षा की जाए जो कुछ व्यक्तियों की करतूतों के कारण निरन्तर क्षरित हो रही है।

(दैनिक जागरण, 25 नवम्बर, 1999)

8

दलित साहित्य : परिवर्तनकामी चेतना

लगभग तीन दशक पहले मराठी में दलित साहित्य की चर्चा प्रारंभ हुई। शताब्दियों से इस देश की समाज व्यवस्था इसी समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को शूद्र श्रेणी में रखती रही है। शूद्रों में एक वर्ग को अछूत घोषित कर दिया गया, जिनकी छाया से भी भ्रष्ट हो जाने की आशंका से ग्रस्त होकर अपने आपको सवर्ण मानने वाले लोग कतराने लगे। इनके हाथ से पानी पीना तो धर्मभ्रष्ट हो जाने की नियति बन गया। पिछले कुछ वर्षों में इस वर्ग के लोगों ने अपने लिए अछूत, अस्पृश्य, हरिजन आदि शब्दों का त्याग करके अपने आपको दलित कहलाना पसंद किया। इसी वर्ग के लेखकों ने अपने लेखन की अलग पहचान स्थापित की और इस साहित्य को 'दलित साहित्य' का नाम दिया।

साहित्य के साथ 'दलित' विशेषण ने मराठी के परंपरागत और संभ्रांत लेखकों को उस समय बहुत चौंकाया था। उन्होंने नाक-भौं भी चढ़ाई थीं, कुछ भौंहें भी उठी थीं और कुछ लोगों ने इसे उपहास का माध्यम भी बनाया था। किन्तु जिस तीखेपन और बेबाकी से मराठी के दलित लेखकों ने अपनी बात कहनी शुरू की और जिस प्रकार ऐसे लेखन के प्रति आम पाठक भी आकर्षित होने लगा, उससे इसकी विशिष्ट पहचान बनने लगी थी और मराठी की साहित्य-चर्चा में उसकी गूंज सुनाई देने लग गई।

फिर दलित साहित्य की अनुगूंज गुजराती, कन्नड़, तेलुगु और तमिल भाषाओं में भी सुनी जाने लगी। हिन्दी में पहले 'सारिका' में मराठी के कुछ दलित लेखकों की कहानियां प्रकाशित हुईं। 1981 में 'संचेतना' त्रैमासिक ने 200 से अधिक पृष्ठ का

दलित साहित्य विशेषांक प्रकाशित किया, जो अब 'साहित्य और दलित चेतना' शीर्षक से पुस्तक रूप में उपलब्ध है। मराठी से इतने व्यापक रूप से हिंदी में लाया गया यह पहला गंभीर प्रयास था। इसमें लगभग आधे पृष्ठों में दलित साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि की चर्चा थी और शेष आधे पृष्ठों में दलित लेखकों द्वारा लिखे गए आत्म-वृत्तों के अंश, कुछ कहानियां, एकांकी, कविताएं और मराठी के प्रबुद्ध लेखकों की इस विषय पर एक गंभीर परिचर्चा प्रकाशित की गई थी। इसके बाद यह चर्चा बहुत व्यापक हो गई और देश-विदेश के अनेक विश्वविद्यालयों में इस विषय पर शोध कार्य प्रारंभ हो गया।

आज हिंदी की किसी भी साहित्यिक चर्चा में इस स्वर को नकारा नहीं जा सकता। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि दो वर्ष पूर्व लंदन में आयोजित छठे विश्व हिन्दी सम्मेलन में भी दलित साहित्य की प्रवृत्तियों पर चर्चा करने के लिए एक सत्र रखा गया था।

इस देश में दलितों की पीड़ा को अभिव्यक्ति देने और उन पर विचार करने के लिए दोनों ही पक्ष—दलित और गैर दलित—सक्रिय रहे हैं। मध्य युग में नामदेव, कबीर, रविदास जैसे संतों ने, जो स्वयं इस वर्ग से आए थे, अपनी रचनाओं में इस पीड़ा और व्यथा को बड़े मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है। संत कबीर की वाणी में इस असमानतामूलक व्यवस्था के प्रति गहरा आक्रोश भी प्रकट किया गया है और इस संबंध में बड़ी तीखी उक्तियां लिखी गई हैं—*तुम कत बामन हम कत सूद/हम कत लोहू तुम कत दूध।* गुरु नानक जैसे संत ने, जो स्वयं तो इस वर्ग में नहीं जन्मे थे, अपनी पूरी संलग्नता और प्रतिबद्धता इस वर्ग के प्रति यह कहकर व्यक्त किया की थी—*नीचां अंदरि नीच जात, नीची हूं अति नीच। नानक तिनके संग साथ, वड्डियां सूं क्या रीस।।*

इसमें कोई संदेह नहीं कि दलित वर्ग की पीड़ा पर हिंदी में प्रेमचंद, नागार्जुन और अमृतलाल नागर जैसे लेखकों ने गहरी संवेदना से साहित्य की रचना की और इस वर्ग की व्यथा को मुखरित किया। किन्तु यह भी सत्य है कि दलित साहित्य को सही पहचान दलित वर्ग में जन्मे लेखकों ने ही दी। उन्होंने इस पीड़ा को अपनी हथेली पर रखे हुए अंगारे की तरह महसूस किया। इस प्रकार के लेखन ने इस वर्ग द्वारा भोगे हुए उपेक्षा, अपमान और व्यथा को तो अभिव्यक्ति दी ही है, उस समाज व्यवस्था की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है, जिसमें एक पूरा का पूरा वर्ग इन स्थितियों को झेलने के लिए मजबूर कर दिया गया है। विडंबना यह है कि इस वर्ग को ऐसी अमानवीय स्थिति में धकेल देने वाली व्यवस्था इसे 'धर्म' मानती रही है और इसे उचित ठहराती रही है।

इस देश की समाज व्यवस्था में जाति-भेद खून में बसे हुए कोढ़ की तरह है। जाति-भेद और छुआछूत के विरुद्ध जितने भी आंदोलन इस देश में हुए वे भी कुछ समय बाद उसी जाति-भेद में फंसे हुए दिखाई दिए। सिख, इस्लाम और ईसाई जैसे धर्मों ने ऊंच-नीच और जात-पांत को नकारा, किन्तु इस देश में उनके अनुयायी भी

इस व्याधि से पूरी तरह मुक्ति नहीं पा सके।

मराठी में महात्मा ज्योतिबा फुले और डॉ. भीमराव अंबेडकर दलित चेतना के प्रेरक स्रोत बनकर उभरे और अमेरिका में लिखा गया 'नीग्रो साहित्य' दलित साहित्य की प्रेरणा बना। इन लेखकों ने जिस प्रकार का आत्मकथा-लेखन मराठी में किया वह भारतीय साहित्य में अप्रतिम है। आत्मकथात्मक लेखन की कोई परंपरा हमारे साहित्य में नहीं है। ऐसा लेखन जिस बेबाकी, ईमानदारी और अपने प्रति जिस कठोरता और क्रूरता की मांग करता है, वह भारतीय चरित्र का हिस्सा नहीं है। शायद इसका कारण यह है कि हमारे धार्मिक-सामाजिक संस्कार हमें वस्तुपरक और यथार्थवादी बनाने की अपेक्षा पाखंडी अधिक बनाते हैं।

इस पाखंड को मराठी के दलित लेखकों ने बड़ी हिम्मत से तोड़ा। इसीलिए इसमें 'अक्करमाशी' (शरण कुमार लिंबाले), 'वाणी का स्वाद' (दया पवार), 'बबूल की टहनियां' (लक्षण माने) और 'हकीकत' (केशव मेश्राम) जैसी आत्मकथाएं लिखी जा सकीं, जिन्हें पढ़कर हमें एक दिल दहला देने वाले अमानवीय संसार का साक्षात्कार होता है।

इस बीच हिंदी में भी कुछ दलित लेखकों ने अपनी आत्मकथाएं लिखी हैं। इनमें मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे', ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' और सूरजपाल चौहान की 'तबादला' का यहां सहज ही उल्लेख किया जा सकता है। हिंदी में ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखित 'जूठन' की व्यापक चर्चा हुई है और कई भाषाओं में इसका अनुवाद भी हो गया है। ये आत्मकथाएं हिंदी पाठक को अनुभव के सर्वथा अछूत क्षेत्र में ले जाती हैं।

आज हिंदी संसार में दलित लेखन को लेकर अच्छी-खासी चर्चा है। इस चर्चा में दलित वर्ग से आए हुए लेखक/बुद्धिजीवी बहुत खुलकर भाग ले रहे हैं। उन्हीं के साथ अनेक गैर दलित लेखक भी पूरी संजीदगी के साथ इस चर्चा में भागीदार बन रहे हैं। यह अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण बात है कि दलित वर्ग इस व्यापक समाज में अपना योग्य स्थान प्राप्त करने के लिए, अपने प्रति सहस्राब्दियों से निरंतर किए जाने वाले अन्याय का प्रतिकार करने के लिए और यथास्थिति बनाए रखने वाले सभी प्रयासों को निष्फल करने के लिए जागरूक हो रहा है। इस जागरूकता की प्रतिच्छाया राजनीति के साथ ही साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र की गतिविधियों में उभरकर आए, यह स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी।

किन्तु भारतीय समाज के उस मानस में कैसे सेंध लगे जो कितनी ही सदियों से लोहे और पत्थर की अभेद्य दीवार की तरह अविचलित खड़ा है। इस मानस में दलित वर्ग का बिंब एक ऐसे घृणित और दुत्कारे हुए व्यक्ति का बिंब है, जिसे गाली का पर्याय बना लिया जाता है। चमार, भंगी, चांडाल आदि सदियों से केवल दलित जातियां ही नहीं हैं, वे ऐसी गालियों के रूप में इस्तेमाल की जाती हैं जिन्हें सवर्ण वर्ग के प्रबुद्ध और प्रगतिशील व्यक्ति भी बोलने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं अनुभव करते हैं।

साहित्य से एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। जयशंकर प्रसाद हिंदी के शीर्षतम

लेखकों में हैं। उनका लिखा 'चंद्रगुप्त' महत्व और कलेवर की दृष्टि से सर्वाधिक स्वीकृत और चर्चित नाटकों में है। यह नाटक देश-विदेश के हिंदी पाठ्यक्रम में अनेक दशकों से लगा हुआ है। इस नाटक की विषयवस्तु क्या है? चाणक्य, चंद्रगुप्त के समय इस देश में ब्राह्मण-बौद्ध विवाद और कलह अपने चरम पर था। समाज के पिछड़े वर्गों, शूद्रों में बौद्ध धर्म अपने ऊंच-नीच और वर्ण-व्यवस्था विरोधी मत के कारण लोकप्रिय हुआ और राजसत्ता भी इस वर्ग के हाथों में आ गई थी, जिसे सहन कर पाना वर्ण-व्यवस्था समर्थक चाणक्य के लिए विष के घूंट की तरह था। चाणक्य जैसे व्यक्ति के लिए सिकंदर अथवा सैल्युकस जैसे विदेशी इतने घृणास्पद नहीं थे, जितना नीच कुल में जनमा और बौद्ध धर्म का अनुयायी मगध सम्राट नंद था। प्रसाद का यह नाटक वर्ण-व्यवस्था पोषक ब्राह्मण को महिमामंडित तो करता ही है, बौद्ध और शूद्र को पृष्ठ-दर-पृष्ठ अपशब्दों से प्रताड़ित करता है। नंद के सामने खड़ा होकर चाणक्य घोषणा करता है—''समय आ गया है कि शूद्र राजसिंहासन से हटाए जाएं और सच्चे क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त हों।''

ऐसे कटुवचन सुनकर जब नंद किसी प्रतिहारी को आज्ञा देता है कि इसकी (चाणक्य की) शिखा पकड़कर इसे बाहर करो। इस पर चाणक्य की प्रतिक्रिया है—''खींच ले ब्राह्मण की शिखा; शूद्र के अन्न पर पले हुए कुत्ते, खींच ले। परंतु यह शिखा नंद कुल की कालसर्पिणी है।'' एक स्थान पर सुवासिनी अमात्य राक्षस को बताती है कि चाणक्य ने कठोर व्यंग्य करते हुए उससे कहा—''वेश्याओं के लिए भी धर्म की आवश्यकता थी, चलो अच्छा ही हुआ, ऐसे धर्म (बौद्ध धर्म) के अनुकूल पतितों की भी कमी नहीं है।''

यह नाटक बार-बार बौद्ध धर्म का खंडन करता है, उसे वेश्याओं, पतितों और शूद्रों का धर्म बताता है। चाणक्य की इस मान्यता का पोषण इस नाटक द्वारा होता है कि राष्ट्र का शुभचिंतन केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं...बौद्ध धर्म की शिक्षा मानव व्यवहार के लिए पूर्ण नहीं हो सकती। नाटक की ध्वनि यह है कि बौद्ध होना, ब्राह्मण-विरोधी होना और देशद्रोही होना एक ही बात है।

प्रसाद का यह नाटक केवल एक कृति ही नहीं है, एक मानसिकता है जिससे हिंदी मानस ग्रसित है। ऐसी मानसिकता को दलित साहित्य के प्रति सहृदय और संवेदनहीन बनाना दूभर कार्य है जिसके लेखक शूद्र हैं और उनमें से अनेक बौद्ध हैं।

इसलिए मुझे यह बात अधिक महत्वपूर्ण नहीं लगती कि दलित साहित्य की इतनी चर्चा हो रही है, अथवा उसके प्रति बड़े-बड़े सम्मानित आलोचक, समीक्षक और प्राध्यापक अपनी सद्भावना व्यक्त कर रहे हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि इस प्रकार की मानसिकता से कैसे छुटकारा पाया जाए।

असमानता पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का विरोध करते हुए मानवीय समता, गौरव और प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष करना दलित साहित्य की रीढ़ है। इस देश की सर्वभक्षी और सर्वसंपन्न रूढ़ व्यवस्था ऐसे किसी भी प्रयास को संपन्न नहीं होने देती जो उसे चुनौती देता हो। इसके लिए यह सभी प्रकार के उपाय अपनाती है। सदियों

से इस देश में यही हो रहा है। जब भी इस देश में दलित चेतना में कुछ उभर आया, इस व्यवस्था ने उसके दाएं हाथ का अंगूठा काटकर उसे नाकारा कर दिया। महाभारत-कालीन एकलव्य के साथ जो कुछ हुआ, वह बाद के तीन हज़ार वर्षों में निरन्तर दोहराया जाता रहा।

व्यक्ति के दुख-दर्द की अभिव्यक्ति ही तो साहित्य है। संस्कृत साहित्य में संभवतः इसीलिए करुण रस को इतना महत्व दिया गया है। दलित लेखक, अपने सदियों के दुख-दर्द को लोगों के सामने रख रहे हैं। वह पीड़ा किसी एक व्यक्ति की पीड़ा नहीं है। यह उस पूरे समूह की पीड़ा है, जिसे वह हज़ारों सालों से जीता आ रहा है।

मराठी कवि राजेन्द्र सोनवणे की एक कविता की कुछ पंक्तियां हैं—*जब चर्चबेल हो गई/तब वे सब चर्च में एकत्र हुए/जब मुल्ला ने अजान दी/तब भी वे सब मस्जिद में एकत्र हुए/अरे, जब मंदिर में घंटी बजी/तब वे मंदिर के बाहर ही थे/वहां के पुजारियों के नकारे हुए।*

साहित्य के मूल्य और प्रतिमान परिवर्तित होते रहते हैं और कला संबंधी नई कसौटियां भी निर्मित होती रहती हैं। दलित साहित्य जब हमारे पाठ्यक्रम का भाग बनेगा तो साहित्य के प्रतिमानों की भी पुनर्व्याख्या होगी।

कोई भी परिवर्तनकामी साहित्य सामाजिक स्थितियों में से ही जन्म लेता है। मराठी का दलित साहित्य इन्हीं स्थितियों में उभरा। दलित साहित्य के लेखक यदि आरक्षण की छाया में, सभी सरकारी सुविधाओं को भोगते हुए (जैसा कि कुछ-कुछ दिखाई दे रहा है) सृजन करेंगे तो उसमें वह धार नहीं रहेगी जैसी कि दलित साहित्य से अपेक्षित है।

समाज की इन परिवर्तनशील स्थितियों में दलित वर्ग यह आशा कर रहा है कि उसके जीवन पर छाई हुई सदियों पुरानी काली छाया दूर होगी और वह भी नई भोर के सूर्य को देख सकेगा। मराठी कवि वामन निंबालकर की एक कविता है—*मैं भोर के सपने को देख रहा हूं/बाहर का अंधेरा खत्म होने वाला है/उजाला होने पर हमारे होठों के स्वर/दसों दिशाओं में गूंजने वाले हैं/आओ सब एकत्र/गाओ प्रकाश का गीत/लेकर हाथ में हाथ/वह दूर दिखने वाली प्रकाश किरण ही/होगी कल का सूर्य/इसलिए आओ एकत्र सब, तुम्हारे गुंथे हुए एकत्र हथ/फेंक सकेंगे अंधेरे के इस पर्वत को/मैं भोर के सपने देख रहा हूं।*

(दैनिक जागरण, 9 दिसम्बर, 1999)

9

कैसे सार्थक हों विश्व हिन्दी सम्मेलन?

सन् 1975 से लेकर 1999 तक, 24 वर्ष की अवधि में छह विश्व हिन्दी सम्मेलन हुए। इनमें भारत में दो बार (1975 और 1983), मारीशस में दो बार (1976 और 1993), त्रिनिदाद में (1996) और छठा सम्मेलन लंदन में इस वर्ष 14 सितम्बर से 18 दिसम्बर तक हुआ। वहां यह भी घोषणा की गई कि सातवां सम्मेलन तीन वर्ष बाद फिजी में किया जाएगा। छठे सम्मेलन का महत्व इसलिए भी अधिक था, क्योंकि संविधान द्वारा 50 वर्ष पूर्व हिन्दी को केन्द्र की राजभाषा स्वीकार किया गया था। इस मान्यता की स्वर्ण जयन्ती पर किसी भव्य आयोजन का होना अपेक्षित भी था और आवश्यक भी। लंदन के हिन्दी प्रेमियों ने यह दायित्व अपने कंधों पर ले लिया। वहां की चार संस्थाओं—हिन्दी समिति यू. के., गीतांजलि, बहुभाषीय साहित्यिक समुदाय, अहिंसक भारतीय और भारतीय भाषा संगम ने मिलकर इस सम्मेलन की योजना बनाई और संसार भर के हिन्दी प्रेमियों को इसमें सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि विश्व के लगभग 29 देशों के प्रतिनिधियों ने इस सम्मेलन में भाग लिया। केवल भारत से ही गए हुए प्रतिनिधियों की संख्या लगभग 400 थी।

इस सम्मेलन के पक्ष-विपक्ष में बहुत कुछ लिखा और कहा गया है। दिल्ली में कुछ लोगों ने एक इस सम्मेलन को लेकर एक गोष्ठी भी बुलाई। सभी वक्ताओं ने जी भरकर अपना गुस्सा निकाला और यह निष्कर्ष दिया कि यह सम्मेलन भारतीय जनता पार्टी द्वारा आयोजित एक प्रपंच मात्र था। मैं समझता हूं कि बहुत वस्तुपरक होकर इस सम्मेलन के संबंध में चर्चा नहीं हुई है। किसी भी ऐसे आयोजन में न तो सब कुछ प्रशंसनीय होता है और न निंदनीय। सम्मेलन पर केसरिया रंग छाया रहा, यह भी बहुत बेहूदा बात है। इस आयोजन की संपूर्ण प्रक्रिया और सहभागिता से जो

लोग परिचित हैं वे जानते हैं कि सरकारी प्रतिनिधि-मंडल के सदस्यों की चयन-प्रक्रिया से लेकर लंदन में हुई संगोष्ठियों के सभी सूत्रों पर अपना वर्चस्व बनाए रखने की लालसा में वे सभी-स्वनाम धन्य पुरोधा लेखक शामिल थे जो भाजपा को पानी के हर घूंट के साथ कोसते रहते हैं। चूंकि यह आयोजन अंतिम नहीं था और सातवें विश्व हिन्दी सम्मेलन को आयोजित करने का दायित्व फिजी के हिन्दी प्रेमियों ने ले लिया है, इसलिए यह आवश्यक है कि इसकी संपूर्ण कार्य प्रणाली पर विधिवत् विचार किया जाए और ऐसी व्यवस्था बनाई जाए जो भविष्य के सभी सम्मेलनों की सही दिशा का निर्धारण कर सके। पिछले 24 वर्षों में 6 सम्मेलन आयोजित किए गए किन्तु इन सभी में किसी सुनिश्चित प्रणाली का अभाव रहा और सभी कुछ तदर्थवाद के सहारे चला। लंदन सम्मेलन में भी यही कुछ दिखा।

सरकारी प्रतिनिधि मंडल में कौन से व्यक्ति सम्मिलित हों, इसके लिए विदेश मंत्रालय की ओर से एक समिति बना दी गई। इस समय हिन्दी के साहित्यिक संसार में एक ऐसा तंत्र विकसित हो गया है कि हिन्दी के नाम पर कैसा भी आयोजन हो, सारे सूत्र कुल चार-पांच व्यक्तियों के हाथ में होते हैं। कबीर के नाम पर यदि जर्मनी में कोई संगोष्ठी होगी तो यही लोग उसमें होंगे। विद्यापति पर हंगरी में कोई आयोजन हो उसमें भी वही चेहरे दिखाई देंगे। तुलसीदास पर यदि कोई संगोष्ठी कोयम्बटूर में आयोजित की गई है तो वह भी इनकी सुदर्शन छाया से मुक्त नहीं रह सकती। यही तंत्र उक्त समिति पर भी छाया हुआ था, क्योंकि इस समय देश का राजनीतिक परिदृश्य कुछ बदला हुआ है। इसलिए कुछ अनचाहे चेहरों को भी 'एकॉमडेट' करते हुए इस प्रकार के तत्व यही प्रयास करते रहे कि किसी भी प्रकार 'अपने लोग' प्रतिनिधि मंडल में शामिल होने से छूट न जाएं और 'असुविधाजनक' चेहरे उसमें न घुस पाएं। बहुत हद तक ये तत्व अपने गणित में सफल भी हुए।

सरकारी प्रतिनिधि मंडल में तो कुछ लोग ही थे। बहुत बड़ी संख्या तो उनकी थी जो अपने पैसे खर्च करके उस आयोजन में सम्मिलित हुए थे। इसमें लेखक थे, पत्रकार थे और हिन्दी सेवक प्रचारक थे। किन्तु बड़ी संख्या उन लोगों की थी जिनके लिए यह आयोजन लंदन की सैर का एक माध्यम बन गया था। ब्रिटेन का वीजा सरलता से नहीं मिलता, लेकिन यदि कोई साहित्यिक या धार्मिक सम्मेलन हो और सम्मेलन के आयोजकों द्वारा भेजा गया निमंत्रण-पत्र आपके पास हो तो वीजा मिलने में आसानी हो जाती है और एक बार आपके पासपोर्ट पर किसी बाहरी देश का वीजा लग जाए तो भविष्य में वीजा लगने और किसी भी देश की यात्रा करने की सुविधा बढ़ जाती है। छठा विश्व हिन्दी सम्मेलन ऐसे लोगों के लिए सुअवसर था, जिसका उन्होंने पूरा लाभ उठाया।

लंदन में जिन व्यक्तियों/संस्थाओं ने यह आयोजन किया था, उन्होंने यह नहीं सोचा था कि इतनी बड़ी संख्या में लोग वहां पहुंच जाएंगे। स्वाभाविक है कि वहां सारी व्यवस्था चरमरा गई और प्रतिनिधियों को काफी तकलीफों का सामना करना पड़ा। इसमें कोई संदेह नहीं कि आयोजकों में कुछ लोग बहुत लगन वाले और समर्पित भाव के थे, किन्तु उनके अगुआ और कर्ताधर्ता नितांत अनुभवहीन होने के कारण न तो

ऐसे सम्मेलनों की कार्य प्रणाली से परिचित थे, न उन्हें संगोष्ठी-संस्कृति की समझ थी। इसलिए भ्रम और दिशाहीनता की स्थिति में सम्मेलन की कमियों का लेखा-जोखा करें। मुख्य प्रश्न यह है कि भविष्य में होने वाले सम्मेलनों में किस प्रकार की कार्य-प्रणाली विकसित की जाए, जिससे ऐसे आयोजन अपनी पूरी सार्थकता प्राप्त कर सकें।

सम्मेलन में यह घोषणा की गई कि मारीशस में एक स्थायी विश्व हिन्दी सचिवालय स्थापित किया जा रहा है। यह सचिवालय क्या काम करेगा, अभी यह स्पष्ट नहीं है। संसार के 122 देशों में भारतवंशी लोग बसे हुए हैं। ये लोग अपने घरों में भारत की किसी भाषा का प्रयोग करते हैं। बहुत से देशों में इन भारतवंशियों ने अपनी साहित्यिक, सामाजिक और धार्मिक संस्थाएं बनाई हुई हैं जो बड़ी सक्रिय हैं। इन लोगों के प्रयास से इन देशों से अनेक भारतीय भाषाओं में पत्र-पत्रिकायें भी प्रकाशित की जाती हैं।

इस अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में हिन्दी का स्थान सबसे प्रमुख है। संसार के लगभग 135 विश्वविद्यालयों में किसी-न-किसी रूप में हिन्दी की पढ़ाई होती है और हिन्दी का अध्यापन करने वालों में विदेशी मूल के लोग भी हैं। मॉरीशस, त्रिनिदाद, गुयाना, सूरीनाम, फिजी जैसे देशों में तो हिन्दी वहां की प्रमुख भाषा के रूप में स्वीकार की जाती है। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि विश्व हिन्दी सम्मेलनों के ऊपर से तदर्थवाद और आपाधापी को हटाया जाए और इसके लिए किसी स्थायी व्यवस्था की आयोजना की जाए।

ऐसे किसी भी प्रयास के लिए भारत सरकार की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इन छह सम्मेलनों के आयोजन में पहले भी भारत सरकार आर्थिक सहयोग देती रही है। छठे विश्व हिन्दी सम्मेलन के आयोजन में सरकार के तीन करोड़ से अधिक रुपए खर्च हुए और सारी व्यवस्था में लंदन स्थित भारतीय उच्च आयोग की बड़ी सक्रिय और महत्वपूर्ण भूमिका रही। मैं समझता हूं कि हिन्दी के राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप की व्यापक स्थापना की दृष्टि से भारत सरकार को साहित्य अकादमी, राष्ट्रीय नाट्य महाविद्यालय, इंदिरा गांधी कला केन्द्र की ही तरह एक स्वायत्त संस्था की स्थापना करनी चाहिए। इस संस्था की गतिविधियों में केवल हिन्दी ही नहीं, सभी भारतीयों भाषाओं को शामिल करना चाहिए और राज्य सरकारों का भी इसमें पूर्ण अवदान प्राप्त करना चाहिए।

भविष्य में होने वाले विश्व हिन्दी सम्मेलनों की दृष्टि से एक बात स्पष्ट होनी चाहिए कि कौन-से लोग, कैसी योग्यता वाले, किस उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न व्यक्ति प्रतिनिधि के रूप में ऐसे सम्मेलनों में भाग लेंगे। सैर-सपाटा, व्यापार अथवा अन्य किसी मन्तव्य से प्रेरित व्यक्तियों को ऐसे सम्मेलनों में भाग लेने से पूरी तरह हतोत्साहित किया जाना चाहिए। एक बात और हमारे सामने स्पष्ट होनी चाहिए। हिन्दी सम्मेलन को साहित्य सम्मेलन का रूप लेना चाहिए या भाषा सम्मेलन का? प्रायः इनमें घालमेल होता रहता है। साहित्य के जो मुद्दे होते हैं, उसकी जो समस्याएं होती हैं, जिन प्रश्नों से उसे टकराना होता है, आवश्यक नहीं कि वे सभी मुद्दे भाषा के भी हों। भाषा के अपने प्रश्न होते हैं, अपने मुद्दे होते हैं और अपनी समस्याएं होती हैं। विश्व हिन्दी सम्मेलन मुख्य रूप से भाषा सम्मेलन होना चाहिए और उसका सीधा सरोकार भाषा

के प्रचार, प्रसार, अध्ययन, अध्यापन और शोध से जुड़ा होना चाहिए।

छठे सम्मेलन में भी आयोजकों की बोध-क्षमता विभ्रम से भरी हुई थी। सम्मेलन का विशिष्ट विषय 'हिन्दी और भावी पीढ़ी' रखा गया था, किन्तु इस विषय पर विशेष चर्चा नहीं हुई। दो सत्रों के विषय कविता से संबंधित थे, जिसकी ऐसे सम्मेलन में आवश्यकता नहीं थी। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना पर साहित्यिक क्षेत्रों में इतनी पिटी-पिटाई और पूर्वाग्रहपूर्ण चर्चाएं होती हैं कि उनका सहभागी बनने के लिए किसी विश्व सम्मेलन की आवश्यकता नहीं होती।

लंदन सम्मेलन के आयोजकों ने सम्मेलन में विचार-विमर्श के लिए जिन विषयों की सूची अपने निमंत्रण-पत्र के साथ वितरित की थी उसमें इस तरह का घालमेल बहुत स्पष्ट था। 22 विषयों की सूची में भाषा के विकास अथवा प्रचार-प्रसार तथा अन्य समस्याओं से संबंधित विषय दो-चार ही थे, अधिसंख्य विषय आलोचना, कविता, कहानी, निबन्ध, भक्ति साहित्य, व्यंग्य साहित्य से संबंधित थे। इस संदर्भ में वहां जो प्रस्ताव पास किए गए वे कहीं अधिक सार्थक और समीचीन थे। पहले प्रस्ताव में वर्धा में स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की अपेक्षित गतिविधियों से संबंध था। दूसरे में मारीशस में स्थापित किए जा रहे विश्व हिन्दी सचिवालय का स्वागत था। तीसरे में हिन्दी को संयुक्तराष्ट्र संघ में मान्यता दिलाने की बात कही गई थी। चौथे प्रस्ताव में कहा गया कि हिन्दी की सूचना तकनीकी के विकास के लिए एक केन्द्रीय एजेन्सी स्थापित की जानी चाहिए। पांचवें प्रस्ताव में भारत सरकार से यह अनुरोध किया गया था कि वह अपने दूतावासों और उच्चायोगों को यह निर्देश दे कि वे अपने-अपने क्षेत्रों में स्थानीय भारतवंशियों से संपर्क करें कि स्थानीय स्कूलों में एक भाषा के रूप में हिन्दी के शिक्षण की व्यवस्था की जा सके।

सही अर्थों में विश्व हिन्दी सम्मेलन का यही काम है। हिन्दी को इस देश में अभी अपना राष्ट्रीय स्वरूप रेखांकित करना है और केन्द्र की राज्यभाषा के रूप में उसकी मान्यता को पूर्णता प्राप्त करनी है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उसे न केवल संसार की समुन्नत भाषाओं में अपना स्थान निर्धारित करना है और संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यकलापों की एक मान्यता प्राप्त भाषा बना है, बल्कि संसार के विभिन्न देशों में बसे हुए भारतवंशियों के मध्य सेतु का काम करते हुए उन्हें अपनी मूल संस्कृति से जोड़ रखना है और विदेशों में जन्मी नई पीढ़ी को अपने घेरे में लाना है।

इन सभी कार्यों को सम्पन्न करने के लिए कामचलाऊ तदर्थवादी पहुंच को त्यागना बहुत आवश्यक है, जो अभी तक चलती रहती है। इस दृष्टि से भारत सरकार को पहल करके इस देश में ऐसी स्वायत्त संस्था की स्थापना करना चाहिए, जैसा सुझाव मैंने इस लेख में दिया है।

(दैनिक जागरण, 23 दिसम्बर, 1999)

10
क्यों न एक भारतीय भाषा आयोग बने?

इस देश में भारतीय भाषाओं की स्थिति बड़ी विडंबनापूर्ण है। हमारा सम्पूर्ण लोकतंत्र भारतीय भाषाओं पर टिका हुआ है। लोकसभा और सभी विधान सभाओं के लिए चुनाव-प्रचार भारतीय भाषाओं के माध्यम से होता है। इस सीमा तक ये भाषाएं महत्वपूर्ण हैं। इससे आगे की क्रिया में उस भाषा का प्रवेश होता है, जो दो प्रतिशत लोगों की भी भाषा नहीं है। अंग्रेजी के माध्यम से यदि कोई प्रत्याशी अपने मतदाताओं को रिझाने का प्रयास करे तो वह दो प्रतिशत मत भी प्राप्त कर सकेगा, इसमें संदेह है।

किन्तु वर्चस्व इसी भाषा का दिखता है। चुनाव सम्बन्धी जो बहसें, अनुमान और विश्लेषण प्रचार माध्यमों द्वारा किये जाते हैं उनमें अंग्रेजी सबसे आगे होती है। हिन्दी सहित सभी भारतीय भाषाएं यहां बड़ी गौण भूमिका निभाती हैं।

प्रश्न यह है कि इस देश में भारतीय भाषाएं अपनी दूसरे और तीसरे दर्जे की भूमिका कब तक निभाती रहेंगी? कब तक संभ्रान्तता, अधिक प्रबुद्ध होने, अधिक सुयोग्य होने का मुकुट केवल अंग्रेजी पहने रहेगी? जो भाषाएं अपनी मत-शक्ति से संसद और विधान सभाओं का निर्माण करती हैं, करोड़ों बच्चों को स्कूल जाने और कुछ शिक्षा प्राप्त करने के योग्य बनाती हैं, भावी पीढ़ी का निर्माण करती हैं, सामान्य से सामान्य जन के बीच संवाद का माध्यम बनती हैं, वे कब तक उस भाषा के सम्मुख हीनता भाव से ग्रस्त रहेंगी जिसे कुछ मुट्ठी भर लोग अपने निहित स्वार्थों के लिए देश के कंधों पर लादे रखना चाहते हैं?

भारतीय भाषाओं को सम्मान और उचित स्थान दिलाने के लिए प्रयत्नशील लोग,

कम से कम पिछले एक सौ वर्षों से, इन प्रश्नों से जूझ रहे हैं। स्वतन्त्रता के बाद से तो यह प्रश्न निरन्तर चर्चा और विवाद के केन्द्र में रहा है और अनेक कोणों से इस पर विचार किया गया है। इस देश में भाषा के आधार पर राज्यों का गठन ही इसलिए किया गया था कि सभी क्षेत्रीय भाषाओं को अपने-अपने राज्यों में राजभाषा बनने का गौरव प्राप्त हो और उन्हें सभी दृष्टियों से प्रगति का अवसर मिले। इसी के साथ इस बात को भी आवश्यक समझा गया कि सभी भाषाओं में संवाद, पत्र-व्यवहार, अनुवाद और आदान-प्रदान में सर्म्पक भाषा की भूमिका निभाने का दायित्व हिन्दी का हो जो देश के अधिकांश भागों में बोली और समझी जाती है तथा केन्द्र और उत्तर भारत के अनेक राज्यों ने उसे अपनी राजभाषा के रूप में मान्यता दी है।

गत वर्षों में इस दृष्टि से उल्लेखनीय प्रगति भी हुई है। अब अनेक राज्यों का राजकीय कार्य बड़ी मात्रा में उनकी भाषाओं में होता है। जहां कुछ कमी है वहां उसे पूरा भी किया जा रहा है।

किन्तु इस स्थिति की सबसे बड़ी कमी यह है कि जब इन भाषाओं का केन्द्र से सर्म्पक होता है अथवा आपसी संवाद का अवसर आता है तो अंग्रेजी की शरण में जाए बिना इन्हें और कोई विकल्प नहीं सूझता। इस बिन्दु पर अंग्रेजी की प्रभुता स्वीकार कर ली जाती है। अंग्रेजीदां व्यक्ति यह समझने लगता है कि उसके बिना इस देश में न कोई सार्थक संवाद हो सकता है, न किसी प्रकार का कोई निर्णय लिया जा सकता है। वह समझता है कि कार की पिछली पूरी सीट पर मैं अकेला पसरकर बैठूंगा। भारतीय भाषा वाले व्यक्ति को ड्राइवर के साथ वाली आधी सीट पर ही बैठना चाहिए। उसका काम सिर्फ इतना ही है कि जब कभी भटकने की स्थिति आ जाए तो वह कार की खिड़की से झांककर सही रास्ते के सम्बन्ध में कुछ पूछताछ कर ले।

भारत सरकार भी कभी-कभी भारतीय भाषाओं के प्रति अपनी चिन्ता व्यक्त करती है। कुछ दिन पूर्व ही मानव संसाधन मंत्रालय ने भारतीय भाषा प्रोन्नयन परिषद की स्थापना का निर्णय लिया है। इस परिषद के अध्यक्ष प्रधानमंत्री हैं और उपाध्यक्ष मानव संसाधन विकास मंत्री हैं। देश के विभिन्न भागों से 22 विद्वानों और भाषाविदों को इस परिषद का सदस्य बनाया गया है। यह परिषद सरकार को भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में सूचीबद्ध भारतीय भाषाओं के विकास, प्रचार-प्रसार एवं प्रोन्नयन के लिए किय जाने वाले उपायों पर सलाह देगी।

यह बहुत स्वागत योग्य कदम है और इस बात को दर्शाता है कि मानव संसाधन मंत्रालय भारतीय भाषाओं की स्थिति के प्रति जागरूक है।

किन्तु मैं समझता हूं कि यह पर्याप्त नहीं है। भारतीय भाषाओं के विकास, प्रचार-प्रसार और प्रोन्नयन के लिए भारत सरकार सभी प्रकार के प्रयास करे यह बहुत अच्छी बात है। लेकिन मेरी दृष्टि में इससे भी बड़ी समस्या इन भाषाओं में आपसी संवाद, सौहार्द और आदान-प्रदान की है। भारतीय भाषाओं के बीच यह नहीं है और यदि है तो बहुत थोड़ा है। यही कारण है कि हम अभी तक भारतीय साहित्य का काई समग्र अथवा समन्वित चित्र नहीं उभार सके हैं। साहित्य अकादमी जैसी संस्थाएं जो

कुछ भी करती हैं वह अंग्रेजी के माध्यम से करती हैं और भारतीय साहित्य को समर्पित उनके अधिकांश समारोह अंग्रेजी समारोह मात्र होते हैं। भारतीय भाषाओं के मध्य ऐसी संवादहीनता का लाभ अंग्रेजी उठाती है और सूचीवद्ध 18 भाषाओं के बीच वह 'दाल-भात में मूसर चंद' कहावत को चरितार्थ करती हुई सबके बीच में अध्यक्ष की कुर्सी अनायास ही प्राप्त कर लेती है।

इस स्थिति से निपटना सरल नहीं है। व्यापक दृष्टि से अंग्रेजी ने हम सभी के अंदर गहरा हीनता भाव उत्पन्न कर दिया है। अंग्रेजी में बातचीत करना, अंग्रेजी अखबार और पुस्तक पढ़ना, अंग्रेजी संगीत सुनना, अंग्रेजी फिल्में देखना और बड़े विश्वास से अंग्रेजी में ही यह मत व्यक्त करना कि यह तो अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है, ज्ञान-विज्ञान की सभी खिड़कियां इसी भाषा के ही माध्यम से खुलती हैं इसलिए अंग्रेजी ही हमारे व्यक्तित्व का सही प्रतिबिंब लोगों के सामने रखती है।

हमारे लेखक/आलोचक भी इस हीनता भाव से मुक्त नहीं हैं। अपनी धाक जमाने के लिए अपने भाषणों और लेखों में वे जितने उदाहरण और उद्धरण देते हैं वे सभी यूरोप और अमेरिका का चर्बा होते हैं। अनेक अवसरों पर गलत-सलत अंग्रेजी बोलना उन्हें ठीक-ठाक हिन्दी बोलने से अधिक तृप्ति देता है। ऐसे हीनता भाव पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जा सकती है।

इस दृष्टि से मेरा सुझाव यह है कि भारत सरकार को भारतीय भाषा प्रोन्नयन परिषद के साथ ही (अथवा उसके स्थान पर) एक राष्ट्रीय भाषा आयोग का गठन करना चाहिए। यह आयोग उसी प्रकार और स्तर का हो जैसे राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग, राष्ट्रीय महिला आयोग, पिछड़ा वर्ग आयोग, अनुसूचित जाति एवं जनजाति आयोग अथवा मानवाधिकार आयोग हैं।

इस आयोग का दायित्व और कार्यक्षेत्र यह हो सकता है–

1. सभी भारतीय भाषाओं के विकास, प्रचार-प्रसार और प्रोन्नयन के लिए योजनाएं बनाना और उनके कार्यान्वयन के लिए केन्द्र और राज्य सरकारों से सम्पर्क करना और सलाह देना।
2. सभी भारतीय भाषाओं में आपसी संवाद, आदान-प्रदान और अनुवाद कार्य को प्रोत्साहित करना, उसके लिए योजनाएं बनाना और इसके कार्यान्वयन के लिए साहित्य अकादमी, नेशनल बुक ट्रस्ट तथा राज्यों की भाषा और साहित्य अकादमियों से सम्पर्क करना और सलाह देना।
3. भारतीय भाषाओं के लेखकों/भाषाविदों/ रंगकर्मियों के मिले-जुले सम्मेलन करना, जिनमें सभी लोग आपस में विचार-विमर्श कर सकें, नई प्रवृत्तियों और रचनाओं से परिचित हो सकें।
4. एक भाषा के लेखकों को दूसरी भाषा के क्षेत्र में भेजना, जिससे वे उस भाषा और उसके साहित्य का अंतरंग परिचय प्राप्त कर सकें और क्षेत्रीय संस्कृति की विशेषताओं से अपना तादात्म्य स्थापित कर सकें।
5. भारतीय भाषाओं के मिले-जुले विश्व सम्मेलन आयोजित करना और उनमें विदेशों

में बसने वाले विभिन्न भारतीय भाषा-भाषियों की सक्रिय भागीदारी उत्पन्न करना।

6. भारतीय साहित्य के एक समग्र और समन्वित स्वरूप के विकास की दिशा में ठोस कदम उठाना।
7. भारतीय भाषाओं के बहुख्यात साहित्यकारों की जयंतियां अखिल भारतीय स्तर पर आयोजित करना।
8. एक से अधिक भारतीय भाषाओं में सिद्धता प्राप्त करके एक भाषा से दूसरी भाषा में सीधा अनुवाद कर सकने की क्रिया को प्रोत्साहित करना।
9. विश्वविद्यालयों में भारतीय साहित्य के समग्र और समन्वित पाठ्यक्रम तैयार करवाना और उन्हें स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर पर अध्ययन के लिए प्रोत्साहित करना। संभव हो तो इस कार्य के लिए एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना करना।
10. सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि सभी भारतीय भाषाओं के मध्य विचार-चर्चा तथा पत्र-व्यवहार के लिए हिन्दी को सर्म्पक और सम्बन्ध-भाषा के रूप में आगे वढ़ाना।

ये कुछ सूत्र हैं, जिन्हें राष्ट्रीय भाषा आयोग अपने कार्यक्षेत्र में सम्मिलित कर सकता है। इसमें अन्य अनेक सूत्र और जोड़े जा सकते हैं।

ऐसे आयोग की रचना के सम्बन्ध में यदि भारत सरकार कदम उठाए तो भारतीय भाषाओं को वह स्थान प्राप्त करना सुलभ हो जाएगा जिसकी हम सभी कामना करते हैं।

(कुछ सोचा : कुछ समझा,
प्रथम संस्करण - 2002)

11
साहित्य और सामाजिक परिवर्तन

साहित्य किस सीमा तक और किस प्रकार सामाजिक परिवर्तन में अपनी भूमिका का निर्वाह कर सकता है, यह दोपरती प्रश्न साहित्य के संदर्भ में अनेक मूलभूत मुद्दों को उभारता है। ये मुद्दे साहित्य के उद्देश्य एवं प्रभाव से सम्बन्धित हैं, साथ ही साथ साहित्य के स्वभाव और चरित्र के प्रति भी हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। साहित्य के उद्देश्य या प्रयोजन को लेकर प्राचीनकाल से भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्री चर्चा करते रहे हैं, परन्तु साहित्य का गहरा सामाजिक सरोकार होना चाहिए, उसे सामाजिक परिवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना चाहिए और उसे समाज के पीड़ित-दलित वर्ग का पक्षधर होना चाहिए, ऐसी चिन्ता और चर्चा अपेक्षाकृत आधुनिक युग की देन है। इस दृष्टि-विकास में निश्चित ही मार्क्सवादी दर्शन का गहरा प्रभाव है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में साहित्य को सामाजिक परिवर्तन की भूमिका के साथ जोड़कर देखने की प्रवृत्ति लगभग नहीं है। आचार्य मम्मट के मत से काव्य का प्रयोजन यश-प्राप्ति, धन-प्राप्ति, व्यवहार-ज्ञान, अमंगल का विनाश, परलोकसद्धि और कान्ता-सम्मित मधुर उपदेश देना है ध्यान देने से स्पष्ट होगा कि ये सभी प्रयोजन व्यक्ति-केन्द्रित प्रयोजन हैं। यश और धन की प्राप्ति कवि को होती है, व्यवहार-ज्ञान, अमंगल का विनाश, परलोक-सिद्धि और कान्ता-सम्मित मधुर उपदेश व्यक्तिनिष्ठ कामनाएं हैं। किसी भी रचना को सामाजिक संदर्भ उस समय प्राप्त होता है जब वह व्यक्ति के मन में स्थापित मान्यताओं, परम्पराओं और आदर्शों के प्रति शंका, प्रश्न और नकार उत्पन्न करती है। प्राचीन भारतीय साहित्य में कवि की दृष्टि शंका उत्पन्न करने, प्रश्न उभारने और नकार उत्पन्न करने की ओर नहीं थी। यदि ऐसी बात होती तो एकलव्य, शंबूक, कर्ण जैसे सामाजिक व्यवस्था द्वारा सताए गये चरित्रों के माध्यम से कवि उन स्थितियों का उपयोग कर सकता था, परन्तु वह ऐसा नहीं करता। यह भी कहा जा सकता है

कि जहां कहीं भी इन चरित्रों का उल्लेख है, यह इनके पक्ष में न होकर व्यवस्था की पुष्टि के पक्ष में है।

इसका कारण क्या है? क्या हमारे प्राचीन कवि को अपने चारों ओर के समाज और उसकी व्यवस्थाओं में कहीं कुछ अन्यायपूर्ण और अनुचित नहीं दिखाई देता था? क्या ऐसी स्थितियां नहीं थीं जिनके परिवर्तन की कामना वह कर सकता? अथवा सामाजिक व्यवस्था में किसी प्रकार के परिवर्तन की कामना करना उसके संस्कार में ही नहीं था? पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे भारतीय सहृदय का संस्कार कहा है—"दीर्घकाल से भारतवर्ष इस बात में विश्वास करता रहा है कि किये का फल जरूर भोगना पड़ता है। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में उसे अपने कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा। इससे बच सकना संभव नहीं है। इस जन्म में जो कुछ भी मनुष्य ने पाया है, वह पूर्वजन्म के पुण्य या पाप का परिणाम है और इस जन्म में जो पुण्य या पाप करेगा, वह भी उसको भोगना ही पड़ेगा। इस विश्वास का प्रभाव भारतवर्ष के साहित्य पर पड़ा है इस साहित्य में वह वस्तु एकदम नहीं मिलेगी, जिसे पश्चिमी साहित्य में 'समाज के प्रति विद्रोह भावना' कहकर बहुत बड़ा नाम दिया गया है। वस्तुतः प्राचीन हिन्दू कवि इस जगत् के समस्त विधान को सामंजस्यपूर्ण और उचित मानता है। धनी या निर्धन होना पुराने पुण्य या पाप का परिणाम है, अच्छे या बुरे कुल में जन्म लेना सुकृत या दुष्कृत का फल है, इसमें कहीं विरोध या विद्रोह की जरूरत ही नहीं है। साहित्य में इसीलिए 'रिवोल्ट' (विद्रोह) नामक वस्तु का यहां एकदम अभाव है।"

विरोध या विद्रोह का जन्म असंतोष से होता है। व्यक्ति का एक वर्ग जब अपनी स्थिति से असंतुष्ट होता है, तो वह उससे उबरना चाहता है, परन्तु स्थापित मान्यताएं और व्यवस्थाएं उसे उबरने नहीं देती, क्योंकि इससे निर्धारित सीमाएं टूटती हैं। ऐसे असंतोष के कुछ उदाहरण प्राचीन भारतीय साहित्य में प्राप्त हो जाते हैं। विश्वामित्र का 'राजर्षि' से 'ब्रह्मर्षि' पद की प्राप्ति के लिए आजीवन संघर्ष करना, एकलव्य का धनुर्विद्या में कुलीन राजकुमारों जैसी दक्षता प्राप्त करने का प्रयास करना या शंबूक का, यह जानते हुए भी कि वह शूद्र है और तप-साधना उसके लिए एक वर्जित फल है, तपस्यारत होना इस प्रकार के कुछ उदाहरण हैं। अपनी स्थिति से उबरकर बेहतर स्थिति को प्राप्त करने के व्यक्तिगत या जातिगत प्रयास को, जो इस देश में सदियों से चला आ रहा है और आज भी है, समाजशास्त्री एम. एन. श्रीनिवास 'संस्कृतिकरण' की प्रक्रिया कहते हैं। अन्य समाजशास्त्री प्रो. योगेन्द्र सिंह के अनुसार संस्कृतिकरण प्राचीन विशाल परम्परा द्वारा स्थापित समाज के आदर्श ढांचे और सिद्धान्तों के प्रति विरोध का एक रूप है यह एक प्रकार से 'कर्म' के हिन्दू सिद्धान्त की अस्वीकृति है जो जन्म के कारण लोगों के कार्य को विभिन्न स्तरों पर नियमबद्ध करता है।

प्राचीन भारत में बौद्ध और जैन धर्मों का जन्म स्थापित और स्वीकृत परम्पराओं और मान्यताओं के विरोध में होता है और अपनी अभिव्यक्ति के लिए संस्कृत को छोड़कर प्राकृत भाषाओं को अपनाने की प्रवृत्ति सामाजिक परिवर्तन के कार्य में भाषा और साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका की ओर संकेत करती है। चार्वाक का लोकायत

दर्शन पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धान्तों द्वारा अन्याय को सहने और यथास्थिति बनाये रखने के प्रयासों को उस युग (ईसा की तीसरी सदी) में सबसे बड़ी चुनौती थी। आधुनिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के कितने ही सूत्र चार्वाक के सिद्धान्तों में प्राप्त हो सकते हैं। जब उसने यह कहा कि जब तक जीना चाहिए सुखपूर्वक जीना चाहिए, यदि आपके पास साधन नहीं हैं तो दूसरों से ऋण लेकर भी मौज करनी चाहिए। श्मशान में शरीर के जल जाने पर किसने उसको लौटते हुए देखा है? तो यह उस सामाजिक व्यवस्था की तीव्र प्रतिक्रिया थी जिसके द्वारा आत्मा, पुनर्जन्म, ईश्वर, परलोक और इन पर आधारित पाप-पुण्य का भय दिखाकर सुविधा-प्राप्त वर्ग समाज के अधिसंख्य लोगों को अभाव, दीनता, कष्ट और अन्याय को चुपचाप सहते चले जाने के लिए प्रेरित करता रहता था। चार्वाक ने परलोक और स्वर्ग की अवधारणा को पूरी तरह अस्वीकार कर दिया था और तत्कालीन धार्मिक मान्यताओं की खिल्ली उड़ाते हुए कहा था—वेदादि धूर्तों और स्वार्थियों की रचनाएं हैं, जिन्होंने लोगों से धन पाने के लिए ये सब्जबाग दिखाये हैं। यज्ञ में मारा हुआ पशु यदि स्वर्ग को जायेगा तो यजमान अपने पिता को ही उस यज्ञ में क्यों नहीं मारता? मरे हुए प्राणियों की तृप्ति का साधन यदि श्राद्ध होता है तो विदेश जाने वाले पुरुषों को राह खर्च के वास्ते वस्तुओं को ले जाना भी व्यर्थ है। यहां किसी ब्राह्मण को भोजन करा दें या दान दे दें, तो रास्ते में जो आवश्यक होगा, वहीं वह वस्तु उसे मिल जायेगी।

मानव जीवन में इतनी निर्बाध स्थिति पीड़ा की चरम स्थिति और अन्याय की चरम परिणति पर आती है। चार्वाक विद्वान दार्शनिक था, परन्तु प्रेमचन्द की कहानी 'कफन' के घीसू और माधो अनपढ़-गंवार थे। दृष्टव्य है कि परलोक की मान्यता के सम्बन्ध में दोनों का दृष्टिकोण कितना समान है? घीसू कहता है, "कफन लगाने से क्या मिलता है, आखिर जल ही तो जाता है। कुछ बहू के साथ तो न जाता।"

माधो कहता है, "दुनिया का दस्तूर है, नहीं तो लोग बामनों को हजारों रुपया क्यों देते हैं। कौन देखता है, परलोक में मिलता है या नहीं।"

चार्वाक का चाहे कोई सम्प्रदाय न चला हो, चाहे उसके विचारों की कोई परम्परा स्पष्ट रूप से इस देश में विकसित न हुई हो, परन्तु उसके मत और तर्क का व्यापक प्रभाव इस दृष्टि से तो दिखाई देता ही है कि परवर्ती चिंतन-प्रणालियों और आन्दोलनों में तर्क करने और जीवन में प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण अपनाने का आग्रह बढ़ता चला जाता है।

पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी मानते हैं कि जीवन के गंभीरतर समझे जाने वाले प्रश्नों का साहित्य में समाधान खोजना आधुनिक प्रवृत्ति है, परन्तु यह भी निश्चित है कि मध्ययुग के प्रारम्भ होते-होते इस देश में ब्राह्मण और शास्त्र-पोषित समाज-व्यवस्था की कुरूपता के प्रति जो विरोध भाव पनप रहा था और सामाजिक परिवर्तन की जो आकांक्षा जन-मानस में जन्म ले चुकी थी उसे अनेक तत्कालीन विचारकों ने अपने साहित्य द्वारा अभिव्यक्ति का रूप देना प्रारम्भ कर दिया था। मध्यकाल का इस प्रकार का सबसे प्रभावशाली आन्दोलन भक्ति आन्दोलन था, परन्तु इसके पूर्व के सिद्ध-नाथ साहित्य

में भी, जिसने भक्ति आन्दोलन की पूर्वपीठिका तैयार की, यह स्वर मुखर था। सिद्धों ने प्रचलित धार्मिक रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और सामाजिक असमता पर अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। उसमें ब्राह्मण वर्ग धर्म के स्थिर स्वार्थ का प्रतीक था। उसकी श्रेष्ठता को चुनौती देना व्यवस्था के नियंता को चुनौती देना था। उसी के साथ ही समाज-व्यवस्था में सबसे निम्न स्तर पर जीने वाली जातियों, जिन्हें सामाजिक-धार्मिक स्तर पर कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं था, के लिए भक्ति सहित, जीवन के अन्य क्षेत्रों में सम्मान और समता की मांग करना सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से सर्वाधिक प्रगातिशील और अग्रगामी मांग थी। महत्व की बात यह है कि इस दोहरे तेवर को लेकर अपने सामने की सभी धार्मिक-सामाजिक और व्यवसायगत दीवारें तोड़ते-फांदते हुए वे लोग आगे आये जो सदियों से उस व्यवस्था में घुटते हुए जी रहे थे। आठवीं-नवीं शताब्दी के सिद्धों में (श्री राहुल सांकृत्यायन के अनुसार चौरासी) असंख्य ब्राह्मणेतर, विशेष रूप से शूद्र जातियों के लोग थे। इन सिद्धों में विशेष उल्लिखित सिद्ध सरहपा कहते हैं—ब्राह्मण रहस्य को नहीं जानते। वे बेकार ही वेदपाठ किया करते हैं—माटी, जल, कुशा लेकर मंत्रोच्चार करते हैं और घर में बैठकर धुएं से अपनी आंखों को कष्ट देते हैं। भगवावेशी ये परमहंस जनता को उपदेश देते हैं और औचित्य-अनौचित्य में अंतर न जानते हुए भी ज्ञानी का दम्भ पालते हैं।

साहित्य द्वारा सामाजिक परिवर्तन हो सकता है या नहीं और परिवर्तन कितना दूरगामी तथा प्रभावशाली हो सकता है, इस पर विवाद को सकता है, परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि समाज में अनेक कारणों से आ रहे परिवर्तन को साहित्य शब्द देता है, उसे मुखर करता है, उसकी दिशा बनाता है, परिवर्तन के स्वर को दूर-दूर तक पहुंचाता है, उसे प्रोत्साहित करता है और आने वाली पीढ़ियों के लिए उस प्रयास और स्वर को जीवित रखता है। इसके साथ ही व्यापक परिवर्तनकामी, स्वल्प परिवर्तनकामी, यथास्थितिकामी और परिवर्तनविरोधी शक्तियों के आपसी टकराव का यह दस्तावेज बनता है।

भारतीय भाषाओं के भक्तिकालीन साहित्य के अध्ययन से मध्ययुगीन परिवर्तन चेतना का अनुमान लगता है जो हमारे आधुनिक साहित्य की पृष्ठभूमि बनता है।

भारतीय समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था और उसका पोषक सामन्तवादी तंत्र सदियों से ही सामाजिक शोषण और अन्याय का मुख्य आधार रहा है। इस शोषण की पृष्ठभूमि में अनेक आर्थिक और प्रभुता सम्बन्धी कारण काम करते रहे हैं। इस समाज व्यवस्था की रीढ़ 'असमानता' है। वर्ण व्यवस्था असमानता पर टिकी है। फिर विभिन्न वर्णों के अन्दर की अनेक जातियां-उपजातियां व्यापक असमान भेदों में बंटी हुई हैं। हर जाति अपने ही अन्दर की किसी उपजाति से बड़ी या छोटी है। कान्यकुब्ज ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणों से अपने आपको श्रेष्ठ मानता है, परन्तु उनमें भी बीस बिस्वे के ब्राह्मण की उच्चता के सामने कम बिस्वों के ब्राह्मणों की 'उच्चता' घटती चली जाती है। 'ऊंच-नीच' की यह धारणा अत्यन्त निम्न समझी जाने वाली जातियों के मध्य भी उतनी ही जाग्रत और स्वीकृत रही है जितनी उच्च जातियों में।

सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से किया जाने वाला प्रत्येक प्रयास प्राचीनकाल से ही इस असमानता को जन्म देने और पुष्ट करने वाली वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध किया जाने वाला प्रयास रहा है। हिन्दी भक्ति काव्य की दो प्रमुख धाराएं–निर्गुण और सगुण या निराकारवादी और साकारवादी उस युग की परिवर्तनकामी और यथास्थितिवादी या समझौतावादी शक्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

सामाजिक संरचना, सामाजिक संस्थाएं, यहां तक कि सामाजिक परम्परा, क्रिया (Interaction) और व्यवहार आदि सभी सामाजिक मूल्यों पर निर्भर करते हैं। सामाजिक संरचना या सामाजिक संस्थाओं में कोई भी परिवर्तन उसी समय होता है। जब सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन होता है। भारतीय संदर्भ में, विशेष रूप से सामाजिक मूल्यों की समस्याओं को समझे बिना सामाजिक परिवर्तन की समस्या को नहीं समझा जा सकता।

भारतीय जीवन में 'कर्म' के मूल्य की चर्चा इस निबंध के प्रारूप में की गयी है। यह मूल्य इस देश की बहुसंख्या के मानस में संस्कार रूप में व्याप्त है। यह मूल्य हर व्यक्ति की वर्तमान स्थिति का दायित्व उसके पूर्व या इस जन्म के कर्मों पर डालता है। किसी भी व्यक्ति की वर्तमान स्थिति की व्याख्या उसके पूर्वजन्म के कर्मों का हवाला देकर की जाती है। इस प्रकार की दृष्टि से कर्म का सिद्धान्त समाज-विरोधी परिणतियों को प्रश्रय देता है। किसी भी व्यक्ति की वर्तमान दुर्दशा का कारण निहित स्वार्थों वाली सामाजिक शक्तियां हो सकती हैं, इस ओर हमारा ध्यान नहीं जाएगा, यदि हम इस मूल्य में अपनी आस्था रखते हैं। यह मूल्य हमें दूसरों के कष्टों के प्रति उदासीन और सरोकारहीन भी बनाता है, क्योंकि उनके जो भी कष्ट हैं उनका कारण स्वयं उनके कर्म हैं। यह दृष्टिकोण व्यक्ति को अपनी स्थिति के प्रति असहाय और दूसरों की स्थिति के प्रति उदासीन बना देता है।

मध्ययुगीन निर्गुण संत 'कर्म सिद्धान्त' में तात्त्विक रूप से विश्वास करते हुए भी इसकी मूल्यवत्ता को ठुकराते हुए दिखाई देते हैं। कर्म-फल के सिद्धान्त को पूरी तरह नकारते हुए नामदेव (दर्जी), कबीर (जुलाहा), दादू (धुनिया), रैदास (चमार), सैन (नाई), नाभादास (डोम), सदना (कसाई), धन्ना (जाट) आदि छोटी समझी जाने वाली जातियों के लोग भक्ति के क्षेत्र में घुसकर अपने अधिकार और अपनी समता-समकक्षता का दावा करने लगते हैं। नामदेव कहते हैं–

> नाना वर्ण गवा उनका एक वर्ण डूध।
> तुम कहां के ब्राह्मन हम कहां के सूद।

तो कबीर उनसे दो कदम और आगे जाकर कहते हैं–

> जौ तू ब्राह्मण, ब्रह्मणी जाइआ।
> तउ आन बाट काहे नहीं आइआ।।
> तुम कत ब्राह्मण हम कत सूद।

हम कत लोहू तुम कत दूध।।

और गुरु नानक सादियों से पोषित, शास्त्र-स्वीकृत समाज-व्यवस्था में सर्वाधिक पीड़ित वर्ग के एकदम पक्षधर बनकर कहते हैं—

नीचां अंदरि नीच जाति नीची हू अति नीच।
नानक तिनके संग साथ वड्डियां सूं क्या रीस।।

संत कवियों की ये रचनाएं प्राचीन समाज-संरचना के सोपानात्मक संगठन (Social heirarchy) के मूल्य का भी पूरी तरह निषेध करती हैं।

फ्रांसीसी विचारक अगस्ते कामते (Auguste Comte) सामाजिक परिवर्तन को बौद्धिक विकास का परिणाम मानता है। इस कार्य में वह शिक्षा को सर्वाधिक महत्व देता है जिसके होने से समाज के कुछ वर्ग सुविधा-प्राप्त स्थिति में आ जाते हैं और जिसके अभाव में अन्य वर्ग सुविधाहीन होकर शोषण के शिकार बनते हैं।

प्राचीन भारतीय समाज की संरचना में यह बात वहुत महत्वपूर्ण है। शिक्षा पाने और शिक्षा देने का अधिकार ब्राह्मण वर्ग का एकान्तिक अधिकार था। अन्य वर्णों को वह अपनी इच्छा और सुविधानुसार शिक्षा देता था। वणिक थोड़ी-सी व्यावहारिक शिक्षा तक सीमित था और शूद्र तो इस परिधि में आता ही नहीं था। इस प्रकार समाज की सम्पूर्ण बौद्धिक सक्रियता का केन्द्र एकमात्र ब्राह्मण था और समाज के लिए, अपने स्वार्थों के हितों की रक्षा के लिए नियम (धर्मशास्त्र स्मृतियां) बनाया करता था।

बौद्ध और जैन युग से ही शिक्षा पर ब्राह्मण के एकान्तिक अधिकार को चुनौती मिलने लगी थी। इन धर्मों के अनेक विद्वान अब्राहाण जातियों से आये। भक्तिकाल में तो ब्राह्मण की (पुस्तकीय) शिक्षा को बार-बार झुठलाया गया है—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोई।

— कबीर

ब्राह्मण वर्ग ने जिस शिक्षा से अन्य वर्गों को वंचित रखकर उन्हें ज्ञानहीन रखा था, उस वर्ग में एकाएक ज्ञान की पिपासा बढ़ जाती है, परन्तु यह ज्ञान ब्राह्मण की शिक्षा से नहीं मिल सकता था, क्योंकि वह उसे इसका अधिकारी ही नहीं मानता था। इसलिए ज्ञान का माध्यम बना 'गुरु' और उसकी कसौटी बना 'आत्मानुभव'—

सफल जनमु मोकउ गुरु कीना। दुख बिसारि सुख अंतरि लीना।
गिआन अंजनु मोकउ गुरि दीना। राम नाम बिनु जीवन हीना।

—कबीर

गिआन, अंजनु गुरि दीआ। अगिआन और विनास।
संत किरपा से हरि मेटीआ। नानक मन परगास।

—गुरु नानक

और आत्मानुभव की दृष्टि से कबीर कहते हैं–

मैं कहता आंखिन देखी,
तू कहता कागद की लेखी।

इसीलिए उनका दावा है कि अनुभव-जन्य ज्ञान से वे चीजों को सुलझा लेते हैं जबकि पुस्तक-शिक्षा का अभिमानी पंडित तो मात्र चीजों को उलझाता ही है–

मैं कहता सुरझावन हारी, तू राख्यो उरझाई रे।

निर्गुण धारा को सामान्यतः हिन्दी में 'ज्ञानमार्गी' धारा कहते हैं। कितने अचम्भे की बात है कि पंडितों की दृष्टि में 'अशिक्षित' और 'अज्ञानी' लोग 'ज्ञानी' होकर शास्त्रियों की विद्वत्ता को नकारते हुए कहने लगे कि ब्राह्मण वह है जो ब्रह्म का विचार करता है, न कि पोथियों को रटता रहता है।

सामाजिक परिवर्तन की इस प्रक्रिया में मध्ययुग की सगुण-साकार धारा की भूमिका बहुत शिथिल या यथास्थितिवादी जैसी है। जिस व्यवस्था को अद्विज संत तोड़ना चाहते हैं, ये उसे भरसक बचाना चाहते हैं और उसमें थोड़ी-सी ही सुविधा देकर समझौता करना चाहते हैं। डॉ. प्रेमशंकर कहते हैं कि "राम-कृष्ण काव्य की नई सामाजिक चेतना रूढ़ियों का अंध समर्थन नहीं करती, पर उसके विद्रोह का स्वर साकारी देवत्व को चरितनायक स्वीकारने के कारण जुझारू नहीं हो पाता। राम-कृष्ण भक्त कवि एक व्यवस्था की खोज करते दिखाई देते हैं। विगलित यथार्थ का चित्रण उनमें संकेत से है, पर सामाजिक चेतना के रूप में वे विकल्प की तलाश करते हैं, यूटोपियाई रामराज्य या कृष्णचरित। इस व्यवस्था में वे सम्पूर्ण रूप से नए समाज की कल्पना नहीं करते, काफी चीजें पुरानी भी बनी रहनी चाहिए–वर्ण का पालन, ब्राह्मण का सम्मान, वेद-मर्यादा आदि। व्यवस्था की यह तलाश ही भक्ति-काव्य की सामाजिक चेतना के विद्रोह को मुखर और जुझारू नहीं होने देती।"

तुलसीदास अपने युग के जागरूक कवि थे। अपने समय की दयनीय सामाजिक स्थिति का उन्होंने अनेक स्थानों पर वर्णन किया है–

खेती न किसान को भिखारी को न भीख भलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकारी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच-बस
कहैं एक एकन सौं कहां जाई का करी।

परन्तु इसका कारण उन्हें स्वीकृत-परम्परित समाज व्यवस्था में कहीं कोई कमी के रूप में नहीं, उसमें शंका, अश्रद्धा और अस्वीकृति में दिखाई देता है–

आस्रम बरन धरम विरहित जगलोक वेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पापरत अपने अपने रंग राई है।

—विनय पत्रिका

उस स्थिति में सामाजिक परिवर्तन की जो प्रक्रिया मुख्यतः शूद्र संतों द्वारा अपनायी जाती है, जहां वे ब्राह्मणों से बहस करते हैं, अपनी बराबरी का दावा करते हैं और यह कहते हैं कि जो ब्रह्म को जानता है वही विप्र है, तुलसीदास को अच्छा नहीं लगता—

बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुमतें कछु घाटि।
जानहि ब्रह्म सो विप्रवर आंख देखावहि डांटि

—दोहावली

मध्ययुग की बहुचर्चित अवतारवादी परिकल्पना क्या है? क्या कारण है कि सगुण-साकारवादी सभी भक्त द्विज वर्ण के हैं और निर्गुण-निराकारवादी संत अधिसंख्य अद्विज हैं? भारतीय समाज में अवतारों की कल्पना का विकास कुछ मूल्यों की रक्षा के लिए किया गया। तुलसीदास की दृष्टि से ये मूल्य हैं—ब्राह्मण, गऊ, देवता और संत की रक्षा—

विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुन गोपर।

—रामचरितमानस

इस सूची में न सदियों से उपेक्षित सामान्य जन आता है न वह पीड़ित-दलित वर्ग जिसके लिए सामाजिक परिवर्तन की जरूरत होती है।

समाजशास्त्री बेकर का मत है कि 'पवित्र' या 'लौकिक' होने का अंतर किसी भी समाज के विकास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उसका यह कहना है कि जो समाज 'पवित्र' है, वह ऐसी पद्धति विकसित कर लेता है जो परिवर्तन की प्रतिरोधी होती है। दूसरी ओर लौकिक समाज परिवर्तन को जल्दी स्वीकार करता है।

भारतीय समाज रचना मूलतः 'पवित्र' ढंग की रचना रही है। यहां की धार्मिक शिक्षाएं 'लौकिक' पर 'अलौकिक'; 'इहलोक' पर 'परलोक' की श्रेष्ठता सिद्ध करती रही हैं, परन्तु आधुनिक काल का प्रारम्भ होते ही, मुख्यतः पश्चिमी जीवन-पद्धति के सम्पर्क में आने के बाद 'लौकिक' मूल्यों का महत्व स्वीकार किया जाने लगा। 'पवित्र' समाज मूलतः आस्थावान श्रद्धालु समाज होता है और लौकिकता की ओर अग्रसित समाज विचार और तर्क को साथ लेकर चलता है। हमारे साहित्य में 'मध्ययुगीन पवित्रता' से 'आधुनिक लौकिकता' की ओर के संचरण के संकेत बहुत धीरे-धीरे उपलब्ध होने शुरू होते हैं। उसका कारण भी स्पष्ट है। यह समाज मूलतः परिवर्तन का प्रतिरोधी समाज है।

योरोपीय जातियों के सम्पर्क और इस देश में अंग्रेजों का शासन स्थापित होने पर समाज-संरचना में जो परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ, उसे समाजशास्त्री प्रायः पश्चिमीकरण

कहते हैं (प्रो. एम. एन. श्रीनिवास, प्रो. योगेन्द्र सिंह)। वैसे किसी पश्चिमी देश के प्रत्यक्ष या परोक्ष सर्म्पक के कारण किसी गैर-पश्चिमी देश में होने वाले परिवर्तनों के लिए प्रचलित शब्द 'आधुनिकीकरण' है। डेनियल लर्नर के अनुसार 'आधुनिकीकरण' में सार्वजनिक संस्थाओं और निजी आकांक्षाओं को स्पर्श करने वाली एक 'विक्षोभकारी प्रत्यक्षवादी' भावना निहित है। पश्चिमीकरण (या आधुनिकीकरण) में कुछ मूल्यगत अधिमान्यताएं निहित थीं। एक सबसे महत्वपूर्ण मूल्य, जिसमें कई अन्य मूल्य सम्मिलित हैं, वह है जिसे मोटे तौर पर मानवतावाद कहा जा सकता है, जिससे अभिप्राय है जाति, आर्थिक स्थिति, धर्म, आयु और लिंग-भेद के बिना मनुष्य मात्र की भलाई के लिए कर्मठ भावना। समानतावाद और लौकिकीकरण दोनों ही मानवतावाद में निहित हैं। साहित्य में भी इन मूल्यों की मान्यता और स्वीकृति के संकेत हमें आधुनिक काल के प्रारंभिक चरण में ही मिलने लगते हैं। सन् 1877 में बंगला साहित्यकार रमेशचन्द्र दत्त ने लिखा था—''देवी-देवताओं, राजा-रानियों, राजकुमार-राजकुमारियों से उतरकर हमने सामान्य नागरिक, यहां तक कि सामान्य किसान के विनम्र जीवन के साथ सहानुभूति रखनी प्रारंभ कर दी है। समरूप एकरूपता की प्रशंसा करने की अपेक्षा हम व्यक्ति की निजता और शक्ति की सराहना करने लगे गये है। महान व्यक्तियों के यश और वैभव की प्रशंसा या स्तुति करने की अपेक्षा हम स्वेच्छा से निम्न स्तर के व्यक्तियों की स्वतन्त्रता और प्रतिरोध की सराहना करने लगे हैं।''

सामान्य जन की ओर समाज का ध्यान आकर्षित होना और उसकी निजता मानवीयता का महत्वांकन होना आधुनिक युग में सामाजिक परिवर्तन की ओर एक महत्वपूर्ण कदम था। साहित्य में इस परिवर्तन की व्यापक तस्वीर उभरने लगी। धीरे-धीरे साहित्य में विशिष्ट जन गायब होने लग गया प्रो. पूरनसिंह जैसे लेखकों ने सामान्य जन की मजदूरी की महत्ता को गुरु-गम्भीर आध्यात्मिक चिंतन से ऊपर रख दियाः

''पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। वही आसन ईश्वर-प्राप्ति करा सकते हैं जिनसे जोतने, बोने, काटने और मजदूरी का काम लिया जाता है। लकड़ी, ईंट और पत्थर को मूर्तिमान करने वाले लुहार, बढ़ई, मैमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष हैं जैसे कि कवि, महात्मा और योगी आदि।''

प्रेमचन्द जैसे जागरूक लेखक इस बात को स्पष्टतः स्वीकार करते थे कि सामाजिक-आर्थिक स्तर पर जो परिवर्तन अनेक नेताओं, विचारों और आन्दोलनों के माध्यम से आ रहा है, वही परिवर्तन उन्हें साहित्य के माध्यम से लाना है। 1935 में वर्धा में गांधीजी से भेंट होने के बाद उन्होंने शिवरानी देवी से कहा थाः ''वह (गांधीजी) भी मजदूरों, किसानों की भलाई के लिए आन्दोलन चला रहे हैं और मैं भी कलम से यही कुछ कर रहा हूं।''

—प्रेमचन्द घर में

सामाजिक परिवर्तन की सर्वप्रथम पहचान व्यक्ति के मानसिक परिवर्तन से उत्पन्न होती है। मैंने प्रारम्भ में ही कहा है कि व्यक्ति-मन में स्थापित मान्यताओं के प्रति

जब शंका, प्रश्न और नकार उत्पन्न होना प्रारम्भ हो जाता है तो परिवर्तन की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। यह शंका, प्रश्न और नकार और फिर एक स्वस्थ, अन्याय और शोषणहीन समाज बनाने की आकांक्षा इस प्रक्रिया को तीव्र करती है। प्रेमचन्द के अनेक पात्रों में स्थापित मूल्यों और मान्यताओं के प्रति हलकू का यह प्रश्न और शिकायत उमड़ती रहती है—''मजदूरी हम करें और मजा दूसरे लूटें।''

—पूस की रात

समकालीन साहित्य में सामाजिक परिवर्तन के विविध संदर्भों के अनेक-मुखी चित्र उपलब्ध हैं। आज का लेखक परिवर्तन का दर्शक या लेखा-जोखा रखने वाला ही नहीं वरन् वह परिवर्तन की प्रक्रिया का सक्रिय सहगामी भी बनना चाहता है। इसी बिन्दु पर साहित्य और सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध गहरे अन्तर्सम्बन्ध में बदलता है।

(कुछ सोचा : कुछ समझा,
प्रथम संस्करण- 2002)

12

सचेतन कहानी : विचार की सर्जनात्मक भूमिका

आन्दोलन क्या है? एक प्रकार की मानसिक और शारीरिक हलचल, किसी बात के लिए व्यापक सामूहिक प्रयत्न। आन्दोलन किसी विचार से संचालित एवं प्रभावित होते हैं और अपनी परिधि में विचारों की समता रखने वाले अनेक व्यक्तियों की मानसिक और शारीरिक गतिविधियों को लेकर विशिष्ट दिशा की ओर निर्देशित करते हैं। अनुमान लगाइए कि मानव इतिहास में यदि सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में अनेक प्रकार के आन्दोलन न हुए होते तो आज का मनुष्य कहां होता। मनुष्य चेतना-सम्पन्न प्राणी है इसलिए हलचल करता है और हलचल में जीना चाहता है, परन्तु प्रत्येक हलचल कुछ समय बाद रूढ़ होने लगती है और उसमें जड़ता भरने लगती है। इस जड़ता को भंग करने के लिए नयी हलचल की जरूरत महसूस होती है। मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में होते रहने वाले आन्दोलनों की अनिवार्यता और उपयोगिता इस स्थिति का परिणाम है।

मानव-इतिहास' में अधिकांश आन्दोलन सामाजिक, राजनीति और धार्मिक जीवन में जन्म लेते रहे हैं और साहित्य उन्हें वाणी देने का काम करता रहा है। अपने देश में मध्य युग का सबसे प्रभावशाली आन्दोलन, भक्ति आन्दोलन, धार्मिक-राजनीतिक क्षेत्र का आन्दोलन था, परन्तु साहित्य ने उसे वाणी देने और जनमानस तक उसे ले जाने का जो कार्य किया वह सर्वविदित है। इस युग में मार्क्सवादी आन्दोलन, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन का आन्दोलन बनकर उभरा और 'प्रगतिशील साहित्य' उसकी साहित्यिक व्याप्ति के रूप में सारे संसार में स्वीकृत हुआ। हिन्दी में संभवतः छायावाद इस प्रकार का पहला आन्दोलन है जो अनेक दार्शनिक-सामाजिक विचारों को

ग्रहण करता अपने स्वरूप में विशुद्ध साहित्यिक आन्दोलन रहा। मैं कहना यह चाहता हूं कि आन्दोलन एक प्रकार की सामूहिक हलचल के प्रतीक होते हैं और यह हलचल जड़ता को नष्ट करके हमारे चिंतन एवं क्रिया में गत्यात्मकता का निर्माण करती है।

हिन्दी कहानी में सचेतन आन्दोलन के साथ मुझे जोड़ा जाता रहा है। मैं यह मानता हूं कि इस आन्दोलन ने सातवें दशक के पूर्वार्द्ध में हिन्दी कहानी को वैचारिक विशृंखलता, ठहराव और व्यक्तिपरकता से मुक्त कर उसे विचार का धरातल दिया और अभिव्यक्ति के लिए मुक्त वातावरण का निर्माण किया।

सचेतन दृष्टि की चर्चा का मुख्य केन्द्रबिंदु 'नया' शब्द था जिसे पुराने की सापेक्षता में बार-बार उठाया जा रहा था। किसी वैचारिक भित्ति के अभाव में 'नया' शब्द सबसे अनुकूल-प्रतिकूल, प्रगतिशील-प्रतिगामी, मूर्त-अमूर्त प्रवृत्तियों को एक साथ रखा जा सकता है और सभी प्रकार के अन्तर्विरोधों को नित नये होने की प्रक्रिया के तर्क से झुठलाया जा सकता है। 'नयावाद' की इस भ्रामक स्थिति के प्रति आक्रोश व्यक्त करते हुए मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' में लिखा था—''असल में नये और पुराने के प्रति पूरा अवसरवाद अपनाया गया है। इस सुविधामूलक लक्ष्यहीन अवसरवाद के कारण ही साहित्य में नये को रूपाकार देने की कोई तलाश नहीं है।''

'नयी कहानी' जिस ऐतिहासिक मोड़ पर उभरी उसमें प्रगतिवाद से असंतुष्टि और मोहभंग की तीव्र प्रतिक्रिया थी। पुरानी परम्पराएं अपनी संगति खो रही थीं। इस तरह 'नयी कहानी' युग-संवेदना के विविध पहलुओं को चित्रित करने वाली समस्त कथाकृतियों के लिए एक सुविधाजनक नाम था।

हिन्दी कहानी में जब सचेतन दृष्टि की चर्चा शुरू हुई तो इस बात को विशेष रूप से रेखांकित किया गया कि सचेतन आन्दोलन एक वैचारिक आन्दोलन है। 'आधार' के सचेतन कहानी विशेषांक में प्रकाशित अपने लेख में मैंने लिखा था कि सचेतनता एक दृष्टि है, वह दृष्टि जिसमें जीवन जिया भी जाता है और जाना भी जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि मनुष्य का जीवन प्रारम्भ में कुछ भी नहीं है। वह उस समय तक भी कुछ नहीं है जब तक वह अपने को कुछ बनाता नहीं है। अपने आपको बनाने की यह प्रक्रिया उसे सक्रिय रूप से जीवन के साथ जोड़ देती है सम्भवतः यहीं व्यक्ति की वह आन्तरिक व्यथा उभरती है जिसे अस्तित्ववादी 'ऐंग्विश' कहते हैं। आज के मनुष्य के हाथ से 'ईश्वर' रूपी वह 'जादुई चिराग' जा चुका है जिसकी सहायता से वह अपनी समस्त चिंताओं को पलक झपकते दूर कर लिया करता था। आज वह खुद अपने सामने खड़ा है अपने वरण की स्वतन्त्रता लेकर। आज जब वह किसी चीज के प्रति अपनी प्रतिबद्धता घोषित करता है, वह यह बात भी अनुभव करता है कि वह सिर्फ अपने लिए ही वरण नहीं कर रहा है, बल्कि इस प्रकार वह सम्पूर्ण मानवता का विधायक बन रहा है। ऐसी स्थिति में मनुष्य एक गहरे दायित्व-बोध से बच नहीं सकता। निर्णय के इस क्षण में वह गहरी आन्तरिक व्यथा का शिकार बनता है, परन्तु यह व्यथा हमें कर्म करने से नहीं रोकती। सार्त्र ने एक स्थान पर लिखा है—''वह व्यथा जिससे हमारा सम्बन्ध है, हमें विरक्ति या निष्क्रियता की ओर नहीं ले जाती। यह शुद्ध

और सरल व्यथा है जिसे हर वह व्यक्ति जानता है जिसने दायित्वों को वहन किया है।"

किसी वैचारिक पृष्ठभूमि के अभाव में 'नयी कविता' के अनेक उन्नायकों ने लम्बे समय तक प्रामाणिक अनुभूति' और 'झेले तथा भोगे हुए यथार्थ' की बात को बार-बार दुहराया। वस्तुतःयह प्रामाणिकतावादी दृष्टिकोण परिवेश या जीवन के प्रति एक निष्क्रिय दृष्टिकोण का घोतक था। यह वर्तमान स्थिति के प्रति आत्मसमर्पण था। परिवेश और यथार्थ के प्रति सतही समझ रखने के कारण ही ऐसे चालू मुहावरों का जन्म होता है और उन्हें बार-बार दुहराया जाता है। निहित स्वार्थों से प्रेरित वर्ग इस प्रकार के अनुभववाद के इसलिए समर्थक बन जाते हैं क्योंकि वे यथास्थिति (स्टेटस को) बनाये रखना चाहते हैं।

इस सम्बन्ध में सचेतन कथाकारों का मत सदैव बहुत स्पष्ट रहा है। जो कुछ दिखाई पड़ रहा है या जिस प्रकार व्यक्ति अनुभव कर रहा है उसे उसी तरह चित्रित कर देना लेखक का काम नहीं है। सारी दृश्य स्थितियों के बीच जो कुछ अनदेखा रह जाता है उसे पकड़ना और सम्प्रेषित करना किसी भी लेखक की परिवेशगत और विचारगत जागरूकता को प्रमाणित करता है। इससे स्थितियों तथा व्यक्तियों के भीतर की पीड़ा, विसंगति और विडम्बना का सही उद्घाटन हो पाता है।

निष्क्रियता और निरर्थकता के बहुचर्चित मुहावरों के मध्य सचेतन-दृष्टि में जीवन के सक्रिय भावबोध पर विशेष आग्रह किया गया। सचेतन कथाकारों ने कहा कि हम जीवन को मात्र एक प्रदत्त वस्तु के स्तर पर ही नहीं ग्रहण करते जहां सक्रिय रूप से जीने की अपेक्षा कुछ घटित होने का बोध ही अधिक रहता है। जीवन को केवल अनुभूति के स्तर पर जीना उसे एकांगी जीना है। जीने को समग्र रूप से जीने का अर्थ उसे जानना भी है। जीवन को जानने की दृष्टि व्यक्ति को अपने परिवेश के प्रति सक्रिय भावबोध से युक्त करती है और व्यक्ति-चेतना की यह गत्यात्मकता ही उसे आधुनिक संस्पर्शों के निकट रखती है।

आधुनिकता एक गतिशील प्रक्रिया है। ज्ञान निष्क्रिय नहीं, सक्रिय व्यापार होता है। आधुनिकता जीवन-मूल्यों सम्बन्धी वह अनिवार्यता है जो सारे सामाजिक सम्बन्धों को तोड़ रही है, स्वयं उनके अन्दर से जन्म ले रही है और नये आधार पर उन्हें पुनर्गठित करने की मांग कर रही है। वैयक्तिक और सामाजिक स्तर पर आज का व्यक्ति जिस संक्रमणशील स्थितियों में से होकर गुजर रहा है वह अनेक प्रकार के तनावों, आक्रान्तियों, विसंगतियों और विडम्बनाओं से भरा हुआ है। अपनी एक कहानी 'कुछ और कितना' के संदर्भ में मैंने 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में प्रकाशित अपनी एक टिप्पणी में लिखा था कि आज का व्यक्ति एक ही साथ कितनी मनःस्थितियों में जीता है, उनमें से गुजरता है। कितनी ही एकांगी मनःस्थितियां मिलकर एक आधुनिक व्यक्ति का सृजन करती हैं और फिर से सभी आपस में मिलकर उलझ जाती हैं और एक उलझा हुआ व्यक्ति हमारे सामने आ खड़ा होता है। आधुनिक व्यक्ति की इस बहुदरीयता को झेल पाना बहुत मुश्किल काम है। यह बहुदरीयता उसे क्षण-क्षण तोड़ती है, बिखेरती है। कभी-कभी

व्यक्ति इस सबसे ऊबकर, घबराकर हताश होकर चीख उठता है या फूट-फूटकर रो पड़ता है या एल. एस. डी. की गोलियां निगलता है या चरस-गांजे के पीछे भागता है इससे भी जब उसे संतोष नहीं मिलता तो वह समाधि लगाता है या हरे रामा हरे कृष्णा की धुन लगाता हुआ सड़कों पर घूमता-फिरता है या फिर आत्महत्या कर लेता है।

इस स्थिति की भी अपनी एक बाध्यता है। जीवन के सारे संदर्भ जितनी तेजी से बदल रहे हैं, उनमें हमारे देश का व्यक्ति भी एकांगी होकर नहीं रह पाएगा और जैसे-जैसे वह बहुदरीय बनेगा उसे इस आक्रान्ति और तनाव को झेलना पड़ेगा। तनाव को भोगना और उसमें सक्रिय होकर जीना मुझे आधुनिक युग की दृष्टि लगती है। मैं इसे सचेतन दृष्टि कहता हूं।

कहानी कहानी होती है यह बड़ा बेहूदा तर्क है। मानव सभ्यता के विकास में जिन लोगों ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है यदि उनके सामने यह तर्क दिया जाता कि मनुष्य मनुष्य होता है और उन्होंने इस तर्क को मान लिया होता तो आज का मनुष्य गुफाओं में रह रहा होता और शिकार करके कच्चे मांस द्वारा अपना उदर भर रहा होता। कहानी या कोई भी साहित्यिक विधा, मात्र कहानी नहीं होती बल्कि अपने समय की सच्चाइयों का जीवन्त दस्तावेज होती है। जैसे जीवन में नवीन विचारों का उदय, उनका टकराव आवश्यक है क्योंकि तर्क की द्वन्द्वात्मक प्रणाली से जगत के वास्तविक सत्य के ज्ञान की ओर हम अग्रसित होते हैं उसी तरह साहित्य में भी यह अनिवार्य है। इसके अभाव में साहित्य जीवन के निरन्तर विकासशील अनुभवों का साक्ष्य ने रहकर म्यूजियम की एक दर्शनीय वस्तु मात्र बनकर रह जाएगा।

(कुछ सोचा : कुछ समझा,
प्रथम संस्करण- 2002)

13

आठवें दशक की कहानी का परिदृश्य

अपने समय की साहित्यिक संचेतना को मूर्त करने के लिए बहुधा कुछ शब्द केन्द्रीभूत स्थिति ग्रहण कर लेते हैं और फिर समीक्षात्मक मूल्यांकन उन शब्दों के चारों ओर चक्कर काटने लगता है। आधुनिक काल में 'राष्ट्रीयता', 'भारतीयता','मानवता' आदि शब्द एक समय में इस केन्द्रीय स्थिति को व्यक्त करते रहे। पांचवें दशक का सबसे प्रभावशाली शब्द 'प्रगतिशील' रहा और छठे दशक में 'यथार्थ' और 'अस्तित्व' जैसे शब्दों के माध्यम से समीक्षक और कृतिकार रचनाओं का मूल्यांकन करते रहे।

सातवें दशक में संपूर्ण साहित्यिक संचेतना का केन्द्रीभूत शब्द 'आधुनिकता' रहा है। इस अवधि में आधुनिक होने की आवश्यकता और अत्याधुनिक दिखने की लालसा पर जितना बल दिया गया, उतना पहले कभी नहीं हुआ।

इस स्थिति का भी एक महत्वपूर्ण कारण था। इसके पूर्व की सभी साहित्यिक प्रवृत्तियां, चाहे वे पुनरुत्थानवादी हों अथवा प्रगतिवादी, अपनी आधुनिकता का दावा करते हुए भी जीवन-मूल्यों की स्वीकृति के संबंध में एक सुविचारित आदर्श अपनाए हुए थीं। सांस्कृतिक क्षेत्र में हमारे देश का प्रत्येक युगीन आधुनिक आन्दोलन अन्ततोगत्वा किसी प्राचीन मूल्यबोध के साथ जुड़कर नए मूल्यों की स्थापना की प्रक्रिया से टूट गया और धीरे-धीरे उसी रूढ़ि का शिकार हो गया जिससे वह मुक्त होना चाहता था। हमने हर बार आधुनिक बनने की कोशिश की और हर बार थोड़ी-सी छटपटाहट दिखाकर पूर्ववत् जड़ीभूत हो गए। जीवन-मूल्यों की स्थिरता में विशेष अंतर नहीं पड़ा। सातवें दशक में यह स्थिति सभी क्षेत्रों में विस्फोटक-सी हो उठी थी। सदियों से जिस आदर्शात्मक स्थिति की प्राप्ति के लिए एक स्वप्नमहल खड़ा किया जा रहा था, आज़ादी

के दूसरे दशक में आकर यह महसूस किया जाने लगा कि उसका वहुलांश खोखला है। सभी क्षेत्रों में यह अनुभव किया गया है कि स्थापित मान्यताओं को चुनौती देने का कार्य एक विशेष अवधि का या किसी विशेष व्यक्ति या व्यक्ति-समूह का नहीं होता, वरन् यह एक सतत् गतिशील प्रक्रिया है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् पश्चिमी देशों के साहित्य में तृतीय विश्वयुद्ध के आतंक के परिणामस्वरूप मनुष्य-जीवन के संदर्भ में भविष्यहीनता, मूल्यों का संकट, मूल्यहीनता, मूल्यशून्यता आदि अनेक प्रश्न उभरे जिन्हें आधुनिक जीवन की नियति की संज्ञा दी गई। परिणाम यह हुआ कि कुछ क्षेत्रों में संत्रास, निरर्थकता, नैराश्य और मृत्युबोध को अभिव्यक्ति देने वाला साहित्य ही आधुनिक साहित्य का पर्याय बनाकर पेश किया जाने लगा।

दूसरी ओर आधुनिकता को एक गतिशील सामाजिक प्रक्रिया के रूप में देखा गया। उसे जीवन-मूल्यों संवंधी अनिवार्यता के रूप में स्वीकार किया गया, जिसमें विघटित होते हुए मूल्यों के अंदर से ही नए मूल्यों के जन्म लेने और सभी सामाजिक संवंधों को पुनर्गठित करने की आवश्यकता पर बल दिया गया। आधुनिकता द्वंद्व की उपज है, वह एक चुनौती है जो अत्यन्त पीड़ादायक और जटिल प्रक्रिया से जीवन में स्थान बनाती चलती है।

आधुनिकता संवंधी वाद-विवाद अब थम चुका है और इसे एक गतिशील प्रक्रिया और प्रश्नों को समझने और उनसे जूझने की वैज्ञानिक दृष्टि के रूप में स्वीकार किया जाता है। वैसे ये अवधारणाएं भी अपने आप में व्यापक चर्चा, वाद-विवाद और मतभेद की माध्यम हैं।

समकालीन हिन्दी कहानी में आधुनिक बोध का चित्रण व्यापक स्तर पर हुआ है। इसमें ग्रामीण परिवेश की कहानियां हैं, कस्वाई जीवन की कहानियां हैं और महानगरीय यांत्रिकता को व्यक्त करने वाली कहानियां हैं। ढहती हुई रूढ़िग्रस्त मान्यताओं, बदलते हुए मानवीय सम्बन्धों, यांत्रिक जीवन में शून्य होती हुई मानवीय संवेदना, सत्ता और धन द्वारा शोषित अभावग्रस्त जीवन और अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ते हुए सामान्य जन की मानसिकता और कटु यथार्थ को चित्रित करने वाली कितनी ही कहानियां हिंदी में प्रकाशित होती रहती हैं।

प्राचीन और नवीन जीवन-मूल्यों के मध्य टकराहट या मुकावला आधुनिक जीवन का मूलाधार है। मूल्यों के मुकाबले का पहला तीव्र आभास हमें 'कफन' (प्रेमचंद) में दिखाई देता है। इस कहानी के दोनों पात्र माधव और घीसू किसी परम्परागत मूल्यवत्ता को उस समय भी समर्पित नहीं दिखाई देते जब मानव-जीवन का करुणतम प्रसंग उपस्थित हो जाता है। बहू या पत्नी की मृत्यु का शोक उनकी बुभुक्षा से टकराकर चूर-चूर हो जाता है। आत्म संरक्षण का आदिम भाव पिता-पुत्र को अविश्वास की चरम सीमा तक ले जाता है।

आज़ादी की प्राप्ति से पूर्व भारतीय मन एक ऐसी नियति से जुड़ा हुआ था जहां उसका सम्पूर्ण आक्रोश, तनाव, अस्वीकार और विद्रोह देश में विदेशी सत्ता की उपस्थिति में अपना निदान ढूंढ़ लेता था। उसे अपनी सम्पूर्ण अन्तर्बाह्य समस्याओं का कारण

वह गुलामी लगती थी जो सदियों से उसके चिन्तन को अवरुद्ध किए हुए थी परन्तु आज़ादी के बाद धीरे-धीरे वह स्थिति उभरी, जहां यह महसूस होने लगा कि वर्तमान की अनिवार्यता को वहन करना ही पड़ेगा। न तो भूत में शरण लेने से छुटकारा मिलेगा और न ही किसी अन्य सत्ता पर दोषारोपण करने से।

मुझे वेद राही की एक कहानी याद आती है—'जुगतिया'। जुगतिया टी.बी. का मरीज है। उसकी बीवी को रामा पाण्डेय भगा ले जाता है। जुगतिया दहाड़ मार-मारकर रोता है। लोग उससे सहानुभूति दरशाते हैं। पुलिस इन्स्पेक्टर नगेश उसे जीप में बैठाकर ले चलता है, थाने में रिपोर्ट लिखवाने के लिए, परन्तु रास्ते में सरकारी अस्पताल के पास जुगतिया जीप से उतर जाता है। स्वयं बीमार, मरणासन्न और साधनहीन होते हुए भी पति के परंपरानुमोदित अधिकार का दावा करने वाला जुगतिया एक सामान्य व्यक्ति था। जीप से उतरा हुआ जुगतिया एक आधुनिक व्यक्ति था जो इन्स्पेक्टर से कहता है—"कैसी घरवाली सरकार? मुझमें तो इतनी भी शक्ति नहीं कि अपना घर चला सकूं। उसके लिए रोटी के दो टुकड़े भी न जुटा पाता था मैं। फिर वह मेरी घरवाली कैसी?"

सम्बन्धों की स्थिति में आया हुआ परिवर्तन ऐसे यथार्थ का आभास कराता है जो बहुत क्रूर लगता है। यथार्थ क्रूरता, उसके घिनौनेपन और कभी-कभी उसकी अमानवीयता का साक्षात्कार करना, उसके आमने-सामने होना आधुनिक युग की मांग बन चुकी है। यथार्थ से कतराना, उससे मुंह मोड़ना या उसमें से किसी बनावटी खुशफहमी को तलाश कर लेना आधुनिक युग की दृष्टि नहीं है। समकालीन दौर में हिंदी में ऐसी अनेक कहानियां लिखी गईं जो इस कथन की पुष्टि करती हैं। भीष्म साहनी की एक कहानी है 'इन्द्रजाल'। इस कहानी का कैंसर से पीड़ित नायक रामलाल जैसे-जैसे मृत्यु की ओर अग्रसित होता है वैसे-वैसे उसकी जीवनेच्छा और तीव्र होती जाती है। आज का आदमी या तो हार नहीं मानता या हार मान लेता है। वह बीच की स्थिति में नहीं जीता। बीमार रामलाल का चेहरा पहले से अधिक निस्तेज और पीला है। आंखों और चेहरे पर एक अस्वाभाविक-सी उत्तेजना है। किन्तु उसकी उद्दाम जीवनेच्छा ही उसको विवश करती है कि वह अपने को पूरी तरह स्वस्थ और रोगमुक्त समझे, परन्तु यह वास्तविकता तो नहीं है। डॉक्टर ने बताया है कि रामलाल एक महीने से अधिक नहीं जिएगा। उसकी पत्नी सोचती है—'मुर्दे के मुंह में फलों का रस उड़ेलने से क्या लाभ? क्यों नहीं मैं अपने बेटे को रस दिया करूं जिसकी जवान हड्डियों को रस की जरूरत है।' उसके घर के लोग उसके मरने के संदर्भ में तरह-तरह के हिसाब लगाते हैं। वे सोचते हैं—अगर मरना इन तीन महीनों में हो जाए तो रामलाल पूरी तरह तनख्वाह लेता हुआ मरेगा। अगर तीन महीनों के अंदर मरना नहीं हो तो तनख्वाह आधी रह जाएगी और सरकारी बंगला भी छोड़ना पड़ेगा।

बीमार पति या भाई की मृत्यु का इंतज़ार सम्बन्धों की क्रूरतम स्थिति है। ऐसा नहीं कि पहले का आदमी ऐसा अनुभव नहीं करता था, परन्तु पहले का कथाकार यथार्थ की इस क्रूरता से कतरा जाता था।

इसी से मिलती-जुलती स्थिति एक अन्य कहानी 'स्वराघात' (महीप सिंह) में है।

लाला दुनीचंद अपनी बेटी विमला की मृत्यु से पीड़ित हैं, परन्तु इस पीड़ा पर एक और पीड़ा हावी हो उठी है। वह पीड़ा है लम्बे गम की ऊब-उकताहट। दुनीचंद उससे मुक्त होना चाहता है, इसलिए 'किरिया' तेरहवें दिन के बजाय ग्याहरवें दिन कर सकने की सुविधा मिलते ही वह एकबारगी खुश हो जाता है।

समकालीन हिन्दी कहानी में आधुनिक जीवन के दबाव में पिसते विविध लोगों को रूपायित किया गया है। मशीनीकरण में जूझता हुआ आदमी व्यस्त रहने को अभिशप्त हो गया है। योगेश गुप्त की कहानी 'एन्क्लोज़र' का मजदूर घनश्याम हमेशा व्यस्त रहना चाहता है। वह काम पर जाने को भी बेचैन है और काम से भागने को भी। काम पर जाना परिवार और मोहल्ले के दमघोंटू एन्क्लोज़र से मुक्ति प्रतीत होती है और काम से भाग आना शरीर-तोड़ श्रम और शोषण से मुक्ति। लेकिन मुक्ति कहां है? वह मशीन-युग का एक निरीह पुर्जा है जो घर-बाहर अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है। महानगरों के क्रूर यांत्रिक जीवन में जीने वाला व्यक्ति स्वयं यंत्रवत हो गया है। कई बार तो ऐसा लगता है कि यह जीवन जिया नहीं जा रहा है सिर्फ ढोया जा रहा है। वेद राही की कहानी 'हर रोज' हर रोज ढोये जा रहे आधुनिक जीवन की कहानी है। साठे रोज सुवह साढ़े आठ बजे बोरीवली से ट्रेन में बैठता है, चर्चगेट पर उतरता है। शाम को चर्चगेट से बोरीवली की ट्रेन पकड़ता है और घर पहुंचता है। हर रोज का यह यांत्रिक क्रम उसके भीतर की मानवीय करुणा को भी सोख गया है। साठे ट्रेन के दरवाज़े पर खड़े आंखें बंद किए एक व्यक्ति को देखता है जो गाड़ी की तेज गति के साथ झूल रहा है। वह जानता है कि वह चलती ट्रेन से गिरकर मर सकता है, पर यह सब कुछ देखना हर रोज के यांत्रिक जीवन में इतना सहज हो गया है कि वह अपनी जगह से नहीं हिलता।

यांत्रिक जीवन और कदम-कदम पर अनुभव होता हुआ मृत्यु-भय आज के आधुनिक जीवन की विडम्बना है। व्यक्ति मृत्यु को जीत रहा है, साथ ही साथ मृत्यु के आतंक से ग्रसित भी है। पैदल चलने से लेकर हवाई जहाज की यात्रा तक मृत्यु कब, कहां, किस रूप में उसकी प्रतीक्षा कर रही है वह नहीं जानता। 'सड़क दुर्घटना' (सुदर्शन चोपड़ा), 'क्रासिंग के उस पार' (रामकुमार भ्रमर), 'एक ठहरा हुआ चाकू' (मोहन राकेश), 'पारदर्शक' (महीप सिंह), 'भय' (शैलेश मटियानी) आदि अनेक कहानियों में इस आतंक की गहरी छाया व्याप्त है।

आधुनिकता का संस्पर्श इस देश में नगरों और महानगरों तक ही रहा हो, ऐसी बात नहीं है। ग्राम्य-जीवन के परिवर्तित संदर्भ उसे भी आधुनिकता की चुनौती का साक्षात्कार कराने की स्थिति तक ले आए हैं। एक मत यह भी है कि आधुनिक संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए ग्राम्य-जीवन कहीं ज़्यादा उर्वर और उपयुक्त क्षेत्र है क्योंकि ग्राम्य जीवन में एक साथ ही इतने विविध किस्म के शरीर और मन वाले लोग मिलते हैं कि ये चरित्र हमें आश्चर्यचकित किए बिना नहीं रहते। आधुनिकता का भारतीय रूप इन्हीं वैविध्यपूर्ण जीवन-बिंदुओं के भीतर से उनके संघर्ष के द्वारा उन्मथित होकर उदित होता है।

कुछ कहानियों के उल्लेख से इस बात को रेखांकित किया जा सकता है।

रामदरश मिश्र की एक कहानी है—'सड़क'। रूढ़ियों में बंधे हुए और समय की मार से अत्यन्त पीड़ित एक ब्राह्मण परिवार की व्यथा का चित्रण इस कहानी में है। पिता सभी प्रकार के अभावों में जीता हुआ उस मानसिकता से ग्रस्त है जिसमें रूढ़ि की रक्षा करना धर्म है, परन्तु पुत्र गांव के पास बनती हुई सड़क पर चाय की दुकान खोल लेता है और अपने कुलीन होने के मिथ्या दंभ को एक कोने में रख देता है। कुछ दिन बाद पिता भी पुत्र के साथ आ मिलता है। गांव की पृष्ठभूमि पर मानसिक द्वंद्व की यह एक सार्थक आधुनिक बोध की कहानी है।

इसी संदर्भ में मुझे अब्दुल बिस्मिल्लाह की कहानी याद आ रही है—'तलाक के बाद'। साबिरा और उसके पति सत्तार में तलाक हो जाता है, बावजूद इसके कि दोनों एक-दूसरे को चाहते हैं। सत्तार के अब्बा की जिद से तलाक हो गया और सत्तार जब अपनी खुशी से साबिरा को फिर से अपनाने पहुंचा तो साबिरा की अम्मा शरीयत का नाम लेकर बीच में आ गई—"मजहब इसकी इजाजत नहीं देता। शरीयत की रू से पहले 'हलाला' होना ज़रूरी है।" अब जब तक साबिरा का निकाह किसी दूसरे मर्द से न हो जाए और उसके साथ रहने के बाद जब तक वह मर्द तलाक न दे, साबिरा सत्तार के साथ निकाह नहीं कर सकती, परन्तु सत्तार इस कानून को मानने से इनकार करता है और साबिरा उसके साथ चलने को तैयार हो जाती है। 'प्रश्न-चिह्न की निरन्तरता' को आधुनिकता की शर्त माना गया है। इसीलिए इसे प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया जाता है।

हिंदी कहानी में आधुनिकता को लाने में पश्चिम की आधुनिक चिंतन-प्रणालियों का बहुत बड़ा योगदान है। मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, फ्रायडवाद या सापेक्षवाद जैसी चिंतन-प्रणालियों ने मनुष्य को अपने अस्तित्व की सार्थकता और उपयोगिता के सम्बन्ध में नए ढंग से सोचने को बाध्य किया है। स्वाभाविक है कि आज का मनुष्य किसी भी बात को शास्त्र-सम्मत या परम्परा-सम्मत होने के कारण ही नहीं मान लेता। वह अपनी समझ के अनुसार प्रश्न-चिह्न लगाता है और संतुष्ट होना चाहता है।

स्त्री-पुरुष संबंधों के संदर्भ में भी इस दृष्टि को देखा जा सकता है। विवाह के सम्बन्ध में परम्परागत मान्यता पर अनेक प्रश्न-चिह्न लग रहे हैं। अब वह एक धार्मिक या सामाजिक कर्म न होकर स्त्री-पुरुष की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति और उनकी भावनात्मक सुरक्षा का एक साधन है। नारी के व्यक्तित्व में आता हुआ स्व-अस्तित्व का बोध उसे पारिवारिक संबंधों में नई दृष्टि से संपन्न कर रहा है। इसी प्रकार मानव-मन की जटिलताओं के परिचय के कारण आज प्रेम का स्वरूप पूर्ववर्ती प्रेमकथाओं की भांति सरल एवं निश्चित न होकर जटिल एवं अनिश्चित हो गया है। वस्तुतः आधुनिक दृष्टि ने स्त्री तथा पुरुष दोनों को अपने-अपने व्यक्तित्व के प्रति जागरूक कर दिया है। इसलिए आज का कथा साहित्य स्वाधीनता और प्रेम के संघर्ष का साहित्य है। लड़ाई स्त्री-पुरुष के बीच ही नहीं चल रही है, बल्कि दोनों के अंदर अलग-अलग भी यह संघर्ष चल रहा है।

विष्णु प्रभाकर की कहानी 'ठेका' में परम्परागत नैतिक मूल्यों के संदर्भ में यह संघर्ष उभरता है। किस प्रकार इस अर्थ-आधारित समाज में पति-प्रेम भी चल सकता

है और अभिसार भी, और वह भी पति की इच्छा से।

प्रेम-सम्बन्धों की सम्बन्धहीनता या संवेदनशून्यता की एक कहानी है—निरुपमा सेवती की 'फिर कभी'। कहानी की नायिका पांच-छह साल की बच्ची को लेकर परित्यक्त जीवन जी रही है। ज़िंदगी में कुछ खुश रहने की तलाश में वह अजीत से अपना परिचय बढ़ाती है—जैसे असुरक्षा में सुरक्षा की तलाश करती है, परन्तु पांच वर्ष की नीलू को मम्मी का अकेले बाहर पार्टी पर जाना अच्छा नहीं लगता। न्यू ईयर ईव पर अजीत से मिलना है, परन्तु नीलू की भीगी हुई कातर आंखें उसे जाने नहीं देतीं और तब अजीत शुद्ध व्यावसायिक शिकायत करता है—इस समय दूसरा साथी भी अब कहां मिलेगा।

आधुनिक दृष्टि समाज के भ्रष्ट और विसंगत ढांचे की चीर-फाड़ करना चाहती है। 'भाग्यवाद' या 'पूर्वजन्म का फल' जैसे तर्क उसे अब संतुष्ट नहीं करते। हिंदी में ऐसी अनेक कहानियां लिखी गई हैं जो सत्ता या धन की शक्ति से मदमत्त लोगों की भ्रष्ट कारगुजारियों का पर्दाफाश करती हैं। ऐसी अनेक कहानियों का उल्लेख इस संदर्भ में किया जा सकता है। आरिगपूडि की कहानी 'पवित्र पुरुष', यादवेन्द्र शर्मा 'चंद्र' की कहानी 'महापुरुष', विलास गुप्ते की कहानी 'चेहरे' आदि अनेक कहानियां पिछले वर्षों में प्रकाशित हुई हैं जो भ्रष्टाचार और शक्ति की मदान्धता पर तीखा प्रहार करती हैं।

समकालीन हिन्दी कहानी में जहां आधुनिकता के बहुआयामी रूप को बड़ी सार्थक और जीवंत अभिव्यक्ति मिली है, वहीं इस शब्द का दुरुपयोग भी बहुत हुआ है। आवश्यकता इस बात की है कि परिवेशगत यथार्थ को वस्तुपरक दृष्टि से देखा जाए, मूल्यों के विघटन की प्रक्रिया को उसकी समस्त जटिलता में विश्लेषित किया जाए और सामाजिक वैयक्तिक जीवन में आते हुए परिवर्तन को फैशन अथवा दिखावे के स्तर पर न ग्रहण करके बोध के स्तर पर ग्रहण किया जाए। जहां ऐसा नहीं हुआ वहां आधुनिकता एक मूल्यबोध नहीं, एक झूठी मुद्रा बन गई। समकालीन हिन्दी कहानी में आधुनिकता की झूठी मुद्रा को अपनाकर लिखी गई बनावटी कहानियों की भी कमी नहीं है। ऐसे लेखकों ने आधुनिकता को जटिल और पीड़ाजनक चुनौती के रूप में न स्वीकार कर मात्र दिमागी ऐयाशी के स्तर पर ही स्वीकार किया।

(कुछ सोचा : कुछ समझा,
प्रथम संस्करण- 2002)

14

प्रेमचंद की कहानियां : समस्याओं का संदर्भ

भारत में प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन (सन् 1936) के सभापति पद से बोलते हुए प्रेमचंद ने कहा था—"अब साहित्य केवल मन बहलाव की चीज़ नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता, किंतु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है और उन्हें हल करता है।" 'साहित्य का उद्देश्य' शीर्षक से निबंध रूप में प्रकाशित इस भाषण के इस अंश में दो बातें महत्वपूर्ण हैं—एक, साहित्य जीवन की समस्याओं पर विचार करता है और दो, वह उन्हें हल करता है।

प्रेमचंद के साहित्य पर विचार करते समय, संभवतः उनके इस कथन और साहित्य के इस उद्देश्य के प्रति उनकी आस्था के कारण जीवन की समस्याओं और (लेखक द्वारा प्रस्तुत) उनके हल का संदर्भ महत्वपूर्ण बन जाता है। सन् 1904 से लेकर 1936 के बीच के भारत (विशेष रूप से उत्तरी भारत) की जनता जिन बहुविध समस्याओं के बीच जी रही थी या उनसे जूझने की कोशिश कर रही थी, उनके प्रति प्रेमचंद की वैचारिक दृष्टि क्या थी और किस प्रकार का हल ढूंढ़ने की उन्होंने कोशिश की, इस पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है और बहुत कुछ लिखे जाने की गुंजाइश है।

प्रेमचंद की कहानियों का रचनाकाल लगभग तीस वर्ष की अवधि में फैला हुआ है। इस अवधि में उन्होंने लगभग तीन सौ कहानियां लिखीं—उपन्यासों, नाटकों, निबंधों, जीवनियों, बाल-साहित्य तथा अनुवादों के अतिरिक्त। प्रेमचंद की कहानियां ग्रामीण परिवेश की हैं और नगर परिवेश की भी। ऐतिहासिक कथानक, राजनीतिक आंदोलन, जमींदार, महाजन, सरकारी अफसर, किसान, साधु-संन्यासी, धर्माचार्य, जादू-टोने, शुद्धि

और तब्लीग, परंपरागत संयुक्त परिवार, सामंती या महाजनी ठसक, मध्यवर्गीय प्रदर्शन प्रियता और बड़बोलेपन तथा अत्यन्त निर्धन, अछूत आदि की व्यथा जैसा व्यापक और विशाल संसार इनकी इन कहानियों में उपलब्ध है और इसके साथ ही उपलब्ध हैं सामाजिक-पारिवारिक जीवन की अनेक समस्याएं और उनके प्रति लेखकीय दृष्टि की कहीं बहुत सपाट, कहीं बहुत सम्भ्रमित (कन्फ्यूज्ड), कहीं बहुत संकुचित, पूर्वाग्रहपूर्ण और कहीं यथार्थपरक, विचारपूर्ण और कलात्मक अभिव्यक्ति।

कुछ लेखकों का लेखन अपनी प्रारंभिक अवस्था से ही साहित्यिक स्तर के एक बिंदु से प्रारंभ होता है और फिर (लगभग) निरन्तर विकासशील प्रक्रिया का परिचय देता चलता है, परन्तु कुछ लेखकों का लेखन बहुत असम होता है। कभी वे बहुत अच्छी चीज़ लिख देते हैं, कभी सामान्य, कभी अतिसामान्य और कभी ऐसी कि उनकी लिखी वही दो-एक कृतियां उन्हें साहित्यिक इतिहास में एक सुरक्षित और अपरिहार्य स्थान दिला देती हैं। प्रेमचंद का लेखन, विशेष रूप से उनकी कहानियां, इस प्रकार के असम लेखन का उदाहरण हैं।

प्रेमचंद की कहानियों में उठाई गई समस्याओं पर कुछ चर्चा करने से पहले उन तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक हलचलों, उनके पीछे काम करने वाली विचारधाराओं, धारणाओं और प्रेरक शक्तियों का थोड़ा-सा जायजा लेना ठीक रहेगा, जिनसे किसी भी लेखक की मानसिकता का निर्माण होता है। प्रेमचंद का जन्म उस समय हुआ था, जिसे भारतीय इतिहास का पुनर्जागरण (रिनेसां) काल कहा जाता है। 1857 के विप्लव के पश्चात् इस देश के ब्रिटिश साम्राज्य का नियमित अंग बन जाने, अंग्रेजी शिक्षा, ईसाइयों के धर्मप्रचार, अंग्रेजी सरकार के प्रशासनिक ढांचे में स्थान पाने की लालसा और होड़ और कुछ समय पूर्व की ही मुगलिया सल्तनत, मराठा प्रभुत्व और खालसा राज के चुक चुके गौरव का 'हैंगओवर' आदि अनेक बातों ने मिलकर इस देश में एक अजीब-सी हलचल पैदा कर दी थी। पूर्वी भारत में ब्रह्मसमाज का बोलबाला था ही। उसकी प्रतिध्वनि पंजाब में देवसमाज और महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज आन्दोलन में सुनाई दी थी। आर्यसमाज ने प्राचीन आर्य गौरव और आर्य (हिन्दू) धर्म के पुनरुद्धार का अभियान चलाया, शाह अब्दुल अजीज, शेख करामत अली, सैयद अहमद बरेलवी के सुधारवादी और उग्र आंदोलनों ने इस देश में मुसलमानों के घटते हुए प्रभाव को पुनर्स्थापित करने का बीड़ा उठाया जिसे बाद में सर सैयद अहमद खान के नेतृत्व में आधुनिक शिक्षा-प्रसार के माध्यम से नई दिशा प्राप्त हुई। पंजाब में सिखों के मध्य 'सिंह सभा लहर' उन्नीसवीं शती अंतिम चरण में ही उठी और सिखों में अपने पृथक् अस्तित्व की तलाश और स्थापना की भावना बल पाने लगी। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शती के प्रारंभिक वर्षों के हिन्दी, उर्दू और पंजाबी साहित्य पर इन पुनरुत्थानवादी आंदोलनों की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है।

प्रेमचंद का लेखन इन्हीं परिस्थितियों के मध्य प्रारम्भ हुआ। उन्होंने उर्दू में लिखना शुरू किया था। कायस्थ परिवार में जन्म लेने के कारण उर्दू-फारसी का माहौल विरासत में मिला था, परन्तु जन्म से हिन्दू थे इसलिए तत्कालीन हिन्दू पुनरुत्थानवादी

हलचलों से भी परिचित और प्रभावित थे। सन् 1912 से वे आर्यसमाज के नियमित सदस्य थे और जीवनपर्यन्त इससे उनका यह संबंध बना रहा। कांग्रेस की स्थापना हुए कई वर्ष हो चुके थे। सन् 1885 से 1905 तक कांग्रेस की जो प्रगति हुई थी, उसकी बुनियाद थी वैध-आंदोलनों के प्रति दृढ़ आस्था और अंग्रेजों की न्यायप्रियता पर अटल विश्वास। कांग्रेस के पहले पच्चीस सालों में जिनके ऊपर कांग्रेस की राजनीति का दारोमदार रहा, दे अंग्रेजी सरकार के दुश्मन नहीं थे, बल्कि सरकार के प्रति अपनी वफादारी की लम्वी-चौड़ी घोषणाएं भी किया करते थे परंतु इन्हीं दिनों बंग-भंग आंदोलन को लेकर कांग्रेस के अंदर ही नया नेतृत्व उभरने लगा था। लोकमान्य तिलक, विपिनचंद्र पाल, लाला लाजपतराय ने कांग्रेस के अंदर ही गरम दल की नींव डाली दी थी। उसी के साथ देश के कुछ भागों में क्रांतिकारी गतिविधियां भी तेज हो गई थीं।

प्रेमचंद की 1908 में प्रकाशित नवावराय नाम से लिखी उर्दू कहानियों का संग्रह 'सोजेवतन' प्रकाशित हुआ था जिसमें देश-प्रेम की कहानियां थीं। इस संग्रह पर सरकारी कोप के परिणामस्वरूप ही नवाबराय (धनपतराय) प्रेमचंद में परिवर्तित हो गए थे, परन्तु इसी के साथ उन्हीं दिनों (1908) में उन्होंने स्वामी विवेकानंद पर एक लेख लिखा था। राजपूती शौर्य, क्षत्रिय रमणियों का आत्म-बलिदान, आन पर मर मिटने की गौरवपूर्ण परम्परा, शरणागत को आश्रय और अभयदान देने जैसे मूल्यों पर प्रेमचंद ने 'राजा हरदौल', 'रानी सारंधा', 'मर्यादा की वेदी', 'पाप का अग्निकुंड', 'जुगनू की चमक' आदि ऐतिहासिक कहानियां लिखीं। ये कहानियां यद्यपि पतनशील सामंती युग की मान्यताओं को प्रकट करती हैं किन्तु जिस ढंग से इन कहानियों की रचना की गई है, उससे उन मूल्यों और मान्यताओं के प्रति लेखक की गहरी आस्था और श्रद्धा व्यक्त होती है। पुनरुत्थान और पुनर्जागरण के प्रयत्नों के इतिहास की गौरवशाली परंपरा का स्मरण एक आवश्यक तत्व है। पंजाबी में भाई वीरसिंह के ऐतिहासिक उपन्यास इसी मानसिकता से रचे गए थे और 'भारत भारती' काव्य में श्री मैथिलीशरण गुप्त की ये पंक्तियां—

> हम कौन थे क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी,
> आओ विचारें आज मिल कर ये समस्याएं सभी—

भी इसी मानसिकता की उपज थीं, जिनके माध्यम से लोग अपनी जातीय अस्मिता की तलाश कर रहे थे।

सन् 1915-16 से लेकर 1947 तक का भारतीय राजनीतिक और सामाजिक चित्र अनेक विसंगतियों और अन्तर्विरोधों से भरा हुआ है। 1857 के विद्रोह की पृष्ठभूमि में अनेक धार्मिक कारण थे। उन्नीसवीं शती में पंजाब का कूका आंदोलन, बंगाल और महाराष्ट्र के क्रांतिकारी आंदोलनों की मूल प्रेरणा में देश की स्वतंत्रता के साथ धर्म की भावना भी काम कर रही थी। कांग्रेस का मंच धीरे-धीरे इस देश के सभी धर्मों और वर्गों का संयुक्त मंच बन रहा था, परंतु उसके अधिसंख्य नेता, लोकमान्य तिलक,

अरविंद, पं. मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानंद, मौलाना मुहम्मद अली और शौकत अली आदि हिन्दू, मुस्लिम पुनर्जागरणवादी आंदोलनों से जुड़े हुए थे। उन्हीं दिनों पंजाब में अकाली दल की स्थापना सिखों में राष्ट्रीय आंदोलन को प्रोत्साहित करने के लिए हुई थी। बावा खड्गसिंह, मास्टर तारा सिंह और ज्ञानी गुरमुख सिंह मुसाफिर जैसे नेता सिख पुनर्जागरण आंदोलन की ही देन थे। ऐसी स्थिति में कभी शुद्धि, तब्लीग और धर्म-प्रचार का नारा जोर पकड़ता था, तो कभी सांप्रदायिक सद्भाव का। राष्ट्रीयता और हिंदू-भावना कुछ इस तरह गड्ड-मड्ड थे कि हिंदू संगठन का कार्य और राष्ट्रीय आंदोलन पर्यायवाची जैसे लगते थे। लोकमान्य तिलक ने महाराष्ट्र में 'राष्ट्रीय उद्देश्य' से गणपति उत्सव की नींव डाली थी। पं. मदनमोहन मालवीय ने सन् 1909 में लाहौर कांग्रेस की अध्यक्षता की थी, परंतु वे हिन्दू महासभा आंदोलन के मुख्य स्तंभ भी थे। लाला लाजपतराय ने 1920 में कलकत्ता में हुए कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता की और फिर 1925 में कलकत्ता में ही हिन्दू महासभा के अधिवेशन की भी अध्यक्षता की। सर सैयद अहमद खां यह भी कहते थे कि हिन्दू और मुसलमान हिन्दुस्तान की दो आंखे हैं और दो में एक भी न हो तो चेहरा बदसूरत हो जाएगा परंतु उन्होंने यह भी कहा कि था कि मुसलमान और हिन्दू एक ही राजगद्दी पर बैठकर सत्ता में बराबर के हकदार नहीं हो सकते। यह आवश्यक है कि उनमें से एक-दूसरे को लताड़कर उस पर विजय पा लें और 'सारे जहां से अच्छा हिंदोस्तां हमारा' का कौमी तराना गाने वाले मुहम्मद इकबाल ने 1930 में मुस्लिम लीग के अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए पहली बार एक पृथक् मुस्लिम राज्य निर्माण का प्रस्ताव रखा था। सांप्रदायिक सद्भाव और हिन्दू-मुस्लिम एकता के सबसे प्रबल समर्थक गांधीजी स्वयं इस प्रकार की अनेक विसंगतियों के शिकार थे।

मैं यह कहना चाहता हूं कि हमारा राष्ट्रीय आंदोलन अनेक प्रकार की सांप्रदायिक, धार्मिक और क्षेत्रीयतावादी घाटियों से गुजरता हुआ उस मार्ग पर आया है जिसे समाजवादी, जनतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष की संज्ञा दी जाती है। प्रेमचंद की भी अनेक कहानियों में समस्याओं की पहचान करने और उनका हल ढूंढने में तत्कालीन युग की यह विसंगति उभर आती है। उनकी एक कहानी है 'मंत्र' (इस नाम से प्रेमचंद की दो कहानियां हैं) उसमें पं. लीलाधर चौबे हिन्दू सभा के प्रमुख नेता थे, शुद्धि के तो मानो वे प्राण ही थे। उन्हें ख़बर मिली कि मद्रास में हिन्दुओं को बड़े पैमाने पर मुसलमान बनाया जा रहा है। वे मद्रास पहुंचे। वहां एक बूढ़े अछूत ने पूछा—हमारे बीच ऊंच-नीच में इतना भेद क्यों मानते हैं?

चौबेजी उसका समाधान करने का प्रयत्न करते हैं और उसके साथ भोजन करने को भी तैयार हो जाते हैं, परन्तु यह अवश्य कहते हैं कि—''वर्णभेद तो ऋषियों का ही किया हुआ है। उसे तुम कैसे मिटा सकते हो?''

चौबेजी का वहां आना तब्लीग वालों को अच्छा नहीं लगता। वे उनको कत्ल करने के लिए दो आदमी भेजते हैं। उन पर रात्रि में आक्रमण होता है। आक्रमणकारी उन्हें मरा हुआ मानकर छोड़ जाते हैं, परन्तु उस अछूत बूढ़े की सेवा से पंडितजी बच

जाते हैं। वे वहां के लोगों की सेवा करते हैं, उन्हें हिंदू धर्म की महानता से परिचित कराते हैं। पंडित लीलाधर की सेवाओं का क्या असर हुआ, इसका वर्णन करते हुए लेखक कहता है–''यहां एक ऐसे देवता का अवतार हुआ था जो मुर्दों को जिला देता था, जो अपने भक्तों के कल्याण के लिए अपने प्राणों का बलिदान कर सकता था। मुल्लाओं के यहां यह सिद्धि कहां, यह विभूति कहां, यह चमत्कार कहां। इस ज्वलंत उपकार के सामने जन्नत और अखूवत (भ्रातृ-भाव) की कोरी दलीलें कब ठहर सकती थीं...अपने घर में अंधेरा पाकर ही ये इस्लामी दीपक की ओर झुके थे। जब अपने घर में सूर्य का प्रकाश हो गया, तो उन्हें दूसरों के यहां जाने की क्या जरूरत थी? सनातन धर्म की विजय हो गई।''

अछूतों के संदर्भ में सनातन धर्म की कितनी विजय हुई, यह हम सभी जानते हैं, परंतु इस कहानी के माध्यम से प्रेमचंद हिंदू संगठन के एक सक्रिय नेता और प्रवक्ता के रूप में उभरते हैं।

जैसे-जैसे भारतीय राजनीति में गांधीजी का प्रभाव बढ़ता है, वैसे-वैसे प्रेमचंद की कहानियों का प्रभाव-संसार भी बदलता है। अपने युग के प्रचलित और मान्य मूल्यों तथा आंदोलनों का त्वरित प्रभाव प्रेमचंद के साहित्य पर दिखाई देता है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने एक स्थान (प्रेमचंद : साहित्यिक विवेचन, पृ. 115) पर लिखा है–''राष्ट्रीय आंदोलन के शिथिल पड़ने पर सन् 24-25-26 में प्रेमचंद हिन्दू संगठन के नेता का रूप भी धारण कर चुके हैं। उस समय का वही रवैया था। प्रेमचंद जी भी समय के साथ थे। किसी प्रकार की कृत्रिमता लेकर नहीं, पूरी ईमानदारी के साथ उन्होंने समय का साथ दिया। यह ईमानदारी प्रेमचंद जी की बहुत बड़ी विशेषता है और यही उनके गौरव का मुख्य हेतु है। वे भीतर-बाहर एक हैं। उनकी रचनाधारा उनकी मनोधारा के सर्वत्र समानांतर बहती है। जो कुछ वह सत्य समझते हैं, सुंदर समझते हैं, लिखते हैं। यह बात दूसरी है कि सत्य और सुंदर के संबंध में उनका कोई निष्कर्ष न हो। बल्कि जिस समय जो प्रवाह है, उसी में सत्य और सुंदर की झलक वे देखने लगें।''

वाजपेयीजी ने प्रेमचंद के संबंध में यह व्यंग्योक्ति उनके जीवनकाल में ही लिखी थी। इस उक्ति में किसी जीवित रचनाकार के प्रति किसी आलोचक की आलोचना की तात्कालिकता के अंश को यदि निकाल भी दिया जाए तो भी इतनी बात तो कही जा सकती है कि बहुत समय तक उनकी रचनाओं में किसी व्यवस्थित जीवन-दर्शन की झलक नहीं मिलती। अपने समय के बहुविध समाज की समस्याओं को 'जानने' का आभास तो उनकी कहानियों में प्राप्त होता है, परंतु समस्याओं की 'समझ' बहुत साफ नहीं दिखाई देती।

प्रेमचंद की कथा-यात्रा का एक लम्बा दौर हृदय-परिवर्तनवादी, समझौतावादी और सुधारवादी कहानियों का दौर है–जीवन और उसकी समस्याओं के प्रति गांधीजी का आदर्शात्मक दृष्टिकोण प्रेमचंद के रचना-मानस को प्रभावित करता है। सर्वोदय गांधीजी का सामाजिक आदर्श था, सत्याग्रह जीवनाग्रह तथा जीवनादर्श और रामराज्य शासनादर्श।

सर्वोदय का अर्थ है सबकी उन्नति और उसका ध्येय है हृदय-परिवर्तन, हृदय-परिवर्तन अन्यायी, शोषक और अनीतिवान का। सत्य और अहिंसा गांधीवादी जीवन-दर्शन की आधारशिला है। एक गांधीवादी सत्याग्रही इस बात को मानता है कि मनुष्य चाहे कितना ही स्वार्थी हो जाए और कितने ही घातक या कुटिल उपायों से काम लेने को तैयार क्यों न हो गया हो, फिर भी उसके अंतस्तल में सत्य ही सर्वोपरि है। इसी को मनुष्य के हृदय की, 'अंतःकरण की आवाज़' कह सकते हैं। सत्याग्रही इस अंतःकरण की आवाज को जागृत करने का अनथक प्रयास करता रहता है। अन्यायी को अपने अन्याय का निश्चय हो जाना और उसके लिए पश्चाताप होना इसका श्रेष्ठ प्रकार है। यही हृदय-परिवर्तन है।

'हृदय-परिवर्तन' के इस गांधीवादी सिद्धान्त में प्रेमचंद की लम्बे समय तक दृढ़ आस्था रही। जीवन के अंतिम दिनों में आकर गांधीवादी दर्शन से उनका मोह-भंग होना प्रारंभ हो गया था। प्रेमचंद की अनेक कहानियां इस 'हृदय-परिवर्तन' के सिद्धांत की परिणति बनकर रची गई हैं। 'नमक का दारोगा', 'बूढ़ी काकी', 'बड़े घर की बेटी', 'बेटी का धन', 'आत्माराम', 'अमावस्या की रात्रि', 'मंत्र', 'पछतावा', 'शांति', 'ममता', 'मूठ', 'दुस्साहस', 'पंच परमेश्वर', 'शूद्रा', 'दुर्गा का मंदिर' आदि कितनी ही कहानियां हैं जो किसी एक घटना, झटके, भय, असुरक्षा आदि किसी कारण से गलत, सूम, अन्यायी व्यक्ति का हृदय-परिवर्तन कर देती हैं। प्रेमचंद की ऐसी अधिकांश कहानियां इकहरी अन्विति लेकर समाधान-बिंदु तक पहुंचने की जल्दी में भागती हुई दिखाई देती हैं। जहां वे व्यक्ति की सदाशयता प्रकट करने के लिए मानवीय संबंध-सूत्र का विस्तार करते हैं, वहां भी (अधिकतर) उनका निष्कर्ष इकहरा और स्थूल घटनापरक होता है। 'दुस्साहस' कहानी के मुंशी मैकूलाल मुख्तार शराब, गांजे, चरस के शौकीन थे। उनके घर पर शाम को पीने-पिलाने की महफिल जमती थी। एक दिन उनका नौकर अलगू शाम को शराब लेकर नहीं आया। पता लगा कि नशीली चीजें बेचने वाली दुकानों के आगे 'सुराज' वाले खड़े हैं। मुंशीजी अपने चारों साथियों के साथ शराब लेने जाते हैं। नशा-विरोधी आंदोलन के नेताओं—मौलाना जामिन और स्वामी घनानंद के समझाने से ईदू, रामबी, झिनकू और बेचन शराब से तौबा कर लेते हैं। मुंशीजी बोतल ले आते हैं, पर साथ देने वाला कोई नहीं। 'अंतःकरण की आवाज' उठती है—शराब निषिद्ध चीज़ है और अंत में—"एक क्षण में धड़ाके की आवाज हुई। अलगू चौंककर उठा तो देखा कि मुंशीजी बरामदे में खड़े हैं और बोतल जमीन पर टूटी पड़ी है।" 'मंत्र' में डॉक्टर चड्ढा स्वार्थवश बूढ़े देहाती के बेटे का इलाज नहीं करते, किन्तु उन्हीं के बेटे को सांप काट लेता है तो वही बूढ़ा जो सांप का जहर उतारने की युक्ति जानता है, उनके बेटे को पुनर्जीवन देता हैं और अंत में बदले हुए डॉक्टर चड्ढा कहते हैं—"उनकी सज्जनता ने मुझे ऐसा आदर्श दिखा दिया है जो अब से जीवनपर्यंत मेरे सामने रहेगा।"

हृदय-परिवर्तन के नुस्खे वाली अनेक कहानियां में अंत का ऐसा ही प्रायश्चित भरा सूक्त-वाक्य प्रेमचंद की अनेक कहानियों में मिलेगा। हृदय-परिवर्तन का जादू केवल 'स्वदेशी' पात्रों पर ही नहीं, विदेशी पात्रों के सिर पर भी चढ़कर बोलता है। 'शूद्रा'

कहानी में गौरा धोखे से मिर्च के टापू (मॉरीशस या फिजी) में भेज दी जाती है। वहां उसका पति मंगरू मिल जाता है। गौरा को, कोठी का साहब, कोठी में बुलाता है। न भेजने पर मंगरू की खूब पिटाई होती है। उसकी इस दुर्दशा से द्रवित होकर गौरा साहब के पास रहना मान जाती है। यहीं से हृदय-परिवर्तन का सिलसिला शुरू होता है। गौरा साहब को उसकी मां की याद कराती है और देखते ही देखते लेखक के शब्दों में साहब की यह हालत हो गई–''दोनों हाथों से मुंह छिपाकर साहब ने रोना शुरू किया, इतना रोया कि हिचकी बंध गई। माता के चित्र के सम्मुख जाकर वह कुछ देर तक खड़ा रहा, मानो माता से क्षमा मांग रहा हो।''

इस कहानी का 'मेलोड्रामा' यहीं समाप्त नहीं होता। लगे हाथ लेखक भारतीय पुरुष की संदेहशील प्रवृत्ति पर भी चोट करता चलता है। मंगरू को विश्वास नहीं होता कि गौरा साहब के हाथों अपनी लाज बचा सकी है। गौरा नदी में कूद पड़ती है और उसे बचाने के प्रयत्न में मंगरू भी छलांग लगा देता है और कहानी का अंत इस प्रकार होता है–''प्रातःकाल दोनों लाशें साथ-साथ नदी में तैर रही थीं। जीवन-यात्रा में उन्हें यह चिर-संग कभी नहीं मिला था। स्वर्ग-यात्रा में दोनों साथ-साथ जा रहे थे।''

हृदय-परिवर्तनवादी अनेक कहानियों में इकहरी अर्थ-व्यंजना के साथ ही कहीं-कहीं अनेकार्थी ध्वनि भी सुनाई देती है। यह अनेकार्थी ध्वनि भी अधिकतर प्रेमचंद की तत्कालीन वैचारिक संभ्रमता को ही पुष्ट करती है।

उनकी एक कहानी है 'मूठ'। डॉक्टर जयपाल हैं तो डॉक्टर, प्रथम श्रेणी की सनद पाए हुए, परंतु उन्हें अपने व्यवसाय में कभी उन्नत अवस्था न मिली। स्वभाव से इतने सूम की जवान लड़के की शिक्षा का प्रश्न ही सामने नहीं आया क्योंकि सोचते थे कि इतने दिनों तक पुस्तकों से सिर मारकर मैंने ऐसी कौन-सी बड़ी संपत्ति पा ली जो उसे पढ़ाने-लिखाने में हजारों रुपए बर्बाद करूं। बूढ़ी मां गंगा-स्नान के लिए तरसती रहती थी और पत्नी एक जोड़ी कंगन के लिए। उनके पांच सौ रुपए चोरी हो गए। चोर का पता लगाने एक दरिद्र ओझा के पास पहुंचे। चोर पर मूठ चलाने के लिए आवश्यक सामग्री के निमित्त रुपए देकर घर वापस आ गए। घर आकर उन्होंने बताया कि चोर पर उन्होंने मूठ चलवा दी है और उसकी दुर्गति निश्चित है। मूठ की बात बुढ़िया महरी जगिया ने भी सुनी। रात को ही उसकी जीभ ऐंठ गई और आंखें पथरा गईं। उसकी यह दशा देखकर डॉक्टर को दया आ गई (क्योंकि लेखक के ही शब्दों में दया मनुष्य का स्वाभाविक गुण है) बुढ़िया ने मान लिया कि उसने ये रुपए तीरथ करने के लिए चुराए थे। बस, सूम और कठोर डॉक्टर जयपाल का हृदय-परिवर्तन शुरू हो जाता है। वह सोचता है कि कहीं इसकी जान पर बन गई तो जीवन-भर पछताना पड़ेगा। आत्मा की ठोकरों से कभी छुटकारा न मिलेगा। वे ओझा बुद्धू के पास पहुंचे। पांच सौ रुपए देकर उन्होंने मूठ के दुष्प्रभाव को शांत कराया। चुराए हुए रुपए भी जगिया के पास ही रहने दिए और अंत में ''उनकी (रुपयों की) बदौलत मुझे ऐसी शिक्षा मिली, जो उम्र भर न भूलेगी। तुम मुझे अब आवश्यक कामों में मुट्ठी बंद करते हुए न पाओगी।'' उन्होंने अपनी पत्नी से कहा।

परंतु क्या इस कहानी की कथानक-संभावना एक सूम व्यक्ति को उदार बनाना मात्र ही थी? एक पढ़ा-लिखा डॉक्टर 'मूठ' जैसे बेहूदे अंधविश्वास का शिकार बनता है और मजे की बात यह है कि ओझा ने तो अभी मूठ चलाई ही नहीं थी, उसका असर कैसे हो गया, यह संकेत भी इस कहानी में है। बुढ़िया जगिया मूठ का नाम सुनते ही उसकी संभावित शक्ति से आक्रांत हो गई और मनोरोग से पीड़ित हो गई। यह कहानी 'मूठ' जैसे आदिम अंध-विश्वास पर चोट करने वाली सारी संभावनाएं अपने में रखती है, परंतु प्रेमचंद उस संभावना का उपयोग नहीं करते, मात्र एक व्यक्ति का हृदय-परिवर्तन करा देते हैं।

इन हृदय-परिवर्तन वाली कहानियों में प्रेमचंद अधिकांशतः मानवीय चरित्र की जटिलताओं के प्रति या तो बेखबर दिखाई देते हैं या तटस्थ। अनेक बार जिसे वह चरित्रों का हृदय-परिवर्तन कहकर प्रस्तुत करते हैं, उसके पीछे व्यक्ति इहलौकिक निंदा और पारलौकिक दंड के भय से आक्रांत होता है या वर्ग-स्वार्थ से। 'बेटी का धन' कहानी में झगडू साहू—'लेखा जौ-जौ, बख्शीश सौ-सौ' के सिद्धांत पर चलते थे। यदि महीने का एक दिन भी लंघ जाता तो पूरे महीने का सूद वसूल कर लेते, पर ईश्वर से डरते थे, क्योंकि परलोक का भय हमारे संस्कार की घुट्टी में है। सुक्खू चौधरी को वे एक धेला भी बिना कुछ गिरवी रखे न देते पर चौधरी जब अपनी बेटी के गहने उनके सामने रखता है तो वे कांप उठे—शास्त्र में बेटी के गांव का पेड़ देखना मना है और उन्होंने बिना गिरों-गांठ के रुपए दे दिए। 'बूढ़ी काकी' में बुद्धिराम और उसकी पत्नी रूपा काकी के प्रति पूरी तरह निर्दय हैं। सब्जबाग दिखाकर उन्होंने उसकी सम्पत्ति अपने नाम लिखवा ली थी, पर उसे पूछते भी नहीं थे, परंतु रूपा जब रात में बूढ़ी काकी को जूठी पत्तलों पर से पूड़ियों के टुकड़े उठा-उठाकर खाते देखती है तो उसका हृदय सन्न हो जाता है। ''करुणा और भय से उसकी आंखें भर आईं। इस अधर्म के पाप का भागी कौन है? उसने सच्चे हृदय से गगन मंडल की ओर हाथ उठाकर कहा—परमात्मा, मेरे बच्चों पर दया करो। इस अधर्म का दंड मुझे मत दो, नहीं तो मेरा सर्वनाश हो जाएगा।''

लेखक के मानवीय सदाशयता के प्रति इस विश्वास को आप क्या कहेंगे, यह हृदय-परिवर्तन स्वतः है या किसी भयंकर दंड, अनिष्ट अथवा किसी निहित स्वार्थ के कारण है? इसी संदर्भ में मैं दो कहानियों का और उल्लेख करना चाहता हूं—'नमक का दारोगा' और 'पछतावा'।

'नमक का दारोगा' में मुंशी वंशीधर जब रोजगार की खोज में निकले तो उनके अनुभवी पिता ने समझाया—''नौकरी में ओहदे की ओर ध्यान मत देना वह तो पीर का मजार है। निगाह चढ़ावे और चादर पर चाहिए। ऐसा काम ढूंढना जहां कुछ ऊपरी आय हो।''

परंतु मुंशी वंशीधर आदर्श प्रेरित, कर्तव्यनिष्ठ युवक थे। इलाके के सबसे प्रतिष्ठित जमींदार पं. अलोपीदीन को चोरी का नमक ले जाते उन्होंने पकड़ लिया। पं. अलोपीदीन को लक्ष्मी पर अखंड विश्वास था। वह कहा करते थे कि संसार का

तो कहना ही क्या, स्वर्ग में भी लक्ष्मी का राज्य है परंतु मुंशी वंशीधर की ईमानदारी और कर्तव्यपरायणता के आगे उनकी कुछ न चली। वंशीधर ने उनके द्वारा प्रस्तावित चालीस हजार की रिश्वत ठुकरा दी और उन्हें हिरासत में ले लिया।

पं. अलोपीदीन अदालत से साफ छूट गए क्योंकि वे उस अगाध वन के सिंह थे और वंशीधर को अपनी ईमानदारी का मूल्य चुकाना पड़ा। वे मुअत्तिल हो गए।

परंतु बात यहीं खत्म नहीं हुई। प्रेमचंद को उस समय तक ईमानदारी की इस तरह हार करवा देना गंवारा नहीं था। उन्होंने पं. अलोपीदीन को वंशीधर के गुणों से इतना प्रभावित करवाया कि वे अपने सजे हुए रथ पर उनके घर पहुंचे और उन्हें अपनी जायदाद का स्थायी मैनेजर नियुक्त कर दिया। छह हज़ार वार्षिक वेतन के अतिरिक्त रोजाना खर्च अलग, सवारी के लिए घोड़े, रहने को बंगले, नौकर-चाकर मुफ्त। कहानी के अंतिम पृष्ठ में पं. अलोपीदीन वंशीधर के लिए—'कुलतिलक', 'पुरुषों की कीर्ति उज्ज्वल करने वाले', 'धर्मपरायण' आदि विशेषणों का प्रयोग करते हैं और उत्तर में वंशीधर कहते हैं—''आप जैसे कीर्तिवान, सज्जन पुरुष की सेवा करना मेरे लिए सौभाग्य की बात है।''

परंतु इस कहानी की क्या इतनी ही समस्या है? पं. अलोपीदीन जैसे व्यक्तियों का हृदय-परिवर्तन क्या वर्गाधारित स्वार्थपूर्ण हृदय-परिवर्तन नहीं है? क्या वे उस सामंती और महाजनी समाज-व्यवस्था के उन धूर्त व्यक्तियों में नहीं हैं जो अपने हित के लिए व्यक्ति के गुणों की खरीद किया करते हैं? ऐसे चतुर व्यक्ति गुंडे भी पालते हैं, रिश्वत देने और अपना काम निकलवाने में कुशल दलाल भी रखते हैं (आजकल बड़े-बड़े पूंजीपति संस्थानों में ऐसे लोगों को 'लायजां आफीसर' या 'पब्लिक रिलेशन आफीसर' के नाम से नियुक्त किया जाता है) और ईमानदार-कर्तव्यपरायण व्यक्तियों की तो उन्हें बहुत ज़रूरत होती है, क्योंकि स्वयं बेईमान होते हुए भी वे बेईमानी का शिकार होना नहीं चाहते।

मुंशी वंशीधर चालीस हजार की खुली रिश्वत के जहर से अपने को बचा गए, किंतु ऊंची तनख्वाह, मकान, घोड़ा, नौकर-चाकर आदि की मिठाई द्वारा निहित स्वार्थों द्वारा खरीद लिए गए।

'पछतावा' कहानी की स्थिति और समस्या भी लगभग ऐसी ही है। पंडित दुर्गानाथ बहुत ईमानदार नवयुवक हैं। वे कॉलेज से निकलकर एक संपत्तिशाली जमींदार कुंवर विशाल सिंह के यहां नौकर हो गए। वे बन तो गए जमींदार के कारिन्दे किन्तु उन्होंने निश्चय कर लिया कि किसानों पर किसी प्रकार की ज्यादती नहीं करेंगे परंतु जमींदार वर्ग के तो निहित स्वार्थ हैं और इनमें वही व्यक्ति टिक सकता है जो उन स्वार्थों की पूर्ति का साधन बने। दुर्गानाथ ने किसानों के विरुद्ध अदालत में झूठी गवाही नहीं दी, इसलिए नौकरी से इस्तीफा देना पड़ा।

परंतु कुंवर साहब का एक लड़का था जो बुढ़ापे में पैदा हुआ था। उन्हें फिक्र लगी रहती थी कि इस लड़के को मेरे बाद कौन ढंग से पालेगा-पोसेगा। ऐसे समय में उनको दुर्गानाथ याद आते हैं, क्योंकि और कारिन्दे तो महास्वार्थी थे, नाबालिग को

मौका पाते ही लूट लेते। मृत्यु-शैया पर उन्होंने अपनी पत्नी से कहा—"मैं तुम्हें और बच्चे को पं. दुर्गानाथ पर छोड़ जाता हूं। वे जल्द आवेंगे। उनसे कह देना कि मैंने सब कुछ उनको भेंट कर दिया है, यही मेरी अंतिम वसीयत है।"

कुंवर साहब के इस हृदय-परिवर्तन का स्वरूप भी स्पष्ट है। एकाएक यह जो गुण-मुग्धता दृष्टिगोचर होती है, यह कोई सत्य या ईमानदारी के प्रति आस्था के कारण नहीं है, बल्कि वे जानते हैं कि अन्य कारिंदों की अपेक्षा दुर्गानाथ उनकी जागीर की (जो अन्याय और उत्पीड़न से बनी थी) ईमानदारी से रक्षा करेंगे।

प्रेमचंद की तीन सौ कहानियों में बहुत बड़ी संख्या ऐसी 'हृदय-परिवर्तनवादी' कहानियों की है। ये कहानियां स्वराज्य आंदोलन, संयुक्त परिवार की रक्षा, जमींदारों के हाथों पिसती हुई निरीह जनता, पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव से चकाचौंध होता नगरों का मध्यवर्ग, पंडे-पुरोहितों द्वारा लूटे जा रहे भोले-भाले धर्मपरायण लोग, अछूतों की शोचनीय स्थिति, हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिक समस्या, हिन्दू समाज की अनेक दूषित वैवाहिक प्रथाएं आदि अनेक समस्याओं में से गुजरती हुई किसी निष्कर्ष पर पहुंचने का प्रयास करती हैं।

ये वे निष्कर्ष हैं जिन्हें प्रेमचंद के संदर्भ में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहा जाता है। वे अपने चारों ओर के विशाल समाज की समस्याओं को उनके कठोर, क्रूर और कुरूपतम यथार्थ में देखते हैं, परंतु उनकी तह में जाकर उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और उससे उत्पन्न उनके जटिल चरित्र को परखे बिना उन्हें तत्काल निर्मित, बना-बनाया आदर्शवादी निदान थमा देते हैं। संभवतः इसीलिए 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' जैसी अवधारणा प्रेमचंद साहित्य में प्रेमचंद के प्रसंग में ही जन्मी और समाप्त हो गई। आगे चलकर इस चिंतन-पद्धति को कलात्मक स्तर पर कृत्रिम समझकर छोड़ दिया गया।

प्रेमचंद की वे कहानियां जिनमें किसी प्रभाव का प्रत्यक्ष आरोपण नहीं है अथवा वे कहानियां जो गांधीवाद से उनके मोहभंग के बाद लिखी गईं, अनेक समस्याओं के प्रति प्रेमचंद के बदले हुए रुख को व्यक्त करती हैं। प्रेमचंद का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद धीरे-धीरे वस्तुपरक यथार्थवाद में परिणत हो रहा था। ऐंजेल्स ने बाल्जाक के बारे में लिखते हुए कहा था कि—"सत्य के प्रति लेखक की पिपासा, वस्तु की तह तक पहुंचने की उसकी बेचैनी और लगन यथार्थवाद का मूल उत्स है।" यह प्यास, बेचैनी और लगन प्रेमचंद में विद्यमान थी। कदाचित् इसलिए उन्होंने तत्कालीन समाज के अनेक राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आंदोलनों में भाग लिया और उनके आदर्शों को पूरी ईमानदारी से ग्रहण करने की कोशिश की। लेकिन उस समय तक युग का जादू उनके सिर पर चढ़कर बोल रहा था। हृदय-परिवर्तन के समझौतावादी समाधान के जादू के समाप्त होने पर वे समस्याओं को उसके यथार्थ परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास करने लगे और उनकी कहानियों में व्यक्ति, समाज और वातावरण अपनी समग्रता में रूपायित होने लगा। यथार्थ की इस परख और पहचान में एक कारण समाजवादी विचारधारा से उनका परिचय होना भी था। 'महाजनी सभ्यता' नामक उनके लेख से इस बात का पता लगता ही है कि रूस की समाजवादी क्रांति से वे प्रभावित हो रहे

थे। इस लेख की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं–

"अब एक नई सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है, जिसने इस नाटकीय महाजनवाद या पूंजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है। जिसका मूल सिद्धांत यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, जो अपने शरीर या दिमाग से मेहनत करके कुछ पैदा कर सकता है, राज्य और समाज का परम सम्मानित सदस्य हो सकता है और जो केवल दूसरों की मेहनत या बाप-दादों के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है, वह पतिततम प्राणी है...।"

स्पष्ट है कि प्रेमचंद स्वश्रम पर आधारित अर्थव्यवस्था का समर्थन करने लगे थे और शोषण का विरोध और शोषक की निंदा का उनका स्वर अधिक प्रखर हो रहा था।

प्रेमचंद की एक कहानी लीजिए–'सुजान भगत'। सुजान की खेती में कई साल से कंचन बरस रहा था। सीधे-सादे किसान धन हाथ में आते ही धर्म और कीर्ति की ओर झुकते हैं। सुजान की प्रवृत्ति धार्मिक होने लगी और लोग उसे भगत कहने लगे। वह अपनी पत्नी के साथ गया की यात्रा कर आए। खेती-बाड़ी का काम बेटों ने संभाल लिया।

परंतु समाज की अर्थाधारित व्यवस्था में व्यक्ति का महत्व तभी तक है जब तक आय के स्रोतों पर उसका दखल है। सुजान के हाथों से धीरे-धीरे अधिकार छीने जाने लगे। सुजान, जो पहले मनों अनाज दान में दे देता था, अब जब एक छोटी-सी छावड़ी में सेर भर जौ लेकर भिक्षु को देने चला तो उसके बेटे ने उसे रोक लिया और त्यौरियां बदलकर बोला–"सेंत का माल नहीं है जो लुटाने चले हो। छाती फाड़कर काम करते हैं तब दाना घर में आता है।"

सुजान ने अपने घर में आदर-श्रद्धा तो प्राप्त की, परंतु वह अधिकार खो बैठा। उसने घर के आर्थिक स्रोतों को फिर से संभाल लिया और अगली फसल पर उसी भिक्षुक की गठरी में मन-भर अनाज भरकर अपने सिर पर रखकर उसके गांव तक पहुंचा आया।

यह है हमारे पारिवारिक और सामाजिक ढांचे का कठोर यथार्थ। हम मानवीय रिश्तों पर प्रेम, त्याग, बलिदान के कितने मुलम्मे चढ़ाएं, आर्थिक सुरक्षा और अधिकार की भित्ति से टकराकर वे अपनी चमक खोने लगते हैं।

आर्थिक स्वार्थों की टकराहट में मानवीय संबंध के आदर्श का चौखटा कितनी जल्दी चरमराने लगता है, इसकी अत्यन्त सटीक अभिव्यक्ति प्रेमचंद की 'लाटरी' कहानी में हुई है। लाटरी के टिकट विक्रम के पिता, चाचा, अम्मा और भाई सभी ने खरीदे। कौन जाने, किसकी तकदीर जोर करे? किसी के नाम आए, रुपया रहेगा तो घर में ही। एक टिकट विक्रम और उसके दोस्त ने भी साझे में खरीद लिया। लाटरी खुलने की आशा में सारे संबंधों के तेवर ही बदलने लगे। दोनों ठाकुर एकाएक अत्यंत धार्मिक बन गए। उनमें ऐसी मैत्री थी जो, आदर्श भाइयों में हो सकती है परंतु अब दोनों एक-दूसरे के सामने ताल ठोंककर खड़े थे और मल्लयुद्ध की नौबत आ गई थी। बड़े ठाकुर का बेटा, प्रकाश झक्कड़ बाबा की मार से हड्डी इस उम्मीद में तुड़वा आया

कि झक्कड़ बाबा की मार खाकर कोई नामुराद नहीं रहा और जब किसी की लाटरी नहीं निकली तो बड़े ठाकुर झल्लाए हुए मंदिर में गए और पुजारी को डिसमिस कर दिया—"इसलिए तुम्हे इतने दिनों से पाल रखा है! हराम का माल खाते हो!" प्रकाश के क्रोध का पारावार न था। उसने अपना सोटा लिया और झक्कड़ की मरम्मत करने चला।

इस कहानी में प्रेमचंद एक स्थान पर लिखते हैं—"लोग नाहक लालसा को बुरा कहते हैं। मैं तो समझता हूं, हममें जो भक्ति, निष्ठा और धर्म-प्रेम है, वह केवल हमारी लालसा, हमारी हवस के कारण है। हमारा धर्म हमारे स्वार्थ के बल पर टिका हुआ है। हवस मनुष्य के मन और बुद्धि का इतना संस्कार करती है, यह मेरे लिए बिल्कुल नया अनुभव था।"

ऐसी समाज-व्यवस्था जिसमें धन ही सर्वोपरि हो, वही सबसे बड़ा मूल्य हो, सामाजिक प्रतिष्ठा और सभी प्रकार के सुखों और अधिकारों की गारंटी हो, उसमें मानवीय संबंधों की कथित गरिमा कैसा विद्रूपतापूर्ण और गर्हित स्वरूप ग्रहण करेगी—'लाटरी' कहानी उसे परत दर परत उधेड़कर रख देती है।

धन और अधिकारी का नशा व्यक्ति की मानसिकता को किस तरह प्रभावित करता है और उसका सम्पूर्ण चरित्र किस तरह परिवर्तित होने लगता है, इसकी यथार्थ अभिव्यक्ति प्रेमचंद की एक अन्य कहानी 'नशा' में उपलब्ध है। ईश्वरी एक जमींदार का लड़का है और वीर एक गरीब क्लर्क का। दोनों साथ-साथ कॉलेज में पढ़ते हैं और राजनीतिक विषयों की चर्चा करते हैं। वीर जमींदारों की खूब निंदा करता है। एक बार वह ईश्वरी के साथ उसके गांव जाता है। वहां वीर की आदतें बदलने लगती हैं। वह अब ईश्वरी की देखा-देखी नौकरों से काम लेता, उन पर शासन करता और उन्हें डांटता-फटकारता। कुछ दिनों के अमीरी जीवन में उसकी शान-शौकत ईश्वरी से भी बढ़ गई। (लगभग वही स्थिति जो आज हमारे समाज में नव-धनाढ्यों की है)। लौटते समय ऊंचे दर्जे का टिकट न मिलने के कारण उन्हें तीसरे दर्जे में बैठना पड़ा। यह बात ईश्वरी से ज्यादा वीर को खली। डिब्बे में वह अपने बड़प्पन का दिखावा करता रहा। यहां तक कि उसने एक बेकसूर आदमी को दो-चार थप्पड़ भी लगा दिए।

भौतिक परिस्थितियां ही समाज और व्यक्ति की चेतना का निर्माण करती हैं। भौतिक जीवन और मूल्यों में भी जीविकोपार्जन के प्रकार तथा उत्पादन की पद्धति की प्रमुखता होने के कारण अर्थ ही वह वास्तविक मापदंड बन जाता है जो व्यक्ति की मानसिकता, समाज में व्यक्ति के पारस्परिक संबंधों, आचार-शास्त्र को प्रभावित करके व्यक्ति को वर्गों में विभाजित कर देता है और अंततः दो ही वर्ग रह जाते हैं—शोषक और शोषित।

कहते हैं कि कथा-साहित्य का विकास असंभव (The impossible) से दुर्घट (Imprabable) उससे संभव (The possible) और अंततः अवश्यम्भावी (The inevitable) की ओर हुआ। प्रत्येक स्थिति दूसरी स्थिति का अवश्यम्भावी परिणाम होती है, वह उसी से निःसृत होती है। कथा-साहित्य का चरित्र वही करता है (यदि लेखक

वलात् उससे कुछ और न कराए) जो उसकी स्थिति के तर्क से अवश्यम्भावी होता है।

इस दृष्टि से प्रेमचंद की तीन कहानियों को उनमें निहित समस्या और संकेतित हल के संदर्भ में देखना चाहिए। ये कहानियां हैं–'सवा सेर गेहूं', 'पूस की रात' और 'कफन'। ये कहानियां प्रेमचंद की विकसित यथार्थपरक समझ, वर्गगत स्वार्थ और उसके अवश्यम्भावी परिणाम को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती हैं। लेखक उन्हें किसी प्रकार की आदर्शवादी परिणति तक नहीं ले जाता। चरित्र वही करते हैं जो स्थिति के तर्क की मांग होती है।

'सवा सेर गेहूं' मे शंकर नाम का सीधा-सादा किसान अतिथि-सत्कार की मूल्यरक्षा के लिए गांद के विप्र महाराज से सवा सेर गेहूं उधार ले आता है। विप्र महाराज साल में दो बार खलिहानी लिया करते थे। शंकर ने दिल में कहा–सवा सेर गेहूं इन्हें क्या लौटाऊं, पसेरी के बदले कुछ ज्यादा खलिहानी दे दूंगा, यह भी समझ जाएंगे, मैं भी समझ जाऊंगा। चैत में जब विप्रजी पहुंचे तो उन्हें डेढ़ पसेरी के लगभग गेहूं दे दिया और अपने को उऋण समझ लिया।

सात साल गुजर गए। विप्रजी विप्र से महाजन हुए, शंकर किसान से मजूर हो गया (महाजनी-व्यवस्था का सहज परिणाम) विप्रजी ने एक दिन हिसाब लगाकर बताया, तेरे यहां साढ़े पांच मन गेहूं कब से बाकी पड़े हैं और तू देने का नाम नहीं लेता, हजम करने का मन है क्या?

गरीब शंकर फंस गया। विप्रजी ने परलोक का डर दिखाया और गेहूं के दाम का तीन रुपया सैकड़े की सूद की दर से दस्तावेज लिखा लिया। आगे की कहानी भयावह त्रासदी से भरी हुई है। शंकर उस ऋण को चुकाने के लिए जीवन भर पिसता रहा। मरते समय उसके सिर पर 120 रुपए सवार थे। पंडितजी ने उस गरीब को ईश्वर के दरबार में कष्ट देना उचित नहीं समझा। उन्होंने उसके जवान बेटे की गर्दन पकड़ी। प्रेमचंद ने अपनी बहुत-सी कहानियों के अंत में हृदय-परिवर्तन के अलौकिक दृश्य को चित्रित करने वाले सूक्त वाक्य लटकाए हैं परंतु इस कहानी के अंत में जो लिखा, उससे उनकी परिवर्तित मानसिकता का पता लगता है।

"पाठक, इस वृत्तांत को कपोल कल्पित न समझिए। यह सत्य घटना है। ऐसे शंकरों और ऐसे विप्रों से दुनिया खाली नहीं है।"

'पूस की रात' का यथार्थ कितनी क्रूरता और कितने विद्रूपों से भरा हुआ है। किसान भूमि-पुत्र कहलाता है। उसका सारा संसार और संस्कार भूमि से जुड़ा होता है, परंतु हल्कू जैसा किसान जागीरदारी व्यवस्था में कर्जों के बोझों में पिसता हुआ इतना अवश है कि केवल 'पूस की रात' की हाड़ कंपाती सर्दी में एक कंबल खरीदने के लिए जोड़े हुए तीन रुपये कर्ज की अदायगी में दे देता है। ऐसी खेती से भी क्या लाभ जिसमें श्रम करने वाला कोई और, उसका सुख उठाने वाला कोई और है। हल्कू की पत्नी कहती है–"तुम क्यों नहीं खेती छोड़ देते? मर-मरकर काम करो, उपज हो तो बाकी दे दो, चलो छुट्टी हुई।" खेत की मड़ैया में पुराने गाढ़े चादर की तलवार में बर्फीली सर्दी के भयानक आक्रमण का सामना करने की असफल कोशिश करता

हुआ हल्कू सोचता है–'यह खेती का मजा है और एक-एक भाग्यवान ऐसे पड़े हैं जिनके पास जाड़ा जाए तो गरमी से घबराकर भागे। मोटे गद्दे, लिहाफ, कम्बल! मजाल है जाड़े की गुजर हो जःए। तकदीर की खूबी है। मजूरी हम करें और मजा दूसरे लूटें।''

चेतना और संस्कार सम्पन्न मानवीय संसार में हल्कू की यातना का सहभागी एक पशु है, इससे बड़ी मानवीय विडंबना और क्या होगी? जानवर खेत बर्बाद कर गए तो भूमिपुत्र किसान प्रसन्न है–'रात की ठंड में यहां सोना तो न पड़ेगा।'

'कफन' का यथार्थ और विद्रूप शोषण पर आधारित समाज को उसकी क्रूरतम रूप में उभारता है। यथार्थ के अनेक जटिल पहलुओं को उधेड़ती हुई यह कहानी अनेक रागात्मक, नैतिक, धर्मिक संबंधों और मूल्यों पर प्रश्नचिह्न लगाती चलती है। घीसू और माधव इतने कामचोर, निर्लज्ज, बेईमान और अमानुष क्यों बने? जब काम करके भी कुछ नहीं मिलना है तो काम क्यों किया जाए? प्रेमचंद के ही शब्दों में–''जिस समाज में दिन-रात मेहनत करने वालों की हालत उनकी (घीसू और माधव की) हालत से कुछ अच्छी न थी और किसानों के मुकाबले में वे लोग जो किसान की दुर्वलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज़्यादा सम्पन्न थे, वहां इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी।''

प्रेमचंद की कहानियों के अनेक पात्र सांसारिक यातना, समाज के डर या परलोक के भय से लगातार उत्पीड़न सहते और जीते हैं। वे अनेक बातों का समाधान पूर्वजन्म के कर्मों का कल्पित फल मानकर स्वीकार कर लेते हैं, जिन्हें ब्राह्मण वर्ग ने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए गढ़ा था। ध्यान देने की बात यह है कि पूर्वजन्म-फल या आगामी जीवन का भय ब्राह्मण वर्ग को इतना नहीं सताता जितना ब्राह्मणेतर, विशेष रूप से नीची जातियों को सताता है। 'सेवा सेर गेहूं' में जब गरीब शंकर यह कहता है–''महाराज, तुम्हारा जितना होगा यहीं दूंगा, ईश्वर के यहां क्यों दूं। इस जन्म में तो ठोकर खा ही रहा हूं, उस जन्म के लिए क्यों कांटे बोऊं...मैं तो दूंगा, लेकिन तुम्हें भगवान के यहां जवाब देना होगा।'' तो विप्रजी कहते हैं–''वहां का डर तुम्हें होगा, मुझे क्यों होने लगा। वहां तो सब अपने ही भाई-बंधु हैं। ऋषि-मुनि, सब तो ब्राह्मण ही हैं, देवता ब्राह्मण हैं, जो कुछ बने-बिगड़ेगा, संभाल लेंगे।'' इसीलिए प्रेमचंद की रचनाओं में ठाकुर, बनिया, सरकारी कर्मचारी, जीमंदारों के कारिंदे शोषक वर्गों का कुछ प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं, परन्तु ब्राह्मण शोषक के सबसे बड़े वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। संभवतः इसी कारण हिन्दी के कुछ आलोचकों ने एक समय प्रेमचंद को ब्राह्मणों से विद्वेष करने वाला लेखक कहा था।

परन्तु 'कफन' के घीसू और माधव इस प्रकार के भय से पूरी तरह मलंग हो गए हैं। संसार की चिंताओं से मुक्त, कर्ज से लदे हुए गालियों भी खाते, मार भी खाते मगर कोई गम नहीं। परलोक के भय के संबंध में इतने निःशंक कि घीसू कहता है–''कफन लगाने से क्या मिलता है। आखिर जल ही तो जाता। कुछ बहू के साथ तो न जाता।''

माधव कहता है–''दुनिया का दस्तूर है, नहीं तो लोग वामनों को हज़ारों रुपया

क्यों देते हैं! कौन देखता है, परलोक में मिलता है या नहीं।''

फिर ये कदम-कदम पर उन धार्मिक भावों का मखौल उड़ाते हैं, जिनके आधार पर वर्ग विशेष का शोषण टिका हुआ है।

भूख की अदम्य शक्ति का जैसा चित्रण इस कहानी में हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। भूखे पेट के सम्मुख सारे आदर्श, मूल्य, संबंध, सिद्धांत फीके पड़ जाते हैं। मध्ययुग में संभवतः एकमात्र कबीर ने ही इस बात को इतने निर्भीक और बेलाग ढंग से कहा था :

भूखे भगति न कीजै। यह माला अपनी लीजै।
माधो कैसी बनै तुम संगे।।
आपन देहु त लेवहु मंगे।।
दुइ सेर मांगहु चूना। पाउ घीउ संग लूना।
आध सेर मांगहु दाले। मोकउ दोनों बखत निवाले।
खरट मांगउ चौपाई। सिरहाना अवर तलाई।
ऊपर कउ मांगहु खींधा। तेरी भगति करै जनु थींधा।
मैं नाहीं कीता लबो। इक नाऊ तेरा मैं फबो।
कह कबीर मन माना। मन माना तो हरि जाना।

कबीर भगवान की भक्ति करने से पहले आटा, दाल, घी, नमक, खाट, तकिया, तलाई, रजाई का प्रबंध कर लेना चाहते हैं और स्पष्ट कहते हैं कि यह लोभ नहीं है, यह तो जीवन की न्यूनतम आवश्यकता है।

प्रेमचंद की इन कुछ कहानियों में उठाई गई मानवीय समस्याएं, उनमें सृजित घटनाएं एवं चरित्र उनके कहानी-जंगल की कुछ ऐसी पगडंडियां हैं जो हमें कृत्रिम, समझौतापरस्त और सामयिक, एकाकी, समाधान की झाड़ियों में नहीं उलझातीं, बल्कि मनुष्य की नियति का साक्षात्कार कराती हुई उस गंतव्य का मार्ग दिखाती हैं जहां समस्याओं के निदान ढूंढ़ने में एक व्यक्ति को नहीं, सारी समाज-व्यवस्था, रूढ़ धार्मिक मान्यता और अवैज्ञानिक संस्कारबद्धता को बदलने की जरूरत है।

(कुछ सोचा : कुछ समझा,
प्रथम संस्करण- 2002)

15

नानक सिंह का उपन्यास : आस्तिक-नास्तिक

श्री नानक सिंह पंजाबी साहित्य के सर्वाधिक प्रतिष्ठित और लोकप्रिय कथाकार थे। बहुधा उन्हें पंजाबी का प्रेमचन्द कहा जाता है वह शायद इसीलिए कि जो कार्य हिन्दी में करने का श्रेय प्रेमचन्द को प्राप्त है वही नानक सिंह को पंजाबी में प्राप्त है। प्रेमचन्द की ही भांति नानक सिंह ने पंजाबी उपन्यास-साहित्य को धार्मिक, उपदेशात्मक, अति आदर्शवादी और अस्वाभाविक अय्यारी कथानकों से निकालकर उसे समाज की धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के धरातल पर प्रतिष्ठित किया। उनका उपन्यास 'आस्तिक-नास्तिक' धर्म के नाम पर पोषित रूढ़ियों और भ्रष्टाचार का एक अच्छा कथानक लिए हुए है।

'आस्तिक-नास्तिक' का कथानक पठानकोट के साबुन व्यवसायी स्वर्ण सिंह और उनके परिवार से प्रारम्भ होता है। स्वर्ण सिंह की चार लड़कियां हैं। अधेड़ दम्पती को पुत्र की बड़ी आकांक्षा है। चौथी संतान होने के पूर्व उन्होंने बड़ी-बड़ी मन्नतें मानीं, तीर्थों की यात्रा की, साधु-संतों की सेवा की, किन्तु परिणाम अनुकूल नहीं हुआ। चौथी संतान भी लड़की हुई। इस घटना ने पति-पत्नी की सभी आशाएं तोड़ दीं। मां को अपनी चौथी संतान से तो इतनी विरक्ति हुई कि उसके लालन-पालन का सारा भार उसने अपनी नौकरानी अम्बो पर डाल दिया। किन्तु कुछ समय बाद जब स्वर्ण सिंह की पत्नी महाकौर में पांचवीं संतान के लक्षण दिखाई देने लगे तो सम्पूर्ण परिवार ही एक भयंकर अनहोनी घटना की आशंका से त्रस्त हो उठा। यद्यपि इस बार महाकौर अधिक एकाग्रता, तन्मयता और समय लगाकर भगवान से पुत्र-लाभ की प्रार्थना करती

है, किन्तु कभी-कभी उसके विपरीत घटित होने की कल्पना मात्र से ही वह सिहर उठती है और उसे अपना सम्पूर्ण भविष्य अंधकारमय दिखता है। स्वर्ण सिंह की दशा तो और भी खराब है। यथार्थ की चिन्ताओं से मुंह मोड़ने के लिए वह अपना अधिकांश समय अपने व्यापारिक कार्यों में ही लगाता है। प्रसव के दिन जब निकट आ जाते हैं तो स्वर्ण सिंह उस दिन घटित होने वाली घटना का सामना करने में अपने को असमर्थ पाता है और अपनी पत्नी से अपने व्यापारिक कार्यों का बहाना बनाकर अमृतसर चला जाता है।

वहां उसकी भेंट एक नवयुवक संत से हो जाती है। परमजीत सिंह नाम का यह युवक अपने मधुर कण्ठ के कारण गुरुद्वारों आदि धर्मस्थानों में सम्मानित होने लगता है। उसके कीर्तन करने के ढंग से लोग प्रभावित होते हैं। धीरे-धीरे उसका अधिकांश समय इन्हीं कार्यों में लगता है और वह प्रतिदिन आध्यात्मिक वातावरण में निमग्न होता जाता है। लोग उसे 'संत' नाम से पुकारने और श्रद्धा प्रदर्शित करने लगते हैं। स्वर्ण सिंह भी उससे प्रभावित होता है और उसे अपनी मुसीबतों का सहारा समझ अपने साथ बड़ी श्रद्धा से पठानकोट ले आता है। स्वर्ण सिंह मार्ग में उन्हें अपने संकट से परिचित कराता है और संतजी अपनी स्वाभाविक मुद्रा में ''भगवान भली करेंगे'' का आशीर्वाद देते हैं। संतजी स्वर्ण सिंह की कोठी से दूर उसके एक बगीचे में ठहरा दिए जाते हैं और पति-पत्नी पुत्र-लाभ की उत्कट मनोकामना से प्रेरित होकर उनकी सेवा में लग जाते हैं।

इस बार स्वर्ण सिंह के घर पुत्र उत्पन्न होता है और संपूर्ण शहर में इसे संतजी के आशीर्वाद का फल समझा जाता है। संतजी की महिमा को चार चांद लग जाते हैं। सहस्रों लोग नित्य उनके दर्शनों के लिए एकत्र होना प्रारम्भ कर देते हैं। भेंटस्वरूप प्रदान किए धन की राशि प्रतिदिन बढ़ती जाती है। स्वयं संतजी पर इस घटना की बड़ी स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है। अध्यात्म मार्ग के नवागन्तुक कथित संत को लगने लगता है कि जैसे वह किसी बड़ी आध्यात्मिक शक्ति का स्वामी हो गया है। उसके आशीर्वाद से निराश व्यक्तियों की आशाएं पूर्ण हो सकती हैं।

इस उपन्यास का दूसरा मुख्य पात्र है, एक बैंक कर्मचारी, राजसिंह। वह बड़ा अध्ययन और मननशील व्यक्ति है जो अपनी बुद्धिवादिता के कारण सम्पूर्ण समाज, यहां तक कि अपने परिवार में अनादरित है। वह गुरुद्वारे नहीं जाता, संतों की सेवा नहीं करता। इसलिए बहुधा लोग उसे नास्तिक ही कहा करते हैं किन्तु इतना अध्ययन और मनन करने के बाद भी राजसिंह के मन को शांति नहीं मिलती। कथित आस्तिकों के कर्मकांडों में उसकी श्रद्धा नहीं है। वह किसी ऊपर बैठकर अपना नाम जपवाने वाले कट्टर शासक जैसे भगवान का भी कायल नहीं है। फिर भी उसे अपने लिए कोई मार्ग नहीं सूझता। एक दिन उसका गुरु नानक की एक पंक्ति से साक्षात्कार हो जाता है, जिसका अर्थ है संसार में जो मनुष्य सेवा कमाता है उसे ही परमेश्वर के दर पर स्थान प्राप्त होता है। इस उक्ति से उसके निरुद्देश्य जीवन में एक निश्चित उद्देश्य का प्रकाश होता है। उसी दिन उसकी दृष्टि उसके नगर की एक शरणार्थी

बस्ती पर पड़ती है। विभाजन की विभीषिका से ग्रस्त उन सबकी दयनीय अवस्था की ओर आज जैसे वह एक नई दृष्टि से देखता है। वह उनकी कठिनाइयों और समस्याओं के प्रति उन्मुख होता है। नित्य कुछ घंटों का समय निकालकर वह उनकी कठिनाइयों को हल करने का प्रयास करता है। उनके मुआवजों के प्रार्थना पत्र लिख देता है, उनके क्लेमों के फार्म उन्हें उपलब्ध करा देता है तथा अन्य अनेक प्रकार से उनकी सेवा करता है। इस प्रकार उसे एक बड़ी आत्मिक शांति की उपलब्धि होती है। मानवता रूपी भगवान की भक्ति और सेवा में वह अपने को व्यस्त कर लेता है।

स्वर्ण सिंह और राज सिंह पड़ोसी हैं। राज सिंह की पत्नी भी अपने पति की नास्तिकता का रोना सर्वत्र रोया करती है। स्वर्ण सिंह कई बार प्रयास करता है कि राज सिंह को संतजी की सेवा में ले जाये और उनके साक्षात्कार से उसमें आस्तिकता के भाव उत्पन्न करे। वह अपने पुत्र का नामकरण संस्कार करता हैं वह नगर के सैकड़ों लोगों को आमंत्रित करता है। कीर्तन-पाठ कराता है। संतजी बड़ी धूमधाम से बच्चे को आशीर्वाद देते हैं और उसका नाम रखते हैं। सर्वत्र संतजी के चमत्कार की प्रशंसा होती है। राज सिंह भी इस कार्यक्रम में आमंत्रित होता है। वह चुपचाप यह सब देखता रहता है।

धीरे-धीरे संतजी की महिमा बढ़ने लगती है। उनके निवास स्थान के नए भवन के लिए बहुत-सा रुपया जमा होना प्रारम्भ हो जाता है, जो सब स्वर्ण सिंह के पास जमा होता जाता है। एक बार अपनी व्यापारिक आवश्यकता के लिए स्वर्ण सिंह उसमें से एक बड़ी धनराशि का अपने लिए उपयोग कर लेता है।

स्वर्ण सिंह की एक जवान और सुंदर नौकरानी है, अम्बो। वह संतजी को खाना पहुंचाने जाती है। उसके हृदय में संतजी के प्रति ईश्वरत् श्रद्धा है। उसकी श्रद्धा और नित्य का सम्पर्क तरुण संत के मन में स्वाभाविक दुर्बलता उत्पन्न कर देता है। वह अपने को नियंत्रित करने का बड़ा प्रयास करता है और इसी निमित्त पन्द्रह दिन का उपवास करने का निश्चय करता है। घोषणा हो जाती है कि संतजी आत्मशुद्धि के लिए पंद्रह दिन का व्रत कर रहे हैं। बीच के एक कमरे में वह अपने को बंद कर लेता है किन्तु दूसरे ही दिन से उसे बड़ी भूख लगती है और वह दो-तीन दिन ही बड़ी कठिनाई से काट पाता है। एक रात्रि अनायास ही वह कमरे का पिछला दरवाजा खोलकर बगीचे में निकल आता है और उसमें लगे हुए फल खा लेता है। धीरे-धीरे उसका यह नित्य का क्रम हो जाता है। किन्तु इस घटना का ज्ञान बगीचे के माली के द्वारा स्वर्ण सिंह को हो जाता है और उसकी श्रद्धा को बड़ी ठेस लगती हैं। किन्तु जैसे ही उसकी यह उद्विग्नता कम होती है उसकी सहज व्यापारिक बुद्धि में परिस्थिति से लाभ उठाने की कामना उत्पन्न होती है।

जैसे-तैसे संत जी अपना व्रत समाप्त करते हैं। बड़ी धूम-धाम से यह कार्य सम्पन्न किया जाता है। इसी समय नगर में यह चर्चा होने लगती है कि संतजी के भवन कोष की एक बड़ी धनराशि का उपयोग स्वर्ण सिंह ने अपने लिए कर लिया है। सब ओर से संतजी से आग्रह किया जाता है कि वे स्वर्ण सिंह से रुपए का हिसाब मांगें। स्वर्ण

सिंह इसी समय एक उपयुक्त अवसर पर बड़े ढंग से संतजी पर उपवास के दिनों में बगीचे से फल खाने की अपनी जानकारी प्रकट कर देता है और उनकी इस दुर्बलता से लाभ उठाकर वह उनके सामने कुछ हिसाब-किताब रखकर शेष के लिए घोषणा करवा देता है कि उसके पास अब कुछ भी शेष नहीं है।

इसी समय स्वर्ण सिंह के मन में एक और विचार आता है। वह संतजी को पूरी तरह अपनी मुट्ठी में करना चाहता है और उन्हें पूरी तरह दलदल में फंसाने के लिए वह अपनी नौकरानी अम्बो को पूरी तरह उनकी सेवा में नियुक्त कर देता है। युवा स्त्री-पुरुष के निकट रहने का सहज परिणाम क्या होता है, इससे वह परिचित है। वह अपने मनोरथ में सफल होता है। युवा संत की सम्पूर्ण कृत्रिम साधना अम्बो की तरुणाई और सुन्दरता में भस्म हो जाती है और वही हो जाता है जो स्वर्ण सिंह चाहता है।

स्वर्ण सिंह इस अवसर का लाभ उठाकर संतजी से रुपया वसूल करना चाहता है। इधर स्वर्ण सिंह की पत्नी अम्बो को घर को निकाल देती है कि जिसे राज सिंह अपने यहां आश्रय देता है। संतजी अपनी एकत्रित धनराशि के साथ भागने की कोशिश करते हैं किन्तु वे स्वर्ण सिंह के षड्यंत्र से पकड़ लिए जाते हैं। ऐसे समय राज सिंह संतजी और स्वर्ण सिंह को समझाता है। संतजी को वह संन्यास का आडम्बर छोड़ने और गृहस्थ होने की सलाह देता है। परमजीत सिंह के सामने एक नया प्रकाश होता है। धर्म-अधर्म, आस्तिक-नास्तिक की एक नई व्याख्या उसे राज सिंह से मिलती है। वह राज सिंह के निर्देशानुसार संन्यास त्यागकर अम्बो से विवाह कर लेता है और राज सिंह उसे कलकत्ते में रहने वाले अपने भाई के पास काम-धंधे के लिए भेज देता है। एकत्रित धनराशि का उपयोग नगर की बाढ़-पीड़ित जनता के लिए करने का निश्चय किया जाता है।

आस्तिक-नास्तिक आज के युग के बहुप्रचलित शब्द हैं। उपन्यास में बड़ी सफलतापूर्वक यह चित्रित करने का प्रयास है कि वास्तविक आस्तिकता या नास्तिकता क्या है। समाज में आस्तिकता के नाम पर कितना भ्रम और उसके परिणामस्वरूप कितना भ्रष्टाचार फैला हुआ है, इसका बड़ा ही सजीव चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। पुत्र, धन या अन्य किसी प्रकार की सांसारिक इच्छा की पूर्ति के लिए साधु-संतों के आशीर्वाद के चमत्कारों की अनेक कल्पित कहानियों सर्वत्र व्याप्त रहती हैं। अपने यहां पुत्र-प्राप्ति को स्वर्ण सिंह भी संतजी का चमत्कार समझता है। इस भ्रम का निराकरण करते हुए एक स्थान पर राज सिंह स्वर्ण सिंह से कहता है–

"आपके घर जो पुत्र उत्पन्न हुआ है उसमें मुझे किसी प्रकार की करामात या चमत्कार का हाथ नहीं दिखाई देता। और यदि मैं यह सब भी मान लूं तब मुझे यह भी मानना पड़ेगा कि आप जो अपने गुरु, परमेश्वर या संतजी पर यह श्रद्धा प्रदर्शित कर रहे हैं वह एक सौदेबाजी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। आज आपको संत, गुरु या परमेश्वर की कृपा से पुत्र मिल गया और आप बड़े श्रद्धालु हो गए। यदि कल इसी प्रकार आपकी कोई हानि हो गई तब आपकी श्रद्धा डावांडोल भी हो सकती है।

संतान की प्राप्ति किसी करामात द्वारा नहीं होती। यह तो प्रकृति का नियम है। जिनके घर संतान नहीं होती वह किसी ईश्वरीय कोप के कारण नहीं बल्कि पत्नी या पति की किसी शारीरिक बीमारी या अन्य किसी कारण से होता है। यदि संतजी की कृपादृष्टि न भी होती तो भी इस बार आपके घर पुत्र ही उत्पन्न होता क्योंकि प्रारम्भ से ही पुत्र बीज रूप में गर्भ में आ चुका था।"

परमेश्वर के अस्तित्व की चर्चा करते हुए राज सिंह एक स्थान पर कहता है—"मेरे विचार से ईश्वर किसी आकाश पर सिंहासन लगाकर नहीं बैठा हुआ है वह तो अपनी प्रकृति में ही बसता है। फिर भी यदि हमें ईश्वर का अस्तित्व कहीं चाहिए तो वह स्थान है 'मनुष्यता' जिसे उसने अपने रूप से बनाकर या अपना रूप स्थापित करके इस संसार में भेजा है। मेरे विचार में यह प्रश्न ही सबसे बड़ी भूल है कि ईश्वर कहां है, वरन् प्रश्न यह होना चाहिए कि ईश्वर कहां नहीं है?"

एक स्थान पर राज सिंह कहता है—"मनुष्य की पूजा ही वास्तविक अर्थों में ईश्वर की पूजा है। जो आदमी 'मनुष्य' की पूजा करना नहीं जानता, जिसे मनुष्य कई-कई भागों में बंटा हुआ दिखाई देता है या जो मानव-मानव में द्वैत भाव रखता है, मेरे विचार से ईश्वर से उसका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।"

नानक सिंह ने अपने इस उपन्यास के लिए एक ऐसा महत्वपूर्ण और नाजुक विषय चुना जिस पर अभी बहुत ही कम लिखा गया है। हमारे देश में सांसारिकता के त्याग और आध्यात्मिक श्रेणी की प्राप्ति के नाम पर साधु-संन्यासियों की जितनी विशाल भीड़ है, संसार के किसी अन्य देश में कदाचित इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। जिसे कुछ काम न मिला वह संन्यासी हो गया और स्वयं उसके लिए गर्व भी करने लगा कि उसने तुच्छ सांसारिक मोह-माया का त्याग कर जैसे सांसारिक कार्यों में लिप्त व्यक्तियों पर कोई बड़ा उपकार किया है। सांसारिक व्यक्ति भी किस प्रकार अपने को संसारी होने का दोषी समझ इन कथित विरक्त पुरुषों पर अपनी अंध श्रद्धा प्रकट करते हैं, शायद अपने संसारी होने के पाप का प्रायश्चित करने के लिए। फिर किस प्रकार धन और ऐश्वर्य की भीड़, विरक्त संतों के सामने एकत्र हो जाती है और वे उनके कुछ दलाल किस प्रकार उसका उपयोग करते हैं, इसका गहन रूप इस उपन्यास में प्राप्त है।

एक स्थान पर राज सिंह इस उपन्यास के संत से कहता है—"इस देश में संतों, साधुओं और डेरेदारों की कुल संख्या कितनी है, अस्सी लाख के लगभग। जरा सोचिए कि ये अस्सी लाख देश का कितना कुछ बना और बिगाड़ रहे हैं। यदि इस प्रकार के औसत आदमी पर तीस रुपए महीना भी व्यय होता हो तो जरा हिसाब लगाकर देखिए कि वर्ष में कितना रुपया हुआ, तीन अरब के लगभग। अर्थात् प्रति वर्ष इस देश का तीन अरब रुपया ये लोग मुफ्त में डकार जाते हैं। जिस देश में लाखों नहीं करोड़ों आदमी सारा दिन कठिन परिश्रम करने के बाद भी पेट भरकर रोटी नहीं खा सकते, जो बात यहीं तक बस होती तो शायद इतना अनर्थ न होता। अनर्थ वाली बात तो यह है कि इस तीन अरब रुपए वार्षिक के बदले में ये लोग वही कुछ अपने

देश को देते हैं जो आपने इस लड़की 'अम्बो' को दिया है। देश की भोली-भाली औरतों को झूठे-मूठे परमार्थ के चक्कर में फंसाकर बाद में उनकी अस्मत पर डाका और उनके भविष्य की बर्बादी।''

इसी क्रम में राज सिंह आगे कहता है—''मैं मानता हूं कि प्रारंभिक दिनों में जब आप इस मार्ग पर आये होंगे आपके हृदय में ऊंची भावनाएं होंगी। मैं जानता हूं कि इस मार्ग पर आने के पूर्व प्रत्येक राही में ये होती हैं। पर मेरे मित्र, आपका रास्ता कितना गलत था, इसे आपने नहीं सोचा। क्या आप देख रहे हैं कि इस देश में हजारों नहीं लाखों महन्त, डेरेदार, बड़ी-बड़ी जागीरों और जायदादों पर अजगर की तरह कुंडली मारकर बैठे हुए हैं। शायद आप नहीं जानते कि किसी दिन ये सभी आपकी तरह ही परमार्थ की लगन से प्रेरित होकर घर से निकले थे। पर आज की इनकी अवस्था क्या है, जानते हो। अपनी जागीरों-जायदादों को संभालने, बढ़ाने और बचाने के लिए ये लोग दिन-रात व्याकुल रहते हैं और इनकी यह नीयत आज एक घटिया से घटिया संसारी से भी निकृष्ट है। कहां गई वह परमार्थ की लगन, कहां चला गया इन लोगों का वैराग्य और त्याग का भाव? इनके चित्त में उसका स्मरण मात्र भी नहीं शायद आज।''

स्त्रियां ही धार्मिक भ्रष्टाचार की शायद सबसे बड़ी माध्यम होती हैं। उनकी सरलता पर परमार्थ का रंग बड़ी जल्दी चढ़ता है। स्त्रियों की अन्ध भक्ति किस प्रकार धर्म जगत में अनैतिकता और भ्रष्टाचार को जन्म देती है इस प्रकार की अगणित घटनाएं नित्य प्रकाश में आती रहती हैं। इस उपन्यास की नायिका अम्बो धर्म और आध्यात्मिकता के नाम पर भ्रष्ट की जाने वाली स्त्रियों की सजीव प्रतिमा है।

'आस्तिक-नास्तिक' एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। आर्थिक और सामाजिक जीवन पर तो आधुनिक साहित्य में बहुत कुछ लिखा गया है किन्तु धर्म जगत में व्याप्त कुरीतियों और रूढ़ियों पर अभी तक पर्याप्त नहीं लिखा गया।

नानक सिंह का यह उपन्यास पंजाबी भाषा में और सिख समाज की सीमाओं में है। किन्तु इसमें प्रकट किया हुआ सत्य किसी भी समाज के लिए उपयोगी हो सकता है।

(कुछ सोचा : कुछ समझा,
प्रथम संस्करण - 2002)

16

आचार्य हजारीप्रसाद का उपन्यास : अनामदास का पोथा

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आधुनिक भारतीय भाषा के उन इने-गिने मनीषियों में थे जिन्होंने इस सम्पूर्ण देश की आत्मा को, इसकी सम्पूर्ण विविधता, इसके मतभेदों और अन्तर्विरोधों को सम्पूर्ण सहानुभूति के साथ समझा और पूर्वाग्रहमुक्त होकर उसे रेखांकित करने का प्रयास किया। द्विवेदीजी का यह उपन्यास भी उनके इसी विराट् साहित्यिक व्यक्तित्व की झलक ही प्रस्तुत नहीं करता, बल्कि एक साक्षी बनकर उपस्थित होता है।

द्विवेदीजी के कुल चार उपन्यास प्रकाशित हुए। चारों ही उपन्यास अपनी कथावस्तु समकालीन जीवन से न ग्रहण करके इतिहास अथवा प्राक्-इतिहास से ग्रहण करते हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में सातवीं शती के हर्षवर्धन-काल के प्रारंभिक वर्षों की कहानी है, 'चारुचंद्रलेख' बारहवीं शती के विघटनशील भारत की पृष्ठभूमि पर आधारित है, 'पुनर्नवः' का कथासूत्र चौथी शताब्दी के भारत से ग्रहण किया गया और अंतिम उपन्यास 'अनामदास का पोथा' हमें इतिहास की जानी-मानी परिधि के और पीछे उपनिषद काल में ले जाता है, जिसे सामान्यतः 'प्रागैतिहासिक काल' कहा जाता है।

छठे दशक के अंतिम तथा सातवें दशक के प्रारंभिक वर्षों में, जब हिंदी में 'नयी कहानी' की खूब चर्चा हो रही थी, नयी कहानी के कुछ-एक पुरोधाओं ने समकालीन जीवन के 'भोगे और झेले' हुए यथार्थ के चित्रण को ही एकमात्र आधुनिक रचना-दृष्टि माना था और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखी जा रही रचनाओं को यथार्थ से पलायन

की संज्ञा दे डाली थी। इस अधकचरी सोच का परिणाम यह हुआ कि हिंदी से ऐतिहासिक कथा-साहित्य की धारा लुप्तप्राय हो गयी। ऐतिहासिक उपन्यास के नाम पर यदि कुछ लिखा भी गया तो वह सस्ता ऐतिहासिक रोमान्स मात्र बनकर रह गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि हजारीप्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व उस प्रचार के प्रभाव से बहुत ऊपर था। इसी संदर्भ में मुझे रैल्फ फॉक्स का यह कथन याद आता है कि अपने निजी जीवन में लेखक चाहे कितना भी भीरु, ढुलमुल जीव क्यों न हो, किन्तु जहां तक उसकी कला के पात्र के रूप में जनता के साथ उसका सम्बन्ध है, उसे हेनरी द्वितीय और तैमूरलंग का मिश्रण होना चाहिए—एक निर्मम स्वामी और विजेता, अपनी इच्छा के आगे सबको झुकाने वाला। साथ ही इसका मतलब यह भी है कि अत्यन्त निरंकुश आततायी भी उसी हालत में असली स्वामी, इतिहास का निर्माता बन सकता है जबकि वह इतिहास की गति को समझता हो, जबकि उन अदृश्य प्रक्रियाओं के प्रति उसमें गहरी सहानुभूति हो जो लोगों के जीवन को ढालती हैं। इसी संदर्भ में रैल्फ फॉक्स ने आगे चलकर लिखा कि (लेखक और पाठक के बीच के) इस सृजनात्मक संघर्ष को पूर्णतया कारगर बनाने के लिए केवल सहानुभूति ही काफी नहीं है, लेखक को इतिहास के ज्ञान से भी लैस होना चाहिए, उसे इस योग्य होना चाहिए कि वह अपने राष्ट्र की सांस्कृतिक विरासत का उपयोग कर सके।

द्विवेदीजी समकालीन मानवीय चिंता को तो उसकी समग्रता और व्यापकता में समझते ही थे, उसे सर्जनात्मक मुहावरे में ढाल सकने की ऐतिहासिक समझ और सांस्कृतिक विरासत के भरसक उपयोग की कला से भी वे पूर्णतया सन्नद्ध थे।

इस उपन्यास के प्रारम्भ में एक भूमिका (अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल) है और अंत में उपसंहार है और अनामदास की टिप्पणी है। ये तीनों अंश न केवल उपन्यास की पृष्ठभूमि और रचनासंदर्भ से हमें जोड़ते हैं, हमें लेखक की जानी-पहचानी सृजन-प्रक्रिया का भी परिचय देते हैं। अनामदास अपनी टिप्पणी में कहते हैं कि इसके अधिकांश स्थल 'छान्दोग्य उपनिषद्' से लिए गए हैं। टिप्पणी से यह भी स्पष्ट होता है कि कुछ सूत्र 'वृहदारण्यक उपनिषद्' से भी प्राप्त हुए हैं।

'छान्दोग्य उपनिषद्' के चौथे प्रपाठक से जिस कथासूत्र को लेकर इस उपन्यास की रचना की गई है, संक्षेप में उसे जान लेना ठीक रहेगा :

प्राचीनकाल में जानश्रुति पौत्रायण नामक एक राजा था। वह श्रद्धा से दान देता था। उसके यहां खूब अन्न पकता था। उसने जगह-जगह धर्मशालाएं बनवा दी थीं ताकि भिन्न-भिन्न स्थानों से आकर अतिथि लोग उसके यहां भोजन किया करें। एक रात्रि को कुछ हंस उतरे। उनमें से एक हंस ने दूसरे हंस से कहा—"हे भल्लाख। जानश्रुति पौत्रायण राजा का यश द्युलोक के समान फैल रहा है। उससे टक्कर न ले बैठना, कहीं वह तुझे अपने तेज से भस्म न कर डाले।" दूसरे हंस ने उत्तर दिया—"अरे तुमने इस साधारण से राजा को ऐसा कैसे कहा जैसे मानो वह गाड़ी वाला रैक्व ऋषि हो?" पहले हंस ने पूछा—"यह गाड़ी वाला रैक्व ऋषि कैसा है?" दूसरे ने उत्तर

दिया—"जैसे जुए में सबसे मुख्य पासा 'कृत' कहाता है, नीचे के पासे 'अय' कहलाते हैं, और 'कृत' के आ पड़ने पर उससे निचले सब 'अय' उसी में आ जाते हैं, इसी प्रकार यह ऋषि कृत के समान है। लोग जो कुछ भलाई करते हैं उसका फल रैक्व को मिल जाता है। जो व्यक्ति उस रहस्य को जानता है, जिसे रैक्व जानता है, वही कुछ जानता है।"

हंसों का यह संवाद जानश्रुति ने सुन लिया। उसने अपने सारथि से कहा कि यह पता लगाओ कि रैक्व ऋषि कौन है।

सारथि ने खोज की और लौटकर राजा से बोला, "कुछ पता नहीं चला।" राजा ने कहा—"अरे उस ऋषि का वहां अन्वेषण करो जहां ब्रह्मज्ञानियों को ढूंढ़ा जाना चाहिए।" सारथि फिर निकला और उसे एक गाड़ी की छाया में पीठ को खुजलाते हुए रैक्व ऋषि मिले।

राजा छह सौ गायें, एक रत्नमाला और खच्चरों का एक रथ लेकर चल पड़े और ऋषि के पास पहुंचकर उपदेश देने की प्रार्थना की।

ऋषि ने राजा की भेंट को ठुकरा दिया।

राजा फिर एक सहस्र गायें, रत्नमाला, खच्चरों का रथ और अपनी कन्या लेकर पहुंचे। ऋषि रैक्व इस भेंट से प्रसन्न हुए और जानश्रुति की सुंदरी कन्या का मुख अपनी ओर उठाकर बोले कि हे शूद्र, इस सुन्दर मुख के कारण तुम मुझे बोलने को बाध्य कर रहे हो और इस प्रकार बाध्य होकर उन्होंने अपना उपदेश राजा को सुनाया।

द्विवेदीजी ने छान्दोग्य उपनिषद् के इस कथासूत्र के आधार पर (अपने ही) अनामदास के माध्यम से ऋषि कुमार रैक्व और राजकन्या जाबाला की प्रेमकथा सृजित की है।

रिक्व ऋषि का पुत्र रैक्व अल्पायु से ही पिता के संसर्ग से दार्शनिक और आध्यात्मिक चिंतन में रुचि लेने लगा था। रिक्व ऋषि जब अपने विद्यार्थियों को समझाते थे कि संसार में जो नानात्व दिखाई दे रहा है, वह वस्तुतः किसी एक ही मूल से विकसित हुआ है और फिर वह एक मूल में विलीन हो जाएगा तो उनका बालक पुत्र आश्चर्य से चकित होता रहता था। उसमें सोचने-विचारने की शक्ति तीव्र रूप से विद्यमान थी और पिता की बातों को समझने के लिए वह विभिन्न मूलों की कल्पना करता था। बालक का कुछ ऐसा दुर्भाग्य था कि बहुत जल्दी ही उसके पिता स्वर्गवासी हो गए, माता तो उसके जन्म के साथ ही प्रस्थान कर गई थी, कोई भाई भी नहीं था, बहन भी नहीं थी। आश्रम उजड़ गया, परन्तु उसमें सोचने की प्रवृत्ति बराबर बनी रही। कभी-कभी वह अन्य ऋषियों के आश्रमों में जाता, लोगों की बातें सुनता और स्वयं सोचता। जंगल में जो कुछ मिल जाए उससे वह पेट भर लेता था। वह चिंतन-ममन में इतना खो गया कि उसे संसार की किसी और बात का ध्यान ही नहीं रहा। केवल ध्यान करता था और समझने का प्रयत्न करता था कि वह मूल तत्व क्या है जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है और जिसमें सब विलीन हो जाता है। अपनी इस सोचने

की आदत के कारण वह लोक-सम्पर्क से अछूता रह गया। भूख लगती तो आसपास का कन्द-मूल लेकर पेट भर लेता। उसे पता ही नहीं था कि दुनिया में और क्या होता है, अन्न कैसे उत्पन्न होता है, सामाजिक जीवन क्या चीज है, पुरुष और स्त्री का क्या भेद है। देखते-देखते वह किशोरावस्था पार करता हुआ तरुणाई में आ गया।

इसी समय एक बार महाराज जानश्रुति की कन्या जावाला रथ से अपने एक सम्वन्धी के यहां जा रही थी। बीच में जोर की आंधी आई और पानी बरसने लगा। आंधी का वेग इतना तेज था कि बैल रास्ता छोड़कर जंगल की ओर निकल गए। रथ के पहिए कीचड़ में फंस गए, तेज तूफान में बैल जुआ उतारकर न जाने किधर चले गए, सारथि मारा गया और जावाला मूर्च्छित होकर एक ओर जा गिरी। संयोग से ऋषिकुमार रैक्व उधर से आ निकला। राजकुमारी को देखा तो विस्मित होकर देखता रह गया और होश आने पर जब राजकुमारी की वाणी सुनी तो उसकी मधुरता से यह अनुमान लगाया कि निश्चय ही यह कोई देवलोक का मनुष्य है। फिर उसे पता लगा कि वह देवपुरुष 'स्त्री' है। 'स्त्री' पद का उसे पता था किन्तु 'स्त्री' पदार्थ को आज उसने पहली बार देखा।

जावाला तो चली गई, परन्तु रैक्व को वह अपने 'स्त्रीत्व' से पूरी तरह अभिभूत कर गई। उसके रूप, उसकी वाणी के साथ ही उसकी विद्वत्ता से वह इतना प्रभावित हुआ कि अपने ही प्रदत्त नाम 'शुभा' की स्मृतिस्वरूप टूटी गाड़ी के नीचे बैठकर चिन्तन करने लगा।

छान्दोग्योपनिषद् में उल्लेख है कि रैक्व ऋषि एक टूटी हुई गाड़ी के नीचे बैठकर चिंतन करते थे और बीच-बीच में अपनी पीठ खुजलाया करते थे। द्विवेदीजी ने ऋषि की इस आदत को काम मनोविज्ञान की परिधि में समेट लिया। जब जावाला रैक्व से कहती है कि "तुमने मेरे प्राण बचाये...तुम एक काम कर सकते हो। मुझे मेरे पिता के घर पहुंचा दो।"

ऋषिकुमार ने अत्यन्त विनीत भाव से सहज भोलेपन से कहा—"तुम्हें अपनी पीठ पर बैठाकर ज़िधर कहो उधर पहुंचा दूं।"

सामाजिक रीति-नीति और प्रचलित लोक-व्यवहार से परिचित राजकुमारी भला ऐसा प्रस्ताव कैसे स्वीकार कर सकती थी किन्तु रैक्व की यह कामना उसका स्थायी मानसिक विरोध बन जाती है। सम्पूर्ण उपन्यास में रैक्व और शुभा (जावाला) के संदर्भ में रैक्व की पीठ की खुजली और सनसनाहट उभर आती है। यह अभिलाषाभाव जितना-जितना बढ़ता जाता है, खुजली भी उतनी-उतनी बढ़ती जाती है—

रैक्व ने अपनी पीठ जाबाला के सामने कर दी। जावाला ने देखा, सारी पीठ लाल हो गई है। सहानुभूति दिखाते हुए कहा—"यह क्या हो गया है ऋषिकुमार?"

"हो क्या गया है, पाप का फल भोग रहा हूं। तुमने कहा था न कि किशोर को अपनी पीठ पर किसी किशोरी को बैठाने की बात सोचना भी पाप है। मैं उस समय नहीं माना। पाप लग गया। सब समय पीठ में खुजली होती है और तुम्हारी

याद आने तक तो छाती तक छेद डालती है।'' (पृष्ठ 160)

जावाला को रैक्व की भोली बातें भा गयीं। ऐसा पवित्र, निष्कलुप मन कहां मिलता है। वह ऋषिकुमार के प्रेम की बेचैनी अनुभव करने लगी। मन की बात किसी से कह भी नहीं सकती, इसलिए वह भी दिन पर दिन सूखने लगी। वह बार-बार निश्चय करती कि अब उसके बारे में नहीं सोचेंगी, नहीं सोचती, पर यह निश्चय बहुत क्षणिक होता। खाते समय, सोते समय, काम-काज करते समय वह यही सोचने लगती कि वह तापस इस समय क्या कर रहा होगा।

द्विवेदीजी ने रैक्व-जावाला की प्रेम-कथा को बड़े मनोरम ढंग से बुना है। दोनों की मनोव्यथा का, दोनों की विवशता का और दोनों के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण उन्होंने गहरी संलग्नता से किया है परन्तु यह उपन्यास मात्र रैक्व और जावाला की प्रेमकथा ही तो नहीं है। ऐसी प्रेमकथाएं तो ऐतिहासिक, सामाजिक सभी प्रकार के उपन्यासों में बेहिसाब लिखी जा रही हैं। फिर ऐसी कौन-सी बात है जो इस उपन्यास को साहित्यिक वैशिष्ट्य-प्रदान करती है?

इस उपन्यास का कथा-सूत्र उपनिषद से ग्रहण किया गया है और उपनिषदों की जिज्ञासा का प्रमुख विषय विश्व का मूल तत्व है, वह तत्व जिसके जानने से सब कुछ जाना जाता है। उपन्यास का प्रारम्भ ही जिज्ञासापूर्ण वातावरण से होता है। ऋषिकुमार रैक्व अपने पिता रिक्व ऋषि से बचपन से ही सुना करता था कि संसार में जो नानात्व दिखाई दे रहा है, वह वस्तुतः किसी एक ही मूल से विकसित हुआ है और फिर वह एक मूल में विलीन हो जाएगा।

रैक्व का चिंतन-मनन इस मूल तत्व की जिज्ञासा पर केन्द्रित हो गया। उसने किसी पुराने ऋषि का मन्तव्य सुना था कि सृष्टि के आदि में केवल जल की ही सत्ता थी। जल से ही सत्य का उदय हुआ। रैक्व के मन में प्रश्न उभरा कि क्या संसार का मूल जल है? फिर एक दिन उसे अनुभव हुआ कि समस्त चेतन्य जगत् को जो चीज़ सचमुच प्राणवंत बनाए हुए है, वह वायु है। वस्तुतः प्राण भी वायु है। तो इस प्राण को ही क्या मूल तत्व माना जा सकता है? परन्तु वायु क्या चरम और परम है या इससे भी परे कोई चीज़ है? जावाला से प्रथम भेंट के अवसर पर उसे एक और प्रतीति होती है। जावाला राजा जनक और याज्ञवल्क्य की ज्ञानचर्चा का संदर्भ देती हुई कहती है, ''आत्मा ही एकमात्र ज्योति है।''

इस प्रकार यह सम्पूर्ण उपन्यास आत्म-चिंतन से भरा हुआ है। जब रैक्व औषस्ति ऋषि के पास आता है तो जिज्ञासु भाव से पूछता है, ''भगवन्, मैंने बहुत विचार के बाद यह सत्य पाया है कि वायु ही सबसे प्रबल तत्व है। वह ब्रह्मांड में वायु के रूप में और पिण्ड में प्राण के रूप में क्रियाशील है...मैंने प्राणायाम की साधना की है। मैं अनुभव से जानता हूं कि वायु सबसे प्रबल तत्व है...भगवन्, यह आत्मा क्या चीज़ है? फिर भगवन्, मैं मन के बारे में भी जानना चाहता हूं। कुछ लोग कहते हैं कि मन प्राण से भी अधिक सूक्ष्म है, स्वप्न में वही देखने वाला होता है। मैं समझ नहीं पा

रहा हूं कि मन का क्या स्वरूप है! और स्वप्न का क्या रहस्य है।''

औषस्ति ऋषि ने प्रश्न के समाधान के संदर्भ में कहा, ''...आंख क्या है? यह कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है, उसी के देखने का साधन है—जो देख रहा है, वही आत्मा है। नासिका गन्ध ग्रहण करने के लिए है—वह साधन है, जो गंध ग्रहण करता है, वही आत्मा है। कान सुनने के लिए हैं, ये साधन हैं, जो सुनता है, वही आत्मा है।''

''और मन क्या है भगवन्?''

''मन आत्मा का दैव-चक्षु है, दिव्य नेत्र है—''जो मन के द्वारा मनन करता है वही आत्मा है।''

सभी उपनिषद् जगह-जगह ब्रह्म या आत्मा की ज्ञातव्यता पर जोर देते हैं—''आत्मा ही द्रष्टव्य है, श्रोतव्य और मन्तव्य है, आत्मा ही निदिध्यासन का विषय है, आत्मा के ही दर्शन, श्रवण और ज्ञान से यह सब विदित या ज्ञात होता है।''

छान्दोग्य उपनिषद में आये इन्द्र, विरोचन तथा प्रजापति के संवाद का उपयोग भी इस उपन्यास में किया गया है।

परन्तु क्या इस उपन्यास का उद्देश्य औपनिषदिक तत्व-ज्ञान चर्चा का पुनराख्यान करना है? उपनिषद तो तत्व-चर्चा से भरे हुए हैं। ब्रह्म, जीव, जगत्, मोक्ष आदि दार्शनिक विषयों का भरपूर विवेचन इन ग्रंथों में है। यह दार्शनिक और आध्यात्मिक चर्चा शताब्दियों तक इस देश में होती रही। यूरोपीय दर्शन की मूल प्रेरणा निष्प्रयोजन जिज्ञासा-वृत्ति (Disinterested Curiousity) रही है। उसका उद्देश्य विश्व-प्रक्रिया को समझाना या उसका ज्ञान प्राप्त करना रहा है, परन्तु भारतीय दर्शन की प्रवृत्ति सप्रयोजन रही है—और प्रयोजन है मोक्ष। वेदान्त में मोक्ष का अर्थ है आत्मप्राप्ति, परन्तु आगे चलकर भारतीय मोक्ष-धारणा पर चौरासी लाख कल्पित योनियों के मध्य जीव के आवागमन से मुक्ति की कामना हावी हो गई और सम्पूर्ण चिंतन-मनन और (आगे चलकर) भक्ति व्यक्ति की मोक्ष-कामना कि वह इस मिथ्या संसार में बार-बार जन्म लेने और मरने के चक्कर से मुक्त हो जाए, पर केन्द्रित हो गई। ऐसी मोक्ष-धारणा ने भारतीय जन की चिंता को नितान्त एकांगी बना दिया। अपने चारों ओर के समाज, उसकी समस्याओं, उसकी पीड़ाओं को भी माया मानकर उसने उनसे मुंह मोड़ लिया।

इसी विन्दु से यह उपन्यास अपने निर्दिष्ट की ओर बढ़ता है और सारे औपनिषदिक तत्व-ज्ञान को सामाजिक और मानवीय सरोकार से जोड़ने की कोशिश करता है। यही कोशिश इस उपन्यास को रैक्व और जाबाला की प्रेमकथा और उपनिषदों में आयी कोरी दार्शनिक जिज्ञासाओं से ऊपर उठाकर व्यापक मानवीय संदर्भों से जोड़ती है और इस रचना को समकालीन संगति देने की संभावना बनाती है।

तत्कालीन दार्शनिक चंतन और ब्रह्म-तत्व को जानने की जिज्ञासा का रोग उस युग में कितना व्याप्त था, इसके पर्याप्त संकेत इस उपन्यास में हैं। राजा जानश्रुति ब्रह्म-तत्व को जानने के लिए तो व्याकुल थे, परन्तु उन्हें अभावों में त्राहि-त्राहि करती हुई अपनी प्रजा की कोई चिंता नहीं थी। ऋषि-मुनि भी समाज-विरत होकर मूलतत्व

की खोज में ही लगे हुए थे। इस पृष्ठभूमि में लेखक ने ऐसे पात्रों का समायोजन किया जो कोरी दार्शनिक चिंता को बृहत्तर मानवीय संदर्भों से जोड़ सकें। जावाला की बीमारी की चिंता से ग्रस्त होकर राजपुरोहित आचार्य औदुम्बरायण एक ऐसे महात्मा का आशीर्वाद लेने जाते हैं, जो यज्ञ-विरोधी है, ब्राह्मण-विरोधी है, देवता-विरोधी है, यहां तक कि एकान्त के तप और मनन का भी विरोधी है। शरीर से वह काला है, नाक चपटी, कान बड़े-बड़े. चौड़े और ललाट सपाट और वह छोटी जाति के स्त्री-पुरुषों से घिरा हुआ है। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि वह 'महात्मा' आर्येतर जाति का था, जिसे तत्कालीन आर्य (या ब्राह्मण) व्यवस्था निम्न स्तर का मानती थी। वह महात्मा आचार्य औदुम्बरायण से कहता है–''जिस राजा के राज्य में बच्चे और स्त्रियां भूख-प्यास से व्याकुल होते हैं उसका सत्यानाश हो जाता है और राजा नरक का अधिकारी होता है और राजा जानश्रुति के राज्य में एक नहीं, अनेक स्त्री-पुरुष, वृद्ध-बालक भूख से, प्यास से, रोग से व्याकुल हैं।''

आचार्य औदुम्बरायण जाबाला से इस बात की पुष्टि कराते हैं–''राजा जानश्रुति ब्रह्म-तत्व को जानने के लिए व्याकुल हैं, उधर प्रजा में त्राहि-त्राहि मची हुई है।''

उसी संदर्भ में वे (आर्येतर) महात्मा एक बात और कह जाते हैं कि दुखियों का दुःख करना ही सच्ची आध्यात्मिक साधना है, यही तप है, यही मोक्ष है।

रैक्व भगवती ऋतम्भरा और उनके पति महर्षि औषस्तिपाद के सम्पर्क में आता है। इनके सम्पर्क में उसके सम्मुख 'वैश्वानर' की उपासना का रहस्य खुलता है–''सम्पूर्ण विश्व का रूप ही नर-रूप में आराध्य है। खण्ड दृष्टि से नहीं, पूर्ण दृष्टि से देखना ही वैश्वानर की उपासना है।'' (पृष्ठ 74) ''लोकताप से तप्त होना सबसे बड़ा तप है, क्योंकि वह अखिलात्मा पुरुष की परमाराधना है। यही वैश्वानर उपासना भी है।'' (पृष्ठ 72)

महर्षि औषस्तिपाद रैक्व से प्रश्न करते हैं–''तूने एकान्त-वास करके बहुत तप किया है न वत्स?'' रैक्व का उत्तर है–''किया है भगवन्!' महर्षि कहते हैं–''एकान्त का तप बड़ा तप नहीं है, बेटा, देखो, संसार में कितना कष्ट है, रोग है, शोक है, दरिद्रता है, कुसंस्कार है। लोग दुःख से व्याकुल हैं। उनमें जाना चाहिए। उनके दुःख का भागी बनकर उनका कष्ट दूर करने का प्रयत्न करें, यही वास्तविक तप है। जिसे यह प्रकट हो गया है कि सर्वत्र एक ही आत्मा व्याप्त है वह दुःख-कष्ट से जर्जर मानवता की कैसे उपेक्षा कर सकता है वत्स?''

स्पष्ट है कि लेखक सारी औपनिषदिक ज्ञान-चर्चा और एकान्त साधना को लोकाभिमुख करना चाहता है। रैक्व माताजी (भगवती ऋतम्भरा) के साथ गांव-गांव घूमकर वहां की दशा देखता है। बीमार बच्चों, रोगग्रस्त स्त्रियां, कंकाल-शेष पुरुष उसकी जिज्ञासा वृत्ति को उकसाते हैं। माताजी उसे समझाती हैं–''देख बेटा, जहां दुःख है, अभाव है, वहां प्रभु प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं।'' (पृ. 83)

इसी प्रसंग में एक और चरित्र आता है–मामा, जिसका सम्पूर्ण जीवन गांव वालों

की सेवा में समर्पित है, बच्चे का यह अत्यन्त प्रिय है। कहां-कहां से चीज़ें इकट्ठी करके लाता है और सबमें वितरित करता है। भगवती ऋतम्भरा रैक्व से कहती है–''इस आदमी में मुझे परमपिता परमेश्वर की ज्योति दिखाई देती है।''

यहीं रैक्व के सम्मुख एक नया सत्य उद्‌घाटित होता है–''मैं जो गाड़ी के नीचे बैठकर तप कर रहा था, वह झूठा तप था। सही तपस्या गाड़ी चलाकर ही की जा सकती है।'' और वह सोचता था कि उस टूटी गाड़ी को ठीक करके स्वयं खींचकर उसे चलाऊं और जहां से जो कुछ भी पा सकूं, इनके पास पहुंचा दूं।

रैक्व का यह सोचना सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय तत्व-चिंतन पर एक बहुत बड़ा व्यंग्य भी है और चोट भी। गाड़ी के नीचे (या कंदराओं, गुफाओं और वनों में) बैठकर परम तत्व की चिंता में लीन रहना कितना एकाकी और समाज-विमुख चिंतन था और झूठा था। व्यक्ति को अपना सही संदर्भ तो जनमानस के मध्य जाकर, उनकी समस्याओं और आकांक्षाओं से जुड़कर ही प्राप्त होता है। गाड़ी के नीचे बैठकर नहीं, गाड़ी चलाकर ही वह अपने आपको वृहत्तर संदर्भों से जोड़ता है।

वैश्वानर की उपासना, दीन-दुखियों को दुःख मुक्त करने की भावना, टूटी गाड़ी को ठीक कराकर भूखे-नंगों के बीच गाड़ी चलाकर खाद्य ले जाने की कामना का संकेत और उल्लेख इस उपन्यास के पूर्वार्द्ध में ही हो जाता है। इस स्थिति में पाठक के मन में यह आशा स्वाभाविक रूप से जागृत होती है कि उपन्यास के शेषांष में इस कामना की व्यावहारिक परिणति भी दिखाई देगी, परन्तु यहां उसे पूरी तरह निराश होना पड़ता है। द्विवेदीजी सारी बात को 'कथन' के स्तर से निकालकर 'कार्य' की गति तक नहीं ले गए। जनपद के लोगों की दुर्दशा का पता जाबाला को अपने राजपुरोहित आचार्य औदुम्बरायण से लगता है। वह कहती है–''मैं जनपद में घूमूंगी...जब तक प्रजा भूखी है, जाबाला को शांति नहीं मिलेगी। इसमें बहुत सोचना नहीं है।'' (पृ. 72) परन्तु वह सोचती ही रहती है। उपन्यास के शेष 120 पृष्ठों में वह कहीं भी जनपद की प्रजा में घूमती नहीं दिखाई देती।

रैक्व केवल एक बार माताजी (भगवती ऋतम्भरा) के साथ जनपद में घूमता दिखाई देता है (पृ. 61), इस स्थल पर भी रैक्व में सेवाभाव कम, जिज्ञासाभाव अधिक है–''रैक्व ने माताजी के साथ गांव-गांव घूमकर वहां की दशा देखी। वे एक-एक चीज़ में रुचि दिखाते थे। हल क्यों चलाया जाता है, अन्न कैसे उत्पन्न होता है, सिंचाई कैसे की जाती है, बैल क्या खाते हैं, गाय कैसे पाली जाती है–सभी बातों में वे जानकारी प्राप्त करने में उत्सुकता दिखाते। बीमार बच्चे, रोगग्रस्त स्त्रियां, कंकाल-शेष पुरुष उनकी जिज्ञासा-वृत्ति को उकसाते...।''

और माताजी की भूमिका भी दुःखी बच्चों के सिर पर हाथ फेरकर शीघ्र रोगमुक्त होने के आशीर्वाद से अधिक नहीं है। ऐसा लगता है कि लेखक इस सारी मानवीय समस्या को एक हल्का-सा 'पासिंग रेफ्रेन्स' देकर आगे बढ़ गया और फिर से या तो रैक्व और जाबाला की भावनात्मक उलझनों को सुलझाने में लग गया या औपनिषदिक

ब्रह्म-जिज्ञासा की अंधेरी घाटियों में विचरण करने लगा।

मुझे लगता है कि जिस मानवीय अर्थवत्ता को समेटने की कोशिश इस उपन्यास में की गई है, उसकी बहुत कम गुंजाइश इसमें थी। द्विवेदीजी ने एक प्राचीन आख्यान को युगीन संदर्भों का प्रकाश देना चाहा है, परन्तु दो-चार स्थलों पर पीड़ित मानवता का उल्लेख करने, उसकी सेवा करने का व्रत लेने और दार्शनिक आधार पर मानवीय समता और एकत्व की चर्चा कर देने से स्थिति को युगीन संदर्भ कैसे मिलेगा? क्या किसी भी युग की सामाजिक बुनावट और उसके अन्तर्विरोधों का जायजा लिए बिना उसकी समस्याओं पर दृष्टिपात किया जा सकता है? इस उपन्यास में तत्कालीन समाज का कोई चित्र हमारे सामने नहीं उभरता। आर्य और आर्येतर संस्कृतियों, विचारधाराओं, जीवन-पद्धतियों और संघर्ष की बहुत हल्की झलक दो-एक स्थानों पर मिलती है। एक आर्येतर महात्मा का ऊपर उल्लेख हो चुका है। उपन्यास में अंतिम पृष्ठों में एक और जटिल मुनि आते हैं—"ये महात्मा सब तरह से विचित्र हैं। ब्राह्मण नहीं हैं क्योंकि ब्रह्म या वेद किसी के कायल नहीं हैं। ब्रह्म या वेद को चरम और परम मानने वाले ब्राह्मण महात्मा 'ऋषि' कहे जाते हैं, लोग इन्हें 'मुनि' कहते हैं—ये अपने को अनेकान्तवादी बताते हैं। कहते हैं, हर आदमी का सत्य अपना निजी होता है। किसी के भी बताये मार्ग पर आंख मूंदकर नहीं चला जा सकता। हर व्यक्ति का अपना सत्य है। उसी की खोज करनी चाहिए।" (पृ. 166)

जाबाला जब रैक्व की याद में मानसिक रोग से ग्रस्त होती है तो आचार्य औदुम्बरायण को पूर्ववर्णित आर्येतर महात्मा सुझाव देते हैं कि "उसके मनोविनोद के लिए और मनोदेवता की आराधना के लिए कोहलियों के नृत्य-नाट्य की व्यवस्था करो. ..पहले तुम्हारे ऋषि लोग इन बातों को महत्व नहीं देते थे। अब तो वे भी नृत्य को देवताओं का चाक्षुष यज्ञ और नाट्य को पांचवां वेद मानने लगे हैं।"

ये कुछ थोड़े-से प्रसंग हैं जहां तत्कालीन आर्य-आर्येतर और ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर संगम और संघर्ष का कुछ संकेत मिलता है, परन्तु इस सम्पूर्ण उपन्यास की बुनावट, उसमें निहित अभिप्रायों और लेखकीय मंतव्य को देखते हुए ये संकेत नहीं के बराबर हैं। पाठक की यह अपेक्षा लगातार बनी रहती है कि लेखक उसे रैक्व और जाबाला की प्रेमकथा और ऋषियों-मुनियों के दार्शनिक चिंतन के साथ ही तत्कालीन समाज के अन्तर्विरोधों के मध्य भी ले जाएगा जिसके दुःख-दैन्य का उसने कई बार कथन किया है और जिसकी सेवा करने की वह बार-बार अनुशंसा करता है।

इसलिए मुझे लगता है कि मानवीय चिंतन और पीड़ित जन की सेवा के सभी संदर्भ जो इस उपन्यास में आये हैं वे लेखकीय अनुशंसा और अभिलाषा के परिणामस्वरूप हैं, उनमें युग के यथार्थ के प्रामाणिक चित्रण का प्रयास नहीं है। इसलिए वे आरोपित मात्र लगते हैं।

जो समाज वर्ण-धर्म से पूरी तरह जकड़ा हुआ हो, जिस समाज के शास्त्र समाज के सर्वाधिक पीड़ित वर्ग को अन्त्यज करार देकर उसे सभी प्रकार की मानवीय

सहानुभूति से वंचित किए हुए हों, उन्हें गांव में घर बनाकर रहने तक का अधिकार न हो, ऐसे समाज में मानव सेवा की कल्पना करना, पीड़ितों के मध्य जाना, उन्हें भूख से, रोग से, दरिद्रता से मुक्त करने के लिए उनके मध्य रहना मात्र एक सुखद कल्पना ही है। इस देश में 'सेवा' की कोई परम्परा नहीं है। समाज में सेवाकार्य में लगा हुआ व्यक्ति, यहां सदा नीच समझा गया और उसके कार्य को नीच कर्म माना गया। भगवती ऋतम्भरा की सेवामूर्ति संभवतः द्विवेदीजी के मन में मदर टेरेसा की प्रतिकृति के रूप में उपजी हो, परन्तु उपन्यास में वे एक ब्रह्मवादिनी अथवा ऋषिकुमार रैक्व की करुणामयी मां के रूप में ही उभरी हैं, जनपद की पीड़ित प्रजा के प्रति उनकी करुणा शाब्दिक सहानुभूति से आगे नहीं बढ़ पाई।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह उपन्यास रैक्व के भोलेपन और जाबाला के मूक प्रेम से हमें विभोर करता है, रैक्व और जाबाला के संदर्भ में भगवती ऋतम्भरा का मातृत्व मोहित करता है, ऋषियों की ज्ञान-चर्चा हमारे दार्शनिक चिंतन को उद्वेलित करती है, परंतु सामाजिक संदर्भ और बृहत्तर मानवीय सरोकारों की दृष्टि से हमें इसलिए बुरी तरह निराश करता है, क्योंकि लेखक तत्कालीन समाज के अन्तर्विरोधों और उससे उत्पन्न मानव-त्रासदी में झांकने से पूरी तरह कतरा गया है।

(कुछ सोचा : कुछ समझा,
प्रथम संस्करण - 2002)

17
भीष्म साहनी का उपन्यास : तमस

भारत-विभाजन की मानवीय व्यथा में डूबी और असंख्य लोगों के रक्त में उतराती दुर्घटना पर बहुत कुछ लिखा गया है। खुशवंत सिंह का अंग्रेजी उपन्यास 'ए ट्रेन टु पाकिस्तान', यशपाल का 'झूठा सच', रामानंद सागर का 'और इन्सान मर गया' तथा कृश्न चंदर, करतार सिंह दुग्गल, अमृता प्रीतम, सआदत हसन मंटो, राजेंद्र सिंह बेदी, उपेंद्रनाथ अश्क आदि लेखकों की अनेकानेक कथाकृतियों में मानवीय घृणा और नृशंसता की यह आंसुओं भरी कहानी अनेक पहलुओं से चित्रित की गई है परंतु भीष्म साहनी के उपन्यास 'तमस' को पढ़कर ऐसा लगा कि भारत-विभाजन पर आधारित कथ्य की सर्जनात्मक संभावनाएं, इतने अंतराल के वाद भी चुकी नहीं हैं। वल्कि इसे यूं भी कहा जा सकता है कि समय के अंतराल ने लेखक की तात्कालिक उत्तेजना और भावुकता को कुछ हद तक सोख लिया है और उसे वह तटस्थता प्रदान कर दी है जो किसी भी कलाकृति के लिए आवश्यक है।

परंतु इस समय के अंतराल से उभरी तटस्थता का एक ख़तरा भी है। लेखक जिन स्थितियों, घटनाओं और चरित्रों को अपनी कृति में चित्रित करना चाहता है, उनके प्रति वह अपनी आत्मीयता खो बैठता है। तब उसके चित्रण में एक कृत्रिम और ठंडी निस्संगता व्याप्त हो जाती है जिसे वह (गलती से) अपनी वस्तुनिष्ठता समझता रहता है।

'तमस' में जिस बात ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया, वह है अपने कथ्य के प्रति लेखक की, इतने वर्षों के अंतराल के बावजूद गहरी घनिष्ठता। लेखक ने जिस ढंग से स्थितियों को उभारा है, जिस बारीकी से चरित्रों का सृजन किया है और जिस गहरी जानकारी से घटनाओं को संयोजित किया है उससे भारत-विभाजन की वह

अमानवीय घटना अपने क्रूरतम स्वरूप में हमारे आसपास मंडराने लगती है और लगता है यह सब कुछ अभी-अभी घटित हो चुका है या अभी भी घटित हो रहा है।

'तमस' पांच दिनों की कहानी है, परंतु उन पांच दिनों के पीछे हमें बहुत सारे दिन, बहुत सारे वर्ष और बहुत सारी शताब्दियां झांकती हुई नजर आती हैं। घृणा, विद्वेष, सांप्रदायिक उन्माद और इन सबसे उत्पन्न विचार और व्यवहारजन्य क्रूरता इस देश में कितनी ही शताब्दियों पहले पनपी और समय-समय पर अपना रूप बदल-बदलकर नंगा नाच नाचती रही। विदेशी जातियां एक के बाद एक आती रहीं और लूट-खसोट तथा व्यापक नरसंहार द्वारा इस भयावह अग्नि को हवा देती रहीं। देश का सामान्य जन बाहर विदेशी आक्रांताओं द्वारा रौंदा जाता रहा और अंदर जात-पांत, ऊंच-नीच की क्रूर असमानता में पिसता रहा। 'तमस' की इन पांच दिनों की कहानी को इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखे बिना, मुझे लगता है, समस्या के बहुत-से पहलू हमसे छूट जाएंगे।

नत्थू चमार ने किसी तरह एक सुअर को एक कोठरी में बंद कर लिया और अपने छुरे द्वारा उसे मारने की कोशिश करने लगा, पर सुअर मारना इतना आसान काम नहीं है। "पिछले दो घंटे से नत्थू जैसे पानी में या बालू के ढेर में छुरा घोंपता रहा था। कितनी ही बार वह सुअर के पेट में और कंधों पर छुरा घोंप चुका था। छुरा निकालता तो कुछ बूंदें खून की फर्श पर गिरतीं, पर जख्म की जगह एक छोटी-सी लीक या छोटा-सा धब्बा भर रह जाता जो सुअर की चमड़ी में नज़र तक नहीं आता था और सुअर गुर्राता हुआ या तो नत्थू की टांगों को अपनी थूथनी का निशाना बनाता या फिर से कमरे की दीवार के साथ-साथ चलने अथवा भागने लगता। छुरे की नोंक चर्बी की तहों को काटकर लौट आती थी, अंतड़ियों तक पहुंच ही नहीं पाती थी।"

मुराद अली ने नत्थू से सुअर मारने के लिए कहा था, वह मुराद अली जो शहर की हर सड़क पर पतली बेंत की छड़ी घुमाता हुआ किसी वक़्त भी नमूदार हो जाता था। सांप की-सी छोटी-छोटी पैनी आंखें और कटीली मूंछें और घुटनों तक का लंबा खाकी कोट और सलवार और सिर पर पगड़ी—उसके सब फबते थे।

उसने नत्थू से कहा था—"हमारी सलोतरी साहब को एक मरा हुआ सुअर चाहिए, डॉक्टरी काम के लिए।" और उसने पांच रुपए का चरमराता नोट जेब में से निकाल कर नत्थू के जुड़े हुए हाथों के पीछे उसकी जेब में ठूंस दिया था।

मुराद अली से रोज काम पड़ता था, नत्थू कैसे इनकार कर देता। जब कभी शहर में कोई घोड़ा मरता, गाय या भैंस मरती तो मुराद अली खाल दिलवा दिया करता था, अठन्नी-रुपया मुराद अली को भी देना पड़ता, मगर खाल मिल जाती। बड़े रख-रखाव वाला आदमी था मुराद अली। कमेटी का कारिंदा होने के कारण बड़े-छोटे सभी लोगों का उससे काम पड़ता था।

और फिर दूसरे दिन सुबह जब शहर कांग्रेस कमेटी के कार्यकर्ता प्रभात-फेरी के लिए इकट्ठा हुए और कौमी तराने गाते हुए तामीरी (रचनात्मक) काम के लिए

इमामदीन के मुहल्ले में पहुंचे तो देखते-देखते वातावरण एकदम बदल गया। कांग्रेस कार्यकर्ताओं को झाड़ू लगाते और नालियां साफ करते देखकर मस्जिद की ओर जाने वाले एक सफेदपोश बुजुर्ग ने कहा था—"आफरीन है, वाह-वाह।" और उन्होंने कहा था—"मतलब नालियां साफ करने से नहीं है, इसके पीछे जो जज़्बा काम कर रहा है, वह बहुत ऊंचा है। आफरीन, सद आफरीन।"

पर वही बुजुर्ग जो कुछ देर पहले आफरीन-आफरीन कहते मुस्कराते हुए यहां से गए थे, लौटते दिखाई दिए और बोले—"आप साहिबान यहां से चले जाइए। अगर अपनी खैरियत चाहते हो तो यहां से फौरन चले जाओ...उठ जाइए यहां से...खंजीर के बच्चों, यहां से चले जाओ।"

और तभी इधर-उधर से उड़ते हुए पत्थर आकर उनके पास गिरने लगे। कुछ गड़बड़ थी।

मस्जिद की सीढ़ी पर कोई काली-काली चीज़ पड़ी थी।

"कोई आदमी सुअर मारकर फेंक गया है।"

मुराद अली और नत्थू जैसी कठपुतलियों की डोर जिसके (या जिनके) हाथों में थी, उनका जादू चल चुका था। सारा शहर आतंक में डूबता जा रहा था। यह भी सुना गया था कि एक गाय भी काटी गई थी और माई सतो की धर्मशाला के बाहर उसके अंग फेंके गए थे और प्रतिक्रिया थी—"गो-वध हुआ तो यहां खून की नदियां बह जाएंगी।"

इस अविश्वास और आतंक में से 'तमस' की कहानी करवटें लेती है। एक ओर गांधीजी की घोषणा है—"पाकिस्तान मेरी लाश पर बनेगा।" दूसरी ओर 'पाकिस्तान ज़िंदाबाद', 'कायदे आजम ज़िंदाबाद' और 'लेके रहेंगे पाकिस्तान' के उन्मादपूर्ण नारों के बीच देश के विभिन्न भागों में सांप्रदायिक दंगों की आग भड़क उठी है।

'तमस' में दो खंड हैं। एक में शहर है (शायद रावलपिंडी, क्योंकि लेखक ने शहर का नामोल्लेख नहीं किया है) और दूसरे में गांव—अनेक गांव और कस्बे भी। अंत में कुछ पृष्ठों में कथा-स्थल फिर शहर बनता है परंतु तब तक गांव अपने आतंक को भोगकर शहर के शरणार्थी कैंप में आ सिमटा है।

'तमस' में अनेक पात्र हैं, परंतु कोई प्रमुख या केंद्रीय पात्र नहीं है। लेखक अपना कैमरा जिस ओर घुमा देता है, हमें वह दृश्य दिखाई देने लगता है, परंतु लेखकीय कैमरे के लैंसेज की भी अपनी एक सीमा है जो लेखक के अपने अनुभव, ज्ञान, वातावरण, संस्कार आदि से स्वतः निर्धारित होती है। इसलिए शहर में घटित होने वाली घटनाओं, चर्चाओं और प्रतिक्रियाओं का अधिकांश हम लेखक की 'हिंदू' नज़र से देखते हैं। सबसे पहले वह हमें नत्थू चमार से मिलवाता है, जिसे मुराद अली एक सुअर मारने के लिए पांच रुपए दे गया है। मुराद अली वास्तव में कौन था और किसके इशारे पर उसने नत्थू से सुअर मरवाकर मस्जिद के दरवाजे पर फिंकवाया, इसे पाठक की कल्पना और अनुमान के लिए छोड़ दिया गया है। फिर हमारा परिचय होता है जिला कांग्रेस पार्टी

के सेक्रेटरी बख्शी तथा मेहता, कश्मीरी लाल, जरनैल शंकरलाल, मास्टर रामदास आदि कांग्रेस कार्यकर्ताओं से जो आपस में अच्छी-खासी नोंक-झोंक करते हैं। इनमें अजीज और हकीमजी भी हैं, पर जैसे लेखक का उनकी आंतरिकता से कोई परिचय नहीं है, इसलिए ये बस चुप हैं और सिर्फ होने को ही हैं।

फिर लेखकीय कैमरा हमें पुण्यात्मा वानप्रस्थीजी के साप्ताहिक सत्संग में ले जाता है। 'अंतिम आहुति' के बाद सभा को विसर्जित हो जाना चाहिए था, परंतु सभासद् बैठे रहे क्योंकि मंत्रीजी को ज़रूरी सूचना देनी थी। इस जरूरी विषय के बारे में सभासदों को खटका पहले से ही था, वानप्रस्थीजी के भाषण में भी बार-बार इस विषय का संकेत मिलता रहा था, यहां तक कि प्रवचन देते समय वानप्रस्थीजी स्वयं अत्यधिक विचिलत और भावोद्वेलित हो उठे थे, उनका चेहरा तमतमाने लगा था और होंठ फड़फड़ाने लगे थे, विशेष रूप से जब उन्होंने आवाज़ ऊंची उठाकर मर्मभेदी आवाज़ में ये पंक्तियां पढ़ी थीं–

'फैलाये घोर पाप यहां मुसलमीन ने,
नेअमत फलक ने छीन ली, दौलत जमीन ने।'

इसलिए सभी लोग जानते थे कि अंतरंग सभा किस विषय पर विचार करने जा रही थी और तभी शहर को अन्य हिंदू संस्थाओं के गण्यमान्य अधिकारी और स्थानीय बड़े गुरुद्वारे के पांच-सात सिख सज्जन भी अंदर आते दिखाई देते हैं। अंतरंग सभा में विचार हुआ कि हिंदू-सिखों को अपनी रक्षा का किस प्रकार प्रबंध करना चाहिए क्योंकि बताया गया था कि जामा मस्जिद में लाठियां, भाले और तरह-तरह का असला बहुत दिनों से इकट्ठा किया जा रहा है। पुण्यात्माजी धीर-गंभीर आवाज़ में बोले–

''सबसे पहले अपनी रक्षा का प्रबंध किया जाना चाहिए। सभी सदस्य अपने-अपने घर में एक-एक कनस्तर कड़वे तेल का रखें, एक-एक बोरी कच्चा या पक्का कोयला रखें। अलबत्ता तेल शत्रु पर डाला जा सकता है, जलते अंगारे छत पर से फेंके जा सकते हैं...।''

सुझाव यह भी है कि युवकों को लाठी सिखाने का काम फौरन शुरू कर देना चाहिए। दो सौ लाठियां आज ही मंगवाकर बांट दी जाएं। उनका निष्कर्ष यह है कि यह सारा काम कांग्रेसियों ने बिगाड़ा हुआ है। उन्होंने ही मुसल्लों को सिर पर चढ़ा रखा है। और...इसके पीछे गहरी शरारत है। मुसलमान जो न करे कम है।

इधर मास्टर देवव्रत हिंदू युवकों को उनके स्वर्णिम अतीत का स्मरण कराते हुए आने वाले संकट के लिए सन्नद्ध कर रहे हैं। लाला लक्ष्मीनारायण का पंद्रह वर्ष का लड़का रणवीर उनका पट्ट शिष्य है जिसे उन्होंने अग्निवाण और मेघवाण के गुण बताए हैं और राणा प्रताप तथा शिवाजी की प्रेरक कथाएं सुनाई थीं। वेद में सब लिखा है–विमान बनाने का ढंग, बम बनाने का ढंग। उन्हीं के मुख से योगशक्ति की महिमा

भी सुनी थी, जिसके द्वारा साधनालीन एक योगिराज ने उनकी समाधि भंग करने आए एक म्लेच्छ को अपने नेत्रों की दैवी ज्योति से खंड-खंड करके भस्म कर दिया था।

रणवीर ने यह जाना कि म्लेच्छ कौन होते हैं। म्लेच्छ गंदे होते हैं, म्लेच्छ नहाते नहीं, पाखाना करके हाथ नहीं धोते, एक-दूसरे का जूठा खा लेते हैं, सभय पर शौच नहीं जाते। रणवीर की आंखों के सामने बार-बार म्लेच्छ घूम जाते थे। पड़ोस में सड़क के किनारे बैठा मोची म्लेच्छ है, घर के सामने टांगा हांकने वाला गाड़ीवान म्लेच्छ है, मेरी ही कक्षा में पढ़ने वाला हमीद म्लेच्छ है, गली में मजीफा मांगने वाला फकीर म्लेच्छ है। पड़ोस में रहने वाला परिवार म्लेच्छ का है।

फिर रणवीर की दीक्षा का समय आता है। मास्टर देवव्रत उसे एक निर्जन से स्थान पर ले जाते हैं—

''इधर दीवार के पास बैठ जाओ रणवीर और इस मुर्गी को काटो। दीक्षा से पहले तुम्हें अपनी मानसिक दृढ़ता का परिचय देना होगा।''

लेखकीय कैमरा यहीं आसपास है।

रणवीर और उसके युवा साथी 'युद्ध' की तैयारी कर रहे हैं। अन्य सभी चीजों का प्रबंध कर लिया गया है, पर युवकों को तेल उबालने के लिए बड़ी कड़ाही नहीं मिल रही है। संगठन के नायक बोधराज को एक विचार सूझा कड़ाही हलवाई की दुकान से लाई जा सकती है। रणवीर और धर्मदेव हिंदू हलवाई से कड़ाही इस तरह 'लूट' लाते हैं जैसे शिवाजी सूरत लूट लाए थे।

इधर नत्थू बहुत बौराया हुआ है। उसका मारा हुआ सुअर सुवह होने पर मस्जिद के दरवाजे पर मिला और सारा शहर भयानक तनाव की गिरफ्त में आ गया। उसे लगता है शहर में जो कुछ भी हो रहा है, उसका वह जिम्मेदार है, पर वह कहां जिम्मेदार है? मुराद अली ने कहा था, सलोतरी साहब को किसी डॉक्टरी के काम के लिए चाहिए और मुराद अली का कहना वह कैसे टाल देता? पर एक गहरा तनाव था जो उसे अंदर बाहर कसे दे रहा था। वह दिन भर सड़कों पर इधर-उधर चक्कर काटता रहा, शराब पी आया और रात को घर आकर अपनी पत्नी के आंचल में अपनी तनाव-मुक्ति का उपाय ढूंढ़ने लगा, पर शोर था कि बढ़ता ही जा रहा था और आवाजें थीं कि उसे घेरती जा रही थीं—मंडी में आग लगी है...अल्ला-हो-अकबर...हर-हर महादेव...।

इधर-उधर घुमाकर लेखक हमें लाला लक्ष्मीनारायण के घर ले जाता है। वे बड़ी बेताबी से अपनी उस नन्हीं-सी कुल्हाड़ी को ढूंढ रहे हैं जिसे उन्होंने अलमारी के निचले खाने में कपड़ों के नीचे रखा हुआ था। कुल्हाड़ी के घर में रहते उन्हें सुरक्षा का भास रहता था। कुल्हाड़ी न रहने पर लगता, वह निहत्थे हो गए हैं और घर में इसके अतिरिक्त कोई ऐसी चीज़ न थी जिसे हथियार का नाम दिया जा सके। कुछेक मसहरी के डंडे थे या फिर रसोई के चाकू। तेल के नाम पर केवल एक शीशी सरसों के तेल की थी और कोयला न के बराबर। वानप्रस्थीजी के प्रवचन के बावजूद लालाजी इन चीजों का कोई प्रबंध नहीं कर पाए थे। उन्हें मन ही मन विश्वास था कि सरकार फसाद नहीं

होने देगी। अगर हो भी गया तो उसकी आंच बहुत जल्दी उन तक नहीं पहुंचेगी।

घबराए हुए लालाजी को पड़ोसी फतहदीन ने आश्वासन के लहजे में कहा : "बेखबर रहो बाबूजी, आपके घर की तरफ कोई आंख उठाकर भी नहीं देख सकता। पहले हम पर कोई हाथ उठाएगा फिर आप पर उठने देंगे।"

लालाजी कहते हैं—"क्यों नहीं, पड़ोसी तो इन्सान के बाजू होते हैं और फिर आप जैसे पड़ोसी।" पर उन्हें फतहदीन की बात पर विश्वास था भी और नहीं भी था। बीस बरस यहां रहते हो गए थे, इन लोगों से उन्हें कभी शिकायत नहीं हुई थी, पर आखिर थे तो मुसलमान...और इन 'मुसल्लों' का एतबार नहीं किया जा सकता।

उन्हें रह-रहकर अपने बेटे, रणवीर पर गुस्सा आ रहा था—"बड़ा 'बेबाका' लड़का है, किसी की नहीं सुनता। समाज सेवा, समाज सेवा, रट लगाए रहता है। जिसे अपने मां-बाप की चिंता नहीं, वह समाज सेवा क्या करेगा?"

तभी दूर से नारों की गूंज सुनाई देने लगी। 'अल्ला-हो-अकबर' का नारा उठा तो दूर कहीं से, मगर वह बार-बार मकानों की छतों पर से दुहराया जाने लगा। मकानों की छतों पर चढ़े हुए, आग का तमाशा देखने वाले लोग भी उसे दोहराने लगे। एक शोर-सा मचने लगा। दूर शिवाले की ओर से हिंदू नारों की भी आवाज आती लेकिन बहुत कम और बहुत धीमी। आसपास कहीं भी उसे दोहराया नहीं जा रहा था। इससे लालाजी और भी ज्यादा त्रस्त हो उठे थे।

बाद के कुछेक पृष्ठों में लेखक अपना कैमरा लेकर कुछ देर इधर-उधर के छोटे-छोटे दृश्य चित्रित करता है और फिर बखूबी फोकस करता है रणवीर मंडली पर जहां रणभूमि में उतरने और अपने जौहर दिखाने को चारों योद्धाओं के दिल कसमसा रहे थे। 'आज रण में जाकर धूम मचा दे बेटा' धर्मदेव के कानों में वीररस भरे इस गीत की पंक्ति देर से गूंज रही थी।

रणवीर समझा रहा था—"शत्रु की छाती अथवा पीठ को कभी भी निशाना नहीं बनाओ। वार हमेशा कमर में करो या पेट में और घुमावदार छुरा घोंपने के बाद उसे अंदर ही अंदर थोड़ा मोड़ दो, इससे अंतड़ियां बाहर आ जाएंगी। अगर तुम भीड़ में शत्रु पर वार करते हो तो छुरा बाहर खींचने की कोशिश नहीं करो, उसे वहीं रहने दो और भीड़ में खो जाओ।"

इस शिक्षा का निशाना बना एक गरीब इत्र-फलेल बेचने वाला 'म्लेच्छ'।

एक भारी-भरकम आदमी, मेंहदी से रंगी लाल मूंछों और कूची दाढ़ी वाला अपने अगल-बगल बहुत से थैले लटकाए पीपल के पेड़ के नीचे होकर गली के अंदर आ गया था। बोझ के कारण उसके माथे पर पसीने की बूंदें छलक आई थीं। उसके दाएं कान में रूई के फाहे थे और ऊपर दो-तीन सलाइयां पगड़ी में खोंस रखी थीं।

चारों 'योद्धाओं' में से एक इंद्र ने उस पर अपना हाथ आजमाया, जब वह (इत्र-फलेल वाला) उसे एक अबोध बालक समझकर मीठी-मीठी बातें करता हुआ बड़ी मस्ती से उसके साथ चला जा रहा था।

द्वितीय खंड में कहानी का कार्यस्थल शहर से बाहर दूर छोटे-बड़े गांवों में छितर जाता है। यहां लेखक अधिकांशतः सिखों के माध्यम से घटनाओं को देखता और चित्रित करता है। पहला दृश्य है नूरपुर तहसील के छोटे से गांव ढाके इलाहीबख्श का। सड़क के किनारे, बस स्टाप के पास हरनाम सिंह की चाय-पानी की दुकान है और पिछले हिस्से में वह अपनी पत्नी बंतो के साथ रहता है। मुसलमानों के गांव में यही एकमात्र सिख परिवार है। हरनाम सिंह का लड़का इकबाल सिंह वहां से बीस मील दूर मीरपुर गांव में अकेला बजाजी का काम करता है। लड़की जसबीर कौर सैयदपुर में ब्याही हुई है।

पहली बस खानपुर से चलकर सुबह आठ बजे गांव में पहुंचती थी। वह नहीं आई। उसके बाद हर घंटे-दो घंटे के बाद शहर की ओर से भी खानपुर की ओर से भी बसें आती थीं। आज दोपहर हो गई है, एक भी बस नहीं आई। हरनाम सिंह और बंतो को खतरे का आभास होने लगा था। बंतो कहती है, इस गांव से निकल चलो। हरनाम सिंह गुरुवाणी की पंक्ति 'जिसके सिर के उपरि तू सुआमी सो दुःख कैसा पावे' को अपना सहारा बनाकर बैठा है। ''झगड़े-फसाद तो होते ही रहते हैं, पर काम-धंधा तो बंद नहीं किया जा सकता।'' फिर उन्हें अपने गांव के मुसलमानों का भरोसा है। गांव का मोतबर मुसलमान करीम खान उनका हमदर्द है, फिर डर किस बात का है।

पर जब दोपहर ढलने को आई तो ढक्की पर से उसे किसी के कदमों की परिचित-सी आहट आई। करीम खान ने कहा—''हालत अच्छी नहीं हरनाम सिंह, तू चला जा। गांव वाले तो तेरी तरफ आंख भी नहीं उठाएंगे, पर बाहर से लोगों के आने का डर है। उन्हें रोकना हमारे बस में नहीं।''

तभी पहली बार हरनाम सिंह के विश्वास की टेक बुरी तरह से हिल गई। फिर बंतो और हरनाम सिंह अपने तीन कपड़ों में और थोड़ी-बहुत पूंजी और बंदूक संभाले दुकान को ताला लगाकर बाहर निकल आए। जब दोनों सड़क पार करके नाले की ओर उतरने लगे थे, बलवाई उनकी दुकान पर पहुंचकर उसे लूटने का उपक्रम कर रहे थे।

वे रात भर चलते रहे और जब पौ फटने का समय हुआ तो वे एक छोटे से झरने के किनारे पत्थरों पर बैठे थे। हरनाम सिंह इस इलाके से परिचित था। वे ढाके मुरीदपुर नाम के एक छोटे से गांव के निकट पहुंच चुके थे, पर अब दूसरी चिंता थी। दिन के प्रकाश में अपने आपको कहां छिपाएं? मौत का साया चारों तरफ मुंह बाए घूम रहा था और वे एक मुसलमान घर के सामने खड़े होकर सांकल खटखटाने लगे। मर्द घर में नहीं थे। एक औरत ने दरवाजा खोला—''क्षण भर के लिए वह औरत ठिठकी खड़ी रही, वह निर्णायक क्षण जब मनुष्य अपने समस्त विचारों, मान्यताओं के पूंजीभूत प्रभाव के आधार पर कोई भी निर्णय लेता है और कुछ देर तक उनकी ओर देखती रही। फिर उसने दरवाजा खोल दिया।''

सारा दिन हरनाम सिंह और बंतो जिंदगी और मौत के सायों में घिरते रहे। बहू ने सास को समझाया—''काफिरों को पनाह देती हो, बहुत बुरा करती हो। मर्द आकर

तुमसे पूछेंगे।''

और सास कहती है—''तू चुप रह। कोई बदनसीब आए तो क्या मैं उसे धक्का देकर बाहर निकाल दूं?''

एहसान अली और रमजाना भी वापस आ गए। वे बलवाइयों के साथ थे और हरनाम सिंह की दुकान से उसका एक तालाबंद ट्रंक उठा लाए थे। मौत की एक तेज आंधी फिर आई परंतु मनुष्य के हृदय में बसने वाली किसी अदृश्य भावना, किसी अपरिभाषित संस्कार के कारण हरनाम सिंह और बंतो जैसे तिनके उसमें अलोप हो जाने से बच गए।

लगभग आधी रात का समय रहा होगा जब ऊंची-लंबी राजो आगे-आगे चली जा रही थी और हरनाम सिंह और बंतो उसके पीछे-पीछे। कुछ दूर जाकर राजो ने हरनाम सिंह की बंदूक उसे पकड़ा दी और उनके ट्रंक से निकले दो गहने उन्हें देती हुई बोली : ''जाओ हुण, रब राखा।''

सिख पहलू का दूसरा दृश्य है सैयदपुर का गुरुद्वारा जहां कस्बे के अधिकांश सिख स्त्री-पुरुष एकत्र हो गए हैं—''गुरुद्वारा खचाखच भरा था और संगत मस्ती में झूम रही थी। रागी पूरी तन्मयता से आंखें बंद किए गा रहे थे।...तीन सौ साल पहले भी ऐसा ही गीत दुश्मन से लोहा लेने के पहले गाया जाता था...इस विलक्षण क्षण में उनकी आत्मा अपने पुरखाओं की आत्मा से जा मिली थी...तुर्कों से लोहा लेने का फिर से समय आ गया था। उनकी चेतना फिर से शताब्दियों पहले के वायुमंडल में सांस लेने लगी थी।''

गुरुद्वारे में एकत्र सिख-संगत मोर्चा लेने की पूरी तैयारी कर रही है। उन्होंने काफी असला भी इकट्ठा किया है। स्त्रियों में भी काफी जोश है। इन स्त्रियों में हरनाम सिंह की बेटी जसबीर कौर भी है।

दूर अल्लाह-हो-अकबर की आवाज़ आती है। क्षणभर के लिए गुरुद्वारे के हाल में सकता-सा छा जाता है। फिर 'जो बोले सो निहाल, सतसिरी अकाल' का जवाबी नारा हवा में गूंजने लगता है। 'तुर्क! तुर्क आ गए।' सबकी जबान पर था : 'तुर्कों का लश्कर आ गया।'

घमासान युद्ध हुआ। दो दिन और दो रात तक चलता रहा। फिर असला चुक गया और लड़ना नामुमकिन हो गया। अब गुरुग्रंथ साहब की चौकी के पीछे, सफेद चादरों से ढकी सात लाशें पड़ी थीं। मुखबिरों ने खबर दी थी कि मुसलमानों को बाहर से कुमुक पहुंचने वाली है, जबकि सिखों का संपर्क बाहर से कट गया था। युद्ध परिषद का विचार था कि पैसे दे-लेकर सुलह कर ली जाए और उन्होंने अपने एलची द्वारा शेखों से बात शुरू कर दी, पर मुसलमानों को बाहर से कुमुक मिल गई थी। शेखों से बात करने गया मेहर सिंह वहीं मारा गया। 'सतसिरी अकाल' के नारे लगाता सिखों का एक जत्था तलवारों को घुमाता हुआ, दुश्मन को ललकारता ढलान उतरने लगा।

गुरुद्वारे में एकत्र स्त्रियों ने गुरुद्वारे से बाहर निकलकर ढलान के नीचे बने उस

कुएं में अपने बच्चों सहित छलांग लगा ली जहां गांव की स्त्रियां नहाने, कपड़े धोने, बतियाने के लिए जाया करती थीं। गांव के पास जगह-जगह से 'अल्लाह-हो-अकबर' और 'सतसिरी अकाल' के नारों के साथ कुएं में डूबती औरतों और बच्चों की चीखें मिल गई थीं।

'तमस' का अधिकांश कथन हिंदू और सिख माध्यम से हुआ है। लेखक ने कहीं-कहीं कुछ मुसलमानों द्वारा तथा उस जिले के डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड और उसकी पत्नी लीजा द्वारा कथ्य को कुछ व्यापक आयाम देने की कोशिश की है।

प्रारंभ में मुसलमान-पक्ष वहां उभरता है जहां प्रभात फेरी के लिए जाते कांग्रेस कार्यकर्ताओं को सिर पर रूमी टोपी पहने एक व्यक्ति ललकारता हुआ-सा बोल रहा है।–''कांग्रेस हिंदुओं की जमात है। इसके साथ मुसलमानों का कोई वास्ता नहीं है।''

दूसरा छोटा-सा दृश्य है, आठवें अध्याय मे।। फजलदीन नानबाई की दुकान पर मजलिस जमी थी। बूढ़ा करीम खान कह रहा था कि हाकिमों के मन की थाह पाना आम आदमी के बस का नहीं होता, हाकिम दूर की सोचता है, उसके हर कदम के पीछे दूरअंदेशी पाई जाती है। जो कुछ वह देखता है उसे आम इन्सान नहीं देख पाता। फिर वह उसे एक इस्लामी पुराण कथा सुनाता है। इसी अध्याय में एक पीर साहब की चर्चा है।

दसवें अध्याय में रघुनाथ के परम मित्र शाहनवाज खान का चित्रण है। वह लाला लक्ष्मीनारायण और उनके परिवार को सुरक्षित स्थान पर पहुंचाता है, रघुनाथ और उनके परिवार को मुसलमानी मुहल्ले से निकालकर अपनी दोस्ती का सबूत देता है, पर उसने दंगे में मारे गए एक मुसलमान की लाश देखी है, जो उसे भूलती नहीं और उसका उसके मन की तहों पर गहरा प्रभाव है। इसलिए जब वह रघुनाथ की पत्नी के गहने निकालने उनके पुश्तैनी घर में जाता है तो गहनों का डिब्बा लेकर उतरते हुए उनके हिंदू नौकर मिलखी को अपनी करारी लात देकर मार डालता है।

दूसरे खंड में एक छोटा दृश्य है। शहर से आया हुआ कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ता मीरदाद सैयदपुर में मुसलमानों को समझाने की कोशिश कर रहा है–''अगर हिंदू, मुसलमान, सिख मिल जाते हैं, इनमें इत्तिहाद हो जाता है, तो अंग्रेज की हालत कमजोर पड़ जाती है। अगर हम आपस में लड़ते रहते हैं तो उसकी हालत मजबूत बनी रहती है।''

पर उसकी बात का कोई प्रभाव नहीं होता–''जा, जा, सिर पर बादाम रोगन की मालिश कर।'' छोटे कसाई ने कहा–''हमारा अंग्रेज ने क्या बिगाड़ा है ओए? हिंदू-मुसलमान की अदावत पुराने जमाने से चली आ रही है। काफिर काफिर है और जब तक दीन पर ईमान नहीं लाएगा, वह दुश्मन है। काफिर को मारना सवाब है।''

सत्रहवें अध्याय में लेखकीय कैमरा मुसलमानों के हाथों में है। सारे उपन्यास के इन आठ पृष्ठों का फोकस भिन्न है। रमजान और उसके साथी ढाके इलाही बख्श की ओर से लूट-पाट का सामान उठाए हंसते-बतियाते लौट रहे थे, तब उन्हें दूर एक

टीले के पास एक भागता सिख नजर आ गया। 'या अली!' रमजान ने ललकारा और सभी लोग उसके पीछे भाग खड़े हुए। वह किसी खोह में छिप गया और रमजान और उसके साथी उसे गालियां देते हुए ढूंढ़ने लगे।

जब एक खोह में उसे निकालने के लिए ढेलों की बौछारें हो रही थीं एक बुद्धिमान को कोई विचार सूझा और वह चिल्लाकर बोला, "ओए ठहरो ओए! मत मारो पत्थर।" उस दानिशमंद ने, खोह के सामने खड़े होकर कहा : "ओ सरदार, दीन कबूल कर ले, हम तुम्हें छोड़ देंगे।"

अंदर से कोई जवाब नहीं आया, केवल कांपती-सी कराहने की आवाज़ आती रही।

"बोल सरदार इस्लाम कबूल करेगा या नहीं? अगर मंजूर है तो अपने आप बाहर आ जा, तुम्हें कुछ नहीं कहेंगे। वरना ढेले मार-मारकर मार डालेंगे।"

आखिर वह कलमा पढ़ने को तैयार हो गया।

"आ जा, गले मिल ले।" रमजान ने कहा और उसे गले से लगा लिया। फिर बारी-बारी से सभी ने गले लगाया।

गांव लाकर उसके बाल काटे गए, खत निकालकर दाढ़ी काटी गई, मूंछें पतली कर दी गईं। नूरदीन ने टप-टप खून की बूंदों से चूता हुआ मांस का बड़ा टुकड़ा उसके मुंह में डाल दिया। तसबीह हाथ में पकड़े हुए मुल्ला ने उसे कलमा पढ़वाया :

"ला इलाही इल्लिला, मुहम्मद रसूल अल्ला।"

और इकबाल सिंह इकबाल अहमद बन गया। सुन्नत के वक़्त बुजुर्ग उसे सहारा दिए हुए थे और उसके कान में कह रहे थे—"तेरा निकाह कराएंगे। बड़ी खूबसूरत औरत तुम्हें देंगे। अब तू अपना है, अब तू शेख है, शेख इकबाल अहमद।"

अठारहवें अध्याय में कुछ मुसलमान मुजाहिद अपने-अपने अपने अनुभव सुना रहे थे कि किस तरह उन्होंने एक हिंदू लड़की को पकड़ा और नबी, लालू, मीरा, मुर्तजा ने बारी-बारी उसे दबोचा।

"कसम अल्लाह की। जब मेरी बारी आई तो नीचे से न हूं, न हां, वह हिले ही नहीं। मैंने देखा तो लड़की मरी हुई है।" और वह खोखली हंसी हसंकर बोला—"मैं लाश से ही जना किए जा रहा था।"

मैंने प्रारंभ से ही कहा है कि शिल्प के जिस माध्यम को लेकर भीष्म साहनी ने 'तमस' की रचना की है उसमें उन्होंने अपन सर्वगामी और सर्वद्रष्टा होने की काफी गुंजाइश रख ली है। वे अपना कैमरा लेकर कहीं भी निकल जाते हैं और उसके चित्र धड़ाधड़ पाठक के सम्मुख पेश करने लग जाते हैं, पर सर्वगामी और सर्वद्रष्टा लेखक की अनेक सीमाएं भी हैं। शायद इसीलिए भीष्म साहनी अपना कैमरा लेकर अधिकांशतः हिंदुओं के बीच ही घूमे हैं। पुण्यात्मा वानप्रस्थीजी, मास्टर देवव्रत और रणवीर क्या सोचते हैं, क्या करते हैं इसका तो उन्हें पता है, पर हयातबख्श के वातावरण में क्या घटित हो रहा है इसको जानने का दावा वे नहीं करते। स्वाभाविक है कि इस वातावरण से उनकी उतनी गहरी पहचान नहीं थी। वानप्रस्थी, देवव्रत, रणवीर और लाला

लक्ष्मीनारायण की मानसिकता के हर पहलू, उनके विचारों और संस्कारों की पृष्ठभूमि से लेखक की आंतरिक संगत है। बख्शी, जरनैल, मेहता, कश्मीरीलाल आदि को भी वह अच्छी तरह जानता है, इसलिए वह इस वातावरण का चित्रण इतनी प्रामाणिकतापूर्वक कर सका है।

जैसा कि मैंने पहले कहा, लेखक ने मुसलमानों के हाथ में कैमरा बहुत थोड़ी स्थितियों में और बहुत थोड़ी देर के लिए दिया है। इस दृष्टि से वह अतिरिक्त रूप से सतर्क और सजग है और अपनी सीमा जानता है। परिणामस्वरूप सारे उपन्यास में मुस्लिम पक्ष बहुत एकांगी और अटपटा है। अधिकांश मुसलमानों से हमारा परिचय व्यक्ति रूप में ही हो पाता है। उनका व्यक्ति-चरित्र तो उभरता है, पर समूह-चरित्र नहीं उभरता और जहां कहीं थोड़ा-बहुत उनका समूह-चरित्र उभरता भी है वह हमारी उस परंपरागत अवधारणा को ही दुहराता है जहां उनका लूटपाट करने वाला, जबरदस्ती धर्म परिवर्तन के लिए बाध्य करने वाला, स्त्रियों को पाशविकता की हद तक जाकर बेइज्जत करने वाला रूप रूढ़ हो चुका है। मेरा ख्याल है कि पाकिस्तान की मांग करने वाले मुसलमान के लिए सिर्फ इतना कहकर ही छुटकारा नहीं हो सकता कि वह सब कारस्तानी अंग्रजों की थी या वे मजहबी आधार पर बहुत कट्टर और पृथकतावादी थे या सिर्फ उन्होंने इस तथ्य को ही अपने अंदर पाल रखा था कि उन्होंने सदियों तक हिंदुओं पर हुकूमत की थी और आजाद हिंदुस्तान में उन्हें हिंदू बहुसंख्या का गुलाम बनकर रहना पड़ेगा। आम मुसलमान की उस मानसिक ग्रंथि को भी नहीं झुठलाया जा सकता जो उसने हिंदुओं द्वारा सामाजिक आचार-व्यवहार में अपने प्रति प्रदर्शित रवैये से पाल ली थी। मृत्यु की अत्यधिक सन्निकटता के मध्य भी जब हरनाम सिंह और वंतो एहसान अली के घर में शरण लेते हैं और एहसान अली की बीवी राजो जब उन्हें लस्सी का कटोरा देती है तो दोनों (हरनाम सिंह और बंतों) असमंजस में पड़ जाते हैं। मुसलमान के हाथ से कटोरा कैसे ले लें?

खैर, मैं यह मानता हूं कि लेखक पर समीक्षक की अपेक्षाएं आरोपित करना लेखक के प्रति अन्याय करना है।

परंतु यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ कि लेखक ने सिख-पक्ष प्रस्तुत करते समय कुछ बड़ी विचित्र और भद्दी भूलें की हैं। लगता है उसे सिख वातावरण की तो थोड़ी-बहुत फर्स्टहैंड जानकारी थी, पर सिख परंपराओं की उसकी जानकारी खासी सेकंडहैंड थी।

''निहंग सिखों की आंखों के सामने वही पुराना लड़ाइयों के चित्र घूम रहे थे जब लश्कर कूच किया करते थे, तलवारें चमकती थीं, घोड़े हिनहिनाते थे, नगाड़े और शंख गूंजते थे।'' (पृष्ठ 192)

सिखों द्वारा युद्ध में वाद्य यंत्रों के रूप में कभी शंख का प्रयोग नहीं हुआ। मेरा तो ख्याल है कि मध्य युग की लड़ाइयों में राजपूतों और मराठों में भी शंख की बजाय तुरही और नगाड़े या ढोल का प्रयोग ही अधिकतर होता था।

"फिर वह उठे और दोनों हाथ बांधे, गर्दन झुकाए आकर गुरुग्रंथ साहब की वेदी के सामने माथा नवाने के लिए झुक गए।" (पृष्ठ 198)

मुझे याद नहीं कि 'वेदी' शब्द का प्रयोग गुरुग्रंथ साहब के संदर्भ में कभी किया गया। वेदी का प्रयोग यज्ञ के संदर्भ में ही किया जाता है पर सबसे विचित्र बात जो लेखक ने लिखी है वह यह कि सिख युद्ध के लिए जाते समय अपनी पगड़ी उतार देते हैं और केश खोल लेते हैं और बलिदान की वेला में सिख स्त्रियां अपनी चुन्नी सिर से उतारकर गले में डाल लेती हैं। जबकि परंपरागत वस्तुस्थिति इससे बिल्कुल उल्टी है। सामान्यतः सिखों में केश खोलकर बाहर जाना बुरा समझा जाता है, परंतु किसी भी सांसारिक कार्य, विशेष रूप से युद्ध के लिए जाते समय केशों को अच्छी तरह बांधना और फिर दस्तार सजाना (पगड़ी बांधना) बहुत आवश्यक और पुनीत समझा जाता है। इसी तरह स्त्रियां किसी भी स्थिति में, विशेष रूप से गुरुद्वारे में, सिर से उतारकर दुपट्टे को गले में नहीं डालतीं। उसे सिर पर बांधा जा सकना संभव है।

इसी तरह 'सिंह खालसा सही सलामत लौट आया है।' या 'अरदास गायी जा रही थी' आदि प्रयोग भी असंगत और अटपटे हैं, परन्तु जहां तक वातावरण और मानसिकता का प्रश्न है इनका भीष्म ने काफी प्रामाणिक निर्वाह किया है।

इस उपन्यास का एक और पक्ष है, ब्रिटिश हुकूमत का पक्ष। जिले का डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड ब्रिटिश सरकार की नीतियों को कार्यान्वित करने वाला एक सुयोग्य अधिकारी है। एक ओर उसकी इतिहास, पुरातत्व और मानवविज्ञान में गहरी रुचि है, उसका घर पुस्तकों और प्राचीन मूर्तियों से भरा पड़ा है, दूसरी ओर वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद का एक अत्यंत वफादार पुर्जा है। लेखक के शब्दों में—"जब वह प्रशासक की कुर्सी पर बैठता है तो वह ब्रिटिश साम्राज्य का प्रतिनिधि था और उन नीतियों को क्रियान्वित करता जो लंदन से निर्णीत होकर आती थीं। एक काम को दूसरे काम से अलग रखना, एक भावना को दूसरी भावना से अलग रखना उसके प्रशिक्षण की, उसके स्वभाव की विशिष्टता थी...वह निजी रुचियों को सरकारी काम से अलग रख सकता था, अलग से देख सकता था।"

अपनी इसी नीति के अनुसार वह शहर में हिन्दू-मुसलमानों के बीच बढ़ रहे तनाव को बड़ी तटस्थ दृष्टि से देखता रहता है। एक स्थान पर वह अपनी पत्नी से कहता है—"डार्लिंग, हुकूमत करने वाले यह नहीं देखते कि प्रजा में कौन-सी समानता पाई जाती है, उनकी दिलचस्पी तो यह देखने में होती है कि वे किन-किन बातों में एक-दूसरे से अलग हैं।" शहर के नागरिकों का एक प्रतिनिधिमंडल जब उससे मिलने और सरकार की ओर से दंगा रोकने के लिए कड़ा कदम उठाने की मांग करने आता है तो वह बड़ी चालाकी से बात टाल देता है और शांति बनाए रखने की सारी जिम्मेदारी उन्हीं पर डाल देता है।

परन्तु जब पांच दिनों में साम्प्रदायिकता का एक बवण्डर आ चुकता है, सैकड़ों मारे जा चुकते हैं, हजारों बेघरबार हो जाते हैं, लाखों की सम्पत्ति नष्ट हो जाती है तो

रिचर्ड अपनी प्रशासनिक मशीनरी को एकदम सक्रिय कर देता है। गांव-गांव में पुलिस गश्त करने लगती है, सिर पर हवाई जहाज मंडराने लगते हैं, शरणार्थी कैंप खुल जाते हैं और लोगों को जान-माल की सुरक्षा का आश्वासन दिया जाता है। जिला कांग्रेस के मंत्री बख्शी के मन में ठीक ही उभरता है : ''फसाद करवाने वाला भी अंग्रेजी, फसाद रोकने वाला भी अंग्रेजी, भूखों मारने वाला भी अंग्रेज, रोटी देने वाला भी अंग्रेज, घर से बेघर करने वाला भी अंग्रेज, घरों में बसाने वाला भी अंग्रेज। अंग्रेज फिर वाजी ले गया।''

'तमस' का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष वह है जिसे देवदत्त, सोहन सिंह और मीरदाद जैसे कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं के माध्यम से लेखक उभारना चाहता है। ये तीनों पात्र जैसे लेखक की सैद्धांतिक मान्यताओं के प्रतिरूप हैं जो घृणा, विद्वेष और हिंसा से भरे इस वातावरण में अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत करना चाहते हैं, परंतु यहीं मुझे लेखक की सबसे बड़ी असफलता भी दिखी है। ये तीनों ही पात्र सारी स्थिति को बेहिसाब सरलीकृत करके देखते हैं। वे यहीं तक देख पाते हैं कि यह सब कुछ अंग्रेज हुकूमत करा रही है, इसलिए शांति बनाए रखने और हिंदू-मुसलमानों के प्रतिनिधियों को एक मंच पर लाने के लिए वे जिन तर्कों का सहारा लेते हैं। वे उन जटिल परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में बहुत बचकाने लगते हैं। हिंदू, सिख और मुसलमान देवदत्त, सोहनसिंह और मीरदाद की बात सुनकर उसे इसलिए ही नहीं उड़ा देते कि वे सभी धार्मिक उन्माद से ग्रसित हैं। बल्कि इसलिए भी कि इनके तर्कों की तात्कालिकता के थोथेपन को भी वे समझते हैं। ये तीनों पात्र अपनी (सीमित) मार्क्सवादी दृष्टि से समस्या को उसके तात्कालिक परिवेश में ही देख पाते हैं, उसे सदियों में फैले ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से नहीं बांध पाते और न ही उसका उस दृष्टि से विश्लेषण कर पाते हैं। इस देश की सांप्रदायिक (विशेष रूप से हिंदू-मुस्लिम) समस्या को समझना और उसे विश्लेषित करना एक बड़ी जटिल प्रक्रिया है। सैयदपुर में सिखों-मुसलमानों की लड़ाई के संदर्भ में लेखक ने लिखा ही है कि लड़ने वालों के पांव बीसवीं सदी में थे, सिर मध्य युग में।

जैसा मैंने अन्यत्र कहा है 'तमस' में अनेक चरित्र हैं, पर एक भी केंद्रीय चरित्र नहीं है। इस उपन्यास का प्रधान पात्र 'आतंक' है जो प्रारंभ से अंत तक छाया हुआ है। उसे ही उपन्यास का नायक कहा जा सकता है। और उसे लेखक ने उसकी सारी भयावहता के साथ सृजित किया है। अपनी एकांगिता में जो अन्य पात्र थोड़े-थोड़े समय के लिए उभरते हैं वे अपनी पूरी छाप छोड़ जाते हैं। सुअर मारने वाला नत्थू एक अजीब से तनाव को भोगता है और उसके कारण बौराया-सा लगता है। अंत में अपनी पत्नी से सब कुछ कहकर वह कुछ शांति पाता है। सनकी किन्तु धुन का पक्का जरनैल मरते-मरते अपनी छाप को गहरा जाता है। रणवीर की केन्द्रीय वृत्ति, उत्साह और कल्पनाओं का वर्णन लेखक ने बड़ी बारीकी से किया है। इनके अतिरिक्त लाला लक्ष्मीनारायण, मेहता, कश्मीरीलाल, लाला श्यामलाल, राजो, प्रकाशो, हरनाम सिंह आदि

पात्र भी उपन्यास को समग्रता प्रदान करते हैं।

परंतु 'तमस' के दो पात्र बरबस हमारा ध्यान अपनी ओर खींचते हैं। एक है लीजा और दूसरा शाहनवाज खान। लेखक ने उन दो पात्रों के अंदर बहुत गहराई से झांका है और उन्हें उनकी समग्र चारित्रिक विसंगतियों के साथ प्रस्तुत किया है।

डिप्टी कमिश्नर की पत्नी लीजा बेहिसाब बोरडम की शिकार है। रिचर्ड की तरह न उसे पुरातत्व और मानव-शास्त्र में रुचि है न प्रशासन में दिलचस्पी। सच बात तो यह है कि उसे यह देश और यहां के लोग समझ में नहीं आते। ऊबकर वह या तो कुछ महीनों के लिए इंग्लैंड चली जाती है या बियर पी-पीकर अपने को मदहोश बनाए रखती है।

और शाहनवाज खान व्यक्ति और समूह-चरित्र की विसंगति और द्वंद्व का सबसे अच्छा उदाहरण है। व्यक्ति के रूप में अपने विधर्मी मित्र के लिए वह कुछ भी कर सकता है, पर समूह रूप में वह एक मुसलमान है। और उसके चरित्र का यही पहलू उसे गरीब मिलखी की हत्या करने पर बाध्य कर देता है।

भीष्म साहनी ने 'तमस' में एक बड़ी नाजुक और जोखिम भरी थीम उठाई है परन्तु उन्होंने अंत तक बड़े संयम से उसका निर्वाह किया है। इसी में उनके सृजनशील व्यक्तित्व की सफलता निहित है।

(कुछ सोचा : कुछ समझा,
प्रथम संस्करण - 2002)

18

अभिमन्यु अनत का उपन्यास : लाल पसीना

एक समय योरोपीय उपनिवेशवादियों को संसार के विभिन्न भागों में बसाए गये अपने उपनिवेशों के लिए मजदूरों की जरूरत थी और ये ज़रूरतें पूरी की जा रही थीं अफ्रीका और भारत जैसे गरीब और गुलाम देशों के नागरिकों द्वारा। इन्हें बड़े-बड़े सब्जबाग दिखाए जाते थे, प्रलोभन दिए जाते थे और भविष्य के सुनहरे स्वप्न इनकी आंखों में संजो दिये जाते थे। ऐसे मजदूरों से 'एग्रीमेंट' होता था। यही एग्रीमेंट भारतीय मजदूरों के मध्य 'गिरमिट' हो गया और इन्हें 'गिरमिटिए मजदूर' कहा जाने लगा।

मॉरीशस, फीजी, गुयाना तथा इन जैसे अनेक उपनिवेश धीरे-धीरे स्वतन्त्र हो गये हैं और वहां के राजनीतिक जीवन पर भारत मूल के निवासियों का अपनी जनसंख्या के कारण काफी प्रभाव भी है। धीरे-धीरे यहां की सांस्कृतिक चेतना भी उभर रही है और भारत मूल के लोग अपने इतिहास और अनुभवों को लिपिबद्ध करने लगे हैं। कुछ समय पहले मैंने फीजी के लेखक जे.एस. कमल का एक उपन्यास 'सवेरा' पढ़ा था, जिसमें कुली बनाकर ले जाये जाने वाले भारतीयों के जीवन की बड़ी करुण गाथा कही गई थी। 'लाल पसीना' की पृष्ठभूमि मॉरीशस है, जहां संभवतः भारतीय मूल के निवासियों की संख्या सबसे अधिक है।

इस उपन्यास के लेखक श्री अभिमन्यु अनत मॉरीशस के प्रबुद्ध हिंदी लेखकों में हैं और भारत का हिंदी जगत भी उनके नाम से भली प्रकार परिचित है। उनकी अनेक रचनाएं यहां प्रकाशित हो चुकी हैं।

'लाल पसीना' मॉरीशस में उन्नीसवीं शताब्दी में ले जाये गये उन भारतीय मजदूरों

की यातना, व्यथा और संघर्ष का इतिहास है जिन्हें फ्रांसीसी और ब्रिटिश उपनिवेशवादी अनेक प्रलोभन देकर ले गये थे।

'लाल पसीना' 348 पृष्ठों का एक वृहत् उपन्यास है और इसे दो खंडों में विभाजित किया गया है। दोनों खंडों के बीच एक पीढ़ी का अंतराल है अर्थात् प्रथम खंड में जो पात्र युवा हैं वही दूसरे खंड में वृद्ध हो गये हैं और उनकी संतानें युवा हो गयी हैं।

मॉरीशस में भारतीयों का आगमन सबसे पहले अंग्रेजी सेना के सैनिकों के रूप में हुआ। सामरिक दृष्टि से अंग्रेजों ने यह द्वीप फ्रांसीसियों से जीतकर अपने अधिकार में कर लिया था, परन्तु इसके बाद अंग्रेजी और फ्रांसीसी गोरों के हित एक हो गए और भारतीय काले 'मजदूरों' के अमानवीय शोषण में वे एक-दूसरे के सहायक बन गये।

कहानी शुरू होती है कुंदन से जो लम्बी सजा का कैदी है। वहां अफ्रीकी नस्ल के मालगासी कैदी भी हैं परन्तु जुल्म ढाने वाले दो व्यक्ति भाई होते हैं, जुल्म सहने वाले दो व्यक्ति भाई नहीं हो पाते। मालगासी बन्दियों ने सीधे बालों वाले सांवले बंदियों को अपना भाई नहीं माना।

वहां पहुंचने वाले भारतीयों की—चाहे वे बिहार से गये हों या मालाबार से—एक ही कहानी थी—पत्थरों के नीचे सोना पाने की चाह लिए 'मारीच देसवा' पहुंचना। जहाज से उतरते ही नम्बर लटकाये खेतों में झोंका जाना। आधा पेट खाना, आधी देह कपड़ा। पीठ पर बांसों की बौछार।

और वहां की जेलें इन निरीह व्यक्तियों द्वारा क्यों भरी जा रही थीं? कोई बैल जैसा काम करने से इनकारी के कारण इधर आया गया था। कोई भारत लौटने की मांग करके। कोई न्याय की दुहाई करता हुआ, तो कोई बीमारी की वजह से तीन दिन नौकरी पर न पहुंच सकने के कारण। किसी की गिरफ्तारी इसलिए हो गई थी कि उसने अपने गले से नम्बर लिखे टीन के टुकड़े को निकाल फेंका था। जिस व्यक्ति ने पहले दिन भीतर आते ही आत्महत्या कर ली थी, उसकी गिरफ्तारी इसलिए हुई थी कि सरदार की मांग पर उसने अपनी खूबसूरत पत्नी को पहली रात मालिक के घर नहीं पहुचांया था।

कुंदन किसी तरह जेल से भाग निकला। वह किसी तरह उस बस्ती में आ पहुंचा जहां रघु सिंह, उसका जवान बेटा किसन और कितने ही भारतीय मजदूर रहते हैं। किसन के मन में प्रश्न उभरते थे, परन्तु रघु कहता था कि दास प्रश्न नहीं करते, आज्ञा का पालन करते हैं। और किसन पूछता था—आखिर हम दास क्यों?

कुंदन इस बस्ती में आकर देवनन् हो गया। वह इस तरह भारतीयों की इस मजदूर बस्ती का प्रेरणा-स्रोत वन गया और किसन, गौतम, दाऊउ और सोने लाल जैसे लोग अपनी दासता पर प्रश्न-चिह्न लगाने लगे। गोरे साहवों द्वारा बेवस भारतीय मजदूरों पर जो जुल्म हो रहे थे उसे वे अपनी 'असमर्थता' के कारण सह रहे थे, परन्तु अब

किसन को लगने लगा था कि यह 'असमर्थता' नहीं थी—नामर्दी थी।

इस असमर्थता के विरुद्ध कुंदन, किसन और कितने लोग अपनी लड़ाई लड़ते रहते हैं, परन्तु यह लड़ाई कभी कोई नियोजित स्वरूप धारण नहीं कर पाती। लोग रामायण, हनुमान चालीसा पढ़ते हुए और भोजपुरी गीत गाते हुए अपने टूटते भरोसे को पकड़े रहते हैं और सब कुछ सहते रहते हैं। दाऊद जैसे लोग नमाज और रोजे के बल पर जिन्दा रहे होंगे। भारतीय जनता बेबसी और असमर्थता में सदा ही ईश्वर का पल्ला पकड़ती रही है और अपने ऊपर आये हुए संकट को 'करम गति' मानकर स्वीकार करती रही है, अपने इस 'गुण' को हम अपना 'सांस्कृतिक वैशिष्ट्य' भी मानते रहे हैं। 'लाल पसीना', में दमन, पीड़ा और व्यथा के तिलमिला देने वाले प्रसंग हैं परन्तु उसी के साथ आंतरिक घुटन, बेबसी असमर्थता, सहनशीलता और कहीं-कहीं हल्के विद्रोह का स्वर भी है। परन्तु कुल मिलाकर अत्याचार सहने वालों का जो चित्र उभरता है, वह आक्रोश की अपेक्षा एक तिलमिलाहट भरी असमर्थता और बेबसी का ही उभरता है।

अभिमन्यु अनत ने अपने उपन्यास के लिए जिस कथानक का चुनाव किया उसके महत्व और वैशिष्ट्य पर दो मत नहीं हो सकते, परन्तु यह अच्छा कथानक अच्छा 'उपन्यास' किस सीमा तक बन पाया है? सारा उपन्यास पढ़ जाने पर ऐसा लगता है कि अपने कथानक के संवंध में लेखक के मन में बहुत उखड़ा-उखड़ा और बिखरा-बिखरा-सा एक खाका था। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि उपन्यासकार के सामने उपन्यास प्रारम्भ करते समय अपने कथानक का सम्पूर्ण खाका बहुत गठा होना चाहिय, परन्तु लेखन की प्रक्रिया में कथानक का सहज गठाव अपने निर्दिष्ट बिंदु की समझ के कारण स्वयं विकसित होता है। 'लाल पसीना' में यह काम नहीं हो सका। कथानक और उसमें गृहीत प्रसंगों का बेहिसाब बिखराव है और सब कुछ बिना किसी कलात्मक योजना के आगे बढ़ता-सा लगता है। लम्बे-लम्बे शिथिल संवाद, प्रेम-संबंधों के बड़े ही सतही चित्र उपन्यास के मूल कथानक से उभरने वाली तिलमिलाहट को ठंडा ही नहीं करते बल्कि कभी-कभी तो वह तिलमिलाहट लेखक की ओर मुड़ने-सी लगती है।

मुझे लगता है कि लेखक के सामने उसका दृष्टि-बिंदु बहुत साफ नहीं था। उसमें बहुत कुछ समेटने का मोह तो था—और इस कारण कई अविस्मरणीय प्रसंग इसमें आ गए हैं—परन्तु उसमें से बहुत कुछ छोड़ देने और काट देने की निस्संगता उसमें नहीं थी। इसी कारण 'लाल पसीना' गिरमिटिए मजदूरों की व्यथा का एक मोटा उपन्यास तो बन सका, एक बड़ा उपन्यास नहीं बन सका।

उपन्यास को समय की लम्बी परिधि में फैलाया गया है किन्तु एक पीढ़ी से निकलकर दूसरी पीढ़ी तक पहुंचने से गिरमिटिए मजदूरों की स्थिति में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं आता। उपन्यास के दूसरे भाग का प्रमुख पात्र मदन सोचता है—चले जाएं यहां से, पर इसके साथ ही हर बार यह प्रश्न भी सामने आता—कहां...नियति

को कौन रोक सकता है?

सम्पूर्ण उपन्यास में ऊपर की थोड़ी-बहुत सक्रियता के अंदर से यह 'नियतिवाद' झलकता है। संभवतः यही वास्तविकता होगी। लेखक ने गिरमिटिए मजदूरों की इस मानसिकता पर कुछ भी आरोपित नहीं किया है। तभी यह प्रश्न भी उभरता है कि क्या इसे चित्रित करने के लिए इतने वृहद् आकार की जरूरत थी।

सम्पूर्ण उपन्यास के अगणित पात्रों में कुंदन को छोड़कर कोई पात्र नहीं उभर सका। अनेक ऐसी स्थितियां उभरती हैं जो विस्फोटक होने का संकेत देती हैं, परन्तु उनकी परिणति एक पटाखे से अधिक नहीं होती।

हो सकता है कि गोरे साहबों के खिलाफ गिरमिटिए मजदूरों ने कोई संगठित और प्रभावशाली विद्रोह नहीं किया होगा। बहुत कुछ सहते हुए उन्होंने उस सुनहरे कल की कल्पना की होगी जो उन्हें प्राप्त हो रहा है। इसलिए इस उपन्यास का मुख्य संवेदन-बिंदु वह यातना, पीड़ा और त्रास ही हो सकता था जिसमें उन लोगों ने अपना जीवन व्यतीत किया!

(कुछ सोचा : कुछ समझा,
प्रथम संस्करण - 2002)

19
कैसे उपलब्धिपूर्ण बनाये जा सकते हैं पुस्तक मेले?

नई दिल्ली में लगा 14वां विश्व पुस्तक मेला समाप्त हो गया। इस मेले में लगभग 1300 प्रकाशकों ने भाग लिया। इनमें से लगभग 900 अंग्रेजी भाषा के प्रकाशक थे। हिन्दी के प्रकाशकों की संख्या लगभग 300 थी। शेष में अन्य भारतीय भाषाओं के प्रकाशकों की भागीदारी रही।

मेले के लिए कुल 7 हाल उपयोग में लाए गए। इनमें 6 में अंग्रेजी के प्रकाशक थे। केवल हाल नम्बर 6 में हिन्दी तथा सभी भारतीय भाषाओं के प्रकाशक समाए हुए थे। इस हाल के भूमितल पर हिन्दी के प्रकाशक थे। ऊपरी तल पर उर्दू, बंगाली, पंजाबी, गुजराती, मराठी आदि अन्य भाषाओं के प्रकाशकों को स्थान दिया गया था।

नेशनल बुक ट्रस्ट तथा अन्य कुछ संस्थानों के माध्यम से देश के विभिन्न भागों में पुस्तक मेले लगते रहते हैं। कलकत्ता का प्रतिवर्ष लगने वाला पुस्तक मेला तो पुस्तकों की बिक्री के संबंध में एक उदाहरण बन चुका है। जितनी पुस्तकें वहां बिकती हैं उतनी राष्ट्रीय स्तर पर लगने वाले सभी पुस्तक मेलों में मिलाकर भी शायद नहीं बिकतीं। यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है कि इस देश में जितनी पुस्तकें अंग्रेजी में छपती और बिकती हैं उतनी शायद सभी भारतीय भाषाओं को मिलाकर भी छपती और बिकती नहीं हैं। यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि विश्व पुस्तक मेला वास्तव में अंग्रेजी पुस्तक मेला होता है। भारतीय भाषाएं तो उसके साथ दुमछल्ले की तरह लटकती रहती हैं।

अब इस तर्क को बार-बार दोहराने की जरूरत नहीं है कि इस देश में पुस्तक-मानसिकता का अभाव है अथवा सूचना-क्रान्ति और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने

लोगों का ध्यान पुस्तकों की ओर से हटा दिया है अथवा हमारी जनता का आर्थिक-संघर्ष उन्हें पुस्तकों की ओर नहीं जाने देता। सौ करोड़ के देश में दस से पंद्रह प्रतिशत जनता ही ऐसी है जिसकी क्रय-शक्ति के सहारे इस देश का ऐसा सारा व्यवसाय चल रहा है जिसे समृद्धि सूचक समझा जाता है और जिसके लिए इस देश में घुसने की दौड़ बहु-राष्ट्रीय कम्पनियां में लगी हुई है। अंग्रेजी पुस्तकों को खरीदने, पढ़ने और घर में सजाने की इच्छा रखने वाले लोग इस वर्ग से आते हैं। इनकी संख्या 2-3 प्रतिशत से अधिक नहीं है। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को पढ़ने और पुस्तकें खरीद सकने की क्षमता रखने वालों की संख्या उनसे कहीं अधिक है। ऐसी स्थिति में भारतीय भाषाओं के सिर पर अंग्रेजी का पुस्तक बाजार इस प्रकार अपना प्रभाव और वर्चस्व बनाये रखे और इस क्षेत्र में भी बहुराष्ट्रीय कंपनियां इस देश में आकर अपना बाजार स्थापित करने में सफल हो रही हों, यह भी कम चिंतनीय बात नहीं है।

अनेक दशकों से पुस्तक व्यवसाय और पुस्तक मेलों को निकट से देखने पर एक बात पर मेरा भरोसा बढ़ा है कि हिन्दी तथा अन्य भाषाओं की पुस्तकें अच्छी मात्रा में बिक सकती हैं और उस दयनीय दशा से उबर सकती हैं, जिनमें वे आज पड़ी हुई हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि अंग्रेजी की पुस्तक खरीदने वालों की क्रय-शक्ति हिन्दी पुस्तक खरीदने वाले से अधिक होती है। अंग्रेजी पुस्तक खरीदने वाले के लिए सौ रुपये की पुस्तक सामान्य बात है जबकि हिंदी खरीदार के लिए यह बड़ी बात है। हिन्दी में 20-25 रुपए से लेकर 50 रुपए तक की पुस्तक बिकने की संभावना कहीं अधिक होती है।

किन्तु आज हिन्दी का प्रकाशन व्यवसाय जिस स्थिति में है उसमें पुस्तकों का मूल्य एक रुपए प्रति पृष्ठ के आसपास रखा जाता है जो सामान्यतया लागत मूल्य का पांच गुना होता है। इस प्रकार आज हिंदी की कोई भी नई पुस्तक, जिसकी पृष्ठ संख्या 100 से 200 के बीच हो, 70-80 रुपए से लेकर डेढ़-दो सौ रुपए तक होती है। हिन्दी के किसी भी निजी खरीदार के लिए यह मूल्य बहुत अधिक है।

यह एक अजीब प्रकार का दुष्चक्र है। पुस्तकों के निजी खरीदार अधिक नहीं हैं, इसलिए मूल्य ज्यादा रखना पड़ता है। मूल्य अधिक है इसलिए निजी खरीदार अधिक नहीं हैं। परिणाम यह है कि हिन्दी पुस्तक व्यवसाय पुस्तकालयों और सरकार द्वारा थोक खरीद पर टिका हुआ है। हिन्दी का प्रकाशक निजी खरीदार की चिंता नहीं करता और निजी खरीदार महंगी पुस्तक के पास नहीं जाता। दोनों के बीच कोई अन्तर्संवाद अथवा अन्तर्संबंध नहीं है। दोनों की थोड़ी बहुत भेंट ऐसे पुस्तक मेलों में ही होती है।

कुछ वर्ष पूर्व तक ऐसे पुस्तक मेलों के साथ ही मंडप से बाहर खुले में एक बुक बाजार लगा करता था। इसमें ऐसी पुस्तकें आती थीं जो प्रकाशकों के गोदामों में वर्षों से अनबिकी पड़ी होती हैं। यह बात सभी जानते हैं कि कोई भी नई पुस्तक पहले-दूसरे वर्ष में ही जितनी बिके, बिक जाती हैं। बाद के वर्षों में उसकी बची हुई

प्रतियां बहुत धीरे-धीरे बिकती हैं और इस प्रकार प्रकाशक के गोदाम में अनबिकी पुस्तकों की गिनती बढ़ती चली जाती है। इसका परिणाम यह भी होता है कि या तो ये पुस्तकें दीमक का शिकार हो जाती हैं या रद्दी में वेच दी जाती हैं। बची हुई पुस्तकों के रख-रखाव पर होने वाला खर्च भी एक सामान्य प्रकाशक वहन नहीं कर पाता।

खुले पुस्तक-बाजार से कई लाभ होते थे। अनबिकी पुस्तके पहले छपी होने के कारण उनका मूल्य किसी नई छपी पुस्तक से काफी कम होता था। ऊपर से अपना गोदान खाली करने और उनके रख-रखाव पर होने वाले खर्च से बचने के लिए प्रकाशक उन पर 50 से 75 प्रतिशत तक की छूट भी दे देता था। अधिसंख्य पाठकों के लिए ये पुस्तकें नई की तरह ही होती थीं। कई बार तो ऐसी पुस्तकों के प्रति उसकी रुचि और लालसा नई पुस्तकों की अपेक्षा अधिक होती है। सस्ती मिलने के कारण लोग इन्हें खूब खरीदते थे। इस प्रकार दीमक का शिकार बनने अथवा रद्दी में विकने की बजाय वे लोगों के घरों में पहुंच जाती थीं। ऐसे पुस्तक बाज़ारों से मैंने स्वयं बहुत-सी महत्वपूर्ण और अनमोल पुस्तकें खरीदी हैं।

पश्चिमी देशों में तो नई पुस्तक साल भर में ही रिमेन्डर होकर फुटपाथ पर आ जाती है। अपने देश के कितने ही प्रकाशक और पुस्तक विक्रेता इन रिमेन्डरों को वहां से लाते हैं और देश के बड़े नगरों के फुटपाथों को उनसे पाट देते हैं।

कुछ वर्ष पहले तक मुंबई में धोबी तालाब के पास पुरानी पुस्तकों का एक पूरा-पक्का बाजार था। वर्षों पहले मैंने उसी बाज़ार से राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कितने ही लेखकों की किताबें बड़े सस्ते भाव में खरीदी थीं। मुझे पता नहीं कि अब वैसा बाजार वहां है या नहीं, किन्तु अभी चर्चगेट से फाउण्टेन जाने वाली सड़क के दोनों ओर पुस्तक बाजार (अधिकतर विदेशों से आने वाले रिमेन्डरों का) लगता है। मैं जब भी वहां जाता हूं, कुछ पुस्तकें अवश्य खरीदता हूं। पुस्तक का अच्छा होना और सस्ता होना, मेरे विचार का मुख्य केन्द्र होता है।

विश्व पुस्तक मेले के अवसर पर लगने वाला यह खुला बाजार कुछ बड़े प्रकाशकों, विशेषरूप से अंग्रेजी वालों को अच्छा नहीं लगता था। उनकी बिक्री पर इसका सीधा असर पड़ता था। उनके प्रभाव और दबाव के कारण उस बाजार का लगना बंद कर दिया। इस कदम से सबसे बड़ी हानि भारतीय भाषाओं के पाठकों की हुई।

कुछ वर्ष पूर्व पुस्तक-विमोचन समारोह में मैंने श्री मदन लाल खुराना (वे उस समय दिल्ली के मुख्यमंत्री थे) के सम्मुख यह सुझाव रखा था कि दिल्ली में भारतीय भाषाओं, विशेषरूप से हिन्दी, उर्दू और पंजाबी के लिए एक स्थायी पुस्तक बाज़ार को कनाट प्लेस या मंडी हाउस के क्षेत्र में उतारा जाए। वहां खोखेनुमा छोटी-छोटी दुकानें बनाई जाएं और वे रोजगार की तलाश में भटकते हुए युवकों को सस्ते किराए पर उपलब्ध कराई जाएं। इस बाजार की विशेषता ही यह हो कि इसमें प्रकाशकों के गोदामों में भरी हुई, पूर्व प्रकाशित पुस्तकों को उनके पुराने मूल्य पर बेचा जाएगा।

खुराना जी ने यह सुझाव मान लिया था और शीघ्र ही इस दिशा में कदम उठाने का आश्वासन भी दिया था किन्तु कुछ समय बाद वे मुख्यमंत्री पद से हट गए और

सारी योजना ठस्स हो गई।

मैं समझता हूं कि इस देश में पुस्तक बाजारों की योजना को व्यापक रूप दिया जाना चाहिए। प्रत्येक छोटे-बड़े नगर में रोजमर्रा की चीज़ों को बेचने के लिए अलग-अलग दिनों के साप्ताहिक बाज़ार लगते हैं। उनमें ऐसी पुस्तकों के बेचने की व्यवस्था की जानी चाहिए। दिल्ली तथा अन्य सभी नगरों में स्थायी न सही, कम-से-कम साप्ताहिक पुस्तक बाजारों की व्यवस्था करनी चाहिए। केन्द्र और राज्य सरकारें, नगर निगम और म्यूनिसिपल कमेटियां यदि इस ओर थोड़ी-सी भी रुचि लें तो यह काम बड़ी सरलता से आगे बढ़ सकता है। पाठकों की यह शिकायत दूर होगी कि पुस्तकें बहुत महंगी हैं। प्रचार इस प्रकार का करना चाहिए कि जिस प्रकार किसी भी घर में रेडियो, टेलीविजन, रेफ्रीजटर, पंखे और कूलर आवश्यक तत्व बन गए हैं उसी प्रकार अच्छी पुस्तकों की एक-दो आल्मारियां भी किसी भी परिवार की सांस्कृतिक रुचि की प्रतीक बन जाएं और स्टेट्स सिंबल का हिस्सा भी।

विश्व पुस्तक मेले में बेची जाने वाली पुस्तकों पर दी जाने वाली 10 प्रतिशत की छूट को नेशनल बुक ट्रस्ट ने अपने विज्ञापनों में बड़े जोर-शोर से प्रचारित किया, ऐसे जैसे इस लोभ में लाखों लोग पुस्तक मेले में खिंचे चले आएंगे। संभवतः उन्हें पता नहीं कि पुस्तकों पर दस प्रतिशत की छूट कोई आकर्षण नहीं जगाती, बल्कि कुछ संदर्भों में हास्यास्पद लगती है। नेशनल बुक ट्रस्ट की, सभी प्रकाशकों-विक्रेताओं के लिए यह शर्त थी कि वे इसी छूट पर अपनी पुस्तकें बेचेंगे किन्तु कुछ एक सरकार नियन्त्रित प्रकाशकों को छोड़कर शायद ही किसी ने इसका पालन किया हो। आम पाठक यह जानता है कि 20-25 प्रतिशत की छूट तो कोई भी प्रकाशक या विक्रेता बड़ी सरलता से दे देता है। इस समय हिन्दी पुस्तक व्यवसाय में ट्रेड डिस्काउंट 40 से 50 प्रतिशत तक है। पुस्तक मेले में लगभग सभी प्रकाशक और विक्रेता 20 से 50 प्रतिशत तक की छूट दे रहे थे किन्तु नेशनल बुक ट्रस्ट के बनाए नियमों के कारण वे इसे प्रचारित नहीं कर रहे थे।

पुस्तकों का व्यापक प्रचार-प्रसार करना है तो इस नियम को भी बदलना चाहिए। अंग्रेजी वाले नहीं मानते तो न सही, हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के भागीदारों को यह छूट दी जाने चाहिए कि वे 25-40 प्रतिशत तक की छूट मेले में आए पुस्तक-प्रेमियों को दे सकते हैं और इसे लिखकर वे अपने स्टालों पर लगा सकते हैं। यह करने से निश्चित ही पुस्तकों की बिक्री में बहुत बढ़ोतरी हो सकती है।

मेले की अवधि में दिल्ली के मौसम (कड़ाके की सर्दी और शीत ऋतु की वर्षा) के कारण-बहुत कम लोग इसमें आए। नौ दिनों की अवधि में दो शनिवार और दो रविवारों में ही कुछ भीड़ दिखाई दी। सोमवार से शुक्रवार तक तो मेले के बाहर बने जलपान गृहों में तो थोड़ी-बहुत रौनक थी, मेले के अंदर तो हज़ारों रुपए का किराया देकर स्टैंड या स्टाल लेने वाले प्रकाशक-विक्रेता तो हाथ पर हाथ धरे बैठे ही दिखाई दिए। मेरा अनुमान है कि भारतीय भाषाओं के मण्डप (हाल नं. 6) के बहुत कम भाग्यशाली भागीदारों ने इतना व्यवसाय किया होगा जिससे उनका मात्र खर्च भी पूरा

हुआ हो। अधिसंख्य प्रकाशकों के संतोष का कारण इतना ही होगा कि उनके द्वारा प्रकाशित पुस्तकों को बहुत से लोगों ने देखा, मेले में उनकी उपस्थिति और भागीदारी दर्ज हुई, कुछ प्रचार हुआ, कुछ संपर्क बने।

इसे स्वीकार करने में किसी को भी संकोच नहीं होगा कि हर दूसरे वर्ष लगने वाला विश्व पुस्तक मेला सांस्कृतिक क्षेत्र का अत्यन्त महत्वपूर्ण आयोजन है। जागरूक पाठकों को अब इसकी उत्साहपूर्ण प्रतीक्षा रहती है। इसलिए पुस्तक मेले को सिर्फ मेला ही नहीं रहना चाहिए, जहां लोग केवल पिकनिक मनाने के लिए जाएं। इस प्रकार के मेलों से उनकी सांस्कृतिक मानसिकता को समृद्धि मिलनी चाहिए और उनका पुस्तक-प्रेम बढ़ना चाहिए। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हिंदी सहित सभी भारतीय भाषाओं की ओर पाठकों की जितनी अधिक रुचि बढ़ेगी अंग्रेजी का प्रभाव उतना ही कम होगा।

क्या सचमुच विश्व पुस्तक मेला इस उद्देश्य की प्राप्ति में अपना पूरा योगदान दे रहा है?

(दैनिक जागरण, 24 फरवरी, 2000)

20
हिन्दी की स्वैच्छिक संस्थाएं

आज शासकीय स्तर पर हिन्दी की जो स्थिति है उससे हिन्दी प्रेमी संतुष्ट नहीं हैं। उनकी अपेक्षा थी कि स्वतन्त्र भारत में हिन्दी को राष्ट्रभाषा का गौरव प्राप्त होगा और न केवल यह साहित्य-सृजन की भाषा रहेगी, बल्कि भारत की, व्यापार और वाणिज्य की, उच्चतम मानव की, विज्ञान, तकनीक, दर्शन की, राजकाज की तथा अन्य सभी क्षेत्रों में सम्पूर्ण अभिव्यक्ति की भाषा बनकर उभरेगी। यद्यपि यह स्वप्न पूरी तरह साकार नहीं हुआ है, फिर भी इतना तो सच है ही कि वह केन्द्र सरकार की घोषित राजभाषा है। देश के अनेक राज्यों में वह पूरी तरह राजभाषा के रूप में स्वीकृत है। देश के बहुत बड़े भाग में वह प्राथमिक और माध्यमिक-उच्च माध्यमिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम है। देश के आधे से अधिक विश्वविद्यालयों में अनेक स्तरों पर वह उच्च शिक्षा देने के लिए प्रयोग में लाई जाती है। त्रिभाषा फार्मूले के अन्दर वह लगभग सारे देश में सभी विद्यार्थियों को, किसी-न-किसी स्तर पर पढ़ाई जाती है और देश भर में उसे समझने और बोलने की पात्रता लगभग सभी देशवासी रखते हैं।

किसी भी राष्ट्र के जीवन में 50-55 वर्ष का समय कुछ अधिक नहीं होता। फिर भारत जैसे विशाल और विविधता भरे देश में, जहां अनेक भाषाएं अपनी साहित्यिक-सांस्कृतिक परम्परा में हिन्दी से पीछे नहीं हैं, हिन्दी को जो स्थान प्राप्त है और जिस प्राप्ति की ओर वह मंथर गति से निरन्तर बढ़ रही है, वह भी कम महत्वपूर्ण बात नहीं है।

हिन्दी की जो वर्तमान स्थिति है उसकी प्राप्ति में सरकारी स्तर पर प्रयास और प्रोत्साहन तो मात्र आधी सदी पुराना है। इसका बहुत बड़ा श्रेय तो उन स्वयंसेवी संस्थाओं को जाता है जिन्होंने हिन्दी प्रचार-प्रसार के झंडे को पूरी शती में उठाए रखा, करोड़ों लोगों को हिन्दी पढ़ाई, हिन्दी को हिन्दी क्षेत्रों में तथा हिन्दीतर क्षेत्रों में लोकप्रिय

बनाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और आज भी निभा रही है। स्वैच्छिक संस्थाओं में संभवतः काशी की नागरी प्रचारिणी सबसे पुरानी है। बाबू श्याम सुंदर दास जैसे हिन्दी सेवियों ने सन् 1893 में इसकी स्थापना की थी। इस संस्था के उद्योग से उस समय सरकारी कचहरियों में हिन्दी का प्रवेश हुआ और अदालती आवेदन-पत्र तथा सम्मन आदि हिन्दी में लिखे जाने लगे। अनेक ग्रन्थ मालाएं, अनेक पुरस्कार और पदक, अनेक व्याख्यान मालाएं, हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, हिन्दी विश्वकोश जैसी अनेक उपलब्धियां उसके खाते में हैं। पिछले 30 वर्षों से अधिक समय से सभा द्वारा 'नागरी पत्रिका' का नियमित प्रकाश हो रहा है।

इस संदर्भ में दूसरी संस्था हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की चर्चा की जा सकती है। इसकी स्थापना 1910 ई. में हुई और लम्बे समय तक श्री पुरुषोत्तम दास टंडन इसके प्रमुख प्रेरणास्रोत रहे।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि उसके द्वारा आयोजित परीक्षाएं रही हैं। देश भर में फैले हुए हजारों युवा इसकी परीक्षाओं में बैठते रहे हैं। एक समय था कि सम्मेलन द्वारा प्रदत्त उपाधि विशारद और साहित्य रत्न को अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। इस संस्था के माध्यम से प्राचीन ग्रंथों और अनूदित ग्रंथों के प्रकाशन का काम भी अपने हाथों में लिया गया। मंगला प्रसाद पारितोषिक जैसा सम्मान एक समय साहित्यिक क्षेत्रों में अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता था।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, (वर्धा) की स्थापना 1936 में महात्मा गांधी ने की थी। इस संस्था से गांधी जी के अतिरिक्त, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, सुभाष चंद्र बोस, जवाहर लाल नेहरू, पुरुषोत्तम दास टंडन, आचार्य नरेन्द्र देव, काका कालेलकर जैसे अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तित्व जुड़े रहे। हिन्दीतर प्रदेशों में हिन्दी प्रचार की दृष्टि से इस संस्था द्वारा किया गया कार्य हिन्दी प्रचार की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार-प्रसार का कार्य हिन्दी के अखिल भारतीय स्वरूप की प्रतिष्ठा की दृष्टि से एक विराट आयोजन था। मद्रास (चेन्नई) में स्थापित दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा ने अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियों में भी हिन्दी के प्रचार की दृष्टि जिस समर्पित भाव से कार्य किया, वह आज भी एक आदर्श है।

स्वतन्त्रता के पूर्व इस देश में हिन्दी के प्रचार कार्य को सदैव ही राष्ट्रीय एकता से जोड़कर देखा गया। इसीलिए हिन्दी के प्रचार में लगी हुई संस्थाएं देश के सभी भागों में स्थापित हुई। वहां भी जहां हिन्दी को प्रथम भाषा अथवा मातृभाषा के रूप में स्वीकार किया जाता है और वहां भी जहां प्रदेश की भाषा को प्रथम स्थान प्राप्त है। कुछ वर्ष पूर्व पूरे देश में फैली ऐसी संस्थाओं का एक संघ गठित हुआ था—अखिल भारतीय हिन्दी संस्था संघ। मेरे सम्मुख जो सूची है उसमें निम्नलिखित संस्थाएं संघ की सदस्य संस्थाएं हैं—गुजरात विद्यापीठ (अहमदाबाद), मुम्बई हिन्दी विद्यापीठ मुंबई, महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार समिति (पुणे), सौराष्ट्र हिन्दी प्रचार समिति (राजकोट), दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा (चेन्नई), मैसूर हिन्दी प्रचार परिषद (बैंगलोर), कर्नाटक महिला

हिन्दी सेवा समिति (बैंगलोर), हिन्दी प्रचार सभा (हैदराबाद), राष्ट्रभाषा प्रचार समिति (वर्धा), हिन्दी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग), हिन्दुस्तानी प्रचार सभा (मुंबई), हिन्दी विद्यापीठ (देवधर), असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति (गुवाहाटी) मणिपुर, हिन्दी परिषद् (इंफाल), केरल हिन्दी प्रचार सभा (तिरुअनंतपुरम), उड़ीसा राष्ट्रभाषा परिषद (जगन्नाथ पुरी), इनके अतिरिक्त मध्य प्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति (भोपाल), दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन (दिल्ली), हिन्दी प्रचारिणी समिति (कानपुर) जैसी अनेक संस्थाएं हैं जो हिन्दी के उन्नयन की दृष्टि से लम्बे समय से काम करती आ रही हैं।

कानपुर की हिन्दी प्रचारिणी समिति से मेरा निजी अंतरंग परिचय है। 34 वर्ष पूर्व डॉ. श्याम नारायण पाण्डेय (जो डी.ए.वी. कालेज, कानपुर में मेरे सहपाठी थे) के उद्यम से इस संस्था की स्थापना हुई। आज यह संस्था विशाल रूप धारण कर चुकी है। बहुत व्यापक स्तर पर इस संस्था के साथ साहित्य और सार्वजनिक जीवन के साथ जुड़े गण्यमान्य व्यक्तियों का सहयोग इसे प्राप्त हुआ। साहित्य-प्रेमियों को अनेक अलंकरण, पुरस्कार और उपाधियां देने के अतिरिक्त शोध-छात्रों लिए इसने सभी प्रकार की सुविधाओं की व्यवस्था की है और अपने नवनिर्मित-नारायण दत्त तिवारी हिन्दी भवन को शोध केन्द्र के रूप में छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय कानपुर के साथ शोधकेन्द्र के रूप में स्वीकृत और सम्बद्ध कराया है।

हिन्दी की सभी स्वैच्छिक संस्थाओं के द्वारा अपनाए गए एक सकारात्मक दृष्टिकोण से हिन्दी के राष्ट्रीय स्वरूप के विकसित होने से बहुत सहायता प्राप्त हुई है। ये संस्थाएं केवल हिन्दी के प्रचार-प्रसार की बात नहीं करतीं, वरन् इस बात पर भी आग्रह करती हैं कि हिन्दी के साथ-ही सभी भारतीय भाषाओं का उन्नयन होना चाहिए। मेरा अनुभव यह है कि जब भी हिन्दी के साथ अन्य किसी भारतीय भाषा का टकराव उत्पन्न हुआ, जैसे दुर्भाग्य से तीन-चार दशक पहले पंजाब में उत्पन्न हो गया था, हिन्दी की बहुत अधिक हानि हुई। सभी भारतीय भाषाएं अपने-अपने क्षेत्रों की मातृभाषाएं हैं, उनमें से अधिसंख्य को वहां राजभाषा का दर्जा प्राप्त है। ये सभी भाषाएं हमारी राष्ट्रीय भाषाएं हैं और समान सम्मान और स्नेह की अधिकारिणी हैं। इनका आपस में कोई टकराव नहीं है। ये एक-दूसरे की पूरक हैं। यदि टकराव की कोई स्थिति है भी तो वह सभी भाषाओं की अंग्रेजी के साथ है। हिन्दी इन सभी भाषाओं की बड़ी बहन है और उसे अपना बड़प्पन बनाए रखते हुए इन सभी भाषाओं को साथ लेकर चलना है।

मुझे यह देखकर बहुत प्रसन्नता हुई थी कि हिन्दी प्रचारिणी समिति कानपुर के 1994 में आयोजित 28वें वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर आयोजित अखिल भारतीय साहित्यकार सम्मेलन के अवसर वहां उपस्थित हिन्दी भाषी विद्वानों के अतिरिक्त मलयालम भाषी डॉ. वी. पी. मोहम्मद कुंडा, मोत्तर, तेलुगू भाषी डॉ. पांडुरंग राव, कन्नड़ भाषी डॉ. सेतुमाधव राव भी थे।

सभी प्रकार की स्वैच्छिक संस्थाएं एक-दो व्यक्तियों के उत्साह और उद्यम का परिणाम होती हैं। इन व्यक्तियों के कारण अनेक लोग इन संस्थाओं से जुड़ जाते हैं

जिससे ऐसी संस्थाएं प्रफुल्लित होती हैं और अत्यन्त महत्वपूर्ण उपलब्धियां प्राप्त करती हैं।

किन्तु कालान्तर में ऐसी संस्थाएं अपनी चमक खोने लग जाती हैं और मात्र एक गतिहीन प्रक्रिया का अंक बन जाती हैं। हिन्दी की भी अनेक प्रतिष्ठित संस्थाओं के साथ यही हुआ है और हो रहा है। उदाहरण के लिए नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन की बात लें। क्या इन संस्थाओं की चमक, सक्रियता और उपयोगिता आज वही है जो कुछ दशक पहले थी? देश की अनेक स्वैच्छिक संस्थाओं की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है। अखिल भारतीय हिन्दी संस्था संघ की सक्रियता भी अब वही नहीं है, जिसे बाबू गंगाशरण सिंह और आंजनेय शर्मा जैसे व्यक्तित्वों के कुछ दशक पहले थी।

ऐसा क्यों होता है? क्यों इस देश की विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाली गैर सरकारी संस्थाएं अपने अंदर ही एक ऐसा तंत्र विकसित करने में कुछ समय बाद असमर्थ हो जाती हैं। जो इन संस्थाओं को एक पूरे स्वायत्त संस्थान के रूप में परिवर्तित कर दे, जैसा कि नई दिल्ली का इंडिया इंटरनेशनल सेंटर है?

ऐसी संस्थाओं का संकट दो कारणों से उत्पन्न होता और उभरता है। एक, जब किसी संस्था पर एक व्यक्ति, परिवार या कुछ लोगों का आधिपत्य स्थापित हो जाता है और वे संस्था को अपनी जेबी संस्था बनाकर सदा-सदा के लिए उस पर काबिज़ रहना चाहते हैं। दो, जब किसी संस्था के पदाधिकारियों को चुनने के लिए अपनाई गई चुनाव प्रणाली के कारण गुट बन जाते हैं और एक गुट दूसरे गुट को रिंग से बाहर फेंकने के लिए जापानी कुश्ती 'सुमो' की तरह ज़ोर-आजमाई शुरू कर देता है। ऐसी स्थिति में काविज गुट के सामने से संस्था के उद्देश्य, आदर्श और कार्य गौण हो जाते हैं और किसी-न-किसी प्रकार संस्था पर अधिकार जमाए रखना ही मुख्य उद्देश्य बन जाता है।

यदि हिन्दी प्रचार की स्वैच्छिक संस्थाएं इन व्याधियों से मुक्त होकर किसी स्वस्थ तंत्र को अपने अंदर विकसित करने में सफल हो जाएं तो सचमुच न केवल अपने उद्देश्यों की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकती हैं, बल्कि अपने आप को बड़े और स्थायी संस्थान में परिवर्तित कर सकती हैं।

इस संदर्भ में मैं एक और बात की ओर हिन्दी समुत्साहियों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं। विश्व हिन्दी सम्मेलन (लंदन) के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए मैंने लिखा था (23 दिसम्बर, 99 के जागरण में प्रकाशित) कि ऐसे सम्मेलनों को मुख्य रूप से भाषा सम्मेलन होना चाहिए, न कि साहित्य सम्मेलन। पिछले वर्ष लंदन में हुए विश्व हिंदी सम्मेलन में वर्चस्व साहित्यकारों (और कुछ पत्रकारों) का था। वहां हिन्दी प्रचार-प्रसार से संबंधित संस्थाओं का प्रतिनिधित्व नगण्य सा था। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति (वर्धा) के श्री मधुकर राव चौधरी और मध्य प्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के श्री कैलाश चंद्र पंत के अतिरिक्त अन्य किसी संस्था की भागीदारी वहां थी, ऐसा मुझे याद नहीं आता।

ऐसी स्वैच्छिक संस्थाओं में सक्रियता लाने, उन्हें गतिशील बनाए रखने, उनके द्वारा किए गए कार्यों के महत्व को पूरी तरह रेखांकित करने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि ऐसी संस्थाएं विश्व स्तर पर होने वाले हिन्दी के प्रचार-प्रसार के प्रयत्नों से न केवल पूरी तरह परिचित हों, बल्कि उसमें सक्रिय भागीदार बने।

(दैनिक जागरण, 16 मार्च, 2000)

21
हिन्दी की सेवा : अंग्रेजी से मेवा

कितना सार्थक है महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय विश्वविधालय

हिन्दी मानस पर अंग्रेजी किस बुरी तरह आई हुई है इसका सबसे ताजा उदाहरण महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय द्वारा अंग्रेजी में 300 से अधिक पृष्ठों की एक पत्रिका को HINDI नाम से प्रकाशित किया जाना है। इस विश्वविद्यालय की स्थापना भारत सरकार ने संसद द्वारा पारित एक विशेष कानून के द्वारा केन्द्रीय विश्वविद्यालय के रूप में की थी। इसका मुख्यालय वर्धा में होना चाहिए, किन्तु जब से इसकी स्थापना हुई है इसे दिल्ली से ही चलाया जा रहा है। इस विश्वविद्यालय का मुख्य लक्ष्य हिन्दी को एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में आगे बढ़ाने और विकसित करने का है।

इस पत्रिका को देखकर किसी के भी मन में यह प्रश्न बड़े सहज रूप से उठेगा कि क्या हिन्दी की कुछ रचनाओं को अंग्रेजी में अनूदित करके छपवा देने मात्र से हिन्दी को एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा होने का गौरव दिलाया जा सकता है? हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की सृजनात्मक कृतियों को अंग्रेजी (तथा अन्य अनेक विदेशी भाषाओं) में प्रकाशित करने का कार्य, व्यापक स्तर पर हो ही रहा है। साहित्य अकादमी ने सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य के इतिहास अंग्रेजी में प्रकाशित किए हैं। साहित्य अकादमी द्वारा ही भारत के असंख्य प्रबुद्ध लेखकों/विचारकों पर कितनी ही पुस्तकें भारतीय साहित्य के निर्माता शीर्षक पुस्तकमाला के अन्तर्गत अंग्रेजी में तथा अन्य भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होती हैं। यह संस्था 'इंडियन लिटरेचर' नाम की पत्रिका भी प्रकाशित करती है जिसमें हिन्दी सहित अन्य भारतीय भाषाओं के लेखकों की कृतियों के अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किए जाते हैं। नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया जैसी

राष्ट्रीय स्तर की संस्था भी यही काम करती है। निजी प्रकाशन क्षेत्र में भी ऐसे प्रकाशकों की कमी नहीं जिन्होंने हिन्दी के बहुत लेखकों की रचनाओं को अंग्रेजी में प्रकाशित किया है। कुछ वर्ष तक कौन-सा भारतीय लेखक ऐसा था जिसकी रचनाओं का अनुवाद और प्रकाशन रूसी भाषा में न किया गया हो।

जब ऐसा काम इस देश में व्यापक स्तर पर हो ही रहा है तो लाखों रुपए खर्च करके हिन्दी के प्रोत्साहन और उन्नयन के लिए बने किसी विश्वविद्यालय को, इधर-उधर की चीज़ें बटोरकर, ऐसी पत्रिका को अंग्रेजी में प्रकाशित करने की जरूरत क्यों महसूस हुई।

महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय को संसार की एक अनोखी संस्था कहा जा सकता है। इस विश्वविद्यालय की स्थापना हुए अनेक वर्ष हो चुके हैं किन्तु अभी तक उसने अपने गन्तव्य मुख्यालय, वर्धा की ओर एक कदम भी नहीं बढ़ाया है। सारा काम-काज नई दिल्ली के वातानुकूलित वातावरण से ही किया जा रहा है। इस विश्वविद्यालय का न कोई पाठ्यक्रम है, न कोई संकाय है, न उसमें अध्यापक हैं, न विद्यार्थी हैं और न ही इसका कोई परिसर है। मई 1998 में इसके कुलपति श्री अशोक वाजपेयी ने तीस पृष्ठों से अधिक की एक प्रश्नावलि कुछ लोगों के पास भेजी थी। उसमें कहा गया था कि–"यह विश्वविद्यालय इस शताब्दी के लगभग अन्त पर स्थापित हो रहा है और एक नई शताब्दी के आरम्भ होने पर सक्रिय होने जा रहा है। उसमें साहित्य, भाषा, संस्कृति और अनुवाद-भाषान्तर पर केंद्रित चार संस्थानों की स्थापना प्रस्तावित है।"

इन वर्षों में इस विश्वविद्यालय ने इस दिशा में कितनी सक्रियता दिखाई है, मैं नहीं जानता। हां, नई शती में यह सक्रियता अवश्य दिखी है कि विश्वविद्यालय ने अपने लिए आवंटित विशाल धनराशि का पूरी तरह दुरुपयोग करते हुए अंग्रेजी में एक ऐसा पोथन्ना अवश्य प्रकाशित कर दिया है, जिसमें कहीं कोई नई दृष्टि या मौलिकता नहीं दृष्टिगत होती और न ही यह कार्य किसी विश्वविद्यालय के कार्य-क्षेत्र में आता हुआ दिखाई देता है।

स्वतंत्रता की आधी से अधिक सदी बीत जाने के बावजूद भारतीय मानस, विशेष रूप से हिन्दी मानस, अंग्रेजी से बुरी तरह आक्रान्त है। स्थिति यह है कि कोई भी व्यक्ति हिन्दी अथवा अन्य किसी भी भारतीय भाषा में कितना ही निष्णात क्यों न हो, यदि वह अंग्रेजी नहीं जानता है तो वह विधिवत समाज में अनपढ़ माना जाता है। विडंबना यह है कि वह स्वयं भी अपने आपको ऐसा समझता है। इसलिए हिन्दी के अच्छे-अच्छे लेखक, आलोचक और शिक्षाविद् सदा इस कुंठा से ग्रस्त रहते हैं कि कहीं कोई यह न समझ लें कि उन्हें अंग्रेजी नहीं आती।

किन्तु ऐसी कुंठा के शिकार वे लोग नहीं हैं, जो यह कहते हैं कि उन्हें सिर्फ अंग्रेजी आती है, हिन्दी न वे ठीक तरह बोल सकते हैं, न पढ़ सकते हैं। घर में वे अपने बच्चों से भी अंग्रेजी में बातचीत करते हैं। हिन्दी केवल नौकरों, मजदूरों और बाजार से हल्की-फुल्की चीज़ें खरीदते समय प्रयोग में आने वाली भाषा है। मेरे एक

मित्र हैं वे बड़ी सहजता से बताते हैं कि उनके घर पर नित्य चार अंग्रेजी अखबार आते हैं। नौकरों-चाकरों के पढ़ने के लिए वे हिन्दी का भी एक अखबार मंगवाते हैं।

इस संदर्भ में मुझे एक प्रसंग याद आता है। कई वर्ष पहले की बात है। आकाशवाणी के महानिदेशालय ने एक सलाह समिति गठित की जिसका कार्य यह था कि आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से हिन्दी के जो कार्यक्रम प्रसारित होते हैं, उनकी समीक्षा करना और यह सुझाव देना कि उन्हें और अच्छा किस तरह बनाया जा सकता है। संयोग से मैं भी उस समिति का एक सदस्य था।

समिति की पहली बैठक आकाशवाणी भवन नई दिल्ली में हुई। बैठक की अध्यक्षता आकाशवाणी के महानिदेशक कर रहे थे, जो किसी अहिन्दी-भाषी प्रदेश के थे, किन्तु हिन्दी बहुत अच्छी तरह समझते बोलते थे। उन्होंने अपना स्वागत भाषण अंग्रेजी में दिया, क्योंकि इस देश में हर ब्यूरोक्रेट यही करता है। उन्होंने समिति के सदस्यों से अनुरोध किया कि वे इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करें और कार्यक्रमों को बेहतर बनाने की दृष्टि से अपने सुझाव दें।

समिति के सभी सदस्य हिन्दी के जाने-माने साहित्यकार और प्राध्यापक थे। किन्तु जैसे सभी में होड़-सी लग गई। एक-एक करके सभी ने अंग्रेजी में बोलना शुरू किया। एक बात तो यह कि सभी महानिदेशक को अपनी (जैसी-तैसी) अंग्रेजी से प्रभावित करना चाहते थे, साथ ही समिति के अन्य सदस्यों पर यह रोब गालिब करना चाहते थे कि यह न समझना कि मैं सिर्फ हिन्दी का (टटपुंजिया) लेखक या अध्यापक हूं। मुझे भी अंग्रेजी आती है किन्तु जब मैंने वहां हिन्दी में बोलना प्रारम्भ किया तो वातावरण बदल गया। महानिदेशक भी हिन्दी में बोलने लगे और फिर समिति के अन्य सदस्य भी।

रेल के सफर में, सरकारी दफ्तरों में, पांच सितारा होटलों में, अमीर तबके के सामाजिक समारोहों में—सभी स्थानों पर अंग्रेजी की तूती बोलती दिखाई देती है यदि आप द्वितीय श्रेणी में यात्रा कर रहे हैं तो आप लोगों को किसी भारतीय भाषा में बोलते पाएंगे, किन्तु जैसे ही शताब्दी, राजधानी अथवा रेल के किसी वातानुकूलित डिब्बे में प्रवेश करेंगे, लोग अंग्रेजी का पल्ला पकड़ लेंगे। यदि अपनी सीट अथवा बर्थ सम्बन्धी कोई जानकारी उन्हें चाहिए तो वे साथी यात्रियों अथवा रेल कर्मचारियों से अंग्रेजी में ही पूछताछ करेंगे।

हमारी मानसिकता में यह बात धंसी हुई है कि हिन्दी तो आम लोगों की बोलचाल की भाषा है। पढ़े-लिखे और अभिजात वर्ग की भाषा तो सिर्फ अंग्रेजी है। मुझे यदि इस वर्ग में अपनी जगह बनानी है तो अंग्रेजी की बैसाखी का सहारा लेना ही पड़ेगा। प्रातः चलने वाली शताब्दी गाड़ी में सभी यात्रियों को पानी की एक बोतल के साथ ही एक-एक अखबार भी दिया जाता है। यहां भी वही मानसिकता काम करती दिखाई देती है। एक डिब्बे में यदि 60 सीटें हैं तो 55 यात्री अंग्रेजी का अख़बार लेंगे। जो लोग सफर के दौरान किसी पुस्तक अथवा पत्रिका को पढ़ते दिखाई देते हैं, उनके हाथों में भी प्रायः अंग्रेजी की पुस्तक या पत्रिका होती है।

साधारण व्यक्तियों में यदि यह प्रवृत्ति हो तो अधिक आश्चर्य नहीं होता, किन्तु यदि हिन्दी का लेखक, प्राध्यापक और विचारक भी इस भावना से ग्रस्त हो तो आश्चर्य भी होता है और खेद भी।

अपनी भाषाओं को लेकर इस हीनभावना को हम कब तक ढोते रहेंगे? यह तर्क कोई महत्व नहीं रखता कि अंग्रेजी आज विश्व भाषा है और उसके बिना हमारा काम नहीं चल सकता। यह तर्क अपनी हीनता और विश्वास की कमी को छिपाने की एक ढाल मात्र है। पिछले दिनों जब अमरीकी राष्ट्रपति बिल क्लिंटन भारत आए थे, तो उनके स्वागत में संसद के केन्द्रीय कक्ष में सांसदों के सम्मुख प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने हिन्दी में भाषण दिया था। बाद में, इस संदर्भ में उनकी यह टिप्पणी भी बहुत सही थी कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की आम सभा में हिन्दी में भाषण देना सरल है, किन्तु इस देश में, संसद के केन्द्रीय कक्ष में, हिन्दी में भाषण देना बहुत कठिन है।

हिन्दी को यदि एक प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में क्षमता और मान्यता प्राप्त करनी है, जो महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय का महत् लक्ष्य है, तो क्या उसे अंग्रेजी की बैसाखी का सहारा लेना चाहिए? हिन्दी को यह क्षमता और योग्यता उसकी अपनी समृद्धि और व्यापक स्वीकृति से प्राप्त होगी न कि इस विश्वविद्यालय द्वारा अंग्रेजी में भारी-भरकम किसी पत्रिका को निकाल कर।

वर्धा में स्थापित किए जाने वाले इस विश्वविद्यालय (जो तीन वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद भी अभी सिर्फ कागजों पर ही है) के प्रथम कुलपति (और पुराने ब्यूरोक्रेट) श्री अशोक वाजपेयी का दावा है कि संस्कृति के लिए एक स्वतंत्र-समग्र संस्थान किसी विश्वविद्यालय में शायद पहली बार होगा। इसके लिए उन्हें यह आवश्यक लगा कि इससे पहले कि एक नया भाषायी विश्वविद्यालय अपने स्वरूप और इन विषयों के पाठ्यक्रम आदि निर्धारित करे, विशेषज्ञों के बीच खुला और गहरा विचार-विमर्श हो जिसमें अब तक के अनुभवों का आकलन और ऐसे परिवर्तनों का रूपाकार उभर सके जो ज्ञान, संचार और सम्प्रेषण की नई विधियों और सुविधाओं को ध्यान में रखकर हिन्दी भाषा, साहित्य, अनुवाद और संस्कृति को पढ़ाने, शोध को अपनी जातीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका निभाने के लिए तैयार करने में मदद कर सके।

ऐसी बड़ी-बड़ी घोषणाएं तो बड़ी मोहक और आकर्षक लगती हैं, किन्तु व्यवहार में इनका रूपान्तरण कहां और किस प्रकार होता है? गत तीन वर्षों में इस हिन्दी विश्वविद्यालय ने अपनी उद्घोषणाओं की प्राप्ति की दिशा में कोई सार्थक कदम नहीं उठाया। यहां तक कि वह वर्धा में अपना कोई कार्यालय भी स्थापित नहीं कर सका—पाठ्यक्रम बनाना, विश्वविद्यालय में अकादमिक संसार की रचना करना, शिक्षकों और शोधार्थियों को आमंत्रित करना, उन्हें सक्रिय रूप से उस काम में लगाना जो इस विश्वविद्यालय का लक्ष्य है—बहुत दूर की बात है।

हिन्दी के बहुत लेखकों के मन में एक भावना दबे रूप से काम करती रहती है—काश, वे भी अंग्रेजी के लेखक होते। अंग्रेजी में लिखने वालों की प्रसिद्धि और उनकी

पुस्तकों की कथित रूप से वहुत बड़ी संख्या में बिक्री उन्हें निरन्तर कुंठित करती रहती है। महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय भी इस कुंठा से बुरी तरह ग्रस्त दिखाई देते हैं। उन्हें शायद यह लगता है कि हिन्दी विश्वविद्यालय का कुलपति होना कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात तो यह है कि अंग्रेजी की दुनिया उनका कितना लोहा मानती है। ऐसे लोग यह समझते हैं कि सेवा करने के लिए तो हिन्दी ठीक है, असली मेवा तो अंग्रेजी दाँ होकर ही मिलती है।

(दैनिक जागरण, 27 अप्रैल, 2000)

22

भारतीय भाषाओं पर अंग्रेजी का वर्चस्व कब तक बना रहेगा?

इस देश के संविधान द्वारा भारत की 18 भाषाओं को राष्ट्रीय भाषाएं होने की मान्यता प्राप्त है। साहित्य अकादमी देश की 22 भाषाओं को उनमें प्रकाशित उत्तम कृतियों के लिए पुरस्कार देती है। स्पष्ट है कि हम इस देश के बहुभाषी चरित्र को केवल स्वीकार ही नहीं करते हैं, उसे पूरी मान्यता देते हैं।

किन्तु क्या भारतीय भाषाओं में किसी प्रकार का आपसी संवाद है? साहित्य अकादमी इन सभी भाषाओं के प्रमुख लेखकों की पुस्तकें विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित करती हैं नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया की आदान-प्रदान योजना के अन्तर्गत भारतीय भाषाओं की चुनी हुई कृतियों के अनुवाद अलग-अलग भाषाओं में प्रकाशित किए जाते हैं, किन्तु यह सब होते हुए भी, मैं समझता हूं कि भारतीय भाषाओं का आपसी संवाद बहुत कम है।

एक उदाहरण लें। दो वर्ष पूर्व लंदन में छठा विश्व हिन्दी सम्मेलन हुआ था, जिसमें भारत सहित संसार के अनेक देशों के हिन्दी लेखक और हिन्दी प्रेमी आए थे। मैं जानता हूं कि लंदन में पंजाबी और उर्दू लेखकों की बहुत बड़ी संख्या है। गुजराती, मराठी, बांग्ला तथा दक्षिण भारत की अनेक भाषाओं के लेखक भी वहां है इन भाषाओं में वहां पत्र-पत्रिकाएं भी प्रकाशित होती हैं जो वहां बड़ी लोकप्रिय है। किन्तु विश्व हिन्दी सम्मेलन में हिन्दीतर भाषी लेखकों की सहभागिता नहीं के बराबर थी।

मैंने अनेक विश्व पंजाबी सम्मेलनों में भी भाग लिया है। वहां की स्थिति भी लगभग ऐसी ही थी! अन्य किसी भारतीय भाषा के लेखक वहां न तो आमंत्रित होते हैं, न आते हैं।

दिल्ली में राज्य सरकार द्वारा पांच भाषाओं की अकादमियां स्थापित हैं—हिन्दी, पंजाबी, उर्दू, संस्कृत और सिंधी। इन अकादमियों को राज्य सरकार की ओर से उनकी गतिविधियों के संचालन के लिए बड़ी धनराशि प्राप्त होती है। सभी अकादमियों का पदेन अध्यक्ष राज्य का मुख्यमंत्री होता/होती है। एक ही नगर में होते हुए भी इन अकादमियों का आपस में तालमेल, आदान-प्रदान अथवा संवाद बहुत ही कम है। हर अकादमी के अपने पदाधिकारी हैं, अपनी योजनाएं हैं, अपने कार्यक्रम हैं और इन कार्यक्रमों में आमंत्रित किए जाने वाले लोगों की अपनी-अपनी सूचियां हैं।

कुछ समय पूर्व मानव संसाधन विकास मंत्री डॉ. मुरली मनोहर जोशी ने भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल सभी भारतीय भाषाओं को बढ़ावा देने के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने के लिए ऐसी भाषाओं के कुछ विद्वानों की एक बैठक बुलाई थी। उस बैठक में भी मैंने यह सुझाव दिया था कि सभी को अपनी भाषाओं को अपने ढंग से प्रगति और समृद्धि का प्रयास तो करना ही चाहिए, किन्तु इनके लिए एक ऐसा सामूहिक मंच भी विकसित होना चाहिए जो केवल इनको समन्वित ढंग से बढ़ावा ही न दे, इनके आपसी संवाद को सुदृढ़ करे और इनमें एक बड़े परिवार का अभिन्न अंग होने का भाव विकसित करे। बाद में मैंने इस सम्बन्ध में अपने लिखित सुझाव भी मंत्रालय को भेजे थे।

मेरा विचार है कि जैसे केन्द्र सरकार ने महिलाओं, अल्पसंख्यकों, पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियों और जनजातियों, मानवाधिकारों के हित-रक्षण के लिए राष्ट्रीय स्तर पर आयोग गठित किए है (पिछले वर्ष ही केन्द्र सरकार ने देश में बढ़ती हुई जनसंख्या पर विचार करने के लिए एक राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग भी बनाया था) उसी प्रकार सभी भारतीय भाषाओं के विकास, उनके आपसी संवाद और आदान-प्रदान, राष्ट्रीय और राज्य स्तर पर इनकी व्यापक स्वीकृति के लिए 'राष्ट्रीय भाषा आयोग' गठित करना चाहिए।

अभी तक भारतीय भाषाओं के लेखकों तथा अन्य विचारकों को जितनी संगोष्ठियां विभिन्न सरकारी, अर्द्ध-सरकारी अथवा निजी संस्थानों द्वारा आयोजित की जाती हैं, उन सभी के मध्य सामान्यतः विचार-विमर्श, भाषण और संवाद का माध्यम अंग्रेजी होती है। यह दायित्व प्रस्तावित 'राष्ट्रीय भाषा आयोग' का होना चाहिए कि वह सभी भाषाओं के मध्य अत्यन्त सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में कार्य-व्यवहार के रूप में हिन्दी के प्रयोग को प्रोत्साहित करे, जिससे कुछ समय में ही हिन्दी इस देश की सही अर्थों में सम्पर्क भाषा के रूप में उभर सके। यह भी विडंबना ही है कि इस देश में कोई भी भाषा बोलने वाला सामान्यजन सम्पूर्ण देश में सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी का प्रयोग करता है, किन्तु जहां-कहीं दो-चार पढ़े-लिखे, बुद्धिजीवी, संस्कृति-कर्मी मिल जाते हैं, वे आपसी विचार-विमर्श के लिए अंग्रेजी को अपना माध्यम बना लेते हैं।

भारतीय भाषाओं का एक सार्थक संगम विकसित करने का काम वर्धा का महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय बड़े प्रभावी ढंग से कर सकता था, किन्तु स्पष्ट दृष्टि और संकल्प-शक्ति के अभाव में इस विश्वविद्यालय ने अपनी पांच वर्ष

की आयु में हवाई योजनाओं के बनाने और अंधाधुंध धन खर्च करने के अतिरिक्त कोई भी अर्थपूर्ण काम नहीं किया। मैं समझता हूं कि प्रारंभिक सोच को चाहे किसी रूप में परिकल्पित किया गया हो, आज इसे भारतीय भाषाओं के एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के रूप में पुनर्गठित करने की आवश्यकता है। वर्धा में स्थापित यह विश्वविद्यालय सही अर्थों में भारतीय भाषाओं का प्रभावी संगम बन सकता है और वहां सभी भाषाओं के मध्य हिन्दी को संवाद का माध्यम बनाने की दिशा में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकता है।

सभी भारतीय भाषाओं के मध्य हिन्दी गत दशकों में बहुत सम्मानपूर्ण स्थिति क्यों नहीं बना पाई है, यह भी खुले मन से हम सभी को सोचना चाहिए। मेरा मानना है कि हिन्दी के समुत्साहियों को ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जिससे अन्य किसी भी भाषा से उसका दुराव, प्रतिस्पर्धा अथवा विरोध-भाव विकसित हो जाए। पंजाब की मिसाल हमारे सामने है। वहां हिन्दी के समर्थकों और समुत्साहियों ने अपनी मातृभाषा को नकार कर हिन्दी को मातृभाषा घोषित करने का जो आग्रह किया था उससे हिन्दी-पंजाबी के मध्य कटुता उभर आई और उससे हिन्दी को बड़ा नुकसान उठाना पड़ा।

देश के कई भागों में आज भी हिन्दी का विरोध विद्यमान है। नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, द्वारा एक प्रकाशित पत्रिका 'नागरी पत्रिका' के मार्च-मई 2000 के अंक में प्रो. राजाराम मेहरोत्रा का एक लेख प्रकाशित हुआ–'कतिपय तमिलों की दृष्टि में हिन्दी।' प्रो. मेहरोत्रा ने अपने लेख में बर्लिन और न्यूयार्क से एक साथ प्रकाशित 'इंटरनेशनल जर्नल ऑफ सोशियोलाजी ऑफ लैंग्वेज' में हाल में छपे सुमधि रामास्वामी के एक लेख का हवाला दिया है, जिसमें हिन्दी के लिए–'राक्षसी, दासी और वेश्या शब्दों का प्रयोग किया गया है।'

तमिल भाषियों के मन में हिन्दी के प्रति कितनी घृणा उपजाई गई है, इसका अनुमान प्रो. मेहरोत्रा के इस लेख को पढ़कर ही जाना जा सकता है। मैं मानता हूं कि इस बात का मूल कारण संवादहीनता है। तमिल प्रदेश में आपको, इस सम्पूर्ण विरोध ा के बावजूद ऐसे व्यक्ति बड़ी संख्या में मिल जाएगें जिन्होंने हिन्दी का विधिवत अध्ययन किया है, प्राध्यापन किया है और लेखन कार्य किया है। हिन्दी में ऐसे कितने लोग हैं जिन्होंने तमिल भाषा में पूरी सिद्धता अर्जित की हो। दिल्ली में विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक डॉ. रवीन्द्र कुमार सेठ (मूलतः पंजाबी भाषी) ने बड़े श्रम और अध्यावसाय से तमिल भाषा का केवल ज्ञान ही नहीं प्राप्त किया, उसमें अपनी गहरी पैठ बनाई और हिन्दी तथा तमिल भाषाओं के साहित्यकारों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया है। ऐसे उदाहरण विरल हैं।

भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय का सभी स्कूली विद्यार्थियों के लिए बनाया गया 'त्रिभाषा फार्मूला' एक बड़ी सार्थक योजना है। इस फार्मूले के तहत आठवीं कक्षा तक सभी विद्यार्थियों को तीन भाषाएं पढ़नी होती हैं–हिन्दी, अंग्रेजी और अपनी मातृभाषा। जिन क्षेत्रों में हिन्दी मातृभाषा के रूप में स्वीकृत है वहां सभी विद्यार्थियों

को हिन्दी (मातृभाषा), अंग्रेजी तथा एक आधुनिक भारतीय भाषा पढ़नी चाहिए। भारत के अधिसंख्य राज्यों ने इस फार्मूले को स्वीकार किया है—उदाहरण के लिए गुजरात में प्रत्येक विद्यार्थी गुजराती, हिन्दी और अंग्रेजी पढ़ता है।

किन्तु हिन्दी भाषी राज्यों में इस फार्मूले को कभी सही ढंग से नहीं अपनाया गया। यहां हिन्दी और अंग्रेजी के साथ तीसरी भाषा के रूप में संस्कृत पढ़ने की सुविधा दे दी गई है। संस्कृत हमारी अमूल्य सांस्कृतिक थाती है किन्तु वह आधुनिक भारतीय भाषा नहीं है। देश भर में वह सामान्य जनता के बीच कहीं भी बोली और समझी नहीं जाती है। वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दी भाषी प्रदेशों में अधिसंख्य विद्यार्थी बांग्ला, गुजराती, मराठी, तमिल अथवा तेलुगू जैसी आधुनिक भारतीय भाषा नहीं पढ़ते। थोड़ी-सी संस्कृत रट-रटाकर परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते हैं।

एक क्लासिकल भाषा के रूप में संस्कृत पढ़ना, उसमें पूरी सिद्धता प्राप्त करना अच्छी बात है किन्तु उसकी आड़ में किसी आधुनिक भारतीय भाषा की उपेक्षा करना ठीक नहीं है। इसके कारण हिन्दोतर प्रदेशों में शंकाएं जन्म लेती हैं और ये शंकाएं कालान्तर में विरोध में परिणत हो जाती हैं।

इस देश में हिन्दी सहित सभी भारतीय भाषाएं जब तक आपस में अच्छी समझ पैदा करते हुए और गहरा संवाद विकसित करते हुए मिल-जुलकर प्रयास नहीं करेंगी, अंग्रेजी का वर्चस्व बना ही रहेगा। इस देश में ऐसे तत्वों की कमी नहीं है जो चाहते हैं कि भारतीय भाषाओं के मध्य दुराव बना रहे, वे एक-दूसरे की प्रति शंकालु बनी रहें, एक-दूसरे का विरोध करती रहें जिससे, अंग्रेज़ी का दबदबा यथावत् बना रहे। ऐसे तत्व अपनी मंशा में आज तक पूरी तरह सफल हुए हैं और यदि भारतीय भाषाओं के समुत्साही आपस में इसी प्रकार संवादहीनता की स्थिति लेकर चलते रहे तो अंग्रेजी-समर्थक तत्व लगातार सफल होते रहेंगे।

(दैनिक जागरण, 22 जून, 2000)

23

प्रभु सत्तावाद के विरुद्ध रचित साहित्य

संसार के किसी भी भाग पर प्रभुसत्तावाद की छाया कभी किसी धर्ममत के माध्यम से पड़ती है, कभी देश के माध्यम से, कभी विचारधारा के माध्यम से, कभी किसी दल के माध्यम से और कभी किसी व्यक्ति के माध्यम से। धर्मगत, देशगत, दलगत या व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएं व्यक्ति या व्यक्तियों की मानसिकता में ऐसे बीज अंकुरित कर देती हैं जब उसे या उन्हें लगने लगता है कि उनकी स्थिति विशिष्टजन की स्थिति है, उनका अनिर्णय ही सही और अंतिम निर्णय है, उनके सभी कार्य उचित कार्य हैं, उनकी इच्छा ही उनकी आज्ञा है और उनकी आज्ञा आलंघ्य है। मनुष्य को कैसा जीवन दिया जाए, मनुष्य कहां और कैसा जीवन जिए; जिए या न भी जिएं। इस बात का निर्णय भी वही करते हैं। प्रभुसत्तावादी मानते हैं कि राष्ट्र की आत्मा का अवतार दल तथा अन्ततोगत्वा, अधिनायक के रूप में होता है। अधिनायक का अवतरण भी बड़ा रहस्यमय होता है। कहा जाता है कि अधिनायक स्वयमेव प्रकट हो जाता है। तिब्बत के प्राचीन लामाओं की तरह वह अपने चिह्नों से पहचान में आ जाता है, अंतर इतना ही है कि लामाओं में शारीरिक चिह्न होते हैं जबकि अधिनायक में मानसिक और आध्यात्मिक। अधिनायक अवतरित होकर अपने सहायक चुनता है। इस प्रकार शक्ति ऊपर से नीचे की ओर प्रवाहित होती है। अधिनायक को प्रभुत्व की अपरिमेय वासना होती है और वह अपनी बलवती-इच्छा शक्ति से पहचाना जाता है। इच्छा शक्ति को वह सर्वश्रेष्ठ मानव गुण मानता है। उसके अनुसार इच्छा-शक्ति ही इतिहास की दिशा निर्धारण करती है।

अपने साहित्य में प्रभुसत्तावादी प्रवृत्तियों के विरोध की कोई पुष्ट परम्परा नहीं है। मध्ययुग में संत कबीर और गुरु नानक की कविता में इस प्रवृत्ति के विरोध का

स्वर बहुत मुखर है। जब बाबर ने इस देश पर आक्रमण कर निरीह जनता को पीड़ित करना प्रारम्भ किया तो उनकी आत्मा कराह उठी। अपने एक शिष्य को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा था—हे लालो, बाबर पाप की बारात लेकर काबुल से चढ़ आया है और जबरदस्ती इस देश की सम्मान रूपी कन्या का दान मांग रहा है। शर्म और धर्म दोनों ही छिप गए हैं और झूठ का बोलबाला चारों तरफ है। काजियों और ब्राह्मणों को कोई पूछता नहीं। अब उनके स्थान पर विवाह कार्य शैतान सम्पन्न करा रहा है। उन्हीं के शब्दों में—

पाप की जंज लै काबलहु धाइया,
जोरी मंगै दान वे लालो।
सरम धरम दुउ छवि खलोए,
कुड़ फिरै परधान वे लालो।।
काजीआं बामणी की गलि थकी,
आगदु पड़ै सैतान वे लालो।

ब्रिटिश प्रभुसत्ता के विरुद्ध रचे गए साहित्य का अभी सही मूल्यांकन होना शेष है। ऐसा साहित्य भारत की सभी भाषाओं में लिखा गया था और इस देश में जनान्दोलन की गति को तीव्र करने में उसका महत्वपूर्ण योगदान था। सुप्रसिद्ध कांतिकारी राम प्रसाद बिस्मिल की रचनाएं हर जबान पर क्रांति का सन्देश उगाती घूम रही थीं—

सरफ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।
देखना है जोर कितना बाजु-ए-कातिल में है।।

देश पर कुरबान होते जाओ, तुम ऐ हिंदियो
ज़िंदगी का राज़ मुज़मिर खंजरे क़ातिल में है।।

मजाज़ की एक नज़्म में ब्रिटिश प्रभुसत्तावादियों को सम्बोधित करते हुए कहा गया था—

मुसाफिर भाग वक़्ते बेकसी है,।
तेरे सिर पर अजल मंडला रही है।।

और जांनिसार 'अख़्तर' ने उन लोगों का गीत गाया था जो आज़ादी के लिए अपनी जानें दे रहे थे—

मैं उनके गीत गाता हूं, मैं उनके गीत गाता हूं,
जो शाने पर बग़ावत का अलम लेकर निकलते हैं।
किसी ज़ालिम हुकूमत के धड़कते दिल पे चलते हैं।।

श्री माखनलाल चतुर्वेदी की एक कविता की कुछ पंक्तियां मुझे याद आ गई

हैं जिसमें उन्होंने देश की युवा शक्ति का आह्वान किया था–

द्वार बलि का खोल, चल, भूडोल कर दें,
एक हिमगिरि, एक सिर का मोल कर दें।
मसलकर अपने इरादों सी उनकर।
दो हथेली हैं कि पृथ्वी गोल कर दें।।

स्वतन्त्रता से पूर्व ब्रिटिश प्रभुसत्ता के विरोध में रचित साहित्य में रामधारी सिंह दिनकर की रचनाएं अपनी अलग पहचान रखती हैं। उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से राष्ट्रीय जागरण और सत्ता-प्रतिरोध को एक नई वाणी दी थी। 1933 में लिखी गई उनकी कविता 'हिमालय' लम्बे समय तक असंख्य लोगों को प्रेरित और प्रोत्साहित करती रही जिसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं–

रे, रोक युधिष्ठिर को न यहां
जाने दे उनको स्वर्ग धीर।
पर फिरा हमें गांडीव-गदा,
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।।

स्वाधीन भारत में यदा-कदा ऐसी स्थितियों का आभास होता रहा कि सत्ता प्राप्त लोग कहीं जनतांत्रिक मूल्यों को भुलाकर प्रभुसत्ता की ओर बढ़ना न शुरू कर दें। जनतंत्र में जनता ही सर्वोच्च है, जनता ही प्रभुसत्ता सम्पन्न होती है और जनता की इच्छा ही राज्य की इच्छा होती है, परन्तु कई बार जनता के नाम पर ही जनतंत्र का हनन कर दिया जाता है और कुछ व्यक्ति जनता के नाम पर ही सारी प्रभुसत्ता हथिया लेते हैं। दिनकर जी ने 1950 में लिखी एक कविता 'जनतन्त्र का जन्म' में इस प्रवृत्ति के विरुद्ध बड़ी सार्थक चेतावनी दी थी–

सदियों की ठंडी-बुझी राख सुगबुगा उठी,
मिट्टी सोने का ताज पहन इठलाती है।
दो राह, समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।।

हुंकारों से महलों की नींव उखड़ जाती,
सांसों के बल से ताज हवा में उड़ता है।
जनता की रोके राह, समय में ताव कहां?
वह जिधर चाहती, काल उधर ही मुड़ता है।

जिस संकट की ओर दिनकर जी ने संकेत किया था, वह संकट अपनी पूरी विकरालता के साथ 26 जून, 1975 को इस देश के सम्मुख आ खड़ा हुआ। हमें लगा, इस देश की धरती पर अधिनायकवाद अवतरित हो गया है, उसने अपने सहायक चुन

लिए हैं और सारी शक्ति एक केन्द्र से नीचे की ओर प्रवाहित हो रही है। प्रभुत्व की अपरिमेय वासना बलवती इच्छा-शक्ति द्वारा संचालित होकर सभी जनतांत्रिक मूल्यों को रौंदती चली जा रही है और विद्रूप यह है कि यह सभी कुछ जनता के नाम पर जनता की भलाई के लिए हो रहा है।

आपातृस्थिति के दौरान ऐसा बुहत-सा साहित्य लिखा गया जो प्रभु सत्तावाद का विरोध करता है—कहीं स्पष्ट और कहीं संकेत में। प्रभुसत्ता चिंतन में जड़ता लाना चाहती है जिससे लोग आंख-मूंदकर स्थितियों को स्वीकार करते चले जाएं। साहित्यकार अपनी कलम से जड़ता को तोड़ता है जिससे चिंतन की गति अवरुद्ध न हो।

उन्हीं दिनों लिखी गई धर्मवीर भारती की कविता 'अनुशासनपर्व' की ये पंक्तियां आपातकाल के सहम भरे वातावरण को उकेरती हैं—

अब सहमे हुए लोग बतियाते नहीं
बांध दी गई हैं झूमती शाखें
कसी हुई मुट्ठियां, तरेरी हुई आंखें
रातों रात बदल गईं अपने आप
हवाओं में सिसकता हुआ रुंधे गलों का
भयभीत जयजय-कार।

उस समय रमेश गौड़ ने एक कविता लिखी थी—'उसने कुछ नहीं कहा था'। इस कविता में अधिनायकवादी तंत्र के प्रति व्यक्त आक्रोश को पूरी तरह मुखरित किया गया था—

मेरे पिता ने कहा था—
जब हाथ से कलम छीन लिया जाता है
या खुद हाथ ही कलम कर दिया जाता है
और शब्द को परखने का अधिकार
सिर्फ सिपाही के लिए सुरक्षित कर लिया जाता है
तब जुबान ही नहीं
समूचे जिस्म का रोम-रोम बोलता है
खौलता हुआ खून
बन जाता है रोशनाई
और कटे हुए हाथ का कसमसाता हुआ ठूंठ कलम
और तब इबारत को कागज़ पर नहीं
सीधे दिलों पर लिखना होता है मेरे बच्चे।

प्रभुसत्तावादी तंत्र व्यक्ति को अत्यन्त निरीह बौना, गूंगा और बेशर्म बना देता है। ऐसे तंत्र और जागरूक साहित्य में बीच तनाव की स्थिति निरन्तर बनी रहती है। साहित्य उन सभी स्थितियों को केवल झुठलाता ही नहीं, वह व्यक्ति को उसके गौरव और उसकी अस्मिता की तलाश के लिए प्रेरित करता रहता है।

(दैनिक जागरण, 27 जुलाई, 2000)

24
पंजाबी का कृष्ण भक्ति काव्य

भारतीय जनजीवन को कृष्ण काव्य ने सर्वाधिक रससिक्त किया है, लोकगीतों में कृष्ण और राधा सबसे प्रमुख पात्र हैं, विदेशी आक्रांताओं की आंधियां आईं और चली गईं, विधर्मी शासक आए और शताब्दियों तक स्थिर रहे, पर शासन परिवर्तन या धर्म परिवर्तन के पश्चात् भी लोकगीत परिवर्तित नहीं हुए और न ही उन में कृष्ण के प्रभाव को कम किया जा सका, इसलिए आज भी पश्चिम पंजाब या पाकिस्तान की मुसलमान युवतियां विवाहोत्सवों पर लोकगीत में इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं गा सकतीं।

"हे बापू, हमारे लिए पति खोजना, तो कृष्ण कन्हैया जैसा।"

पंजाबी कवियों ने ब्रज तथा पंजाबी दोनों के माध्यम से कृष्ण-भक्ति की मनोमुग्धकारी रसधार बहाई है, गुरु गोबिन्द सिंह के कृष्ण चरित्र पर, विशुद्ध ब्रज भाषा में रचे हुए दो सहस्र से अधिक पद आज भी अंधकार के गर्त में पड़े हैं।

पंजाबी में जिन कवियों ने कृष्ण काव्य की रचना की है, उनमें ये प्रमुख है–गुआलदास, मनहरदास, माधवदास, भगवान दया सिंह, अन्नतदास, केवलपास, चंद सखी देखा आदि।

गुआलदास ने कृष्ण के बालरूप का बड़ा ही मोहक वर्णन किया है।

हरि दे घुंघरी आले बाल।
मैं कुरबानु बेनी हां।
उके घोले वैनी हां।
मैं सदकडे लेनी हां।
हरि दे घुंघरी आले बाल।
जै तूं चलिऊं मथरा नगरी,

सारी विरज विच होइआं खबरी।
मैं भी चलसां नाल।
हरि दे घुंघरी आले बाल।
मौर मुकुट पीतंबर सोहै,
उर वैजंती माल,
माखन खाई मट्टकीआं फोरे,
हरि दां इह खिआल
दास गुआल तैरा जसु गावै,
में नूं रख चरना दे नाल,
हर दे घुंघरी आते बाल,

हरि के घुंघराले बाल हैं, मैं कुर्बान जाती हूं, छिप-छिपकर बैठती हूं, मैं बलाएं लेती हूं, यदि तुम मथुरा नगरी की ओर जाओगे तो सम्पूर्ण ब्रज में यह खबर हो जाएगी, मैं भी साथ चलूंगी, मोर-मुकुट और पीताम्बर शोभायमान हैं, उर में बैजंती माला है, मक्खन खाकर मटकियां फोड़ना यह हरि का काम है, गुआलदास तेरा यश-गान करता है, मुझे अपने चरणों के साथ रखो।

भक्त मनहरदास ने राधाकृष्ण प्रेम का बड़ा ही चित्ताकार्षक और रसीला चित्र प्रस्तुत किया होता है, वियोगग्रसित राधा की अवस्था उनकी मां से नहीं देखी जाती, वह बहुत डांटती, फटकारती और भय दिखाती है कि तू कृष्ण का ध्यान छोड़ दे, किन्तु राधा नहीं मानती, आखिर मौसी मां ही है, हार कर कृष्ण को बुलाने चल देती है, वहां यशोदा से तकरार करती है और अंत में कृष्ण को साथ लाकर राधा के सामने खड़ा कर देती है, देखिए तर्क-वितर्क से भरी कविता कितनी हृदयग्राही है।

राग सूही
मेरा ले गइआचित चुराह, नंद नहर दा संवारा,
ऊनो, बन मोहि यइआ बेन बजाइए,
गली असाडडी आंवदा,
अनो राधे, तूं बृसभान सुता नां,
लज्जों गईए उह अखीर कहांवदां,
अनो, तेरी लीकु करेगा चरवानी,
नो लज्जों गईए तैनूं तां तरम् न आंवदा,
बिरहीं बुरी बलाइ, नो मीती माए, लीकु भ्रमरलोकु गवांवदा,
अनो राधे, संभलि संभलि बोल,
नो लज्जों गईए तेरा तूने पिता घरि आंवदा,
अनो माए, सूरे सतो पतंग,
इना मरनों तां हरनु मन आंवदा,

अनो राधे, वेदनु मैंनूं दस, तैनू केड़ा तां बिरहु सतांवदा,
अनो माएं, कोई नंद महर घरि जाइ,
मेरा मन घनईए तूं आवंदा,
उत्थे गई राधे दी माइ,
जसोधे रानी,
तेरा मंत्र धनईया तेरा जांसदा
अनेक, तुसी का भिखाआरी आं नारीआं,
मेरा मोहनु मंत्र यंत्र नहीं जाखदा,
अनो जसेधा रानी, बालक नूं समझाइ,
इह तां अजि कलि मंचर कोई उपावंदा,
अग्गों डरि गई बनईए दो पाइ,
ले जाहु, मैसां अहु देखि बालका आंवदा,
प्रभु दे घुंघरी वाले बाल, माथे तां मुकुट सुहावंदा,
संग लै चलो राधे दी माए, प्रभु आइआ से बैन बलांवदा,
नैन सिउं नैन भिलाइ, प्रभु नैनां दे विच समांवदा,
हुखि राधे कृष्ण मिले, प्रेम पूरा हीइअस,
तेरा मन हरि हरि जसु गांवदा,

''नंद मुखिआ का सांवला मेरा चित चुरा ले गया है, अरी हमारी गली आया आता बांसरी बजाकर मन मोह गया है।''

''अरी राधे तू तो बृषभानु सुता है- अरी निर्लज्ज, वह तो अहीर कहलाता है, अरी, सारा संसार तेरी चर्चा करेगा, अरी निर्लज्ज, तुझे शरम नहीं आती?''

''अरी भोली मां, विरह बड़ी बुरी बला है, इससे लोकपरलोक दोनों ही जाते हैं।''

''अरी राधे, संभल-संभल कर ढोल। अरी निर्लज्ज, तेरा पिता अभी घर आता होगा।''

''अरी मां, शूर, सती और पतंगा, इन्हें मरने से डर नहीं लगता।''

''अरी राधे, अपनी वेदना बता मुझे, तुझे कौन-सा विरह सता रहा है?''

''अरी मां, कोई नंद मुखिया के घर जाए मेरे विरह दुख का मंत्र कन्हैया को आता है।''

''राधा की मां वहां गई।''

''यशोदा रानी, तेरा कन्हैया मंत्र जानता है।''

''अरी नीच औरतों, मेरा मोहन मंत्र वंत्र कुछ नहीं जानता।''

''अरी यशोदा रानी, बालक को समझा लो। वह तो आजकल जगह-जगह उत्पात करता-फिरता है।''

''जाओ बहन, वह देखो बालक आ रहा है।''

''प्रभु के घुंघराले बाल हैं और मस्तक पर मुकुट शोभायमान है। राधा की मां संग चली। प्रभु बांसुरी बजाते हुए आए। नेत्रों से नेत्र मिलाकर प्रभु नेत्रों में समा जाते

हैं। अब राधा मिले, प्रेम पूर्ण हुआ।''

''हे कृष्ण तुम्हारा मनहर इस प्रकार तुम्हारे यश का गान करता है।''

कृष्ण अपने ग्वाल बालों की टोली लिए हुए स्थान-स्थान पर ऊधम करते फिरते हैं, गृहिणियां तंग आ गई हैं। माधवदास इसका चित्रण करते हैं।

वरजि नी, जसोधे, अनौखडा नी बालु।
चलि करि देखि साडे घरि दा हयालु।
अज, भडको हणि में रिडकणा नो पाइया,
चार पुंज बालकुसंगि ले, दउड़दी नी आइया।
अगे रिडिकिआ भी नहीं, मक्खण मंगदा नी आतु।

''अरी यशोदा, अपने अनोखे बालक को मना कर लो। जरा हमारे घर का हाल तो चलकर देखो, आज, प्रातः अभी मैंने मथानी भी नहीं डाली थी, चार पांच बालक साथ में लेकर दौड़ता हुआ आया, अभी मैंने दही मथा भी नहीं था कि मक्खन मांगता था।''

दयाल सिंह ने अपने बारह मास तथा अन्य फुटकर रचनाओं में बड़ी ही मन-मुग्धकारी कविता की है। उनकी एक कविता है 'बंसरी महाराज दी।' वही पुराना झगड़ा है, राधा ने बांसुरी चुरा ली है, कृष्ण पूछ रहे हैं और राधा बताती नहीं, उन पर से खिंझाती है।

वे कहना,
वे शमा,
इस बंसी की होत पुकारे
भुल्ला गईं किरेहोर दुआरे
हम संग झूठी बात ना, कारे
मैं सखीआं संग दुआरे आई
तै न झूठी तुहमत आई
कीती बहुत निकार ली।

''कान्हा, ए श्याम, क्यों जोर वंशी का नाम लेकर पुकार रहे हो। किसी और द्वार पर भूल आए होंगे। ए काले, हमारे साथ में झूठी वातें न करो। मैं तो अपनी सखियों के साथ केवल तुम्हारे द्वार तक आई थी और तुमने मुझ पर : बांसुरी चुराने की : झूठी तोहमत लगा दी। यह तुमने बहुत बुरी बात की है।''

मैं हां, ये शमा,
मैं ब्रिखभान दुलारी
काहनां
तै ने कोता मकर बहानां
तू है ठग्ग बनारसी

"मैं हूं, श्याम, मैं बृजभान दुलारी हूं : और तुम अहीर : कान्हा तुम ने मसखरी की है, बहाना किया है : मैं सब जानती हूं : तुम : अव्वल दर्जे के : बनारसी ठग हो।"

बलिहारी है बनारस के ठगों की, जिनकी ख्याति पंजाब के लोकजीवन तक पहुंची हुई है।

कृष्ण कहते हैं–

तैनूं किया वंसी की सार सी
नी राधाराणी,
बंशी बिन ही गइआ में लाचार सी।

"तुझे बंशी की क्या आवश्यकता? अरी राधा रानी, बंशी बिना मैं लाचार हो गया हूं।"

किन्तु राधा पर जैसे कुछ प्रभाव नहीं हुआ। ऊपर से व्यंग्य कसती है,

भुक्खा, वे कामां,
भुक्खा खोह खोह गोरस बावै
नित उत्हामें घरो पुचावै
तुरी मात जसोधा मारसी
भुल्ल गई डह हाकैं मारी

"ए भूखे श्याम, भुखमरों की तरह छीन-छीनकर दूध पीते हो। नित्य उलाहने घर पहुंचते हैं : तुम्हारी करतूतों के। तुम्हारी मां यशोदा तुम्हें खूब पीटेगी उस दिन छाछ के पीछे पड़ी मार भूल गए क्या?"

कृष्ण ने देखा राधा किसी तरह बांसुरी वापस नहीं कर रही है। झट से एक उपाय सूझता है, राधा की आरसी उतार ली। साथ ही आंचल भी पकड़ लिया। राधा बेचारी आखिर क्या करे। स्त्री ही तो ठहरी और फिर कृष्ण पुरुष से पाला। हारकर बोली-

छोड़ अंचरा
जाण दे घर कउं
नैनां दे तीर विरहीं मार सी
नेद को नंदन
लैलो बसी, दे दे आरसी।

"अच्छा : आंचल छोड़ो, घर जाने दो। नैनों के तीर मत चलाओ, तो विरह से मरा करूंगी। ए नंद के नंदन, ले लो अपनी बांसुरी और दे दी मेरी आरसी। और ऐसा ही सरस एवं मन को रस-सिक्त कर देने वाला है पंजाबी भाषा का कृष्ण काव्य।

(दैनिक जागरण, 10 अगस्त, 2000)

25
हिन्दी दिवस होने का अर्थ

14 सितम्बर को प्रतिवर्ष हिन्दी दिवस मनाया जाता है। गत वर्ष लंदन में छठा विश्व हिन्दी सम्मेलन हुआ था। वह वर्ष संविधान में हिन्दी को भारत संघ की राजभाषा स्वीकार किए जाने का स्वर्ण जयन्ती वर्ष था। वह सम्मेलन उसी का उपलक्ष्य था। अब एक वर्ष और व्यतीत हो गया है। संविधान में अंग्रेजी को भी 15 वर्ष तक राजभाषा बनाये रखने का प्रावधान था। इस बात से यह ध्वनि निकलती थी कि भारत संघ की मुख्य भाषा तो हिन्दी होगी, किन्तु कुछ लोगों की सुविधा के लिए 15 वर्ष तक गौण भाषा के रूप में अंग्रेजी भी चलती रहेगी किन्तु इन वर्षों में हुआ क्या है? अंग्रेजी मुख्य भाषा के रूप में पूरी तरह कुर्सी पर विराजमान है और हिन्दी एक पिछलगुआ भाषा के रूप में घिसट रही है। हर वर्ष इस दिन हिन्दी दिवस मना लिया जाता है। सरकारी-अर्द्धसरकारी संस्थानों की परिपाटी निभाते हुए इस दिन को याद किया जाता है। हिन्दी में अधिक से अधिक काम करने का निश्चय व्यक्त किया जाता है। कुछ भाषणबाजी होती है, कुछ कसमें खाई जाती हैं, कुछ सरकार को और उसकी नौकरशाही को कोसा जाता है और फिर आगामी हिन्दी दिवस की प्रतीक्षा की जाती है।

कोई भाषा कब और कैसे उचित स्थान और सम्मान प्राप्त करती है, इसका निर्णय दो बातों से होता है। एक, वह भाषा कितनी बड़ी मात्रा में लोगों को व्यवसाय दे सकती है और रोजी-रोटी कमाने में उसकी कितनी सहायता करती है। दूसरी बात, उस भाषा का ज्ञान उसके अहं की कितनी तुष्टि करता है। हर समाज में एक संभ्रान्त वर्ग (Elite) वर्ग होता है। यह वर्ग अपनी शिक्षा, पद, धन अथवा कुछ अन्य कारणों से अपने आपको विशिष्ट समझता है और अपनी हर बात, हर क्रिया और हर तेवर में विशिष्टता प्रदर्शित करने में गौरव और मान अनुभव करता है।

आज़ादी की आधी सदी से अधिक बीत जाने के बाद की स्थिति हिन्दी तथा

अन्य भारतीय भाषाओं की क्या है। ये भाषाएं कुछ सीमा तक व्यवसाय और रोजगार दिलाने में सफल होती हैं, किन्तु इस क्षेत्र में भी विशिष्टता प्राप्त नहीं कर पातीं। बड़ी नौकरी, चाहे वह सरकारी हो या गैर सरकारी पाने के लिए उस भाषा का सहारा लेना पड़ता है जो 'विशिष्ट' है और 'विशिष्ट' तो केवल अंग्रेजी है। आप हिन्दी के प्रकाण्ड पंडित हैं, किन्तु अंग्रेजी नहीं जानते तो आप विशिष्ट और संभ्रान्त लोगों की श्रेणी में नहीं आते। यदि आप अंग्रेजी अच्छी लिख और बोल सकते हैं, साथ ही हिन्दी सहित किसी भी भारतीय भषा को न ठीक से लिख सकते हैं, ना बोल सकते हैं, तो भी आपकी विशिष्टता और संभ्रांतता में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

ऐसी स्थिति इससे पहले भी रही है। उस युग में संस्कृत 'विशिष्ट' भाषा थी और अनेक प्राकृतें जन-सामान्य की भाषाएं थीं। संस्कृत के विद्वान् किसी प्राकृत भाषा में बोलना, संवाद करना अपना अपमान समझते थे। इससे उनकी 'विशिष्टता' खंडित होती थी। इसी कारण सामान्य जन से उनका सम्बन्ध टूटा रहता था। बुद्ध और महावीर की लोकप्रियता का एक कारण यह भी था कि उन्होंने, स्वयं विशिष्ट और संभ्रान्त होते हुए भी, संस्कृत को छोड़कर पाली, मागधी और अर्द्धमागधी जैसी प्राकृतों का उपयोग किया।

हमारे कुछ राजनेता और अफसर भी यही करते हैं। जब उन्हें आम लोगों के पास जाना पड़ता है, कर्मचारियों से बातचीत करनी पड़ती है तो वे हिन्दी का प्रयोग करते हैं किन्तु जहां विशिष्ट चर्चा हो, विशिष्ट लोग हों, विशिष्ट परिवेश हो, वहां तो अंग्रेजी ही होनी चाहिए।

एक ताज़ा उदाहरण मेरे सामने हैं। हाल में ही भारत सरकार ने एक राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग बनाया है। देश के सभी राज्यों के मुख्यमंत्री, विभिन्न विभागों के बहुत से अधिकारी, स्वैच्छिक संस्थाओं के प्रतिनिधि, कुछ पत्रकार, लेखक तथा नागरिक इसके सदस्य हैं। प्रधानमंत्री इस आयोग के अध्यक्ष हैं तथा योजना आयोग के उपाध्यक्ष श्री कृष्णचंद्र पंत इसके उपाध्यक्ष हैं। मैं भी इसका एक सदस्य हूं और दैनिक जागरण के संपादक श्री नरेन्द्र मोहन भी। लगभग डेढ़ महीने पहले इसकी पहली बैठक हुई थी। प्रारम्भ से अंत तक सारी कारवाई अंग्रेजी में। केवल श्री नरेन्द्र मोहन हिन्दी में बोले।

दिल्ली से जो लोग इस आयोग के सदस्य है उनकी एक बैठक श्री पंत की अध्यक्षता में कुछ दिन पूर्व हुई। इसमें थोड़े से सदस्य थे। राष्ट्रीय स्तर की बैठक में अंग्रेजी के प्रयोग के तर्क को कुछ हद तक इसलिए स्वीकार किया जा सकता है कि उसमें अहिन्दी भाषी राज्यों के लोग भी थे किन्तु इस छोटी बैठक की सारी कारवाई भी अंग्रेजी में ही चली। श्री कृष्ण चंद्र पंत अंग्रेजी में ही संचालन कर रहे थे और जितने भी सदस्य बोले, मेरे सहित, सभी अंग्रेजी में बोले। यदि पंत जी हिन्दी में अपना संचालन प्रारम्भ करते तो लगभग सभी सदस्य हिन्दी में ही बोलते।

प्रश्न वही है। अंग्रेजी इस देश में विशिष्टता और संभ्रान्त की प्रतीक है। हिन्दी आम बोलचाल की भाषा है। चुनावी सभा के लिए हिन्दी ठीक है। वातावरण विशिष्ट

हो, उपस्थिति लोग संभ्रान्त हों तो हिन्दी बोलना गंवारुपन लगता है।

दिल्ली में एक विशिष्ट सांस्कृतिक केन्द्र हैं 'इंडिया इन्टरनेशनल सेन्टर'। विशिष्ट लोगों को ही इसकी सदस्यता प्राप्त है। पुस्तकालय, सभा कक्ष, संगोष्ठी कक्ष, अतिथि गृह के अतिरिक्त एक जलपान गृह भी इसमें हैं। कभी इस जलपानगृह का दृश्य देखिए। वहां उपस्थित लगभग सभी लोग दिल्ली के होते हैं—मंत्री, सांसद, पत्रकार, लेखक, कलाकार, राजनेता, प्रकाशक तथा ऐसे लोग जो अपने आपको समाज की क्रीम समझाते हैं।

खाने की मेजों पर बैठे हुए इन लोगों की कभी आप बातें सुनिए। इनमें पांच प्रतिशत व्यक्ति भी आपको हिन्दी में बातचीत करते नहीं दिखेंगे। सभी की बातचीत का माध्यम अंग्रेजी होती है। उनकी हिन्दी-प्रियता उसी समय दिखाई देती है जब उन्हें बैरे से कुछ बात करनी पड़ती है।

अंग्रेजी को लेकर हीनता का भाव केवल हिन्दी में ही नहीं है। बड़ी मात्रा में वह भाव सभी भारतीय भाषाओं में है। विशिष्ट का एहसास आते ही हमारी भाषाएं पीछे हट जाती हैं और बहुत झुककर सलाम करते हुए अंग्रेजी को कुर्सी पर सादर बैठा देती हैं। ऐसी स्थिति में प्रतिवर्ष मनाया जाने वाला हिन्दी दिवस कितनी सार्थकता रखता है?

मैं समझता हूं कि यह लड़ाई केवल हिन्दी की नहीं सभी भारतीय भाषाओं की है और उन्हें मिला कर यह लड़ाई लड़नी चाहिए। एक बात हमारे मन में स्पष्ट होनी चाहिए। अंग्रेजी को हटाकर उसका स्थान हिन्दी को नहीं दिया जाना है। उसका स्थान अपने-अपने क्षेत्रों में भारतीय भाषाओं को प्राप्त करना है। अंग्रेजी का जुआ सभी भारतीय भाषाओं के कंधों पर है। इसके बोझ के नीचे सभी हीन ग्रंथि का शिकार बनी हुई हैं। किसी एक भाषा के प्रयास से यह जुआ नहीं उतरेगा। स्थिति तो यह है कि जब तक सभी भारतीय भाषाओं का आपस में समन्वय स्थापित नहीं होगा, अंग्रेजी की विशिष्टता का जुआ लदा ही रहेगा और बढ़ता चला जाएगा।

इस सम्बन्ध में मैंने एक सुझाव पहले भी दिया था। यदि भारत सरकार इस सम्बन्ध में गंभीर है कि देश में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को उनका उचित स्थान प्राप्त हो, सभी भाषाएं अपने-अपने राज्यों में पूरी तरह राजभाषा बनें और उन्हें सामान्य तथा विशिष्ट दोनों ही समान रूप से गौरव के साथ व्यवहार में लाएं तो राष्ट्रीय स्तर पर एक राष्ट्रीय भाषा आयोग का गठन किया जाना चाहिए। इस आयोग का काम यह होगा कि हिन्दी को सभी भारतीय भाषाओं के मध्य सम्पर्क की भाषा के रूप में विकसित करने की दिशा में सक्रिय भूमिका निभाए। यह काम अभी अंग्रेजी कर रही है। भारतीय भाषाओं में व्यापक अनुवाद कार्य हो। प्रयास यह होना चाहिए कि यह अनुवाद कार्य सीधे एक भाषा से दूसरी भाषा में हो। जब तक यह पूरी तरह संभव न हो, अंग्रेजी की बजाए, हिन्दी को उसका माध्यम बनाया जाए।

एक महत्वपूर्ण कार्य जो यह आयोग कर सकता है कि भारतीय भाषाओं के लेखकों/पत्रकारों और प्रेमियों का आपसी सम्बन्ध और वैचारिक आदान-प्रदान, जो इस

समय अंग्रेजी के माध्यम से होता है, हिन्दी के माध्यम से हो। इस सम्बन्ध में हिंदी को लेकर कुछ भारतीय भाषाओं में जो भ्रम फैला हुआ है उसे अत्यन्त सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में दूर करने का प्रयास किया जाए।

ऐसे और कितने ही महत्वपूर्ण कार्य है जिन्हें इस आयोग के माध्यम से हाथ में लिया जा सकता है। इस आयोग का उद्‌देश्य ही यह होना चाहिए कि इस देश में सभी भाषाओं को जन-जन की भाषा तो बनाना ही है। उन्हें वह वैशिष्ट्य भी देना है, जिसके अभाव में वे हीनताभाव से ग्रस्त रहती हैं।

यह एक राष्ट्रव्यापी कार्य है और लम्बी अवधि में किया जाने वाला उद्यम है किन्तु यह भी सच है कि इसका कोई विकल्प नहीं है। सम्पूर्ण संसार में इस समय वैश्वीकरण की लहर आई हुई है। यह लहर विशेष रूप से भारत जैसे विकासशील देशों को प्रभावित कर रही है। हमारी भाषाओं पर भी इसका प्रभाव पड़ेगा। अंग्रेजी इस समय विश्व भाषा है। वैश्वीकरण के साथ ही विश्व भाषा की प्रभुता भी निरन्तर बढ़ती जाएगी। उस स्थिति में सामान्य और विशिष्ट भाषा का जो द्वैत हमें आज दिखाई दे रहा है, भविष्य मे उसके और बढ़ जाने की पूरी संभावना है। इस आसन्न संकट के प्रति यदि जागरूक नहीं रहेंगे, तो हिन्दी सहित सभी भारतीय भाषाओं का संकट और गहरा हो जाएगा।

क्या यह उचित नहीं होगा कि हम हिन्दी दिवस को भारतीय भाषा दिवस के रूप में परिवर्तित कर दें और इसके समर्थन का घेरा व्यापक बना दें?

(दैनिक जागरण, 14 सितम्बर, 2000)

26
साहित्य और सामाजिक उत्तरदायित्व

साहित्य के सम्बन्ध में हम यह उक्ति वर्षों से सुनते आ रहे हैं कि साहित्य समाज का दर्पण होता है अर्थात् साहित्य अपने समय के सामाजिक यथार्थ को हमारे सामने प्रस्तुत करता है और उसका असली चेहरा उघाड़कर दिखाता है। यहीं यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि साहित्य अपने समय के समाज का चित्र हमें एक फोटोग्राफर द्वारा उतारे गए कैमरा चित्र की तरह दिखाकर अपने दायित्व की इतिश्री मान लेता है या एक बेहतर समाज बनाने की दिशा की ओर भी संकेत करता है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी बहुचर्चित काव्यकृति 'भारत भारती' के प्रारंभ में ये पंक्तियां लिखी थीं–

हम कौन थे क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्यायें सभी।।

इन पंक्तियों में साहित्य के सामाजिक उत्तरदायित्व की ओर सार्थक संकेत हैं। साहित्य का दायित्व केवल इतना ही नहीं है, कि वह हमें 'क्या हो गए हैं' से परिचित कराए बल्कि आज हम या हमारा समाज जो कुछ भी हैं, उसके लिए 'क्या होंगे' पर गंभीर विचार-विमर्श भी जरूरी है। साहित्य समाज को उसके यथार्थ, वह कितना ही कुरूप, गलीज और वीभत्स क्यों न हो, से परिचित कराता है। साथ ही समसामयिक यथार्थ का निर्माण करने वाली अतीत की शक्तियों का आकलन करते हुए भविष्य के लिए हमारा मार्गदर्शन करता है।

इस दृष्टि से स्व. रामधारी सिंह दिनकर की इस काव्य-पंक्ति को उद्धृत किया जा सकता है–

लोहे की कड़ियों की साजिश बेकार हुई
बांध दो मनुष्य को शबनम की जंजीरों से।

हज़ारों वर्षों से समाज के कुछ शक्ति सम्पन्न लोगों ने बहुसंख्यक मनुष्य समाज को लोहे की जंजीरों में जकड़कर रखने का निरन्तर प्रयास किया किन्तु क्या उनका प्रयास सफलीभूत हुआ? मनुष्य की 'अजेय' जिजीविषा और मुक्ति कामना लोहे की कड़ियों से लगातार संघर्ष करती रही, आज भी कर रही हो। कवि दिनकर ने अपनी इन काव्य-पंक्तियों द्वारा अतीत में–झांककर वर्तमान को देखते हुए जैसे भविष्य की राह दिखाई–मनुष्य को लोहे की कड़ियों से बांधने की सभी साजिशें बेकार हो गई हैं। यदि उसे बांधना ही है तो प्यार भरी शबनम की बूंदों से बांधो। घृणा और अत्याचार पर प्रेम और समता की यह सार्थक घोषणा है। साहित्य का रचयिता लोक-जीवन की परिस्थितियों से प्रभावित होता है और फिर रचनारत होता है। ये परिस्थितियां ही साहित्यकार को समाज के यथार्थ चित्रण की ओर प्रेरित करके उसे आदर्श एवं जनहित के लिए कटिबद्ध करती हैं। जीवन की परिस्थितियों, समस्याओं तथा समाधानों का इसीलिए साहित्य में बड़ा महत्व है। इसीलिए साहित्य को जीवन की व्याख्या कहा जाता है। यह भी कहा जाता है कि, 'इच्छा पूर्वक कर्म का नियोजन ही जीवन है।' इससे स्पष्ट है कि जीवन का सम्बन्ध भावों तथा विचारों से कितना गहरा है। भाव सुखात्मक भी होते हैं और दुखात्मक भी। दोनों ही जीवन में समाहित हैं। साहित्य इनसे प्रभावित होता है। यह प्रभाव साहित्यकार पर जिस मात्रा में पड़ता है, उसी के अनुरूप उसकी कृतियों में उसकी अभिव्यक्ति होती है।

जीवन की सही स्थिति वातावरण के भीतर से ही झलकती है। मानव समाज वातावरण का एक रूप है, इसलिए जीवन व्याख्या के लिए इसका सजीव चित्रण आवश्यक है। साहित्य की इस व्याख्या में सामाजिक जीवन के विविध तत्वों का समावेश रहता है। प्रेमचंद के शब्दों में–"साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सच्चाई प्रकट हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो।"

साहित्य के सामाजिक उत्तरदायित्व के संदर्भ में यह बात बहुत प्रासंगिक है कि उसकी भित्ति सत्य पर आधारित हो। गुरु नानक ने अपनी एक काव्य-पंक्ति में कहा है–सच तो सभी का स्वामी है। जिसे प्राप्त होता है वह भाग्यशाली है–

इस सच सभना का खसम है,
जिस बखसे तो जनु पावे।

जहां सत्य होगा वहां नैतिकता भी अवश्य होगी। साहित्य का नैतिकता से उतना ही संवंध है जितना नैतिकता का जीवन से। साहित्य की यह नैतिकता सामाजिक जीवन को ऊंचा-उठाती है, साथ ही मनुष्य को वास्तविक मनुष्य बनाने का मार्ग प्रशस्त करती है। इस प्रकार मनुष्य के आंतरिक रूप के साथ-साथ साहित्य उसके सामाजिक-जीवन के बीच रहने वाले रूप को भी प्रकट कर देता है। श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी एक रचना में लिखा है–"यह मानव-चरित्र अत्यंत सूक्ष्म और विचित्र है। साहित्य इसी को अन्तर्लोक से बाहर प्रतिष्ठित करना चाहता है। यह अत्यन्त दुरूह कार्य है।

मानव-चरित्र स्थिर तथा सुसंगत नहीं है, उसके अनेक अंश और स्तर हैं...साहित्य का विषय मानव हृदय और मानव-चरित्र है।

साहित्य पर सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव साहित्यकार के व्यक्तित्व का पड़ता है। साहित्यकार जो कुछ लिखता है, उस पर उसके अनुभवों, विचारों और मनोभावों की अटल छाप लगी रहती है। वह अपने समाज की आकांक्षाओं, इच्छाओं और भावनाओं को प्रकट करता है, किन्तु वह इन सभी को अपने ढंग से स्वरूप देकर रचना का रूप देता है।

जिस प्रकार मनुष्य समाज चिर नवीन भी है और चिरन्तन भी, उसी प्रकार साहित्य भी चिर नवीन है और चिरन्तन भी। वह प्राचीन और नवीन में तारतम्य पैदा करता है वह जातियों, राष्ट्रों के वास्तविक इतिहास को सुरक्षित रखने का सशक्त माध्यम है। समाज के जीवन की उन्नति-अवनति, आशाएं-आकांक्षाएं साहित्य में ही सार्थक रूप से चित्रित मिलती हैं। वह समष्टि रूप से काम करता है। भिन्न-भिन्न जातियां उत्पन्न हुईं और नष्ट हुईं। आज उनका कुछ पता नहीं परन्तु साहित्य में वे आज भी अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं। विज्ञान का एक आविष्कार होता है तो पहले को भुला दिया जाता है परन्तु समाज से गहरे जुड़े होने के कारण साहित्य में किसी चीज का नाश नहीं होता। वह सबके सहित, सब दिन सतत् जाग्रत रूप में विद्यमान रहता है। साहित्य की यह सार्वभौमता उसके सामाजिक दायित्व और गहरे सम्बन्ध के कारण ही उत्पन्न होती है।

सम्पूर्ण समाज का सांस्कृतिक विकास ही साहित्य का लक्ष्य है। इस तथ्य की उपलब्धि से मनुष्य अपने यथार्थरूप को समझ कर आनंदित होता है। मनुष्य को विलासप्रियता, वाग्जाल, कृत्रिमता तथा संकीर्ण स्वार्थ-भावना से ऊपर उठाकर उसमें भाव और विचार की शक्ति का उन्नयन करना अच्छे साहित्य का कार्य है। साहित्य मनुष्य के अन्तः और बाह्य दोनों को शुद्ध करते हुए उनमें सामंजस्य स्थापित कर देता है। साहित्य का उद्देश्य केवल मनुष्य के मन या मस्तिष्क को संतुष्ट करना नहीं है, वह मनुष्य के सामाजिक जीवन को अधिक सुखी और अधिक सुंदर बनाने की चेष्टा करता है। साहित्य के सहारे मनुष्य जीवन के दुख और संकटों को क्षण भर के लिए भूलकर जीवन को अधिक सजगता और दृढ़ता से जीने की प्रेरणा हो सकता है।

संसार-साहित्य में वही रचनायें कालजयी और महान् हुईं जिनमें लेखक ने सामाजिक उत्तरदायित्व को कभी अपनी आंखों से ओझल नहीं होने दिया। यह दायित्वबोध साहित्यकार को स्थितियों की गहरी समझ देता है। इस समझ से उसमें उस जागरूक दृष्टि का निर्माण होता है, जो उसे सत्-साहित्य की रचना की ओर प्रवृत्त करती है।

(दैनिक जागरण, 5 अक्टूबर, 2000)

27
हिन्दी मानस और नारी-लेखन

हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्रों में इस समय दो बातों की बड़ी चर्चा है, एक—दलित विमर्श और दूसरा नारी विमर्श। एकाएक यह चर्चा इतनी मुखर क्यों हो गई है? इस समय देश के सभी वर्ग, सभी जातियां, सभी बिरादरियां अपनी-अपनी अस्मिता और अपने-अपने अधिकारों को लेकर जागरूक हो उठी हैं। देश में लोकतंत्र की मान्यताओं और उसकी अनिवार्यताओं को लेकर जो आलोडन उभर आया है उसने उन लोगों में अपने महत्व की अनुभूति को जगाना प्रारम्भ कर दिया है जिन्होंने सदा ही अपनी स्थिति को अति सामान्य और हीन मानकर महत्वपूर्ण स्थिति को प्राप्त करने का स्वप्न नहीं देखा था। दलित वर्ग ने कब सोचा था कि उसके मस्तक पर राजतिलक लगेगा और वह भी सत्ता का भागीदार बनकर शासन तन्त्र पर अपना वर्चस्व स्थापित करेगा? नारी की स्थिति भी लगभग ऐसी ही रही है। गिनाने को हमारे पास कुछ नाम अवश्य हैं—गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा अथवा दुर्गाबाई, लक्ष्मीबाई, अवन्तिकाबाई, किन्तु हमारी मानसिकता में नारी के दो ही रूप हैं—वह कामिनी या प्रेयसी है अथवा ममतामई मां है। घर उसकी सीमा है और यही उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है।

इसी सोच में हमारा मानस बना है। यही कारण है कि हमने संस्कृति में, राजनीति में, समाज की गतिर्विधियों में इन दोनों वर्गो की सक्रिय भागीदारी को न कभी मान्यता दी, न कभी इसकी आवश्यकता समझी।

किन्तु लोकतंत्र की अवधारणा ने कुछ अनिवार्यताएं उत्पन्न कर दी हैं। कोई चाहे या न चाहे, कोई कितनी भी नाक-भौंह चढ़ाए, राजनीति अब न दलितों की स्वीकृति के बिना चल सकती है न महिलाओं की।

किन्तु साहित्य/संस्कृति के क्षेत्र में राजनीति जैसी बाध्यताएं नहीं हैं इसलिए हमारा बद्धमूल मानस लम्बे समय तक अपनी पुरानी लीक पर चलता रह सकता है।

उदाहरण के लिए हिन्दी के साहित्यिक मानस को नारी लेखन के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जा सकता है।

पचास वर्ष पहले तक साहित्य में केवल एक ही ऐसा नारी नाम था जिसकी बात होती थी, श्रीमती महादेवी वर्मा, उसी तरह जैसे सम्पूर्ण मध्यकाल को एक नाम समेटे हुए है—मीराबाई। फिर रचनाकारों की लम्बी कतार में सुभद्रा कुमारी चौहान, चंद्रकिरण सौन्रिक्सा, सत्यवती मलिक जैसे कुछ नाम खड़े दिखाई दिए। प्रगतिशीलों की दुनिया में उर्दू की इस्मत चुग़ताई जैसा कोई नाम सामने नहीं आया। नई कविता और नई कहानी के प्रारंभिक दौर में कीर्ति चौधरी, कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा और मन्नू भंडारी के नाम काफी चर्चित रहे, किन्तु ये सभी नाम पुरुष लेखकों के अगणित नामों में 'ये भी हैं' की स्थिति प्राप्त नाम ही थे।

किन्तु आठवां दशक प्रारम्भ होते ही हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्र में दो बातें उभरीं। पुरुष लेखक आन्दोलनों का पल्ला पकड़ने और अपने आपको स्थापित करने, अपना गुट बनाने, साहित्य के इतिहास के पृष्ठों में घुसने और साहित्य के माध्यम से अर्जित ख्याति को पुरस्कारों, पदों और धन तथा प्रतिष्ठा देने वाले अवसरों को किसी-न-किसी प्रकार हथियाने के लिए जोड़-तोड़ करने में दत्तचित्त हो गए। सृजन क्षेत्र की सुई लेखिकाओं की ओर मुड़ गई और चकित कर देने वाली प्रतिभाएं न केवल उभर आईं, वे पूरे साहित्यिक परिदृश्य पर छा गईं। मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि पिछले तीस वर्ष के साहित्यिक परिदृश्य में से यदि महिला लेखन की अनदेखी कर दी जाए तो सारे शोर-शराबे के बावजूद हिन्दी का सर्जनात्मक लेखन बुरी तरह लड़खड़ा जाएगा।

इस वस्तु स्थिति के बावजूद चारों ओर वर्चस्व तो पुरुषों का ही है। साहित्य क्षेत्र में किसी की स्वीकृति, मान्यता और प्रसिद्धि में दो व्यक्तियों का बहुत महत्व है—एक आलोचक और दूसरा संपादक। इन दोनों की मान्यता है कि जिसके सिर पर ये अपना वरदहस्त रख देते हैं, वह लेखक या लेखिका बनने का सपना साकार कर लेता है। इसी क्रम में एक तीसरा व्यक्ति भी है—प्रकाशक। किसी भी लेखक को सबसे पहले ज़रूरत पड़ती है संपादक की जो अपने पत्र अथवा पत्रिका में उसकी रचना प्रकाशित करे और उसे पाठकों के सम्मुख लाए। फिर उसे आवश्यकता पड़ती है एक आलोचक की जो उसकी रचना का मूल्यांकन करे, अपनी आलोचना में उसे स्थान दे और साहित्यिक बिरादरी में उसका नाम प्रस्थापित करे। फिर उसे एक अदद प्रकाशक चाहिए जो उसकी रचना को पुस्तक रूप में सामने लाए। इन तीनों ही क्षेत्रों में पुरुष वर्ग का एकाधिपत्य है। महिलाओं ने साहित्य की सर्जना में सक्रियता दिखाई है, किन्तु आलोचना क्षेत्र में न अधिक ध्यान दिया, न सिद्धता प्राप्त की। हिन्दी में जो दो-एक प्राध्यापिकाएं इस क्षेत्र में आईं उनकी आलोचनाएं नितान्त अकादमिक बन कर विद्यार्थियों के उपयोग की ही रह गईं। किसी ने समकालीन साहित्य की आलोचना में अपना निशान नहीं छोड़ा।

यह हाल संपादन और प्रकाशक क्षेत्र का है। महिलाएं इस क्षेत्र में बहुत कम आईं। यदि किसी स्थिति में आईं भी तो पूरी तरह पुरुष मुखापेक्षी बनकर। देश के

सभी विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों में भी बोलबाला पुरुषों का है। यही लोग विद्यार्थियों के लिए पाठ्यक्रमों का निर्धारण करते हैं। यही सरकारी, अर्द्धसरकारी और निजी प्रतिष्ठानों में अपनी जड़ें जमाए हुए हैं। पुरस्कार समितियों में उनकी ऐसी पकड़ हैं कि ये लोग जिसे चाहें, उसी को पुरस्कार दिलवा सकते हैं।

मेरा अनुमान है कि देशभर की साहित्य अकादमियों और निजी प्रतिष्ठानों द्वारा प्रतिवर्ष साहित्यकारों को सम्मान-राशि और पुरस्कारों के रूप में जो धन दिया जाता है वह दो करोड़ रुपयों से कम नहीं है, शायद अधिक हो। पिछले बीस वर्ष में जितने साहित्यकारों का सम्मान किया गया, जिन्हें कृतियों के लिए पुरस्कृत किया गया उनका यदि पूरा विवरण तैयार किया जाए तो चौंकाने वाले तथ्य उभरेंगे। ऐसे कई (पुरुष) लेखकों के नाम सामने आएंगे जिन्होंने लाख-लाख, दो-दो लाख के निरन्तर पुरस्कार प्राप्त किए हैं। इन्हें चार-पांच वर्ष की अवधि में ही दस लाख रुपए से अधिक के पुरस्कार मिल गए हैं। दूसरा यह तथ्य सामने आएगा कि लेखिकाओं (बहुत अच्छा लिखने वाली लेखिकाओं सहित) की संख्या पुरस्कृत नामों में पांच से दस प्रतिशत के बीच ही होगी।

पिछले दिनों एक पत्रिका ने हिन्दी मानस और नारी लेखन को लेकर एक परिसंवाद आयोजित किया जिसमें हिन्दी की जानी-मानी बारह लेखिकाओं ने भाग लिया था। सुधा अरोड़ा ने इस मानसिकता को उघाड़ते हुए लिखा था कि पचास के दशक के बाद की हिन्दी कहानी पर किसी भी गवेषणात्मक आलेख को उलट लीजिए, एक सिरे से लेखिकाओं के नाम गायब मिलेंगे। कहानी में आई किसी भी अवधारणा या प्रवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए जो भी उदाहरण दिए जाते हैं, वे सब पुरुष लेखकों की कहानियों के माध्यम से ही दिए जाते हैं। हर शहर के हर सेमिनार में यह अलगाव का रवैया अपनाया जाता है या फिर हर आलेख के अंत में आलोचक निहायत दरियादिली के साथ बतौर उपसंहार एक अन्तिम पैराग्राफ आज के महिला लेखन पर चस्पा कर देता है और महिला रचनाकारों की बड़ी तादाद में से पांच-सात नाम गिनाकर महिला रचनाकारों को उपकृत करता है।

इसी परिसंवाद में मृदुला गर्ग ने लिखा था, 'पता नहीं यह पुरुष की अहमन्यता है या उसका भय, जो उसे स्त्री रचनाकारों की उपलब्धियों को ग्रहण नहीं करने देता।' और कमल कुमार का कहना था—"पुरुष वर्चस्व वाले इस समाज में समझदार स्त्रियां 'मगर' से बैर नहीं करतीं, बल्कि उससे 'अगर मगर' करती हैं। डोर उनके हाथों में देकर वे साहित्य के आकाश में पतंग हो जाती हैं, बल्कि कुलाचं भरती हैं।"

किसी भी समाज का मानस लम्बी अवधि में उसके धार्मिक/सांस्कृतिक संस्कारों, समाज को नियन्त्रित करने वाली विधियों और फिर सामाजिक अन्तर्संबन्धों से बनता और पुष्ट होता है। अस्पृश्य समझी जानी वाली जातियों के सम्बन्ध में यही हुआ और नारी के सम्बन्ध में भी।

यह भी कितनी बड़ी विडम्बना है कि समाज की एक सामान्य नारी हो, दफ्तरों में काम करने वाली हो, सिर पर बोझा ढोने वाली मजदूरनी हो, स्कूल-कालेज में पढ़ने

वाली छात्रा अथवा पढ़ानेवाली अध्यापिका हो या अन्य किसी भी क्षेत्र की महिला हो, पुरुष का रवैया, उसकी दृष्टि, उसका मानस जैसा होता है वैसा ही उस क्षेत्र में भी कभी-कभी दिखाई पड़ता है जिसे हम 'संस्कृति अथवा साहित्य संसार' कहते हैं। यहां अपेक्षा यह की जाती है कि संस्कृति और साहित्य-कर्मी व्यक्ति समाज के अन्य वर्गों की अपेक्षा कहीं अधिक संवेदनशील होते हैं, ये उस सोच और विचार के संवाहक हैं, जिनसे समाज के स्वस्थ मूल्य निर्मित होते हैं। ये लोग व्यक्ति के सम्मान, उसकी गरिमा और उसकी स्वतंत्रता के पक्षधर ही नहीं, उसके प्रहारी भी हैं।

किन्तु ऐसा है नहीं। आम औरत को अपने बॉस, अपने मालिक, अपने जीविका-प्रदाता और बाजारू लफंगों से अपनी रक्षा करनी पड़ती है जिनकी भूखी लोलुप आंखें एक शिकारी की तरह उसके चारों ओर मंडराती रहती हैं। क्या लेखिकाओं और साहित्य-कर्म से जुड़ी अन्य महिलाओं को भी ऐसी घिनौनी स्थितियों को झेलना पड़ता है?

इस संबंध में अनेक लेखिकाओं के अपने अनुभव न केवल अचंभित और आतंकित करने वाले हैं, वे हमारे उन सभी मुलम्मों को उतार देते हैं जो हमने अपने आपको गौरवान्वित करने के लिए अपने ऊपर चढ़ाए होते हैं। संपादकों, आलोचकों, प्रकाशकों, सहयोगी लेखकों, विशिष्ट स्थितियों में पैर जमाए साहित्य के मठाधीशों द्वारा साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करने को उत्सुक, उसमें अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने की आकांक्षी महिलाओं का किस प्रकार शोषण करने का प्रयास होता है इसका उल्लेख कुछ लेखिकाओं ने अपनी आत्मकथाओं में किया है। जिस परिसंवाद की मैंने ऊपर चर्चा की है उसमें सुनीता जैन ने ऐसी मानसिकता की रुग्णता पर बड़ी बेबाक टिप्पणी करते हुए लिखा था, "पुरुष आलोचकों की शराबी-शामों का सरूर ही व्यर्थ हो जाए, यदि निंदा पुराण में किसी लेखिका को आड़े हाथों न लिया जा रहा हो या उससे भी आगे चलकर उसके निजी जीवन या उससे अपनी अपेक्षाओं को लेकर सीधे-सीधे निर्वसन न किया जा रहा हो।"

सुनीता जैन ने स्वयं अपने अनुभवों से ऐसी मानसिकता को शब्द दिए हैं, "जो औरत लिखती है, वह घर की चारदवारी की सुरक्षा में नहीं है। 'बोल' कर उसने अपने सम्मान की सीमा-रेखा का उल्लंघन कर लिया। अब वह एक क्रय योग्य वस्तु (Commodity) है जिसे जब चाहो, अपमानित-आमंत्रित कर लो। इसमें इसी कोटि की स्त्री मानसिकता को भी जोड़कर पुरुष की सोच का नमूना कुछ इस तरह बनता है—अपमान जैसी कोई बात तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि छपास कई भारी लेखिका छपने के लालच में, पुरस्कार के लालच में उसे अपमान मानेगी ही नहीं, न किसी से कहेगी।"

हम सभी एक ऐसे स्वस्थ समाज की कल्पना करते हैं जहां स्त्री-पुरुष उन्मुक्त मन से, कुंठारहित होकर एक-दूसरे से मिलते हैं और एक-दूसरे के साथ सहयोग करते हैं। ऐसे समाज में सहकारिता और सहभागिता ही महत्वपूर्ण होती है और सहकर्मी का पुरुष या स्त्री होना हमारे मन की जकड़न नहीं बन जाता है। वहां किसी की प्रतिभा और उपलब्धि इसलिए दोयम दर्जे की नहीं बन जाती है कि वह स्त्री है और यह भी

कि किसी को इसलिए नहीं उछाला जाता है अथवा अनावश्यक प्रश्रय दिया जाता है कि वह स्त्री है। ऐसा समाज सबसे पहले साहित्यकर्मियों के बीच पनपता है अथवा पनप सकता है।

किन्तु हमारी मानसिकता नारी को केवल नारी के रूप में देखने की आदी हो गई है। इस मानसिकता में नारी भोग्या है, गृहिणी है, घर की चारदीवारी उसके लिए सुरक्षित स्थान है वह सदा पुरुष के संरक्षण में जीती है, बेटी होकर पिता, विवाहिता होकर पति और पतिविहीन होने पर पुत्र के संरक्षण में। उसका अपना कोई 'स्व' नहीं है। उसका 'स्व' पुरुष निर्धारित करता है। जब कभी वह इन सीमाओं से बाहर निकलती है तो मर्यादाओं का हनन होता है। ऐसी स्थिति में पुरुष का उसे एक कमॉडिटी मान लेना और उससे उसी प्रकार का व्यवहार करना स्वाभाविक है अथवा उसका अधिकार बन जाता है।

समाज ऐसी मानसिकता से कब और कैसे मुक्त होगा, कहना बहुत कठिन है। किन्तु यदि संस्कृतिकर्मी, साहित्यकर्मी और प्रबुद्धजन भी इसी मानसिकता से घिरे दिखाई दें तो खेद अवश्य होता है।

(दैनिक जागरण, 16 नवम्बर, 2000)

28

अखंडता की भावना के प्रतीक भाई वीर सिंह

भाई वीर सिंह को आधुनिक पंजाबी साहित्य का जनक माना जाता है। उनका जन्म 5 दिसम्बर 1872 को हुआ था। भाई वीर सिंह के नाना पंडित हजारा सिंह संस्कृत, ब्रजभाषा और फारसी के विद्वान् थे। उनके पिता डॉ. चरन सिंह ब्रजभाषा के कवि थे। इस प्रकार भाई वीर सिंह ने भाषा और साहित्य से भरे वातावरण में अपनी आंखें खोली थीं।

भाई वीर सिंह बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार थे। उन्होंने कविता लिखी—प्रबन्धात्मक भी और मुक्तक भी। उपन्यास लिखे और गुरुवाणी की व्याख्या पर अनेक ग्रंथों की रचना की। उन्होंने दसों सिख गुरुओं के जीवन की घटनाओं और उनके आदर्शों पर विशाल ग्रंथों की रचना की। उन्हें 85 वर्ष की आयु प्राप्त हुई। जीवन की अंतिम सांस तक वे निरन्तर लिखते रहे।

भाई वीर सिंह मूलतः रहस्यवादी प्रकृति के कवि थे। रहस्यवादी कवि प्रकृति के कण-कण में एक अखंड सत्ता की ज्योति को प्रकाशित होते हुए अनुभव करता है। यह अखंड सत्ता उसकी अंतरात्मा में नूर की तरह चमकती है। इस ज्योति को पा लेने के लिए आत्मा भटकती है। वह उसे स्वप्न में मिले सच की तरह अनुभव तो करती है पर चैतन्यावस्था में उसे ग्रहण नहीं कर पाती। भाई वीर सिंह अपनी एक कविता में कहते हैं—

> स्वप्न तुम मिले हमें
> हमने दौड़कर गलबहियां डाल दीं
> तुम नितांत प्रकाश हाथ न आए
> हमारी कलाई कांपती रह गई

दौड़कर चरणों पर शीश झुका दिया,
हमारे माथे ने स्पर्श न पाया,
तुम ऊंचे, हम नीचे थे,
हमारा कोई बस न चला।।

भाई वीर सिंह की कविता, उनके व्यक्तित्व की मूल प्रकृति, भक्तिकाल के संतों और उनकी रचनाओं जैसी है। संतकाव्य में परमात्मा को पाने की जो व्यग्रता संत कवि व्यक्त करते हैं भाई वीर सिंह की कविता में वही व्यग्रता दिखाई देती है। प्रियतम से बिछुड़ने की व्याकुलता में कहीं रोष या शिकायत का स्वर नहीं है, उसमें पूर्ण समर्पण और कृतज्ञता का भाव है। अपनी एक कविता में वे कहते हैं–

आपने तोड़ा हम टूट गए बिछुड़ गए थे डाल से।
आपने सूंघा फिर फेंक दिया, बिछुड़ गए हम आप से।।
राहगीरों ने पैरों तले रौंदा, किया पंखुड़ी पंखुड़ी।
पर कृतज्ञता छुवन तुम्हारी का, अभी न भूला मुझको।।

भाई वीर सिंह की कविता अनन्तता और अखंडता की प्रेम में डूबी हुई कविता है। यह अनन्तता उस रहस्यमयी शक्ति के साथ ही सम्पूर्ण सृष्टि और उसके जीवों में व्याप्त है। इस अनंतता के साथ जो जुड़ता है, वह संवेदनशील हृदय दुनिया के साथ जुड़ जाता है। दुनिया में दुखों का कोई अंत नहीं। कवि हृदय इस दुख को देखकर द्रवित हो उठता है–

दुनिया का दुख देख देख
दिल डूबता डूबता जाता।
अंतर द्रवीभूत हो चलता
नयन नीर बरसाता।
फिर भी दर्द न घटे जगत् का,
चाहे खुद को वारों,
पर पत्थर बना नहीं जाता,
दर्द देख दुख आता।।

मानवीय जीवन के दुख-दर्द से जुड़ी रचना ही रचना और रचनाकार को महान् बनाती है।

राणा सूरत सिंह भाई वीर सिंह की एक महत्वपूर्ण महाकाव्यात्मक रचना है। यह अठारहवीं सदी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। इसमें राणा सूरत के आदर्श चरित्र का चित्रण किया गया है। यह एक आदर्श मानव है–

दैवी मूरत संत, गुरुमुख सुंदर,
राज योग्य, प्रवीण, सहज संलग्न

सूरत सिंह सुजान; पर उपकारी,
अनन्य भक्त, जगतार, प्रियतम सभी का।

उसकी रानी राजकौर एक संघर्षशील नारी की प्रतीक है। ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न होती हैं कि उसे बाहरी शत्रुओं से तो संघर्ष करना ही पड़ता है, अपने अंदर भी युद्ध करना पड़ता है। संस्कृत महाकाव्यों में देव-दानव संघर्ष का चित्रण किया जाता है। भाई वीर सिंह ने अपने इस महाकाव्य को बहिर्मुखी संघर्षों तक सीमित न रखकर इसे अन्तर्मुखी व्यापक संघर्ष के साथ जोड़ दिया था।

भाई वीर सिंह ने अनेक ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की। 'सुंदरी' नामक उपन्यास जिसे भाई वीर सिंह ने अपने स्कूल जीवन में ही लिखा था, पंजाबी साहित्य का पहला उपन्यास माना जाता है। इसका प्रथम प्रकाशन 1898 में हुआ था। अठारहवीं शती की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में लिखे गए इस उपन्यास में सुंदरी नाम की युवती के वीरता से भरे, कार्यों को आधार बनाया गया है। सुंदरी किस प्रकार आततायियों द्वारा जबरन ले जाई जाती है, किस प्रकार वह अपने मान-सम्मान की रक्षा करती है, किस प्रकार वह अपने समय के आज़ादी के दीवानों के जत्थों के साथ मिलकर उनकी सहायता करती है और किस प्रकार वह जीवन में अनेक कष्टों को झेलती हुई मृत्यु को प्राप्त होती है, इसका बड़ा मार्मिक विश्लेषण इस उपन्यास में किया गया है।

इसके बाद भाई वीर सिंह के दो और ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित हुए 'बिजै सिंह' और ''सतवंत कौर''। इन दोनों उपन्यासों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी 18वीं सदी का पंजाब है। बिजै सिंह अपने समय की अन्यायी शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ता है। इस मार्ग पर उसे अनेक कष्ट झेलने पड़ते हैं, कितनी ही बार वह बंदी बनाया जाता है, कितनी बार वह अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष करता है। बिजै सिंह की पत्नी सुशील कौर को शासक वर्ग के लोग जबरदस्ती उठा ले जाते हैं। नवाब सुशील से जबरन शादी करना चाहता है। ऐसी स्थिति में सबीरशाह नाम का फकीर उसकी रक्षा करता है। अंत में बिजै सिंह युद्ध में लगे घावों के कारण मृत्यु को प्राप्त करता है।

''सतवंत कौर'' उपन्यास की कहानी बहुत मार्मिक है। वह विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा अन्य अनेक भारतीय लड़कियों के साथ बंदी बनाकर काबुल ले जाई जाती है। संयोग से वहां सतवंत कौर को एक ऐसा परिवार मिल जाता है जिसकी बेगम उसकी पूरी सहायता करती है। सतवंत उसकी मदद से अपने देश को वापसी की यात्रा शुरू करती है। यह यात्रा अनेक संकटों और आपदाओं से घिरी हुई है। उसे कितनी बार कल्पनातीत कष्टों का सामना करना पड़ता है। सभी तरह की मुश्किलों के बीच ईश्वर से उसका भरोसा नहीं टूटता और अंत में वह अपने घर वापस आने, अपने सम्मान की रक्षा करने में सफल हो जाती है।

भाई वीर सिंह के ये तीनों उपन्यासों की मूल प्रेरणा एक ही है—अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष, परन्तु इस संघर्ष के लिए यह आवश्यक है कि संघर्षशील व्यक्ति का चरित्र बहुत ऊंचा हो, उसके सम्मुख महत्तर आदर्श हों, उनमें

बृहत्तर मानवीय मूल्यों की गहरी समझ हो और वे व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं की अपेक्षा सामाजिक कल्याण की भावना से प्रेरित हों। ऐसे चरित्र ही लोगों के लिए प्रेरणा और उत्साह के स्रोत बनते हैं।

भाई वीर सिंह का चौथा उपन्यास ''बाबा नौधसिंह'' समसामयिक पृष्ठभूमि पर लिखा हुआ उपन्यास है, परन्तु इसके पीछे की प्रेरणा और मन्तव्य वही है जो उनके पहले तीन उपन्यासों का है। इस उपन्यास में भारत में बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में चल रहे अनेक सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों की चर्चा है। बाबा नौधसिंह पंजाब के एक गांव में रहता है। सीधी-सादी ग्रामीण पृष्ठभूमि में रहने वाला बाबा नौधसिंह उसी आदर्श और उन्हीं गुणों का स्वामी है जो सुंदर, बिजै सिंह या सतवंत कौर में हैं। उसका जीवन भूले-भटकों की सहायता करना और उन्हें सच्चाई के रास्ते पर लाना है।

भाई वीर सिंह ने अपनी लेखनी के माध्यम से बहुत से काम किए। उन्होंने अनेक प्राचीन ग्रंथों की खोज की, उनका संपादन किया और उनकी विस्तृत टीकाएं लिखीं। भाई रतन सिंह भंगू के विशाल ग्रंथ 'पंथ प्रकाश' की व्याख्या की। गुरु नानक की अनेक जन्म साखियां उस समय प्रचलित थीं। भाई वीर सिंह ने लंदन के इंडिया आफिस वाली जन्म साखी का अध्ययन किया और उसे संपादित किया। भाई वीर सिंह द्वारा किया गया दूसरा महत्वपूर्ण कार्य उन्नीसवीं सदी के महान् कवि भाई संतोष सिंह द्वारा रचे गए 'गुरु प्रताप सूरज' गंथ की टीका करना था।

भाई वीर सिंह द्वारा दसों गुरुओं के जीवन और आदर्शों पर लिखे गए ग्रंथों का विशेष महत्व है। गुरु नानक चमत्कार, अष्टगुरु चमत्कार और गुरु गोविंद सिंह चमत्कार कई हज़ार पृष्ठों में फैले हुए ग्रंथ हैं। इन रचनाओं के माध्यम से भाई वीर सिंह ने दसों गुरुओं के जीवन-कार्यो को जिस व्यापक दृष्टि से व्याख्यायित किया है उसके महत्व का मूल्यांकन करना सरल नहीं है। बाद की लिखी हुई अनेक रचनाओं पर इन ग्रंथों का बड़ा गहरा प्रभाव है।

भाई वीर सिंह का साहित्यिक व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली था। पंजाबी साहित्य में उनके समकालीन और उनके बाद आने वाली लेखन पीढ़ी और उनसे बहुत प्रभावित हुई। पंजाबी कविता में उनके माध्यम से नवरहस्यवाद का जन्म हुआ। उनके समकालीन लाला धनीराम यात्रिक, प्रो. पूरन सिंह, डॉ. मोहन सिंह दीवाना, प्रो. मोहन आदि अनेक कवि उनके प्रभा-मंडल में थे। 1953 में उन्हें उनकी कविता पुस्तक 'मेरे साइयां जीओ' के लिए साहित्य अकादमी के पुरस्कार से सम्मानित किया गया। 1949 में उन्हें पंजाव विश्वविद्यालय ने—''डॉक्टर आफ ओरियेन्टल लर्निंग'' से सम्मानित किया। विश्वविद्यालय ने यह सम्मान उनके निवास स्थान पर जाकर उन्हें प्रदान किया।

भाई वीर सिंह के लिए कोई भी सम्मान बहुत छोटा सम्मान था। वे मान-सम्मान और प्रसिद्धि की कामना से बहुत दूर रहने वाले संत कवि थे। पंजाब, पंजाबी जीवन, पंजाबी साहित्य पर उनका व्यापक प्रभाव हुआ। इसके कारण उन्हें पंजाब की छठी नदी कहकर सम्बोधित किया जाता है।

(दैनिक जागरण, 17 दिसम्बर, 2000)

29
साम्प्रदायिक सद्भावना में लेखकों की भूमिका

साम्प्रदायिक विद्वेष और कलह की लम्बी पृष्ठभूमि पर यदि विचार किया जाए और आज के संदर्भ से उसे विशेष रूप से जोड़ा जाए तो ऐसा लगता है कि ऐसा सद्भाव उत्पन्न करने में लेखकों की भूमिका का प्रश्न नहीं है, लेखकों की ही भूमिका का प्रश्न है।

धर्मों, मतों, सम्प्रदायों, जातियों, कबीलों और राष्ट्रों का जन्म और विकास क्यों और किस प्रक्रिया में होता है? मनुष्य अकेला नहीं रह सकता। वह अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए और उसे अधिक सुंदर, सुखपूर्ण और सार्थक बनाने के लिए छोटे-छोटे समूह बनाता है जो विकसित होते-होते उपरिलिखित अनेक वर्गों का रूप धारण कर लेते हैं। यह प्रक्रिया सहज भी है और स्वाभाविक भी। मनुष्य को इससे विरत नहीं किया जा सकता। इसलिए प्रश्न यह नहीं है कि ऐसे वर्ग बनते क्यों हैं, प्रश्न है कि ऐसे वर्गों में आपसी द्वेष और टकराव क्यों शुरू होता है?

मानव जाति का ऐतिहासिक विश्लेषण यह सिद्ध करता है कि सम्पत्ति और सत्ता की लालसा ही व्यक्तियों, वर्गों और समूहों के बीच विद्वेष और विग्रह उत्पन्न करती है। स्वाभाविक है कि मनुष्य के साथ यह लालसा जब तक जुड़ी रहेगी, यह विग्रह भी किसी-न-किसी रूप में कायम रहेगा।

परन्तु यह मानवीय जीवन का एक पक्ष है। मनुष्य यदि सम्पत्ति और सत्ता के लिए ही आपस में लड़ता रहता तो वह आदिम मनुष्य की उस प्रकृति से ही घिरा रहता जो उसे पशु संसार की परिधि से बाहर नहीं निकलते देती, किन्तु मनुष्य पशु की अपेक्षा अधिक सचेतन, अधिक संवेदनशील, अधिक विचारवान् बनने की प्रक्रिया में अग्रसित

था इसलिए अपनी सभी मूल प्रवृत्तियों को उसने संस्कार देना शुरू किया। इसी बिंदु से एक शाश्वत टकराव शुरू हुआ—ऐ और वे प्रवृत्तियां जो सांसारिक सुखों की लालसा के लिए सभी प्रकार के विग्रह को अपनाने और क्रियान्वित करने के लिए तैयार थीं और दूसरी वे जो मनुष्य को निरन्तर संस्कारक्षम बनाने के लिए, उसे अधिक चेतना सम्पन्न संवेदनशील और आत्मिक दृष्टि से जागरूक बनाने के लिए गतिशील थीं। यहीं से मानवीय समाज में धर्म, साहित्य, संस्कृति की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका आरम्भ होती है।

संसार के सभी धर्मों के लिए जो उपदेश बोले या लिखे गए, शास्त्र बने। आचार संहिताएं बनीं, उनमें बहुत दूर तक साहित्य का आधार स्वीकार किया गया, ऐसी रचनाएं साहित्य की परिधि में आ गईं। किन्तु संसार में कई बार ऐसा हुआ है जब सम्पत्ति और सत्ता के लोभियों ने धर्म का अपने हित के लिए दुरुपयोग किया है, उसे अपने स्वार्थों की पूर्ति का हथकंडा बनाया है, विद्वेष और विग्रह के निर्माण में उसका मुखौटा सजाया है। मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि ऐसी शक्तियां अपने हित साधन के लिए साहित्य का दुरुपयोग उस मात्रा में नहीं कर सकीं जिस मात्रा में धर्म का। इसलिए साम्प्रदायिक सद्भाव के निर्माण में धार्मिक पुरुषों की अपेक्षा लेखकों, साहित्यकारों की भूमिका मुझे सदा ही अधिक महत्वपूर्ण लगी है, आज के संदर्भ में विशेषरूप से।

मानव इतिहास में ऐसे उदाहरण कम नहीं हैं कि जब मनुष्य ने स्पष्ट रेखाएं खींचकर अपने आपको हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध या सिख जैसे घेरों में घेर लिया। धर्म से जुड़े अधिसंख्य लोग भी धर्म की मानवीय परिधि को छोटा करके अपनी सीमित धार्मिक संज्ञाओं के साथ जुड़ गए। ऐसी स्थितियों में लेखकों का बहुमत हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या सिख न बनने की अपनी एकमात्र पहचान न बनाकर लेखक बना रहा और अपने दायित्व का वहन करता रहा।

आधी सदी से अधिक पूर्व हुए इस देश के विभाजन का ज्वलन्त उदाहरण हमारे सामने है। उस देश में धार्मिक उन्माद और साम्प्रदायिक विद्वेष की ऐसी आंधी चली थी कि उसमें सभी वर्गों और स्तरों के लोग बहते हुए दिखाई दे रहे थे। मानव इतिहास के उस सबसे बड़ी त्रासदी में धर्म के झंडे को सबसे अधिक ऊंचा करके लहराया जा रहा था। उस उन्मादपूर्व वातावरण में राजनीति घुटने टेक चुकी थी और संस्कृति लहू-लुहान हुई दिख रही थी। उस समय संभवतः लेखकों का ही एक ऐसा वर्ग था जिसके पैर ज़मीन से उखड़े नहीं थे। सआदत हसन मंटों की एक कहानी—'टोबा टेक सिंह' का पागल नायक असंख्य लोगों की लाशों पर उसारे गए देश के विभाजन पर लानत भेजता हुआ उसे असंगत और अर्थहीन घोषित कर देता है। अमृता प्रीतम की एक कविता-अज आंखां वारस शाह नूं—मानवीय करुणा को अपनी सम्पूर्णता में समेट लेती है।

लेखक के सामने सदा ही एक चुनौती रही है। धन और सत्ता की शक्तियां उसे अपने पक्ष में लाने के लिए सदा ही प्रयत्लशील रहीं है। कवियों/साहित्यकारों को राज्याश्रय प्रदान करने की पुरानी परम्परा है। साहित्यकारों का एक वर्ग यह राज्याश्रय

स्वीकार भी करता है और कई बार लोभ-लालचवश वैसा भी लिखता रहा है जो साहित्यिक मूल्यों की अपेक्षा आश्रयदाता की अधिक तृप्ति करता था। किन्तु ऐसे साहित्यकार ही अपने वर्ग का सही प्रतिनिधित्व करते रहे जो महत्तर आदर्शों के लिए धन और सत्ता के प्रलोभनों को ठिठुराते रहे। तुलसीदास ने अपने एक दोहे में कहा था–

हम चाकर रघुनाथ के पटो लिखी दरबार।
तुलसी अब क्या होंहिगे नर के मंसबदार।।

जो लेखक नर की मंसबदारी को छोड़ सकता है, वही सच बात कह सकता है, समाज के नैतिक मूल्यों के पक्ष में आवाज उठा सकता है, वही साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाने वाली शक्तियों को चुनौती दे सकता है, वही सद्भाव निर्माण की दिशा में सार्थक प्रयास भी कर सकता है। वही सर्वधर्म समभाव का निर्माण कर सकता है।

विभेदक तत्वों को नकारकर मानवीय एकता की स्वीकृति के लिए साहित्यकारों को कई बार निर्भयतापूर्वक खरी बात कहनी पड़ती है। सत्ता-प्रतिष्ठान और साम्प्रदायिक तत्व ऐसी खरी बात सुनने के आदी नहीं होते, किन्तु लेखक की अपनी भी मजबूरी होती है। वह अपने रचना धर्म से विरत कैसे हो जाए? अठारहवीं सदी का पंजावी सूफी कवि बुल्लेशाह अपनी एक काफी में बड़ी खरी बात कहता है–

मूंह आई बात न रहिन्दी ए,
झूठ आंखों से कुछ बचदा ए
सच आखिआं भांबड़ मचदा ए
जी दोहां गलां तो जचदा ए
जच जच के जिहबा कहिंदी ए
मूंह आई बात ना रहिंदी ए।

परन्तु सच बात क्या है जिसे कहने में बुल्ले शाह को संकोच हो रहा है? विभेद और साम्प्रदायिक तत्व इन्सान को बांटने की प्रक्रिया में भगवान को भी बांट देते हैं। वे राम को रहीम के मुकाबले में खड़ा कर देते हैं, वे वासुदेव को वाहिगुरु से भिड़ा देते हैं। आज की स्थिति तो ऐसी है कि राम को राम से लड़ाने का कुचक्र किया जा रहा है, किन्तु बुल्लेशाह इसे स्वीकार नहीं करता। वह कहता है–

इक लाज़म बात अदब दी ए
सानू बात मलूमी सभी दी ए
हर हर विच सूरत रब्ब दी ए
किते जाहर किते छुपेंदी ए
मूंह आई बात न रहिंदी ए।

मानवीय एकता की इस सद्भावना को गुरु गोविंद सिंह ने अधिक व्यापक स्तर पर, अधिक आग्रह के साथ अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है। वे मनुष्य और मनुष्य

में कोई भेद उसकी जाति, रंग, धर्म या परिवेश के कारण स्वीकार नहीं करते। मानवीय एकता के तत्व को वे आधार-भूत मानते हैं और हर दृश्यमान विभिन्नता को मात्र वातावरण जनित घोषित करते हैं—

कोऊ भयो मुंडिया संनिआसी कोऊ जोगी भयो,
कोऊ ब्रह्मचारी कोऊ जाति अनुमानबो,
हिन्दू तुरक कोऊ राफ जी इमाम शाफी,
मानस की जात सबै एकै पहचानबो।
करता करीम सोई राजक रहीम ओई,
दूसरो न भेद कोई भूल भ्रम मानबो।।
एक ही की सेव, सभी ही को गुरुदेव एक
एक ही सरूप सबै एकै जीत जानबो।।

पंजाब के हर लेखक ने यह कामना की यह संताप दूर हो। हरभजन सिंह हुंदल ने अपनी एक कविता में कहा था—

यह जो माथे का कलंक बनकर निकलता है दिन
यह जो सहम की चुड़ैल बनकर उतरती है रात
यह जो भयाक्रान्त चेहरे लेकर मिलते हैं मित्र
यह जो लुकाछिपी खेलते बच्चों को
डराना सीख गई हैं माएं
यह जो लोहड़ी के गीत गाना बन गया है पाप
आखिर कब ख़त्म होगा मातम के मौसम का संताप।

कल तक यह मातम का मौसम पंजाब में था, आज सम्पूर्ण देश इसकी गिरफ्तार में आ गया है। 6 दिसम्बर, 1992 को जो दुर्भाग्यपूर्ण घटना घटी उसने साम्प्रदायिक विद्वेष को सम्पूर्ण देश में फैला दिया है।

ऐसी स्थिति में लेखकों का दायित्व और बढ़ गया है। वे वैसी ही रचनाएं लिख रहे हैं जैसी कि उनसे अपेक्षा की जाती है। किन्तु मेरी मान्यता है कि आज की स्थितियों में उन्हें साम्प्रदायिक सद्भाव के निर्माण के महत्वपूर्ण कार्य में केवल साहित्य रचकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं मान लेनी चाहिए। उन्हें जन-मानस के बीच जाकर इसके लिए सक्रिय सार्थक भूमिका निभानी चाहिए।

(दैनिक जागरण, 14 दिसम्बर, 2000)

30
मॉरीशस में हिन्दी की स्थिति संतोषजनक नहीं है

मॉरीशस को लघु भारत कहा जाता है। भारतवंशी लोगों की गिनती वहां लगभग 70 प्रतिशत है। वहां दो बार विश्व हिन्दी सम्मेलन हो चुका है। आजकल वहां विश्व हिन्दी सम्मेलन का केन्द्रीय सचिवालय बन रहा है। महात्मा गांधी संस्थान, इंदिरा गांधी सांस्कृतिक केन्द्र, टैगोर संस्थान, हिन्दी प्रचारिणी सभा आदि अनेक संस्थाएं हैं, जिन्हें भारत सरकार की भरपूर सहायता प्राप्त है और जो वहां भारतीय संस्कृति और हिन्दी के शिक्षण और प्रचार के लिए काम कर रही हैं।

भारतीय पुस्तकों की प्रदर्शनी वहां प्रायः लगती रहती है। इस वर्ष 8 से 13 फरवरी तक मॉरीशस की एक प्रकाशन संस्था द एडिशन्स डी ल' ओसन इंडियन, इंदिरा गांधी सांस्कृतिक केन्द्र (मॉरीशस), फेडरेशन ऑफ इंडियन पब्लिशर्स और नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया की ओर से संयुक्त रूप से भारतीय पुस्तकों की प्रदर्शनी लगाई गई। भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय में इस वर्ष यह निर्णय लिया गया कि इस अवसर पर कुछ हिन्दी लेखकों को भी वहां भेजा जाए जो मॉरीशस के हिन्दी लेखकों के साथ संवाद करें तथा वहां इस अवसर पर आयोजित संगोष्ठियों में भाग लें। मुझे भी लेखकों के प्रतिनिधि- मंडल के साथ इस देश में जाने का अवसर मिला।

यह मेरी पहली मॉरीशस यात्रा थी। इस देश के बहुत से हिन्दी लेखक एक अथवा अनेक बार वहां की यात्रा कर आए हैं और उनसे मैंने उस देश और वहां हिन्दी की स्थिति के विषय में बहुत कुछ सुन रखा था। मॉरीशस के हिन्दी लेखकों से दिल्ली में अनेक बार मेरी भेंट हुई है और अभिमन्यु अनत जैसे लेखकों की रचनाओं से मुझे उन स्थितियों का भी परिचय मिला है, जिनमें भारत से किस प्रकार अंग्रेज सरकार

ने एग्रीमेंट करके बहुत से लोगों को कुली बनाकर मॉरीशस ले गईं। एग्रीमेंट बदलकर गिरगिट हो गया और इन भारतीय कुलियों के लिए 'गिरगिटिए' शब्द प्रचलित हो गया।

मॉरीशस का इतिहास बहुत रोचक है। इस द्वीप पर लोग लहरों की तरह आते रहे। सबसे पहले अरब निवासी नाविकों ने 15वीं शती में इस द्वीप की खोज की। 16वीं शती में पुर्तगालियों ने इस पर अपना अधिकार जमा लिया। इसी शती के मध्य में हॉलैंड निवासी डच लोगों ने इसे अपने कब्जे में ले लिया। इसे मॉरीशस नाम भी उन्हीं के द्वारा दिया गया। 17वीं शती के प्रारम्भ में यह द्वीप फ्रान्सीसियों के अधिकार में आ गया। फ्रांसीसी अपने साथ अफ्रीका के कुल लोगों को गुलाम बनाकर ले आए। बाद में इन अफ्रीकी गुलामों की संख्या यहां निरन्तर बढ़ती गई। ऐसे अधिसंख्य गुलाम गोरी जातियों द्वारा पूर्वी अफ्रीकी देशों से यहां लाए जाते थे।

18वीं शती के प्रारम्भ में अंग्रेजों ने इस द्वीप को फ्रान्सीसियों से छीनकर उसे अपना उपनिवेश बना लिया। कुछ फ्रान्सीसी परिवार यहां आकर बस चुके थे। कुछ अंग्रेजी परिवार भी यहां आकर बस गए। उनके समय में यहां गन्ने की खेती को बहुत प्रोत्साहन मिला। 1829 में 400 चीनी परिवारों को यहां आकर बसने की अनुमति मिल चुकी थी। 1835 में गुलामी की प्रथा समाप्त हो गई थी। गन्ने की खेती के लिए अंग्रेजों को मजदूरों की ज़रूरत थी। ऐसी स्थिति में भारत से (विशेष रूप से भोजपुरी क्षेत्र से) 2-3 वर्ष के अनुबंध पर कुलियों की व्यापक रूप से भर्ती की गई। ये सभी लोग अन्ततः वहीं बस गए।

मॉरीशस में गुजरात से बहुत से मुस्लिम परिवार यहां व्यापार करने के लिए आ गए। तमिल, तेलुगु और मराठी भाषी लोग भी थोड़ी संख्या में यहां पर हैं।

मॉरीशस की कुल जनसंख्या लगभग 12 लाख की है। इसमें 70 प्रतिशत भारत से गए लोग हैं। हिन्दी भाषी 35 प्रतिशत गुजराती, तमिल 8 प्रतिशत, उर्दू भाषी 16 प्रतिशत, तेलुगुभाषी 55 प्रतिशत और मराठी भाषी 3-4 प्रतिशत हैं। शेष बंगाली और बहुत थोड़े पंजाबी भाषी हैं।

150 वर्ष के अंग्रेजी शासन के बावजूद मॉरीशस पर फ्रांसीसी प्रभाव बहुत है। अंग्रेजों ने भी इस प्रभाव को कम करने का कोई प्रयास नहीं किया। वहां प्रवेश करते ही आप को सभी साइनबोर्ड, मार्गदर्शक संकेत, बैंकों, व्यापारिक प्रतिष्ठानों के नाम फ्रान्सीसी और अंग्रेजी भाषा में लिखे दिखाई देते हैं। जितने समाचार-पत्र मुझे दिखाई दिए वे सभी फ्रान्सीसी भाषा में थे। सार्वजनिक जीवन में सबसे अधिक प्रचलित भाषा क्रोइली है। क्रोइली लोग फ्रान्सीसी, अफ्रकी और मलागासी मूल की मिली-जुली नस्ल के लोग हैं। क्रोइली मिली-जुली भाषा है, जिसे विकृत फ्रान्सीसी कहा जा सकता है।

मॉरीशस में हिन्दी भाषी लोगों का सबसे बड़ा वर्ग है, किन्तु राजकीय स्तर पर हिन्दी को किसी प्रकार की मान्यता प्राप्त नहीं है। यह अवश्य है कि वहां की मुद्रा को रुपया कहा जाता है और करेन्सी नोटों पर फ्रान्सीसी और अंग्रेजी के साथ ही तमिल तथा हिन्दी में उनका मूल्य अंकित होता है। इतनी बड़ी संख्या में हिन्दी भाषाभाषियों के होते हुए भी वहां से कोई हिन्दी दैनिक अथवा साप्ताहिक पत्र प्रकाशित

नहीं होता। जबकि उसकी बहुत गुंजाइश होनी चाहिए। हिन्दी पुस्तकों के प्रकाशन की वहां कोई व्यवस्था नहीं है। लगभग सभी लेखक अपनी रचनाओं को भारत से प्रकाशित करवाते हैं।

यह बात मैंने मॉरीशस में पहले दिन की संगोष्ठी में कही थी कि जिस भाषा को राजकीय और प्रशासनिक स्तर पर मान्यता प्राप्त नहीं होती है, उसके बोलने वाले और भावनात्मक स्तर पर उसके साथ कितना भी लगाव महसूस करने वाले लोग क्यों न हों उस भाषा की सर्वांगीण उन्नति नहीं होती और धीरे-धीरे वह मरती चली जाती है। मॉरीशस में अपने स्नेहियों और मित्रों में अंग्रेजी का प्रयोग करने वाले 10 प्रतिशत लोग हैं और फ्रांसीसी का इसी प्रकार प्रयोग 85 प्रतिशत लोग करते हैं। हिन्दी (भोजपुरी मिलाकर) बोलने वालों की संख्या इनसे अधिक है। कोई कारण नहीं कि इन दो भाषाओं के साथ ही हिन्दी को भी वही स्थान प्राप्त हो।

सौ वर्ष पहले इस देश में भी हिन्दी की स्थिति लगभग ऐसी ही थी। उत्तर भारत के अनेक भागों में उर्दू का बोलबाला था। अदालतों, थानों तथा अन्य अनेक सरकारी कार्यों में उर्दू का उपयोग होता था। इसका परिणाम यह हुआ था कि उर्दू रोजगार से जुड़ गई थी। सरकारी नौकरी पाने के लिए उर्दू जानना बहुत जरूरी था। इसलिए लोग अपने बच्चों को उर्दू पढ़ाते थे। हिन्दी प्रदेशों में धीरे-धीरे अदालतों और अन्य सरकारी कामों में देवनागरी में लिखी अर्जी को भी स्वीकार किया जाने लगा, चाहे भाषा पर प्रभुत्व उर्दू का ही था। विभाजन के बाद स्थिति बदल गई। अनेक राज्यों में वहां की क्षेत्रीय भाषाओं को राजभाषा बनने का गौरव मिलने लगा और अनायास ही उर्दू अपने राजकीय सम्मान को खोने लगी। आज वह केवल जम्मू-कश्मीर राज्य की राजभाषा है किन्तु इसकी कीमत कश्मीरी और डोगरी जैसी भाषाओं को चुकानी पड़ रही है।

उत्कृष्ट साहित्य की सम्पदा से सम्पन्न उर्दू इस देश में अपना महत्व धीरे-धीरे खोती चली जाएगी। कारण स्पष्ट है कि उर्दू अब रोजी-रोटी की भाषा नहीं रही है। सारे भावात्मक लगाव के बावजूद मुसलमान घरों की नई पीढ़ी उर्दू भूलती जा रही है और हिन्दी में अपनी सिद्धता बढ़ाती जा रही है, क्योंकि हिन्दी का अध्ययन उन्हें अपनी रोजी-रोटी कमाने में अधिक सहायक है।

इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण पंजाब का है। विभाजनपूर्व तक सारे पंजाब पर उर्दू का ही वर्चस्व था। विभाजन के बाद भारतीय (पूर्वी) पंजाब में उर्दू का स्थान पंजाबी और हिन्दी (हरियाणा में) ने ले लिया है। पिछले कुछ ही वर्षों ने पंजाबी भाषा ने जितनी प्रगति की है उतनी उसने पिछले आठ सौ वर्ष में नहीं की। कारण स्पष्ट है। आज वह पंजाब की राजभाषा है। यह स्थान उसे इससे पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था।

किन्तु पाकिस्तानी पंजाब में अभी भी राजभाषा उर्दू है। वहां पंजाबी को यह स्थान प्राप्त नहीं है। वहां वह केवल बोलचाल की भाषा है। वहां भी बहुत से लोग पंजाबी से बेहद लगाव रखते हैं, उसमें साहित्य की रचना करते हैं किन्तु अपनी जीविका कमाने के लिए उर्दू का ही सहारा लेना पड़ता है। इसी का परिणाम यह है कि वहां

पंजाबी की प्रगति नाममात्र की है।

मॉरीशस में भी यदि हिन्दी को राजकीय स्तर पर मान्यता प्राप्त नहीं होती है तो उसका सर्वांगीण विकास सम्भव नहीं है।

मॉरीशस की अपनी इस यात्रा में मैंने यह भी अनुभव किया कि वहां के हिन्दी प्रेमी लेखकों/अध्यापकों/प्रचारकों में कोई ठीक-ठाक तालमेल भी नहीं है। इनका कोई संगठित प्रबल मंच नहीं है, जिसके माध्यम से ये हिन्दी के लिए किसी प्रकार का संघर्ष कर सकें। यह भी एक विडम्बना है कि अंग्रेजी गुलामी से मुक्त होने के पश्चात् (12 मार्च 1968 को मॉरीशस स्वतंत्र हुआ) शासन की बागडोर भोजपुरी मूल के सर शिवसागर रामगुलाम, उनके पुत्र नवीन रामगुलाम और विरोधी पक्ष के अनिरुद्ध जगन्नाथ के हाथों में रही है। किन्तु इनके समय में भी हिन्दी को वह स्थान प्राप्त नहीं हुआ जो हो सकता था।

मॉरीशस में जो अन्य भारतीय मूल के विभिन्न भाषा-भाषी हैं उनमें भी पारस्परिक सम्बन्ध ऐसे नहीं दिखाई देते जो उन्हें एक मंच पर ला सकें और वे किसी सामूहिक सार्थक रणनीति का निर्माण कर सकें।

जनतान्त्रिक प्रणाली की राजनीति की अपनी अनेक बाध्यताएं होती हैं। मॉरीशस की स्थिति भी ऐसी ही है। भाषा का प्रश्न वहां भी उतना संवेदनशील है जितना अपने देश में है। वहां भी अनेक भाषाओं, धर्मों के लोग हैं और उन सभी को साथ लिए बिना कोई राजनीतिक दल सफल नहीं हो सकता। मुझे वहां पता लगा था कि भाषा के प्रश्न पर वहां की पिछली, नवीन रामगुलाम की सरकार गिर गई थी।

हमारे देश में भी भाषा का प्रश्न अत्यन्त संवेदनशील है। इसलिए यहां भी राजनेता इस प्रश्न पर फूंक-फूंक कर कदम उठाते हैं। मॉरीशस में सावधानी के साथ संगठित प्रयासों की अवश्यकता है, जिसकी मुझे वहां बड़ी कमी दिखाई दी।

मेरा मानना है कि यदि प्रयासों की दिशा सही हो, आपसी सहयोग हो और अपनी वोट-शक्ति का ज्ञान हो तो अनुकूल परिणाम निकल सकते हैं। ब्रिटेन का ही उदाहरण लें। वहां भारतीय मूल के लोगों की संख्या दस लाख से ऊपर है। ब्रिटेन की कुल आबादी के लिहाज से यह गिनती बड़ी नहीं है, किन्तु चुनाव लड़ने वाले किसी भी व्यक्ति के लिए यह एक ठोस वोट बैंक है। इसलिए वहां सभी प्रत्याशी इस वर्ग को प्रसन्न रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इसी का परिणाम है कि वहां अनेक भारतीय भाषाओं पंजाबी, गुजराती, हिन्दी उर्दू आदि को स्कूलों में भी मान्यता प्राप्त है और सरकार इन भाषाओं की प्रगति के लिए पूरी सहायता भी करती है। यह देखकर किसी को भी आश्चर्यमिश्रित सुख होगा कि भारतीय आबादी वाले क्षेत्र साउथाल के स्टेशन पर गुरुमुखी अक्षरों में स्टेशन का नाम लिखा हुआ है और यह स्वागत वाक्य भी लिखा है—जी आयां नू।

कनाडा का उदाहरण और भी प्रेरक है। ब्रिटिश कोलम्बिया के सबसे बड़े नगर वैंकुवर में पंजाबी मूल के बहुत लोग हैं। आजकल तो उस प्रान्त के मुख्यमंत्री श्री उज्ज्वल दोसांझ हैं जो पंजाब के मूल निवासी हैं। वैंकुवर नगर में सड़कों के नाम अंग्रेजी के

अतिरिक्त पंजाबी (गुरुमुखी लिपि) में लिखे होते हैं और दुकानों के साइन-बोर्डों पर भी पंजाबी लिखी होती है।

यदि बहुत कम जनसंख्या होने के बावजूद पश्चिमी देशों में भारत की कई भाषाएं वहां की सरकारों द्वारा किसी भी स्तर पर, स्वीकार की जा रही हैं तो इतनी बड़ी जनसंख्या होने पर हिन्दी को मॉरीशस में योग्य स्थान प्राप्त न हो, इसे दुर्भाग्यपूर्ण ही माना जाएगा।

मॉरीशस में भारतीय संस्कृति और साहित्य की अभिवृद्धि के लिए भारत सरकार ने बहुत कुछ किया है और निरन्तर कर रही है। वहां का हमारा उच्चायोग इस दिशा में और अधिक सार्थक काम कर सकता है, ऐसा मेरा विश्वास है।

(दैनिक जागरण, 1 मार्च, 2001)

31

सरकार भी नहीं चाहती कि लोग पुस्तकें पढ़ें

वित्तमंत्री श्री यशवंत सिन्हा ने नए वर्ष का बजट पेश कर दिया है। संसद की स्वीकृति के पश्चात् वह लागू हो गया। इस बजट को लेकर अनेक प्रतिक्रियाएं आई हैं किन्तु आमतौर पर इसे एक अच्छा बजट माना गया। कोई भी बजट समाज के सभी वर्गों को सन्तुष्ट नहीं करता। हर वर्ग की अपनी समस्याएं और अपने-अपने स्वार्थ होते हैं। वह यह देखता है कि बजट के कौन-से मद उसे लाभ पहुंचाते हैं और कौन-से मद ऐसे हैं जो उसके आर्थिक बोझ को और बढ़ा देते हैं। एक लेखक होने के नाते स्वाभाविक रूप से मेरी रुचि इस बात में होती है कि यह बजट मेरे लेखन-कर्म को कितना उत्साहित या हतोत्साहित करता है।

अपना रचना-कर्म पूर्ण कर लेने के पश्चात् किसी भी लेखक के सम्मुख दो विन्दु मुख्य रूप से उभर कर आते हैं। अपनी रचना को वह किस पत्र-पत्रिका में प्रकाशित कराए और जब पांडुलिपि पूरी तरह तैयार हो तो किस प्रकाशक को वह उसे पुस्तक रूप में प्रकाशित करने के लिए दे। इसलिए जब कागज के दाम बढ़ते हैं तो प्रकाशकों के साथ ही लेखक भी चिंतित होते हैं, इसलिए कि पुस्तकें और महंगी हो जाएगी तथा उनके पाठक और कम हो जाएंगे।

वैसे देखा जाए तो आज लेखन-कर्म और प्रकाशन व्यवसाय चारों ओर से बड़ी मार खा रहा है। हिन्दी की अनेक अच्छी, साहित्यिक अभिरुचि वाली और लोकप्रिय पत्रिकाएं बंद हो गई हैं। कल्पना हो या अवन्तिका, नया साहित्य, ज्ञानोदय, धर्मयुग हो या साप्ताहिक हिन्दुस्तान, कहानी हो या नई कहानी, दिनमान या सारिका ये सभी और इन जैसी अन्य अनेक पत्रिकाएं तीन-चार दशक पहले लेखन क्षेत्र में ऐसा सजग

और चिंतनशील वातावरण बनाए हुए थीं कि इनमें छपी कोई भी रचना पाठकों में चर्चा का विषय बन जाती थी। आज यह भूले-बिसरे युग की बात बन गई है। इन पत्रिकाओं में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होने वाले उपन्यास घरेलू महिलाओं के बीच बहुत लोकप्रिय होते थे। आज ये महिलाएं घर के कामकाज से फुर्सत पाते ही टेलीविजन सेट के सामने बैठ जाती हैं और रबड़ की तरह खिंचने वाले टी.वी. धारावाहिकों में डूब जाती हैं।

अच्छी पुस्तकों के पाठक पहले भी अधिक नहीं थे, अब और आज यदि पुस्तकों की सरकारी संस्थानों द्वारा खरीद न हो और पुस्तकालयों में इनकी कुछ खपत न हो तो प्रकाशकों का दिवाला निकल जाए। कुछ वर्ष पहले तक पॉकेट बुक्स का बहुत बड़ा प्रचार-प्रसार हिन्दी में था। पांच दशक पहले हिन्द पॉकेट बुक्स ने सस्ती जेबी किताबों की जो परम्परा शुरू की थी वह बाद के वर्षों में खूब फली-फूली। एक लोकप्रिय लेखक के एक उपन्यास की पांच लाख प्रतियों का संस्करण, पॉकेट बुक में छपना बहुत बड़ी घटना थी। आज यह बात स्वप्न दिखती है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि कुछ वर्ष पहले तक पॉकेट बुक्स छापने वाले अधिसंख्य प्रकाशक या तो अपने काम को समेट बैठे हैं अथवा वे किसी दूसरे धंधे में लग गए हैं।

किन्तु अभी भी स्थिति इतनी निराशाजनक नहीं है। भारत में 85 प्रतिशत लोग ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं। वहां भी साक्षरता का निरन्तर विकास हो रहा है। टैलीविजन, इंटरनेट आदि सूचना तकनीक की आज जो भी चर्चा सुनाई दे रही है वह अभी देश की 10 प्रतिशत जनता को भी पूरी तरह प्रभावित नहीं करती। ऐसी स्थिति में यह विशाल क्षेत्र पुस्तकों और पत्रिकाओं के लिए आज भी जरखेज ज़मीन है, जिसका पूरा उपयोग हो सकता है।

इन क्षेत्रों में पहुंचने का एकमात्र उपाय डाक व्यवस्था है। निकट भविष्य में इस प्रकार की कोई संभावना नहीं है कि इन क्षेत्रों में पुस्तकें बेचने वाली दुकानें खुल जाएंगी। यहां रहने वाले लोगों में पहले पुस्तकों के प्रति रुचि उत्पन्न हो, फिर उन्हें उनकी मन पसंद पुस्तकों की पूरी जानकारी प्राप्त हो, फिर वे उन्हें डाक द्वारा मंगवा सकें। इस दृष्टि से सबसे बड़ी ज़िम्मेदारी डाक विभाग की है। हमारे देश की डाक व्यवस्था संसार की ऐसी सबसे बड़ी व्यवस्थाओं में से एक है, किन्तु खेद की बात यह है कि यह ज्ञान के प्रसार के माध्यम के रूप में इसके सामने कोई स्पष्ट दृष्टि नहीं है और न कभी इसे ऐसी दृष्टि देने का सोचा-समझा प्रयास किया गया है। इसका सबसे बड़ा प्रभाव यह है कि नए बजट में डाक की दरें जिस ढंग से बढ़ाई गई हैं उसका सबसे बुरा प्रभाव गांव-गांव में पहुंचने वाली पुस्तकों और पत्रिकाओं पर पड़ेगा।

इस देश में, विशेष रूप से हिन्दी प्रदेशों में स्कूली और पाठ्यक्रम की पुस्तकों की दुकानें तो मिल जाएंगी। आमतौर पर ऐसी दुकानों के साथ स्टेशनरी बेचने की सामग्री भी जुड़ी होती है जिससे एक विद्यार्थी की सभी जरूरतें जहां पूरी हो जाएं, किन्तु साहित्य और सामान्य ज्ञान की पुस्तकों की दुकानें ढूंढे से नहीं मिलतीं। दिल्ली जैसे महानगर का ही उदाहरण सामने रखें। यदि आपको हिन्दी की कोई अच्छी पुस्तक लेनी

हो तो अंसारी रोड, आसफ अली रोड या कश्मीरी गेट जाना पड़ेगा। दिल्ली तो नई-नई कालोनियों का नगर है। इन कालोनियों में बने बाजारों में सभी प्रकार की दुकानें खुलतीं और खूब चलती हैं, किन्तु पुस्तकों की शायद ही कहीं कोई दुकान खुलती हो। देश के सभी भागों की स्थिति लगभग ऐसी ही है।

स्वाभाविक है कि पुस्तकों के वितरण का एकमात्र प्रभावी माध्यम डाक व्यवस्था है। दूर-दूर तक पुस्तकें बुक-पोस्ट, वी. पी. पी. द्वारा भेजी जाती हैं। बुक-पोस्ट से पत्रिकाएं और पुस्तक सूचियां तो पहुंच जाती हैं, पुस्तकों के पहुंचने की पूरी संभावना नहीं होती। इसलिए उन्हें रजिस्टर्ड डाक से भेजा जाता है। रजिस्ट्री कराने का मूल्य पहले ही बहुत ज्यादा था—चौदह रुपए। अब इसे बढ़ाकर सत्रह रुपए कर दिया गया है। वी. पी. तो रजिस्टर्ड डाक से जाती ही है। पुस्तक के भार का मूल्य भी बहुत बढ़ा दिया गया है। पहले 100 ग्राम तक 50 पैसे लगते थे, अब 2 रुपए लगेंगे। अब 60 रुपये की पुस्तक पर 25 रु. डाक व्यय लगेगा।

एक सर्वेक्षण के अनुसार 1999 में एक करोड़ तिरपन लाख पुस्तक वी. पी. पी. पैकेट बुक हुए और लगभग 50 लाख रजिस्ट्री पुस्तक पैकेट डाक द्वारा भेजे गए। भारत जैसे सौ करोड़ की जनसंख्या वाले देश के लिए यह संख्या कुछ भी नहीं है, किन्तु यदि नए बजट में प्रस्तावित डाक दरें लागू हो जाती हैं तो यह संख्या और नीचे चली जाएगी।

समस्या यह है कि अभी तक इस देश में केन्द्र अथवा राज्य सरकारों की ओर से कोई निश्चित पुस्तक नीति नहीं बनाई गई है। पुस्तकों के लाभ और जीवन में उनकी महती उपयोगिता पर भाषण बहुत होते हैं, बड़े-बड़े महापुरुषों की इस सम्बन्ध में की गई उक्तियों को खूब उद्धृत भी किया गया है, किन्तु राष्ट्रीय नीतियां बनाते समय इस ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। राजनीतिक दलों के चुनावी घोषणा-पत्रों में भी इसका कोई उल्लेख नहीं किया जाता। कारण बहुत स्पष्ट है। पुस्तकों से प्रेम करने, संस्कृति का संवर्धन करने, ज्ञान का प्रसार करने वाले लोगों का हमारी जनतांत्रिक व्यवस्था में कोई पक्का वोट-बैंक नहीं है। किसानों, मजदूरों, व्यापारियों, अल्पसंख्यकों, महिलाओं, पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियों और जनजातियों आदि वर्गों के अपने-अपने प्रबल वोट बैंक हैं। प्रत्येक राजनीतिक दल इन्हें रिझाना और फुसलाना चाहता है। संस्कृति-कर्मियों की यहां कोई पूछ नहीं है।

किन्तु किसी भी देश और समाज की समृद्धि में जहां एक ओर भौतिक साधनों का महत्वपूर्ण योगदान रहता है, वहीं ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, दर्शन की भूमिका किसी भी प्रकार कम नहीं होती। इनके अभाव में सारी भौतिक समृद्धि समाज को अनैतिक कर्मों, विलासिता भरे कार्य-कलापों, नशों और संकीर्ण सोच से भर देती है। व्यक्ति को मानसिक और आध्यात्मिक रूप से समृद्ध करने का एकमात्र साधन साहित्य है जो अच्छी पुस्तकों के माध्यम से हमारे पास पहुंचता है। यही वह बिंदु है जहां किसी भी देश की सरकार की उसकी साहित्य, कला और संस्कृति के प्रति जागरूकता की पहचान और परख की जा सकती है।

आज जो दल अथवा जिन दलों का गठजोड़ सत्ता में है, वह संस्कृति-प्रेमी है, यह बात सभी स्वीकार करते हैं। इसके शासन में संस्कृति-कर्मी प्रोत्साहित होंगे। साहित्य और कलाओं को विकसित होने का पूरा अवसर प्राप्त होगा। लोगों में अपनी भौतिक चिंताओं के साथ ही अपनी आत्मिक चिंताओं को भी शमन करने उचित वातावरण प्राप्त होगा, ऐसी अपेक्षा यदि इस सरकार से नहीं की जा सकती तो भविष्य में आने वाली अन्य किसी भी सरकार से नहीं की जा सकेगी।

कृषि के क्षेत्र में सरकार बहुत सी 'सब्सिडिटी' देती है। अनाज उत्पन्न करने वाले किसान प्रोत्साहित हों और लोगों के पेट की भूख शान्त करने के लिए अधिक-से-अधिक उत्पादन करें यह किसी भी समाज की प्राथमिक आवश्यकता है, किन्तु संस्कृति भी मानसिक कृषि है। यह हमारी आत्मिक भूख को शान्त करती है। मुझे एक बात याद आती है। एक समय पं. जयचंद्र विद्यालंकार ने संस्कृति के लिए एक और शब्द सुझाया था, 'कृष्टि'। यह शब्द अंग्रेजी के 'कल्चर' और 'एग्रीकल्चर' का आभास देता था। कोई भी जागरूक सरकार कृषि और कृष्टि—दोनों के प्रति प्रतिबद्ध होती है।

किन्तु हमारे पूर्व वित्तमंत्री श्री यशवंत सिन्हा द्वारा प्रस्तुत बजट 'कृषि' की ओर तो ध्यान देता है, कृष्टि की ओर नहीं। कृष्टि की ओर ध्यान देना है तो उसे भी उसी स्तर पर प्रोत्साहित करना चाहिए, जिस स्तर पर कृषि को।

मुझे बहुत आवश्यक लगता है कि सरकार को डाक की उन बढ़ी हुई दरों को तुरन्त वापस लेना चाहिए जिनसे पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएं प्रभावित होती हों। इस सरकार को यह कलंक अपने माथे पर नहीं लेना चाहिए कि उसने साहित्य और संस्कृति के विकास के लिए ठोस कदम तो उठाए नहीं बल्कि उनकी प्रगति में बहुत-सी बाधाएं खड़ी कर दीं।

(दैनिक जागरण, 22 मार्च, 2001)

32

हाशिये की ओर जाता साहित्य

वर्षों पहले दूरदर्शन पर एक कार्यक्रम होता था 'पत्रिका'। यह कार्यक्रम प्रति सप्ताह होता था। इसमें साहित्य की नई गतिविधियों की चर्चा होती थी, प्रवृत्तियों पर बहसें होती थीं, साहित्यकारों से साक्षात्कार किए जाते थे, नई पुस्तकों पर बातचीत होती थी, पुस्तक मेलों में दूरदर्शन का कैमरा जाता था और वहां आए हुए लोगों से यह पूछा जाता था कि वे कैसी पुस्तकें खरीदना और पढ़ना पसंद करते हैं। उस समय दूरदर्शन पर एक ही चैनल होता था और कार्यक्रम भी कुछ घंटों के लिए प्रसारित किए जाते थे। फिर देखते-देखते समय बदल गया। दूरदर्शन ने अपने नए चैनल प्रारम्भ किए और निजी उद्यमियों के लिए अपने चैनल प्रारम्भ करने 'फ्लडगेट' खोल दिए गए। कार्यक्रम के समय में निरन्तर बढ़ोतरी होती गई। अब लगभग सभी चैनल 24 घंटे अपने विविध कार्यक्रमों का प्रसारण करते हैं। निजी केवल कंपनियों का प्रसार प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। लोग अपने हाथों में 'रिमोट' लेकर बैठते हैं और एक से दूसरे चैनल पर रेसकोर्स के घोड़ों की तरह दौड़ते रहते हैं।

किन्तु 'पत्रिका' जैसे साहित्यिक कार्यक्रमों का क्या हुआ? व्यावसायिकता की इस अंधी दौड़ का सबसे पहले शिकार बना साहित्य। अब दूरदर्शन पर साहित्य को समर्पित कार्यक्रम नहीं होते। यदि कभी कोई होता है, तो उसे ऐसे समय प्रसारित किया जाता है, जब लोग अपने काम-धंधों में लगे होते हैं। 'प्राइम टाइम' बड़ी कीमत पर बिकता है। उसे साहित्य के लिए क्यों बर्बाद किया जाए? इस देश के सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक जीवन में साहित्य कभी केन्द्रीय स्थान नहीं प्राप्त कर सका। संस्कृत साहित्य में उस समय के कवियों और साहित्याचार्यों को कितनी व्यापक सामाजिक स्वीकृति प्राप्त थी, इसका अनुमान मैं नहीं लगा पा रहा हूं।

जिसे हम हिन्दी का आदिकाल अथवा वीरगाथा काल कहते हैं, उसमें रचित

अधिकांश चारण काव्य हैं जो तत्कालीन राजाओं-महाराजाओं के आश्रय में रचा गया। यही स्थिति सत्रहवीं-अठारहवीं शती में रचित रीतिकाल के उस काव्य की रही जो आश्रयदाता का पूरी तरह मुखापेक्षी बनकर लिखा गया। (कुछ अपवाद छोड़कर) भक्ति काल का प्रभु-समर्पित काव्य हमारे साहित्य की बहुत बड़ी उपलब्धि है, किन्तु उसमें भी उसकी स्वायत्ता नहीं उभरती? चारण काव्य में कवि-कर्म लौकिक सत्ता की चाकरी करता है जो भक्तिकाल का कवि राम का चाकर बनकर उसके दरवार में अपना पट्टा लिख देता है। तुलसीदास ने लिखा था–

हम चाकर रघुनाथ के पटो लिखो दरबार।
तुलसी अब क्या होंहिगे नर के मंसबदार।

मतलब यह कि कवि को तो मंसबदारी ही करनी है–चाहे नर की हो अथवा नारायण की। ऐसा दिखने लगा था कि बीसवीं शती में साहित्य और साहित्यकार अपनी स्वायत्तता की पहचान के प्रति जागरूक होने लग गया है। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की अवधारणा उसकी केंद्रीय चिंता है और अपनी इस चिंता की रक्षा के लिए वह बड़ी सत्ता (शासन अथवा धन) की अवहेलना कर सकता है और आवश्यकता पड़ने पर उसे ललकार भी सकता है। यह भी दिखने लगा था कि सत्ता प्रतिष्ठान और धन-प्रतिष्ठान भी यह महसूस करने लग गए हैं कि सामाजिक सरोकारों में साहित्य को साथ लेकर चलना बहुत उपयोगी है। सरकारी स्तर पर केन्द्र में साहित्य अकादमी तथा विभिन्न राज्यों में ऐसी अकादमियों का उभरना इस बात का सूचक था।

निजी प्रतिष्ठानों में चार दशक पहले साहू जैन परिवार द्वारा स्थापित ज्ञानपीठ संभवतः इस प्रकार का पहला गंभीर प्रयास था। बाद में बिड़ला और मोदी जैसे अन्य प्रतिष्ठित धनी परिवारों ने अपना महत्वपूर्ण योगदान इस क्षेत्र में देना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु अब ऐसा लगने लग गया है कि नई प्रकार की राजनीतिक उथल-पुथल, इलेक्ट्रानिक मीडिया के विस्फोट और सूचना तकनीक की वैश्विक उपलब्धियों ने साहित्य को फिर से हाशियों पर फेंकना प्रारंभ कर दिया है। कुछ वर्ष पूर्व बहुत अच्छी साहित्यिक कृतियां टेलीविजन धारावाहिकों के रूप में छोटे पर्दे पर दिखने लगी थीं और सामान्य दर्शक का प्रेमचंद और शरत् चंद्र जैसे लेखकों की कृतियों से परिचय होने लगा था। एक समय शरत चंद्र की कृतियों पर बनी फिल्में आज भी हमारी स्मृति में सजीव हैं, किन्तु अब, निजी चैनलों की बाढ़ में साहित्य पूरी तरह गायब हो गया है। उसका स्थान ले लिया है रबड़ की तरह खिंचने वाले सौ, दो सौ और तीन सौ कड़ियों के धारावाहिकों ने जिसमें सतही भावुकता और रोमांचित करने वाले विवाहेत्तर सम्बन्धों को जी भरकर उछाला जाता है। व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा में सरकारी दूरदर्शन भी अपना रूप बदलने लग गया। वहां भी साहित्य पूरी तरह हाशिये पर फेंक दिया गया है, यह मैं प्रारम्भ में लिख ही चुका हूं।

बड़े प्रतिष्ठानों से प्रकाशित होने से अच्छी पत्रिकाएं, जिनसे पाठकों की साहित्यिक अभिरुचियों को तृप्ति मिलती थी, बरसों पहले दम तोड़ गईं। इन प्रतिष्ठानों में आई

नई पीढ़ी की चिंता में साहित्य कहीं नहीं है, केवल मुनाफा है। जो कार्य मुनाफा नहीं देता उसे क्यों किया जाए, यह सोच उसकी चिंता का केंद्र है। कुछ साहित्यिक संस्थानों और निजी प्रयासों से निकलने वाली पत्रिकाएं नित्य जीती हैं और मरती हैं। इसे यूं भी कहा जा सकता है कि ऐसी पत्रिकाएं मर-मर कर जीती हैं और जी-जीकर मरती हैं। यह भी विचित्र स्थिति है कि बड़े-बड़े पत्र-समूहों ने अपने यहां से प्रकाशित पत्रिकाएं तो बंद कर दी हैं, किन्तु अपने दैनिक समाचार-पत्रों की वितरण संख्या को लगातार बढ़ाते जा रहे हैं।

सारे देश में समाचार पत्र-उद्योग की स्थिति ऐसी ही है। पत्रिकाएं मर रही हैं और दैनिक पत्र दिन दूनी और रात चौगुनी प्रगति कर रहे हैं और विभिन्न नगरों से निकलने वाले अपने संस्करणों की संख्या बढ़ाते चले जा रहे हैं, किन्तु दैनिक समाचार पत्रों से भी साहित्य पूरी तरह गायब है। अपवादों को छोड़कर न इनमें किसी प्रकार की साहित्य-चर्चा होती हैं, न नई पुस्तकों की समीक्षा दी जाती है। बहुत कम ऐसे पत्र रह गए हैं जो अपने साप्ताहिक संस्करणों में कविताएं और कहानियां आदि प्रकाशित करते हैं। इस प्रश्न का दो पक्षों से गहरा सरोकार है। एक साहित्य के प्रति हमारा मानसिक संस्कार क्या है? हमारे सम्पूर्ण परिवेश में साहित्य का कितना स्थान है। हमारी पारिवारिक व्यवस्था में घर की हर जरूरी चीज के साथ साहित्यिक पुस्तकों से भरी उस अल्मारी को कहां रखा गया है? उसका अस्तित्व है भी या नहीं? दूसरा पक्ष यह है कि जिन पुस्तकों के माध्यम से हम समाज में साहित्य-संस्कार उत्पन्न करना चाहते हैं वे हमें कहां, किस मूल्य पर और कितनी सुविधाजनक स्थिति में उपलब्ध हैं?

इस खुशफहमी का कोई अर्थ नहीं है कि जिन्हें पढ़ना होता है वे कहीं से भी अपनी रुचि की पुस्तकें प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे स्वाध्यायी लोगों की संख्या हिन्दी में कभी अधिक नहीं रही। जैसे-जैसे यह स्वाध्यायी पीढ़ी हमारे बीच से तिरोहित होती जा रही है। वैसे-वैसे नई पुस्तकों के स्थान पर नए कैसेटों की संख्या घरों में बढ़ती जा रही है। स्थिति यह है कि कैसेटों की दुकान नगर के हर छोटे-बड़े मोहल्लों में उपलब्ध हैं, जबकि साहित्यिक पुस्तकों की दुकानें इधर-उधर मीलों तक नज़र नहीं आती। पुस्तक व्यवस्था से जुड़े बहुत-से लोगों की मान्यता है कि यह बात सच नहीं है कि पुस्तकें नहीं बिकतीं। यदि पुस्तकें लोगों को आसानी से सलुभ हों और मूल्य भी ठीक-ठाक हों तो लोग खरीदते हैं। उदाहरणस्वरूप अनेक प्रदेशों में पुस्तक-विक्रेता नियमित लगने वाले बड़े-बड़े मेलों में अपनी पुस्तकों की चलती-फिरती दुकान या पक्का स्टाल लगाते हैं। उनका अनुभव है कि वहां उन पुस्तकों की भी अच्छी बिक्री होती है जिन्हें हम लोगों.के घरों में देखना चाहते हैं। दिल्ली जैसे नगरों में भी यदि पुस्तक बाजारों का चलन बढ़ाया जाए तो अनुकूल परिणाम निकल सकते हैं।

यह समस्या का केवल 'ऑपरेटिव' पहलू है। जीवन में साहित्य-संस्कार का बीजारोपण या तो परिवार के माध्यम से होता है अथवा पाठ्यक्रम के माध्यम से, किन्तु पाठ्यक्रम के माध्यम से जिस प्रकार का साहित्य आज हमारे विद्यार्थियों को पढ़ाया

जाता है वह साहित्य के प्रति रुचि जागृत नहीं करता, कई बार तो वह अरुचि उत्पन्न करने का कारण बन जाता है। इस बात की चर्चा मैं कर ही चुका हूं कि साहित्य की प्रतिरोधी शक्तियां घर-घर में प्रवेश कर गई हैं। टेलीविजन पर चलने वाला कोई भी धारावाहिक परिवार की मानसिकता का अंग बन जाता है और परिवार के सदस्य (विशेष रूप से महिलाएं) उसके प्रसारण के समय एकाग्र होकर अपने टेलीविजन सेट के सामने बैठ जाती हैं।

वर्षों तक निरन्तर प्रसारित होने वाले ऐसे धारावाहिक, एक दौर में लोकप्रिय जेबी उपन्यासों की तरह होते हैं, जो लोगों में गुदगुदी पैदा करते हैं, उनका मनोरंजन करते हैं और उनके कुछ क्षण के लिए भुलावे के संसार में ले जाते हैं। अच्छा साहित्य व्यक्ति को संस्कारित करता है, उसे मानसिक दृष्टि से समृद्ध करता है, उसके लिए स्वस्थ जीवन मूल्यों की रचना करता है, भविष्य में झांक सकने की सामर्थ्य का सृजन करता है। एक समय ऐसे 'लोकप्रिय' उपन्यासकारों को साहित्यिक क्षेत्रों में इसीलिए नकारा गया था कि लिखते समय उनकी नज़र लोकप्रियता पर होती है, सार्थक और मूल्य सर्जक साहित्य पर नहीं आज सैकड़ों की कड़ियों में चलने वाले ऐसे धारावाहिक भी उसी तरह साहित्य-प्रतिरोधी शक्ति के रूप में हमारे घरों में प्रवेश पा गए हैं। वर्तमान अर्थ-तंत्र में साहित्य का इस प्रकार निरन्तर हाशिये पर जाते जाना बड़ी चिन्ता का कारण है, किन्तु उससे बड़ी चिंता यह है कि वह समाज की सोच में भी तेजी से हाशिये पर चला जा रहा है।

दैनिक जागरण, 26 अप्रैल, 2001

33

क्या अंग्रेजी भारतीय भाषा है?

स. खुशवंत सिंह ने जीवन में बहुत कुछ अर्जित किया है। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि उन्होंने जो कुछ भी अर्जित किया है, वह सब अंग्रेजी के माध्यम से किया है। उन्होंने उपन्यास भी लिखे हैं और कहानियां भी। सिख इतिहास भी लिखा है और गुरुवाणी का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया है। किन्तु उनकी बहुत-सी ख्याति और धन प्राप्ति उनकी पत्रकारिता के कारण है। उन्होंने अनेक पत्रों का संपादन किया और उसमें यशस्वी भी हुए। स्वतंत्र पत्रकारिता के क्षेत्र में इस देश मे शायद एक-दो ही ऐसे पत्रकार होंगे जिनका अंग्रेजी में लिखा हुआ कालम 'सिंडीकेट' होकर इतने समाचार-पत्रों में एक साथ छपता हो। उनका कालम अनूदित होकर अनेक भारतीय भाषाओं में भी प्रकाशित होता है। इसलिए वे अंग्रेजी सहित बहुत-सी भारतीय भाषाओं के पाठकों में भी समानरूप से लोकप्रिय हैं।

लोकप्रियता बहुत ख़तरनाक होती है। इसे अर्जित करने में काफी समय और श्रम लगता है, किन्तु बनी हुई लोकप्रियता को बचाए रखने और उसका निरन्तर नवीनीकरण करने के लिए भी बहुत से पापड़ बेलने पड़ते हैं। खुशवंत सिंह के साथ आज सबसे बड़ी यही दिक़्क़त है। अपनी लोकप्रियता बचाए रखने और सदा चर्चा में बने रहने के लिए जितनी ऊल-जलूल बातें वे करते हैं और जिस प्रकार के विवादास्पद वक्तव्य देते हैं उतना शायद ही अन्य कोई चर्चित व्यक्ति करता हो, केवल कुछ राजनेताओं को छोड़कर।

कुछ दिन पहले नई दिल्ली में हुए एक साहित्यिक समारोह में उन्होंने कुछ बातें कहीं। 1. अंग्रेजी विदेशी भाषा नहीं है, 2. इस देश की केन्द्रीय भाषा अंग्रेजी है इसलिए वही एकमात्र संपर्क भाषा है, 3. सभी भारतीय भाषाएं दूसरे और तीसरे स्थान की भाषाएं हैं।

खुशवंत सिंह जैसी मानसिकता के लोगों की इस देश में कमी नहीं है। अंग्रेजी ने इस देश में अंग्रेजी के माध्यम से एक बाबू वर्ग तैयार कर दिया था। यह वर्ग था तो इसी देश का, किन्तु अपने रहन-सहन, बोल-चाल, खान-पान में अपने अंग्रेज मालिकों की पूरी नकल करता था और उन्हें सदा अपनी राजभक्ति का अहसास कराता रहता था। करोड़ों लोगों के देश पर केवल कुछ हज़ार अंग्रेज इंग्लैंड से आकर शासन करते थे। उन्हें अंग्रेजीदां बाबुओं की हमेशा ज़रूरत रहती थी। इसलिए ऐसा वर्ग न केवल 'साहब' कहलाने की लालसा पालता था, बल्कि 'साहब' बन कर ही जीता था—आमलोगों की भाषा में 'काला साहब' बनकर। धीरे-धीरे इस वर्ग के लोग ऊंचे पदों पर भी पहुंच गए और जब अंग्रेजी इस देश को छोड़कर चले गए तो इसी वर्ग के हाथों स्वतन्त्र भारत के सभी शासन-सूत्र आ गए। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि आज भी शासन तंत्र पर उसी वर्ग का वर्चस्व है जिसकी योग्यता का एकमात्र आधार अंग्रेजी है। ऐसा वर्ग अंग्रेजी की प्रभुता को हर कीमत पर बनाए रखना चाहता है, क्योंकि सम्पूर्ण देश की जनसंख्या का मात्र दो प्रतिशत होते हुए भी वह इसी आधार पर वह सारे देश पर शासन करता है। खुशवंत सिंह इसी मानसिकता के प्रतीक है।

केवल डेढ़ सौ वर्ष पहले भी इस देश में लगभग ऐसी ही स्थिति थी। मुगलों के राज में फारसी इस देश की राजभाषा बन गई थी। सभी सरकारी काम, पत्र-व्यवहार, समझौते आदि फारसी में ही किए जाते थे। फारसी संभ्रान्त लोगों की भाषा समझी जाती थी, जैसे आज अंग्रेजी समझी जाती है। इस वर्ग के लोग फारसी में ही अपनी रचनात्मकता अभिव्यक्ति करने में अपना गौरव अनुभव करते थे। यह बात भी ध्यान देने की है कि छत्रपति शिवाजी ने मिर्जा राजा जयसिंह को जो इतिहास प्रसिद्ध पत्र लिखा था वह फारसी में था और गुरु गोबिंद सिंह ने मुगल सम्राट औरंगजेब को जो पत्र भेजा था, वह भी फारसी में ही था।

उस समय एक लोकोक्ति प्रचलित हो गई थी—'पढ़ें फारसी बेचें तेल। ये देखो किस्मत के खेल' मतलब यह हुआ कि फारसी पढ़े-लिखे व्यक्ति को तो किसी ऊंचे सरकारी ओहदे पर होना चाहिए। यदि वह तेल बेचने जैसा साधारण काम कर रहा है तो इसे किस्मत का (बुरा) खेल ही मानना चाहिए।

मुग़ल गए, उनके साथ ही फारसी भी चली गई। अंग्रेज आए, उनके साथ अंग्रेजी आ गई। किन्तु विडम्बना यह है कि अंग्रेज गए तो उनके साथ अंग्रेजी नहीं गई, बल्कि ज़्यादा मजबूत कदमों से यहां जम गई। मुग़लों ने इस देश के अधिकांश लोगों पर लगभग तीन सौ वर्षों तक राज किया था, किन्तु उनका शासन जाने के बाद किसी खुशवंत सिंह ने यह नहीं कहा था कि फारसी विदेशी भाषा नहीं है अथवा इस देश की केन्द्रीय सम्पर्क भाषा फारसी है अथवा सभी भारतीय भाषाएं दूसरे-तीसरे स्थान की भाषाएं हैं।

ऊपर मैंने जिस लोकोक्ति का उल्लेख किया है उसकी महत्वपूर्ण बात यह है कि तेल बेचने जैसे सामान्य काम को करने वाले लोग 'शाही' भाषा पढ़ने के अधिकारी नहीं हैं। मुगलों का शासन राजतंत्र था। अंग्रेजों का शासन उपनिवेशवादी था। स्वतंत्रता

के पश्चात् इस देश ने लोकतंत्र को अपना आधार बनाया, जिसमें तेल बेचने जैसे सामान्य से सामान्य काम करने वाले व्यक्ति को भी शासन तंत्र में पूरी भागीदारी निभाने का अवसर और दायित्व प्राप्त हो गया अथवा हो जाना चाहिए था, किन्तु ऐसा हुआ नहीं। मुगलों के शासन में मुट्ठी भर फारसी पढ़े-लिखे लोग शासन चलाते थे, आज (शायद उनसे भी कम) अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग लोकतंत्र का खुल्लम-खुल्ला मजाक उड़ा रहे हैं।

पिछली दो-तीन सदियों में अंग्रेजों का साम्राज्य दो प्रकार के देशों में स्थापित हुआ। एक देश वे थे (आज भी हैं) जहां के आदिवासी निवासियों को यूरोपीय देशों के साम्राज्यवादियों ने या तो पूरी तरह समाप्त कर दिया अथवा दूर के घने जंगलों और पहाड़ों में खदेड़ दिया। इन देशों को यूरोपीय जातियों ने पूरी तरह अपने रंग में रंग लिया। आज के उत्तर और दक्षिण अमेरीकी महाद्वीप, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और बहुत से अफ्रीकी देश ऐसे ही हैं जहां अंग्रेजी, स्पेनी, फ्रान्सीसी, पुर्तगाली जैसी भाषाओं को पूरी तरह स्वीकार कर लिया गया है। गोरों, के वहां जाने से पूर्व इन देशों की अपनी समुन्नत भाषाएं नहीं थीं, इसलिए यूरोपीय भाषाओं को वहां स्थानीय भाषाओं से कोई समस्या नहीं झेलनी पड़ी।

दूसरे प्रकार के देश वे थे जिनकी अपनी समृद्ध संस्कृतियां थीं, समुन्नत भाषाएं थीं, उच्च कोटि की साहित्यिक परम्परा थी। भारत (पाकिस्तान और बगंला देश सहित) श्री लंका, म्यांमार (बर्मा), दक्षिण-पूर्वी और पश्चिम एशिया के कई देश ही थे। जब अंग्रेजों तथा अन्य उपनिवेशवादी यूरोपीय देशों का इन देशों से शासन समाप्त हुआ तो इन देशों ने अपनी सांस्कृतिक, भाषाई और समग्ररूप से अपनी राष्ट्रीय पहचान को पुनर्स्थापित करने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया।

इस देश में खुशवंत सिंह जैसे लोग समझते हैं (या समझाने का मंसूबा बांधे रखते हैं) कि आस्ट्रेलिया और भारत में कोई अंतर नहीं है। जिस प्रकार उस देश में अंग्रेजी का पूरा बोलबाला है उसी तरह भारत में भी है (या होना चाहिए)।

गोरों की गुलामी से मुक्त होने के पश्चात् बहुत से, समुन्नत संस्कृतियों वाले देशों ने अपनी भाषाई अस्मिता को बहुत हद तक प्राप्त कर लिया है। श्रीलंका, इंडोनेशिया, थाईलैंड, म्यांमार आदि देशों की अपनी भाषाओं ने वह सब कुछ करना प्रारम्भ कर दिया है, जो अभी तक हम भारत में नहीं कर पा रहे हैं। पाकिस्तान और बगंलादेश में भी न तो खुशवंत सिंह जैसी मानसिकता के लोग हैं, ना ही वहां अंग्रेजी को 'पहली' भाषा की मान्यता प्राप्त है। इन देशों के अंग्रेजीदां व्यक्ति भी अंग्रेजी की ऐसी बेशर्म वकालत नहीं करते हैं जितनी इस देश में की जाती है।

कारणों की पहचान कर सकना कठिन काम नहीं है। जिन देशों का मैंने ऊपर उल्लेख किया है वे या तो एक भाषी हैं अथवा बहुभाषी होते हुए भी एक भाषा को अपनी केन्द्रीय भाषा के रूप में स्वीकार करते हैं। उदाहरणस्वरूप पाकिस्तान में पंजाबी, सिंधी, बलोची और पश्तो स्थानीय भाषाएं हैं जो अपनी परम्परा में बहुत समृद्ध भी हैं, किन्तु पाकिस्तान में उर्दू केन्द्रीय भाषा के रूप में सभी प्रदेशों में स्वीकृत भाषा है।

भारत की स्थिति इन सबसे भिन्न है। संविधान द्वारा 18 भारतीय भाषाओं को राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता दी गई है। इनमें अंग्रेजी नहीं है। संविधान अंग्रेजी को भारतीय भाषा नहीं मानता। भारत संघ की राजभाषा के रूप में वह देवनागरी लिपि में हिन्दी को ही स्वीकार करता है। प्रावधान यह है कि संविधान के लागू होने की तिथि से 15 वर्ष की अवधि तक संघ के उन सभी शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा, जिनके लिए उसका संविधान लागू होने से ठीक पहले प्रयोग किया जा रहा था।

पंद्रह वर्ष की यह अवधि अब अनिश्चित काल तक हो गई है, जिसका पूरा लाभ वे लोग उठा रहे हैं जो केवल सदा-सदा के लिए यहां अंग्रेजी को बनाए ही नहीं रखना चाहते हैं, बल्कि उसे 'एकमात्र' केन्द्रीय भाषा के रूप में देखते और उसका प्रचार करते हैं।

संविधान के लागू होने के पंद्रह वर्ष पश्चात् अंग्रेजी को चला जाना चाहिए था, किन्तु ऐसा नहीं हुआ इस अवधि में भारतीय भाषाओं में मध्य ऐसा सौहार्द्र, संवाद अथवा सहयोग उत्पन्न नहीं हो सका, जिसके आधार पर पूरा देश इस दृष्टि से एकमत हो सकता। अनेक अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी को लेकर ऐसे विवाद उत्पन्न हो गए हैं कि हिन्दी उनके प्रदेश की भाषा के लिए अहितकर बनकर सामने आ रही है। इस स्थिति के उत्पन्न हो जाने से बहुत-सा दायित्व उन हिन्दी समुत्साहियों पर भी जाता है जिन्होंने हिन्दीतर भाषाओं को कमतर, छोटी और प्रादेशिक मानने की मानसिकता को व्यक्त करने में कभी संकोच नहीं किया।

इन देश की संघीय शासन प्रणाली में अनन्त राजनीतिक हैं और भविष्य में भी बने रहेंगे। केन्द्र की कोई भी सरकार इन दबावों की उपेक्षा नहीं कर सकती। इन दबावों के कारण भाषा-स्तर पर जो स्थिति उभरती है उससे केवल हिन्दी को ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओं को हानि भी उठानी पड़ती है और प्रताड़ित भी होना पड़ता है और इसका लाभ उन मुट्ठी भर अंग्रेजी दानों को मिलता है, जो चाहते हैं कि भारतीय भाषाओं में विवाद की स्थिति सदा बनी रहे।

खुशवंत सिंह ने जो बातें कहीं हैं वे सम्पूर्ण भारतीय मानस पर बहुत गहरी चोट है, किन्तु यह स्थिति उस समय तक बनी रहेगी जब तक केन्द्र की सरकार कुछ ऐसे सार्थक कदम नहीं उठाएगी जो हिन्दी सहित सभी भारतीय भाषाओं को उनका समुचित स्थान और सम्मान प्राप्त कराने में सहायक हो सके।

(दैनिक जागरण, 3 मई, 2001)

34
हिन्दी कहानी : वर्तमान परिदृश्य

दर्पण और मरीचिका आधुनिक कहानी के यथार्थ के दो छोर हैं। दर्पण में जो कुछ दिखता है, वह इस बात पर निर्भर करता है कि उसे किस कोण से थामा गया है और वह भी कि उसे कौन थामे हुए है। अच्छी कहानी कभी भी यथार्थ की पुनरावृत्ति या दोहराव नहीं होती और न ही वह मरीचिका होती है। वह यथार्थ से आगे यथार्थ का पुनर्सृजन होती है। आधुनिक कहानी के संबंध में यह बात कई बार कही जा चुकी है। जब कभी इसे यथार्थ की प्रतिकृति बना दिया गया है तो वह किसी साधारण दर्पण का काम करती है और जब इस पर किसी विचारधारा, मत अथवा सिद्धांत का बोझ लाद दिया जाता है तो वह मरीचिका जैसी हो जाती है, जहां जीवन का कटु सत्य कम, सत्य का आभास अधिक होता है। अच्छी कहानी सत्य और सत्य के आभास के बीच जूझते हुए अपनी जगह तलाश करती है। इसी से उसकी पहचान बनती है, इसी से वह सार्थक होती है।

हिन्दी में कहानी को लेकर जितनी चर्चा, वाद-विवाद, उठा-पटक, खेमेबाजी और फतवागिरी हुई है, वैसी संसार की किसी भी भाषा में शायद ही हुई हो। हिन्दी संसार का जातीय गुण है—किसी भी क्षेत्र में काम करने वाला व्यक्ति जैसे ही कुछ सफलता और महत्ता प्राप्त करता है, वह एक मठ बनाने और उसका मठाधीश बनने का स्वप्न देखने लगता है। कानपुर की भाषा में ऐसा व्यक्ति 'गुरु' कहलाता है। साहित्य-क्षेत्र में भी इसका अपवाद नहीं है। थोड़ी-सी आलोचना शैली, थोड़ा-सा वक्तृत्व कौशल, थोड़ा-सा विदेशी साहित्य का अध्ययन, थोड़ी-सी अपने पद की आभा और थोड़ी-सी चतुराई से इस 'गुरुता' की ओर बढ़ा जा सकता है। कुछ ही समय में ऐसा व्यक्ति फतवे जारी करने के योग्य हो जाता है। एक दिन वह किसी को अद्वितीय लेखक घोषित

करता है, दूसरे दिन वह इस अद्वितीय का 'अ' निकालकर और किसी के नाम के साथ जोड़ देता है। फिर किसी भी क्षेत्र का, चाहे उसका संबंध साहित्य और संस्कृति से हो, व्यावसायीकरण कर देना, उसके लिए 'बाज़ार' के सभी लक्षण उत्पन्न करना। हिंदी कहानी के क्षेत्र में दोनों ही बातें हुईं। यहां मठाधीश भी बने और बाजारवाद भी पैदा हुआ।

सातवां-आठवां दशक आंदोलनों का युग था। नई कहानी, सचेतन कहानी, अकहानी की खूब चर्चा हुई। स्थान-स्थान पर कहानी सम्मेलन हुए, जिनमें युवा कथाकारों के साथ हीं जैनेन्द्र कुमार और उपेन्द्रनाथ अश्क जैसे स्थापित कथाकारों ने भी बढ़-चढ़कर भागीदारी की। उस समय छठे दशक में चर्चा में छाए रहे प्रगतिवादी रुझान के ऊपर कीर्केगार्द, ज्यांपाल सार्त्र और अल्बर्ट कामू द्वारा पोषित अस्तित्ववाद का चिंतन अधिक प्रभावशाली होकर बोल रहा था। अस्तित्ववादी विचारधारा मानव जीवन को मूलतः निरर्थक मानती है। वह जीवन को निरुपाय, अवश तथा निरर्थक समझकर उसे एक मानवीय अर्थ तथा मूल्य देने की चेष्टा करती है।

अस्तित्वादी चिंतन की पृष्ठभूमि में यूरोप की युद्धकालीन विभीषिकाएं थीं। कहानी संसार से जुड़े हमारे कुछ लेखकों ने उस समय इस दर्शन का अधूरा पाठ पढ़कर यूरोपीय मानसिकता पर छाए अवसाद को अपने साहित्य पर आरोपित करना प्रारम्भ किया और कहानी को 'अंधेरे की चीख़' कहकर जीवन में निरर्थकताबोध की बातें करने लगे। अकहानी के प्रस्तोताओं के अमरीकी वातावरण में उभरे 'एंटी' वाद (एंटी नावेल, एंटी थिएटर, एंटी पोयट्री) की तर्ज पर अकहानी को कहानी के कथा-तत्व से दूर ले जाकर उसे अपठनीय बनाने में अपनी पूरी भूमिका निभाई। हिन्दी के जिस 'नयावाद' की चर्चा एक राप्य फैशन के रूप में बहुत पनपी थी उस सम्बन्ध में मुक्तिबोध ने अपनी चर्चित पुस्तक 'एक साहित्यिक की डायरी' में लिखा था—"असल में नए और पुराने के प्रति पूरा अवसरवाद अपनाया गया है। इस सुविधामूलक लक्ष्यहीन अवसरवाद के कारण ही साहित्य में नए को रूपाकार देने की कोई तलाश नहीं है।" हिन्दी कहानी में जब सचेतन दृष्टि की चर्चा शुरू हुई तो उसमें कहा गया कि सचेतनता एक दृष्टि से, वह दृष्टि जिसमें जीवन जिया भी जाता है और जाना भी जाता है।

सातवें-आठवें दशक में हिन्दी में ऐसी चर्चाएं बहुत चलीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि उन दशकों में हुए इस प्रकार के बौद्धिक व्यायाम ने कथा-लेखकों को कहानी लिखने के साथ ही बहुत कुछ सोचने, समझने और पढ़ने का अवसर भी दिया किन्तु इसका एक नकारात्मक प्रभाव भी हुआ। ऐसी चर्चाओं से जुड़े बहुत से लेखक या तो बौद्धिक व्यायाम में ही लिप्त हो गए अथवा अन्य किन्हीं कारणों से कहानी लेखन की दृष्टि से निष्क्रिय होते चले गए। दो दशक पहले के अनेक चर्चित नाम आज न कुछ लिख रहे हैं, न बोल रहे हैं। इन नामों में से कुछ लेखक केवल कुछ बोल तो रहे हैं किन्तु पिछले बीस वर्षों में उन्होंने एक भी अच्छी कहानी नहीं लिखी है। हां, फतवे देने की उनकी महारत पहले से अधिक बढ़ी है।

इस बीच कहानी से जुड़ी अथवा कहानी की चर्चा में सक्रिय भूमिका निभाने वाली अनेक पत्र-पत्रिकाओं का बंद हो जाना भी इस दृष्टि से काफी आघातकारी घटना

है। कहानी, नई कहानियां, सारिका, कल्पना, नीहारिका, धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान जैसी पत्रिकाओं का बंद हो जाना दुखद रहा। कुछ समय तक इस कमी को हिन्दी के दैनिक पत्रों ने पूरा किया। इस समय की स्थिति यह है कि दैनिक पत्रों में से भी कहानी का स्तंभ गायब होता जा रहा है। ऐसा क्यों हो रहा है, इसका विश्लेषण किया जाना चाहिए। इन दशकों में एक सकारात्मक घटना भी हुई। हिन्दी के पुरुष लेखक पहले बहस-मुबाहिसों में लगे रहे। पत्रिकाएं बंद होने लगीं तो उन्होंने नए व्यावसायिक क्षेत्रों की तलाश शुरू की। कुछ ने सत्ता-प्रतिष्ठानों के गलियारों में अपनी प्रतिमा को खपाने के अवसर ढूंढ़ने शुरू कर दिए। कुछ थककर बैठ गए। इस शून्य को नए-नए रचनाकारों ने भरना शुरू किया और कथा क्षेत्र में एक नई सक्रिय पीढ़ी उभर आई किन्तु खाली पड़े इस क्षेत्र में चमत्कृत कर देने वाला कार्य कथा-लेखिकाओं ने किया। कहानी को फिर से कहानी की ओर मोड़ने का सार्थक कार्य इन लेखिकाओं ने किया है। मुझे यह स्वीकार करने में रत्ती भर संकोच नहीं है कि सभी विपरीत स्थितियों में, हिंदी कहानी की डगमगाती नैया को इन लेखिकाओं ने अपनी पूरी शक्ति से संभाला।

चंद्रकिरण सौनरिक्सा, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, कृष्णा सोबती, मालती जोशी, प्रतिमा वर्मा, सुधा अरोड़ा, मेहरुन्निसा परवेज जैसी लेखिकाओं ने इस क्षेत्र में अपना नाम उसी समय बना लिया था, जब पुरुष कहानीकार आंदोलन से जूझ रहे थे। उसके बाद मृदुला गर्ग से लेकर सिम्मी हर्षिता तक अनेक समर्थ लेखिकाओं ने कथा-लेखन को अपनी सृजनात्मक प्रतिभा से पूरी तरह उजागर रखा है।

संभवतः यही कारण है कि पिछले कुछ वर्षों में लिखी गई कहानियों में नारी-मन को उसकी पूरी संश्लिष्टता से उभारने वाली अनेक कहानियां पाठकों के सम्मुख आई हैं। इसी प्रकार इस देश की समाज व्यवस्था में सदियों तक अपमान, घृणा और उपेक्षा झेलने वाले दलित वर्ग के लेखकों ने अपनी पीड़ा को व्यक्त करनेवाली जो कहानियां लिखी हैं, उनसे भी हिंदी के पाठकों के सम्मुख एक नया संसार उद्घाटित हुआ है। किसी भी समाज में जब पाखंड, भ्रष्टाचार, अवसरवाद और सत्ता-प्राप्ति की होड़ बढ़ती है तो लेखकों का ध्यान उस ओर जाता है। भ्रष्टाचार और मठाधीशों पर अनेक अच्छी कहानियां इन वर्षों में लिखी गयीं। पिछले दिनों मैंने 'इंडिया टुडे' के दो अंकों में प्रकाशित एक लम्बी कहानी तथा 'वर्तमान साहित्य' में प्रकाशित एक कहानी पढ़ी। इन कहानियों में आए चरित्रों के पीछे कौन-से चेहरे हैं, इन्हें पहचानना किसी के लिए भी मुश्किल नहीं है। जो प्रपंच सारे देश में व्याप्त है, समाज का कोई भी क्षेत्र आज उससे अछूता नहीं है। वह अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ हमारे साहित्यिक परिवेश में भी आ गया है। व्यक्तिगत रूप से एक-दूसरे को लांछित करने, उसका बखिया उधेड़ने, उसका मुखौटा उतारने में हमारा लेखक वर्ग भी अब किसी से पीछे नहीं है।

(राष्ट्रीय सहारा, 30 जुलाई, 2001)

35

पुस्तकों का व्यापक प्रसार पुस्तक-बाज़ारों द्वारा हो सकता है

इस वर्ष पुस्तक वर्ष मनाया जा रहा है। सितम्बर के अंत में दिल्ली में दिल्ली पुस्तक मेला शुरू हो रहा है। आगामी वर्ष (2002) में 28 जनवरी से नई दिल्ली में 15वां विश्व पुस्तक मेला प्रारम्भ होने जा रहा है। पुस्तकों के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से गतिविधियां तो बहुत-सी दिखाई दे रही हैं, किन्तु न तो पुस्तकों की प्रसार-संख्या बढ़ रही है, न उनका पाठक वर्ग बढ़ रहा है, न ही देश में विशेषरूप से हिन्दी भाषी क्षेत्रों में पुस्तक-मानसिकता का विकास हो रहा है। मात्र पुस्तक मेले आयोजित करने और उन्हें बड़े सीमित ढंग से विज्ञापित करने से इस दिशा में कोई सार्थक प्रगति हो सकेगी, इसमें मुझे बहुत संदेह है।

गत दो-चार वर्षों में प्रकाशित पुस्तकों के मूल्य की ओर ध्यान दिया जाए। पुस्तकें सामान्यतः दो साइज में छपती हैं, एक क्राउन और दूसरी डिमाई। एक आकार में छोटी और दूसरी बड़ी होती है। इस समय दोनों प्रकार की सजिल्द पुस्तकों का मूल्य एक रुपया प्रति पृष्ट के आसपास रखा जाता है। अर्थात् यदि पुस्तक 200 पृष्ठ की है तो उसका मुद्रित मूल्य 200 रु. होगा। इस समय हिन्दी में भी लगभग सभी पुस्तकें 'लेज़र' पर छपती हैं और बहुरंगा आवरण होता है। कुछ अपवाद छोड़कर लगभग सभी पुस्तकों का पहला प्रिन्ट ऑर्डर 500 प्रतियों से अधिक नहीं होता।

आज से बीस वर्ष पहले डिमाई साइज की 200 पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य अधिक -से-अधिक 25 रु. होता था और प्रिन्ट आर्डर कम-से-कम 1100 प्रतियां का होता था। इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस बीच कागज के दाम बेहिसाब बढ़े हैं। 'लेजर' के कारण प्रिंटिंग भी महंगी हुई है किन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि प्रकाशक की नज़र

में अब आम पाठक नहीं है। उसकी नज़र पुस्तकालयों पर रहती है अथवा सरकारों द्वारा थोक में खरीदी जाने वावली 'बल्क परचेज़' पर। प्रायः ऐसी खरीद में भ्रष्ट साधनों का उपयोग होता है।

इसकी सबसे बड़ी मार निजी ख़रीदार पर पड़ी है। मेरा विश्वास है कि अच्छी संख्या में लोग पुस्तकें खरीदना और पढ़ना चाहते हैं, किन्तु सौ पृष्ठ की पुस्तक पर सौ रुपया मूल्य लिखा देखकर हिन्दी पाठक के पसीने छूट जाते हैं। अंग्रेजी और हिन्दी पाठक के मध्य एक वर्गगत अंतर भी है। अंग्रेजी की महंगी-से-महंगी पुस्तक भी बिक जाती है क्योंकि उनका खरीदार आमतौर पर अधिक सम्पन्न वर्ग का होता है। पुस्तकें उसकी जरूरत कम, स्टेटस सिंबल (उसकी स्तरीयता का प्रतीक) अधिक होती हैं। हिन्दी का पाठक मध्य और निम्न मध्य का होता है। स्टेट्स सिंबल की प्राथमिकता रेफ्रीजरेटर, टी.वी., कूलर, स्कूटर अथवा छोटी कार और पब्लिक स्कूलों में बच्चों को पढ़ाने की ओर होती है। पुस्तकें उसके शौक की श्रेणी में आती हैं।

पुस्तक व्यवसाय की एक और बड़ी विडम्बना है। सरकार इसे उद्योग नहीं मानती इसलिए उद्योगों को जो सुविधाएं मिलती हैं, वे प्रकाशकों को नहीं मिलतीं। हर उद्योग में कच्चे माल की अपेक्षा बना हुआ माल अधिक मूल्यवान होता है। पुस्तक-उद्योग में कच्चा माल (कागज़) बहुत मूल्यवान है। उसका स्टाक देखकर कोई भी बैंक कर्ज़ देने को तैयार हो जाएगा, किन्तु जब वह पुस्तक के रूप में ढल जाता है तो पुस्तक के बिकने पर वह कितना भी मूल्यवान क्यों न दिखाई दे, न बिकने पर वह एक रुपए किलो बिकने वाली रद्दी से अधिक नहीं होता। अच्छे-बड़े प्रकाशक भी जब अपने पास वर्षों से अनबिकी पुस्तकों या उनके छपे फर्मों को बेचते हैं तो इससे अधिक उन्हें कुछ नहीं मिलता। छपी हुई पुस्तकों के स्टाक पर कोई बैंक कर्ज़ नहीं देता।

बहुत कम पुस्तकें ऐसी भाग्यशाली होती हैं कि उनके संस्करण तुरत-फुरत बिक जाते हैं। हर प्रकाशक के पास पांच-दस-बीस वर्ष पहले छपी पुस्तकों का स्टाक होता ही है जिससे उसके गोदाम भरे रहते हैं।

कुछ वर्ष पहले विश्व पुस्तक मेले के अवसर पर एक पुस्तक बाज़ार भी लगता था। इस बाज़ार में दस-बीस वर्ष पहले प्रकाशित पुस्तकें खूब बिकती थीं। ये बहुत सस्ती होती थीं, क्योंकि इन पर मुद्रित मूल्य बहुत कम होता था। ऊपर से, अपना बचा हुआ माल बेचने के लिए प्रकाशक उन पर भरपूर छूट भी दे देते थे। अर्थात् दो सौ पृष्ठ की पुस्तकें पंद्रह-बीस रुपए में मिल जाती थी।

किन्तु यह बात उन स्थापित बड़े प्रकाशकों, विशेष रूप से अंग्रेजी वालों को अच्छी लगती थी। इन प्रकाशकों को बचा हुआ माल इतना परेशान नहीं करता, जितना इनकी नई प्रकाशित अंधाधुंध मूल्यों वाली पुस्तकों की बिक्री का बाधित होना। इन्हें इस बात की भी चिन्ता नहीं होती कि पुस्तकें पाठकों के पास पहुंच रही हैं या नहीं। इन्हें पुस्तकालयों अथवा थोक खरीद में पुस्तकें 'डम्प' करके पैसे कमाने की जल्दी होती हैं।

एक और बात ध्यान देने वाली है। संसार के विकसित देशों में भी बहुत-सी

पुस्तकें अनबिकी रह जाती हैं जिन्हें 'रिमेन्डर्स' कहते हैं। तीसरी दुनिया का बाजार इन रिमेन्डर्स का बहुत बड़ा बाज़ार है। भारत के कितने ही अंग्रेजी प्रकाशक ऐसी अनबिकी अंग्रेजी पुस्तकों के जहाज भरकर यहां लाते हैं और फिर उन पर स्थानीय मुद्रा की चेपी लगाकर सड़कों फुटपाथों पर उनके ढेर लगवा देते हैं। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि ऐसी पुस्तकें यहां खूब बिकती है, हमारे अंग्रेजीदां पाठक उन्हें बड़ी शान से खरीद कर अपने ड्राइंगरूम सजाते हैं। किन्तु मुश्किल यह है कि भारतीय भाषाओं के 'रिमेन्डर्स' की दुनिया के अन्य किसी देश में मांग नहीं है, इसलिए इन्हें रद्दी में बेचने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रहता।

क्यों न ऐसी अनबिकी पुस्तकों के बाज़ार अपने ही देश में विकसित और प्रोत्साहित किए जाएं?

कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित पुस्तकों में कई बार बड़ी महत्वपूर्ण पुस्तकें मिल जाती हैं। वैसा देखा जाए तो कोई भी पुस्तक पुरानी नहीं पड़ती। पुस्तक कोई दैनिक समाचार पत्र तो होती नहीं कि शाम होते-होते वह अपना संगति खो दे।

इस दृष्टि से मेरा अपना व्यक्तिगत अनुभव है। कुछ दशक पहले मैं मुम्बई के खालसा कालेज में प्राध्यापक था। वहां कालबादेवी रोड पर पुरानी पुस्तकों का एक बाज़ार था। मैं नहीं जानता था कि अब भी है या नहीं। मैं प्रायः अच्छी पुस्तकों की खोज में उस बाज़ार में जाया करता था। मुझे याद है कि शरतचंद्र, राखल दास वंद्योपाध्याय, रवीन्द्र नाथ टैगोर, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, हरिनारायण आप्टे, खांडेकर का बहुत सा साहित्य मैंने उसी बाज़ार से खरीदा था। अज्ञेय के सुप्रसिद्ध उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' के दोनों खंड मैंने वहीं से लिए थे। डी. एच. लारेन्स के बहुचर्चित उपन्यास 'लेडी चटर्लीज़ लवर' की बड़ी पुरानी सजिल्द प्रति भी मुझे कहीं मिली थी। अब भी मुझे कुछ पुरानी पुस्तकों के पुराने संस्करणों की आवश्यकता पड़ती है। लालकिले के पीछे, रविवार के दिन लगने वाले कबाड़ी बाज़ार में बहुत ढूंढने पर कभी-कभी ऐसी कोई पुस्तक मिल जाती है।

एक बार मैंने पुस्तक-विमोचन के एक समारोह में श्री मदनलाल खुराना, जो उस समय दिल्ली के मुख्यमंत्री थे, यह बात रखी थी कि दिल्ली में मंडी हाउस के आसपास एक ऐसा बाज़ार विकसित होना चाहिए, यहां कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित, और इस समय प्रकाशकों के गोदामों में सड़ रही पुस्तकें प्राप्त हों। ऐसी पुस्तकें सस्ती होंगी और पाठकों की यह शिकायत दूर कर सकेंगी कि पुस्तकें बहुत महंगी हो गई हैं। खुराना जी ने उस समय यह आश्वासन दिया था कि वे दिल्ली में ऐसे पुस्तक-बाजार को उतारने की दिशा में आवश्यक कदम उठाएंगे। किन्तु दुर्भाग्य से कुछ समय बाद ही वे मुख्यमंत्री पद से हट गए और सारी बात धरी की धरी रह गई।

मैं समझता हूं कि इस बात को फिर से उठाया जाना चाहिए। नेशनल बुक ट्रस्ट, देश भर में पुस्तक मेलों का आयोजन करता है। पंद्रहवें विश्व पुस्तक मेले में से इकहरे और दोहरे स्टैंड इस बार हटा दिए गए हैं। ये स्टैंड सस्ते होते थे और छोटे-छोटे प्रकाशन भी ऐसा स्टैंड लेकर मेले में अपनी पुस्तकों का प्रदर्शन कर लेते थे। थोड़ी-बहुत पुस्तकें

बेच भी लेते थे। अब ऐसे स्टैंड विश्व पुस्तक मेले में नहीं दिखाई देंगे। इससे निश्चय ही छोटे प्रकाशकों को बहुत धक्का लगेगा। आने वाले विश्व पुस्तक मेले में अब केवल स्टाल उपलब्ध होंगे। एक स्टाल का किराया लगभग 24750 रु. है। पहले भारतीय भाषाओं के प्रकाशकों को इस पर 50 प्रतिशत की छूट मिलती थी। अब चालीस प्रतिशत मिलेगी अर्थात् लगभग 15 हज़ार रु. प्रकाशक को देने ही होंगे।

ऐसी स्थिति में पुस्तक-बाजार का चलन फिर से शुरू करना चाहिए। ऐसा बाज़ार प्रगति मैदान में ही खुले आसमान के नीचे लग सकता है यह बाज़ार बड़ी मात्रा में पुस्तक-प्रेमियों को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता रखता है।

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया इस दृष्टि से एक ओर पहल-कदमी कर सकता है। पहली बात तो यह कि देश में जहां कहीं भी पुस्तक मेले आयोजित होते हैं, वहां पुरानी छपी पुस्तकों के बाजार भी साथ-साथ लगाए जाएं। दूसरी बात यह है कि इस ट्रस्ट को अलग से पुरानी छपी पुस्तकों के मेले वर्ष में दो-तीन बार आयोजित करने चाहिए। वहां प्रकाशक अथवा पुस्तक-विक्रेता अपनी पुस्तकों पर कितनी छूट देते हैं, यह उन पर छोड़ दिया जाना चाहिए।

मेरा अपना अनुभव यह है कि पुस्तक मेले अधिकतर मेले बनकर रह जाते हैं। कुछ लोग वहां पुस्तकें खरीदने जाते हैं, बहुत से लोग पिकनिक मनाने जाते हैं। पुस्तक बाजार लगने से बहुत कम साधन वाले व्यक्ति भी वहां जाएंगे और ऐसी पुस्तकें रद्दी में बिकने की बजाए उनके घरों में पहुंचेंगी और सारे परिवार का ज्ञानवर्द्धन करेंगी।

किन्तु इस देश में कुछ 'लॉबीज' बहुत मजबूत हैं, जो ऐसा कोई काम नहीं होने देतीं जो उनके स्वार्थों के लिए हानिकारक हो। कहीं शुगर लॉबी मजबूत है तो कहीं सीमेंट लॉबी। समृद्ध अंग्रेजी प्रकाशक लॉबी भी दूर तक अपना प्रभाव रखती है और मैं जानता हूं कि वह ऐसे किसी प्रयास को सफल नहीं होने देगी।

(दैनिक जागरण, 23 अगस्त, 2001)

36

व्यवस्था और लेखक की नियति

पिछले कुछ वर्षों में व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं और उसके संदर्भ में बुद्धिजीवियों विशेष रूप से लेखकों की स्थिति और भूमिका पर साहित्यिक क्षेत्रों में यदा-कदा चर्चा होती रहती है, परन्तु यह चर्चा बहुत वैयक्तिक संदर्भों अथवा पार्टी राजनीति से टकराकर क्षिम्प्रमित हो जाती रही है। परिणामस्वरूप इस विषय पर व्यापक धरातल पर गंभीर चर्चा बहुत कम हुई है।

आज आज़ादी को प्राप्ति के इतने वर्षों के बाद इस स्थिति पर ध्यान जाना स्वाभाविक है कि क्या इन वर्षों में लेखकों ने देश के पुनर्निर्माण की दिशा में कोई महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है? क्या वर्तमान व्यवस्था-तंत्र में लेखक या समग्र बुद्धिजीवी की कोई प्रभावशाली भूमिका है भी? जिस प्रकार का राजनीतिक, सामाजिक और व्यावसायिक ढांचा और चाहे-अनचाहे हमारे देश में निरन्तर विकसित हो रहा है, उसमें लेखक की क्या कोई महत्वपूर्ण भूमिका भविष्य में भी बन सकेगी?

ये कुछ प्रश्न हैं जो कभी-कभी हमसे आ टकराते हैं। भारतीय लेखक विशेष रूप से भारतीय भाषाओं में लिखने वाला लेखक अधिकांशतः एक विशेष प्रकार की सामाजिक, पारिवारिक पृष्ठभूमि लेकर आता है और इसलिए वह एक विशिष्ट ढंग की मानसिकता से ग्रसित होता है। अपनी बात की और खोलकर कहूं तो कहना चाहूंगा हमारा (अधिसंख्य) लेखक वर्ग निम्न मध्यवर्ग के ऊंची जातियों के रूढ़िवादी, परम्परापोषक, कुलीन घरानों से आता है। यह वर्ग आर्थिक दृष्टि से अभावग्रस्त, दिखावे की दृष्टि से सफेद-पोश, बातचीत से डींग हांकने वाला और प्रगल्भ, दिखने में आदर्शवादी, व्यवहार में ओछा, घर और बाहर एक असंतुलित ज़िंदगी जीने वाला, मौकापरस्त और अपने वर्ग से जल्दी कटकर उच्च मध्यवर्ग या उच्चवर्ग के साथ जुड़ जाने को आतुर वर्ग होता है। मैं समझता हूं कि किसी भी देश के सामाजिक-आर्थिक ढांचे में निम्न मध्य वर्ग का वर्गगत चरित्र या मनोवृत्ति लगभग ऐसी ही होती है।

हमारे अधिकांश लेखकों का यही वर्ग है। हिंदी को संदर्भ में रखकर कहूं तो हमें दिखेगा कि ऐसा लेखक, जो रईस का बेटा हो, हमें शायद ढूंढने पर ही मिले। इसी तरह अनुसूचित जातियों में से आए हुए किसी व्यक्ति ने लेखन-क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण स्थान बनाया हो, मुझे याद नहीं आता। व्यवसाय की दृष्टि से अध्यापन, पत्रकारिता अथवा सामान्य स्तर की सरकारी-गैरसरकारी नौकरी द्वारा ही अस्सी प्रतिशत से अधिक लेखक जीविकोपार्जन करते हैं। व्यावसायिक दृष्टि से इन क्षेत्रों में प्रगति की प्रतिस्पर्धा बहुत तीव्र और संभावनाएं बहुत क्षीण होती हैं।

आज़ादी से पहले देश के अन्य सजग वर्गों के समान ही लेखक के सम्मुख भी एक आदर्श या एक मिशन था। वह सोचता था कि राष्ट्रीय पुनर्निवास के महान अभियान में उसका भी किसी न किसी रूप में सक्रिय योगदान है। इसलिए व्यवसाय के चुनाव में भी उसका मिशन-भाव कहीं-न-कहीं काम करता रहता था। अध्यापन और पत्रकारिता उसे सर्वाधिक अनुकूल व्यवसाय लगते थे। सेना या ऊंची सरकारी, प्रशासनिक नौकरी उसे अपने आदर्श के प्रतिकूल लगती थी। अपनी आर्थिक विपन्नता और भौतिक सुविधाओं के अभाव में वह त्याग और बलिदान की मात्र तृप्ति पाता था।

परन्तु आजादी के बाद लेखकों सहित बुद्धिजीवी वर्ग ने अपने आपको सर्वथा उपेक्षित महसूस किया। वह सोचता था आज़ादी के बाद बदली हुई परिस्थितियों में उसकी भूमिका महत्वपूर्ण हो जाएगी, परन्तु जो कुछ हुआ, उसने सभी को भौंचक्का कर दिया। आज़ादी से पहले देश का राजनीतिक नेतृत्व जन-मानस की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता था और नौकरशाही विदेशी शासकों का शोषणनीति का वफादारी से संचालन करने वाला 'टोडी' वर्ग था। इन दोनों के बीच विरोध इतना व्यापक और गहरा था कि लगता था कि आज़ादी के बाद राष्ट्र के प्रगतिशील तत्वों के साथ वह नौकरशाही अपना सामंजस्य नहीं बैठा पाएगी और नए उन्नतिशील, जनतांत्रिक भावनाओं के अनुकूल ढले प्रशासनिक ढांचे से खुद-ब खुद कट जाएगी या उसे काटकर फेंक दिया जाएगा। पर हुआ क्या? आज़ादी मिलते ही नेता वर्ग, शासक वर्ग बन गया और नौकरशाहों का वर्ग अपने नए मालिकों का सबसे प्रिय और निकट का सहयोगी वर्ग बना। राजनीतिक नेतृत्व और नौकरशाही की इस मिली-भगत ने शासन तन्त्र और नीति-निर्धारण के सभी पक्षों पर इस तरह नियन्त्रण स्थापित किया कि सामान्य बुद्धिजीवों ने अपने-आपको उपेक्षित ही अनुभव नहीं किया, बल्कि व्यापक सामाजिक संदर्भों में वह अपने-आप को महत्वहीन और तुच्छ अनुभव करता चला गया।

फिर एक दौर शुरू हुआ—भयंकर लूट-खसोट का दौर। हमने देखा, जब तब त्याग और बलिदान की दुहाई देने और देशभक्ति के तराने गाने वाला नेता वर्ग सत्ता मिलते ही भूखे-भेड़ियों की तरह धन और यश कमाने पर टूट पड़ा। चारों तरफ अजीब-सी अफरा-तफरी है। कोई भी मौका चूकना नहीं चाहता है। समय रहते सभी इतना एकत्र कर लेना चाहते हैं कि गद्दी न रहने के बाद भी किसी प्रकार की चिंता न रहे। इस काम में नौकरशाही की मिली-भगत ने उनकी पूरी सहायता की। उसने बड़े-बड़े पूंजीधारी संस्थानों से उनका सम्बन्ध स्थापित करने में बिचौलियों का काम किया। परिणाम क्या हुआ? नेता भी खुश, ब्योरोक्रेट भी खुश और लखपति से

करोड़पति और करोड़पति से अरबपति बनता हुआ पूंजीपति भी खुश। सामान्य बुद्धिजीवी या लेखक जहां था वहीं रहा, पहले से अधिक कुंठित होकर, उदासीन होकर, हताश होकर।

लूट-खसोट, यश लिप्सा और महत्वपूर्ण बनने की इस दौड़ में कुछ विशिष्ट लेखकों ने भी शामिल होने की कोशिश की। राज्यसभा की सदस्यता, सरकारी कमीशनों की सदस्यता या अध्यक्षता, सरकारी-अर्द्धसरकारी कमेटियों से नामजदगी, विदेश यात्रा के अवसर, पुरस्कारें. अनुदानों और उपाधियों का विवरण आदि कुछ ऐसे छोटे-छोटे रोटी के टुकड़े थे जो व्यवस्था की ओर से कुछ लेखकों को फेंके जाते रहे और ये लेखक उन पर लगातार झपटते रहे।

यहां मुझे हिन्दी के एक विशिष्ट लेखक की एक बात याद आती है। उन्होंने अपना मकान बनवाना शुरू किया। सीमेन्ट की कमी पड़ी तो उन्होंने सरकारी तंत्र में बैठे व्यक्ति से कहा—मुझे इतनी सीमेन्ट दिलवा दो—फिर खुद ही समझाते हुए बोले—एल. एम.बी. फंड से। उन्हें सीमेंट मिल गई। फिर उन्हें लकड़ी की जरूरत हुई। एल.एम. बी. फंड से उन्हें लकड़ी भी मिल गई। एल.एम.बी. फंड से मकान में शीशे भी लग गए। जब मकान पूरा बन गया तो ये उस अधिकारी के पास फिर गए और बोले—मकान तो बन गया है अब लाख-दो लाख का और प्रबन्ध हो जाए तो फरनीचर आ जाए।

अधिकारी मुस्कराया। बोला—चिंता न कीजिए, कुछ दिन में उसी फंड से उसका भी इंतजाम ही करवा दूंगा।

आप जानना चाहेंगे कि यह एल. एम. बी. फंड क्या है? यह शब्द रचना उन्हीं लेखक महोदय की जो—'लूटो मेरे भाई' इन तीन शब्दों का संक्षिप्तीकरण है।

वर्तमान स्थिति क्या है? आज़ादी के इतने वर्ष बाद भी सामाजिक दृष्टि से अभी भी लेखक की कोई स्वतंत्र स्थिति नहीं बनी है। अभी भी लेखक, लेखक होने के नाते कम, अध्यापक, संपादक, सरकारी अधिकारी या अन्य किसी व्यवसायिक स्थिति के कारण अधिक पहचाना जाता है। इसलिए उसकी पहचान एक भ्रमित-सी पहचान है। लेखकों को जन्म देने वाला सामाजिक वर्ग-मध्य वर्ग भी लगभग जैसे का तैसा है। अभी अधिसंख्य लेखक न अभिजात वर्ग से आते हैं न निम्न वर्ग से। अभिजात वर्ग के लिए लेखन कार्य, ऐक्टिंग या पेंटिंग की अपेक्षा दूसरे दर्जे का शौक है और व्यवसाय की दृष्टि से बड़े घाटे का सौदा है। निम्न या अनुसूचित जातियों की नई पीढ़ी सभी सदियों पुराने संस्कारों से ग्रसित हैं। वह या तो बहुत दबी हुई है या अत्याधिक उत्तेजना में जीती है।

किसी भी समाज में बुद्धिजीवी वर्ग उसे कहा जाता है जो विचारों का संव्यवहार करता है और विचारों के माध्यम से जनमत को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है। साथ ही वह आलोचनात्मक वृत्ति रखता है। सच बात तो यह है कि बुद्धिजीवी अपनी आलोचनात्मक वृत्ति के कारण ही पहचाना जाता है। आधुनिक अर्थों में बुद्धिजीवी वह वर्ग है जो समाज को, उसके नियमों को, उसके वर्तमान ढांचे को और मानवीय ज्ञान की उपलब्ध राशि को अपूर्ण और अधूरा मानता है और वह मानता है कि उस आलोचना को सतत् प्रक्रिया द्वारा विकसित किया जाना है। आधुनिक युग में समाज के प्रति

बुद्धिजीवी की यह प्रमुख भूमिका है। बुद्धिजीवी यह भी मानता है कि किसी भी व्यक्ति के पास पूर्ण सत्य नहीं है। हम केवल सत्य का एक अंश ही देख सकते हैं। अलग-अलग व्यक्ति सत्य के अलग–पहुलओं को ही देख पाते हैं और फिर विभिन्न नहीं बाद-विवाद संवाद और आलोचना द्वारा हम सत्य की ओर अग्रसित होते हैं।

हमारे देश में आज लेखक की भूमिका बुद्धिजीवी की इस व्यापक भूमिका से अलग नहीं है। यथास्थिति की सतत् आलोचना का कार्य लेखक अन्य बुद्धिजीवियों की अपेक्षा कहीं अधिक क्षमता और दूरगामी प्रभाव के साथ कर सकता है।

आजादी के कुछ वर्षो बाद जब व्यवस्था की ओर से लेखकों के लिए राज्याश्रय के विविध अंगों और पहलुओं के दरवाजे खुलने लगे थे तो ऐसा लगा था कि प्रतिष्ठित लेखकों का स्वर समय और सुविधा के अनुसार इधर-उधर भटकने लगा है और लेखकीय स्वतंत्रता, स्वाभिमान और प्रतिष्ठा राज्याश्रय की चमक-दमक में अपना अस्तित्व खोती जा रही है। कुछ वर्ष पहले उस समय की नई पीढ़ी के एक अत्यन्त जागरूक लेखक ने राज्याश्रय के पीछे भांगने वाले लेखकों की धुरीहीनता पर करारी चोट करते हुए एक लेख लिखा था। राज्याश्रय का विरोध करने और उपाधियों के पीछे भागने वाले लेखकों के लिए उन्होंने लिखा था कि ये वे लेखक हैं जो दाएं हाथ में विद्रोह का शंख और बाएं हाथ में राजा की आरती का थाल सजाए रहते हैं।

व्यवस्था का राज्यसत्ता के लिए एक हाथ में विद्रोह का शंख और दूसरे हाथ में आरती का थाल वाली स्थिति अब पहले से कहीं अधिक व्यापक और प्रभावशाली स्थिति में है। स्थिति यह है कि व्यवस्था का विरोध करने वाला लेखक कुछ दिन में स्वयं व्यवस्था का अंग बन जाता है। व्यवस्था जानती है कि किस लेखक की क्या कीमत है और लेखकों में से चतुर लेखक लगातार इस कीमत को बढ़वाने में लगे रहते हैं।

इस देश का सृजनशील लेखक बहुत सामान्य है और इकाइयों में इधर-उधर बिखरा हुआ है। व्यवस्था की कृपा-दृष्टि पड़ते ही लेखक सामान्य कोटि से उठकर विशिष्ट कोटि में आ जाता है। धीरे-धीरे अपने मूल वर्ग से उसका सम्वन्ध टूटता जाता है और वह उच्च वर्ग या विशिष्ट वर्ग का सदस्य बन जाता है। इस स्थिति की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि वह जो कुछ भी प्राप्त करता है, अपने लेखक होने के कारण प्राप्त करता है।,परन्तु जब उसे विशिष्ट स्थिति प्राप्त हो जाती है तो सबसे पहले वह अपने साथी सामान्य लेखकों को छोड़कर विशिष्ट लोगों के साथ जुड़ जाता है।

इसी प्रवृत्ति का परिणाम है कि गत वर्षों में हमारे सामाजिक ढांचे में अनेक वर्ग, वर्ग स्तर पर महत्वपूर्ण बने हैं। डाक्टर या इंजीनियर, पत्रकार या अध्यापक, किसान या मजदूर, उद्योगपति या व्यापारी इन सबका वर्ग स्तर का कुछ-न-कुछ महत्व है, परन्तु अभी तक लेखक इस देश में वर्ग-स्तर पर महत्वहीन है। लेखक होने के नाते किसी-न-किसी प्रकार कुछ व्यक्ति अवश्य महत्वपूर्ण बने हैं, परन्तु समग्र रूप से लेखक एक महत्वहीन स्थिति में ही है।

(दैनिक जागरण, 13 सितम्बर, 2001)

37

एक निश्चित पुस्तक नीति भी होनी चाहिए

यह वर्ष पुस्तक वर्ष के रूप में स्वीकार किया गया। नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया की ओर से आयोजित 15वां विश्व पुस्तक मेला भी 28 जनवरी से 4 फरवरी के बीच लगा। ट्रस्ट की ओर से इस पुस्तक मेले के लिए व्यापक प्रचार हुआ। पुस्तक वर्ष के उपलक्ष्य में इस बार ट्रस्ट ने एक बहुत अच्छा कार्य यह किया कि सभी के लिए मेले में प्रवेश निःशुल्क कर दिया गया। स्वाभाविक रूप से यह आशा की गई कि इस कदम से अधिक- से-अधिक लोग इस पुस्तक मेले में आएंगे।

यह आशा बहुत हद तक पूर्ण भी हुई। मेले में आने वालों की संख्या पहले से अधिक बढ़ी, किन्तु इन सभी प्रयासों के ठोस परिणाम कितने निकले, इस बात पर विचार किया जाना चाहिए।

पुस्तक के सम्बन्ध में भारतीय मानसिकता वह नहीं है जो अन्य उपभोक्ता वस्तुओं के प्रति होती है। दिल्ली के प्रगति मैदान में वर्ष भर में कितने ही मेले व्यापार, उद्योग के क्षेत्रों में लगते हैं। इनमें जितनी भीड़ होती है, उसका दसवां हिस्सा भी पुस्तक मेले में नहीं होता। इस देश में उपभोक्ता वस्तुओं के प्रति लोगों की मानसिकता बनाने की जरूरत नहीं है। इन वस्तुओं के निर्माता करोड़ों रुपए लगाकर उनका नित्य विज्ञापन करते हैं। शराब, सिगरेट, तम्बाकू, गुटका, पान मसाला जैसी, स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकारक होने के साथ ही जनरुचि को विकृत करने वाली वस्तुओं का विज्ञापन चारों ओर और बड़े धड़ल्ले से होता है।

किन्तु पुस्तकों के प्रति (अथवा किसी भी संस्कृति-कर्म के लिए) तो जन-रुचि विकसित करनी पड़ती है, उसका निरन्तर संस्कार करना पड़ता है, उसे व्यक्ति की

मानसिकता का अंग बनाना पड़ता है। किसी भी जागरूक, समाज का और उस समाज द्वारा बनाई गई सरकार का यह दायित्व बन जाता है कि वह अपने व्यक्तियों में संस्कृति की समझ और रुचि बढ़ाने में अपना पूरा योगदान देती रहे।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जो समाज संस्कृति के क्षेत्र में अपनी अच्छी पहचान नहीं बनाते हैं वे शीघ्र ही जीवन की अवनतिमूलक आदतों के लिए बहुख्यात हो जाते हैं। गुरु नानक देव ने एक स्थान पर बहुत सटीक लिखा है–

जिसनो आप खु आए करता,
खुस लए चंगिआई।

अर्थात् ईश्वर जिन्हें अधःपतन की ओर ले जाता है, सबसे पहले उनकी अच्छाइयों से उन्हें वंचित कर देता है।

पुस्तकों और उनके पठन-पाठन के प्रति भी हमें इसी दृष्टि से सोचना चाहिए। इसे अन्य उपभोक्ता वस्तुओं, मनोरंजन के माध्यमों अथवा बाजारू चीज़ों की समतुल्यता में समझा जाएगा तो हमारी पूरी सोच धूमिल पड़ जाएगी। 'ट्रेड फेयर अथॉरिटी' जो प्रगति मैदान की सम्पूर्ण व्यवस्था की संचालक है, यदि पुस्तक मेलों के आयोजकों से अपने हॉलों का उसी दर पर किराया वसूल करती है, जितना औद्योगिक और व्यापारिक मेला लगाने वालों से करती है तो यह समझना चाहिए कि सरकार पुस्तक व्यवसाय को अन्य व्यवसायों से अलग करके नहीं देखती।

इस पुस्तक मेले में 3 मीटर लम्बे और तीन मीटर चौड़े एक स्टाल का किराया 24750 रु. रखा गया। (भारतीय भाषाओं के प्रकाशकों के किराए में पचास प्रतिशत की छूट थी) पहले इस मेले की अवधि दस दिन होती थी और इसमें दो शनिवार और दो रविवार आ जाते थे। इस बार इसे आठ दिन के लिए रखा गया, जिसमें एक शनिवार और एक रविवार आते हैं। सभी जानते हैं कि सप्ताह के काम-काजी दिनों में अधिक लोग नहीं आते हैं क्योंकि छुट्टी के दिन आना लोगों को अधिक सुविधाजनक लगता है। इसलिए एक शनिवार और एक रविवार कम हो जाने के कारण पुस्तकों की बिक्री निश्चित रूप से बाधित हुई।

अंग्रेजी वालों की बात मैं नहीं करता, किन्तु पचास प्रतिशत की छूट होने के बावजूद भारतीय भाषाओं के प्रकाशकों को एक स्टाल का किराया लगभग साढ़े बारह हज़ार रुपए देना पड़ा। पुस्तकों को मेला-स्थल तक ले जाने और आठ दिन तक अपने स्टालों की व्यवस्था करने में लगने वाले खर्च को भी मिला लिया जाए तो एक स्टाल लेने वाले प्रकाशक का खर्च पंद्रह और बीस हज़ार के आसपास होता है। मेरा अनुभव है कि अस्सी प्रतिशत से अधिक स्टालों पर पुस्तकों की बिक्री से प्राप्त कुल धनराशि भी इतनी नहीं होती।

दिल्ली में प्रति दूसरे वर्ष विश्व पुस्तक मेले का आयोजनं 1972 से हो रहा है। देश के अन्य भागों में भी राष्ट्रीय और क्षेत्रीय पुस्तक मेले लगते रहते हैं। किन्तु क्या

इन वर्षों में, इन सभी प्रयासों के बावजूद, पुस्तक मानसिकता में कोई उल्लेखनीय विकास हुआ है? मैं समझता हूं कि इन वर्षों में उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन और बिक्री में आशातीत अभिवृद्धि हुई हैं। अपने देश मध्य वर्ग का नियमित विकास हो रहा है। आज बहुत सीमित साधनों वाले परिवारों में भी टेलीविजन, गैस, रेफरीजरेटर जैसी चीज़ें पहुंच गई हैं। यही मध्य वर्ग पुस्तकों का पाठक होता है, किन्तु इसकी सोच में पुस्तकों के प्रति रुझान बढ़ा नहीं है, बल्कि पहले से कम हुआ है।

रुझान की इस कमी का अध्ययन किया जाना चाहिए। पांच दशक पहले हिन्द पॉकेट बुक्स ने हिंदी में पॉकेट बुक्स का चलन शुरू किया था। इन जेबी पुस्तकों की लोकप्रियता निरन्तर बढ़ी और कितने ही नए प्रकाशक आ गए जिन्होंने ऐसी सस्ती पुस्तकों से बाज़ार पाट दिया। बड़े-बड़े स्थापित प्रकाशकों ने भी अपनी पुस्तकों के जेबी संस्करण निकाले। उस समय ऐसा लगा था कि हिन्दी में पॉकेट बुक्स का पाठक वर्ग बड़ी तेजी से बढ़ रहा है। मुझे स्मरण है कि अस्सी के दशक में हिन्द पॉकेट बुक्स ने गुलशन नंदा के एक उपन्यास का पांच लाख प्रतियों का एक संस्करण प्रकाशित किया था।

आज पॉकेट बुक्स के उस बढ़ते हुए बाजार का क्या हाल हो गया है? अनेक प्रकाशकों ने ऐसी सस्ती जेबी पुस्तकें छापनी बंद कर दी हैं, क्योंकि इनके खरीदारों की संख्या में तेजी से कमी आ गई है। दूरदर्शन ने सामान्य घरों में प्रवेश करके पुस्तकों को बाहर खदेड़ दिया है। एक बहुत बड़ा पाठक वर्ग, जो निरन्तर बढ़ रहा था, हमारे हाथ से बाहर निकल गया है।

ऐसी स्थिति में यह बात पहले से अधिक आवश्यक लगने लगी है कि केन्द्र तथा सभी राज्य सरकारों द्वारा गंभीरतापूर्वक एक दीर्घकालीन पुस्तक नीति बनाई जाए और उसे कार्यान्वित किया जाए।

इस दृष्टि से कुछ सुझाव सरकारों के सम्मुख आते रहे हैं। इनमें सबसे प्रमुख बात यह है कि सरकार पुस्तक-व्यवसाय को अन्य उपभोक्ता वस्तुओं की तरह एक सामान्य व्यापारिक न मानकर इसे संस्कृति संवर्धन नीति का एक भाग बनाए और इसे शिक्षा, कृषि, लघु उद्योग की भांति ही अपनी प्राथमिकता में लाए।

सारे देश में पुस्तक मेलों के चलन को प्रोत्साहित किया जाए। उसमें स्टाल का किराया इतना कम रखा जाए जिससे अधिक-से-अधिक प्रकाशक और पुस्तक विक्रेता भाग ले सकें। एक सुझाव मैंने अपने एक अन्य लेख में दिया था कि कुछ वर्ष/पूर्व प्रकाशित पुस्तकें प्रकाशकों के गोदामों में शोभा बढ़ा रही है। अनबिकी पुस्तकों के बाज़ारों को बड़े पैमाने पर प्रोत्साहित किया जाए। तभी पुस्तक मेलों के अवसर पर इनके पुस्तकों की बिक्री का अलग से प्रबन्ध किया जाए।

कुछ वर्ष पूर्व यह परम्परा विकसित होनी आरम्भ हुई थी कि स्कूलों-कालेजों में विद्यार्थियों को विभिन्न अवसरों पर पुरस्कार के रूप में पुस्तकें दी जाएं। यह परम्परा पूरी तरह विकसित नहीं हुई है। इसे अधिक-से-अधिक प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। सरकारी स्कूलों और कालेजों में इसे अनिवार्य किया जाना चाहिए। वहां यह भी

सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि पुरस्कारों के रूप में दी जाने वाली पुस्तकों में अधिक पुस्तकें भारतीय भाषाओं की हों।

पूरे देश में एक व्यापक पुस्तकालय नेटवर्क स्थापित किए जाने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। राजा राममोहन राय लाइब्रेरी फाउंडेशन की स्थापना इसी उद्देश्य से की गई थी किन्तु इस फाउंडेशन द्वारा पुस्तकों की खरीद की विधि इतनी अनियंत्रित और अव्यवस्थित है कि जिस उद्देश्य से इसकी स्थापना हुई थी उसकी तनिक भी पूर्ति नहीं हुई। ऐसे उदाहरण भी हैं कि प्रकाशकों को इस योजना के अन्तर्गत पुस्तकें भेजे दस-दस वर्ष हो चुके हैं, किन्तु अभी तक उनका भुगतान नहीं हुआ है। इसलिए इस फाउण्डेशन की कार्य विधि की पूरी तरह जांच-पड़ताल करके इसे अधिक संगत और सक्रिय बनाया जाना चाहिए।

यह बात इससे पहले भी सुझाई जा चुकी है कि जिस नगर में जब भी कोई नई कालोनी बने उसमें धार्मिक स्थलों, विद्यालयों, समुदाय-केन्द्रों, पार्कों के साथ ही एक पुस्तकालय के निर्माण का प्रावधान भी अवश्य किया जाए।

पहले दूरदर्शन पर अनेक साहित्यिक कार्यक्रमों का प्रसारण होता था और उसमें नई-से-नई पुस्तकों की चर्चा भी होती थी। इस क्षेत्र में व्यावसायिक चैनलों के आ जाने से सभी कार्यक्रमों का चरित्र बदल गया है। फिल्म-आधारित कार्यक्रमों से सभी चैनल भरे होते हैं। इन सभी चैनलों पर व्यावसायिक होड़ लगी रहती हैं, किन्तु प्रसार भारती द्वारा संचालित कार्यक्रम यदि इन व्यावसायिक चैनलों की होड़ में शामिल हो जाएंगे तो वे अपने उद्देश्य और निर्दिष्टता से बहुत दूर चले जाएंगे। कम-से-कम ये चैनल पुस्तक मानसिकता के विकास में तो अपना महत्वपूर्ण योगदान दे ही सकते हैं।

इस दृष्टि से एक व्यापक समन्वित नीति की आवश्यकता है। पुस्तक मानसिकता का विकास हमारी राष्ट्रीय प्राथमिकताओं में आना चाहिए। इस क्षेत्र में कार्य कर रही सरकारी, अर्द्ध सरकारी संस्थाओं में भी आवश्यक समन्वय पैदा होना चाहिए। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि केन्द्र सरकार और सभी राज्य सरकारें एक निश्चित पुस्तक नीति बनाएं और अपने-अपने क्षेत्रों में पुस्तक संवर्धन समितियों की स्थापना करें।

सभी व्यवसायों के लिए स्थितियां अनुकूल भी होती हैं और प्रतिकूल भी, किन्तु पुस्तक व्यवसाय और उसके द्वारा निर्मित होने वाली मानसिकता के संदर्भ में इस समय परिस्थितियां प्रतिकूल अधिक हैं, अनुकूल कम हैं। इन्हें अनुकूल कैसे बनाया जाए।

(दैनिक जागरण, 10 फरवरी, 2002)

38
भाषा जोड़ती भी है : भाषा तोड़ती भी है

भाषा की दृष्टि से पाकिस्तान संभवतः संसार का सबसे विचित्र देश है। 1947 में संयुक्त भारत के जिन भागों को काटकर पाकिस्तान बनाया गया था। उनमें एक ओर पंजाबी, सिंधी, पश्तो और बलूची भाषाएं बोली जाती थीं, दूसरी ओर बंगला बोली जाती थी, किन्तु उस समय सम्पूर्ण पाकिस्तान की राजभाषा उर्दू बनाई गई जो किसी भी क्षेत्र की भाषा नहीं थी।

पश्चिमी पाकिस्तान में इस स्थिति को बिना किसी हील-हुज्जत के स्वीकार कर लिया जाता था, किन्तु पूर्वी पाकिस्तान में इस निर्णय को लेकर व्यापक विरोध उठ खड़ा हुआ था। पाकिस्तान बनने के कुछ समय बाद ही जब वहां के पहले गवर्नर जनरल मोहम्मद अली जिन्ना ढाका गए थे, तो ढाका विश्वविद्यालय के हज़ारों छात्रों ने उनके खिलाफ जोरदार प्रदर्शन किया और यह मांग की कि वे बंगाली हैं, बंगला उनकी मातृभाषा है। वे उर्दू को पाकिस्तान की एकमात्र राष्ट्रभाषा के रूप में कभी स्वीकार नहीं करेंगे।

बंगालियों के इस व्यापक विरोध के कारण पाकिस्तान की सरकार को झुकना पड़ा था। उर्दू के साथ ही बंगला भी वहां की राजभाषा स्वीकार कर ली गई थी और उसे इस प्रकार की सभी सुविधाएं दे दी गई थीं जो पश्चिमी पाकिस्तान में उर्दू को प्राप्त थीं।

पाकिस्तान के निर्माण में जिन नेताओं की प्रमुख भूमिका थी उनमें अधिसंख्य लोग उन क्षेत्रों के थे जहां के मुसलमानों में उर्दू को ही मातृभाषा के रूप में स्वीकार किया जाता था। पाकिस्तान के प्रथम प्रधानमंत्री लियाकत अली खान, चौधरी ख़लीकुज्जमा, आदि उर्दू भाषी ही थे। मोहम्मद अली जिन्ना जन्म से गुजराती थे, किन्तु अंग्रेजी के

अतिरिक्त किसी हिंदुस्तानी भाषा को वह ठीक से नहीं जानते थे। पश्चिमी पाकिस्तान में पंजाब का भाग सबसे बड़ा था। वहां की बोलचाल की भाषा पंजाबी थी, किन्तु राज-काज, शिक्षा और अभिव्यक्ति की मुख्य भाषा उर्दू ही थी।

विशेष बात यह थी कि भारत के अन्य भागों, विशेष रूप से उत्तर प्रदेश और दिल्ली से जो पढ़े-लिखे मुसलमान पाकिस्तान गए थे, वे पूरी तरह उर्दू भाषी थे। नए बने पाकिस्तान के शासन-तन्त्र पर इनका पूरा वर्चस्व बन गया था।

इस दृष्टि से एक मानसिक ग्रंथि भी काम रही थी। आम मुसलमान यह मानता था कि उर्दू बोलने वाला हिन्दुस्तानी मुसलमान, वह मुल्क के किसी भी भाग में रहता हो, की (एकमात्र) भाषा उर्दू है। अन्य भाषाएं हिन्दू भाषाएं हैं। इस मानसिकता के कारण वे बंगला को भी हिन्दू भाषा मानते थे।

उर्दू और बंगला का एक बड़ा अंतर यह भी है कि दोनों की लिपियां अलग-अलग हैं। उर्दू की लिपि अरबी और फारसी से निकली हुई है। सामान्यतः इसे फारसी लिपि ही कहा जाता है। पश्चिमी पाकिस्तान में पश्तो, बलोची और सिंधी भाषाएं उसी लिपि में लिखी जाती हैं। वहां पंजाबी में भी जो कुछ लिखा जाता है, वह फारसी लिपि में ही लिखा जाता है। इसलिए उर्दू उन्हें अपने लिए अजनबी नहीं लगी।

किन्तु पूर्वी पाकिस्तानियों के लिए उर्दू भाषा और फारसी लिपि पूरी तरह अजनबी थी। वहां केवल थोड़े से पढ़े-लिखे व्यक्ति ही उर्दू समझ सकते थे। उर्दू के एकमात्र राजभाषा होने का अर्थ था कि वहां का सारा सरकारी काम-काज भी इसी भाषा में होता और बंगालियों के लिए सरकारी नौकरी के सभी रास्ते बंद हो जाते। इस स्थिति का लाभ विहारी की ओर से वहां गए उर्दू पढ़े-लिखे मुसलमान उठा रहे थे, जिन्हें बंगाली कतई पसंद नहीं करते थे।

पाकिस्तान के निर्माता मोहम्मद अली जिन्ना की मृत्यु के बाद पूर्वी बंगाल के ख़्वाजा निजामुद्दीन वहां के गवर्नर जनरल बनाए गए थे। वे उससे पहले संयुक्त बंगाल और बाद में पूर्वी पाकिस्तान के मुख्यमंत्री भी रह चुके थे। 16 अक्टूबर 1951 में रावलपिंडी की एक आम सभा में लियाकत अली खान को गोली मार दी गई। उसके बाद वित्त मंत्री गुलाम मोहम्मद ने प्रधानमंत्री का पद संभाल लिया था। कुछ समय बाद उन्होंने ख़्वाजा निजामुद्दीन को प्रधानमंत्री पद देकर स्वयं को गवर्नर जनरल बना लिया था।

ख्वाज़ा निजामुद्दीन के प्रधानमंत्रित्व काल में भाषा का प्रश्न बड़ी तेज़ी से उभरा। वे स्वयं बंगाली थे और भाषा को लेकर सभी बंगाली कितने संवेदनशील होते हैं, वे अच्छी तरह जानते थे।

मुस्लिम लीग के अधिसंख्य नेता उर्दू को इस्लाम की भाषा और फारसी लिपि को इस्लाम की लिपि समझते थे। बंगला भाषा की लिपि ब्राह्मी से निकली भारतीय लिपि है और बिना किसी धार्मिक आग्रह के सभी बंगालियों द्वारा स्वीकृत है। मुस्लिम लीग के नेताओं ने बंगाली मुसलमानों को यह समझाने की भरसक कोशिश की थी कि बंगला भाषा और उसकी लिपि हिन्दुओं की थाती है, किन्तु बंगालियों ने इस तर्क

को कभी स्वीकार नहीं किया।

व्यापक संघर्ष के बाद बंगाल के लोग पाकिस्तानी शासकों से यह बात मनवाने में सफल हो गए कि उर्दू के साथ ही बंगाली को भी राजभाषा का स्थान दिया जाए। पश्चिमी पाकिस्तान के शासकों ने मजबूरी में इसे मान तो लिया था किन्तु दिल से कभी भी वे इस स्थिति को स्वीकार नहीं कर सके थे। पूर्वी पाकिस्तान का समूचे पाकिस्तान से टूटकर बंगला देश के रूप में अपना अलग राष्ट्र बना लेने के पीछे भाषा का कारण भी बहुत महत्वपूर्ण था।

शेष पाकिस्तान भी एक बहुभाषी देश है, जैसा भारत है। इसमें पंजाबी भाषी लोग सबसे अधिक हैं—साठ प्रतिशत से अधिक। उसके बाद सिंधी, पश्तो और बलोची हैं। किन्तु पाकिस्तान के पंजाबी भाषियों में अपनी भाषा के प्रति वैसी निष्ठा और लगाव नहीं है, जैसा बंगाली भाषियों में है। बीच-बीच में पंजावी को लेकर वहां कुछ जोश उमड़ता है। वहां पंजाबी लेखकों की कुछ संस्थाएं भी हैं जो यह मांग निरन्तर करती रहती हैं कि पश्चिमी पंजाब में पंजाबी को वही स्थान दिया जाए जो भारतीय पंजाब में उसे प्राप्त है। उसे शिक्षा का माध्यम बनाया जाए, उसे अदालतों और सरकारी काम-काज की भाषा बनाया जाए, किन्तु इस प्रयास में उन्हें आंशिक सफलता ही मिली है।

दो वर्ष पहले मैं इस्लामावाद और लाहौर गया था। ये दोनों शहर पाकिस्तानी पंजाब में हैं। सड़कों, बाजारों, कारखानों में लोग पंजाबी में ही बोलते और आपस में व्यवहार करते हैं, किन्तु जैसे ही उच्च शिक्षा, राजनीति, सभा-संचालन, गंभीर चर्चा की स्थिति आती है, सब कुछ उर्दूमय हो जाता है। आश्चर्य यह देखकर होता है कि वहां के बहुत से पंजाबी सियासतदान भी नहीं चाहते कि उनकी भाषा को वहां वह स्थान प्राप्त हो जाए जो बंगला देश में बंगला को प्राप्त है। मैंने वहां ऐसे अनेक राजनीति-कर्मियों से चर्चा की। वे सभी बड़ी खूबसूरत पंजाबी बोलते हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में उनका रुख नकारात्मक ही रहा जब मैंने उनसे कहा कि आप अपने पंजाब में पंजाबी को वह स्थान दिलाने का प्रयास क्यों नहीं करते जो भारतीय पंजाब में उसे प्राप्त है। उनका कहना था कि ऐसा करने से पाकिस्तान की एकता को खतरा पैदा हो जाएगा। इसका एक कारण और भी दिखाई देता है। यद्यपि पाकिस्तान के निर्माता गैर-पंजाबी थे, किन्तु पाकिस्तान की राजनीति पर सदैव पंजाबी छाए रहे हैं। ऐसा इसलिए भी कि उर्दू भाषा विभाजन से पहले भी पंजाब के राज-काज की और व्यापक अभिव्यक्ति की भाषा थी। बड़े-बड़े अखबार लाहौर से ही प्रकाशित होते थे। उर्दू पर जितना उनका अधिकार है उतना सिंधियों, पख़्तूनों और बलोचों को नहीं है। पंजाबी दानिशमंद और सियासतदान अपना वह प्रभुत्व नहीं खोना चाहते हैं।

पाकिस्तान में वहां की अन्य भाषाओं की वैसी बुरी दशा नहीं है जैसी पंजाबी की है। सिंध क्षेत्र से सिंधी में अनेक दैनिक पत्र प्रकाशित होते हैं, जो सिंधियों के बीच खूब पढ़े जाते हैं। पश्तो और बलोची की स्थिति भी ऐसी ही है, किन्तु सारे पाकिस्तान में साठ प्रतिशत से अधिक लोगों द्वारा बोली जाने वाली पंजाबी में एक

भी दैनिक पत्र प्रकाशित नहीं होता। कुछ पंजाबी प्रेमियों के प्रयास से दो-चार मासिक पत्र ही पंजाबी, फारसी लिपि में प्रकाशित होते हैं।

कोई भी भाषा कैसे जीवित रहती है और प्रफुल्लित होती है? अपनी भाषा से प्रेम और उसके प्रति गहरा भावात्मक लगाव एक तथ्य अवश्य है, किन्तु जो भाषा व्यक्ति के व्यवसाय और जीविका से जुड़ी हुई नहीं होती वह अधिक उन्नति नहीं कर पाती। ऐसी भाषा कभी ज्ञान-विज्ञान के उच्च स्तरीय अध्ययन की भाषा नहीं बनती। आज सारे संसार पर अंग्रेजी का व्यापक प्रभाव है। उसका सबसे बड़ा कारण यह है कि वह अच्छी जीविका के उपार्जन का बहुत बड़ा माध्यम है। एक समय सभी लोग उर्दू इसलिए पढ़ते थे, क्योंकि मुंशीगीरी की नौकरी उर्दू जाने बिना नहीं मिलती थी। अपने कंधों पर अंग्रेजी के वजनी जुए के बावजूद वे भारतीय भाषाएं विकास कर रही हैं जो अपने-अपने राज्यों में राजभाषा होने का गौरव प्राप्त कर चुकी है और लाखों लोगों को आजीविका देने में समर्थ हो गई हैं।

लाहौर में पंजाबी लेखकों की एक सभा में मैंने उनका ध्यान इस ओर आकर्षित किया था। मैंने उनसे यही कहा था कि अपने सारे पंजाबी प्रेम के बावजूद वे अपने प्रदेश में अपनी मातृभाषा को एक उन्नत भाषा नहीं बना सकेंगे यदि वे इसके पठन-पाठन में रोजी-रोटी की संभावनाओं को पैदा नहीं कर सकेंगे। उनकी नई पीढ़ी उर्दू को बड़ी गति से अपनी भाषा के मूल्य पर अपनाती जा रही है क्योंकि इसमें रोजगार की संभावनाएं हैं। जब तक कोई भाषा राज-काज की भाषा नहीं बनती उसमें आजीविका के अवसर नहीं उत्पन्न होते। आजीविका की संभावना न होने पर कोई भाषा न शिक्षा का माध्यम बनती न ज्ञान-विज्ञान के नए-नए क्षितिजों की खोज करती है। इसलिए उन्हें अपने पंजाब में (जो भारतीय पंजाब से कहीं अधिक बड़ा है) पंजाबी को राजकीय स्तर पर मान्यता और स्वीकृति दिलाने का आन्दोलन करना चाहिए।

पूर्वी पाकिस्तान में जब बंगला को लेकर संघर्ष शुरू हुआ था, उस समय उनका भाषा प्रेम तो था ही, इस आशंका का भी बहुत बड़ा योगदान था कि यदि राज-काज के सभी स्तरों पर उर्दू छा गई तो बंगालियों के लिए रोजगार की संभावनाएं बहुत क्षीण हो जाएंगी।

हमारे जीवन में भाषाएं अत्यन्त व्यापक और महत्वपूर्ण भूमिकाएं निभाती हैं। वे व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ती हैं और व्यक्ति को व्यक्ति से तोड़ भी देती है। वे हमारे अध्ययन का मार्ग खोलकर हमें महत्तर मानवीय मूल्यों से जोड़ती हैं, किन्तु कभी-कभी धार्मिक/साम्प्रदायिक रंग लेकर सामाजिक विद्वेष का कारण भी बन जाती है।

भाषा वही काम करती है, जो हम उससे करवाना चाहते हैं।

(दैनिक जागरण, 28 जुलाई, 2002)

39
विषमताओं के मध्य गहरी मानवीयता की कहानी ईदगाह

प्रेमचंद भारत के उन गिने-चुने कुछ लेखकों में से थे जिन्हें इस विशाल भारतीय समाज के विविध वर्गों की व्यापक जानकारी थी। उनकी यह जानकारी मात्र किताबी या सुनी-सुनाई नहीं थी। उनकी कहानियों में जिन विविध वर्गों की चर्चा हुई हैं—अर्थाधारित, धर्माधारित, जाति-आधारित या स्थानाधारित उसे देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें इन वर्गों की मानसिकता, रीति-रिवाज़, धार्मिक विश्वास, रूढ़ियों, परम्पराओं और वर्गगत आकांक्षाओं से गहरा अंतरंग और रागात्मक लगाव था। इन वर्गीय पात्रों का चित्रण करते समय वर्ग-भावना की गहरी समझ और उनके प्रति सहानुभूति से लबरेज़ नज़र सर्वत्र दिखाई देती हैं।

यहां एक तथ्य की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट होता है। हिन्दी कथा-साहित्य का अधिकांश भाग मध्यमवर्गीय संस्कारबद्ध सर्व हिन्दू की मानसिकता से जुड़ा हुआ है। इसमें ब्राह्मण, ठाकुर, बनिया और कायस्थ ग्रामीण, कस्बाई और शहरी परिवेश में बार-बार अवतरित होते हैं। चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' की कहानी 'उसने कहा था' हिंदी कहानी में प्रारंभिक वर्षो में पंजाब के सिखों के चरित्र को अनेक कोणों से व्यंजित करने वाली संभवतः पहली कहानी थी जिसकी याद आज भी हिंदी कहानी के पाठक की मानस-क्षितिज पर बहुत ताजा है। बहुत वर्षों तक ऐसी कहानियां नहीं के बराबर लिखी गई। प्रेमचंद की कहानियों और उपन्यासों में हिंदी भाषी प्रदेशों में बसने वाले वे मुसलमान-चरित्र उभरे जिनके सम्बन्ध में हिंदी लेखकों ने अपने सामाजिक अलगाव के कारण उस समय तक बहुत कम लिखा था। शतरंज के खिलाड़ी, पंच परमेश्वर, न्याय, हिंसा परमोधर्म और ईदगाह जैसी कहानियां हिंदी (हिन्दू) पाठक के सामने सदियों

से उसी के साथ जीने और सांस लेने वाले वर्ग की संवेदनाओं का संसार खोलती-सी लगती हैं।

प्रेमचंद की ईदगाह कहानी अपनी इस परिवेशगत विशेषता के कारण तो महत्वपूर्ण है ही, बाल मनोविज्ञान, गहरी मानवीय संवेदना और जीवनगत प्रश्नों के संकेतात्मक प्रसंगों के कारण भी इसे प्रेमचंद की विशिष्ट कहानियों में गिना जा सकता है।

रमजान के गर्मी और उमस भरे तीस रोजों के बाद जब ईद आती है तो मुसलमान परिवारों में उसके प्रति कितना उत्साह होता है, यह तो कोई भुक्तभोगी या भुक्तभोगी का अत्यन्त निकटस्थ व्यक्ति ही जान सकता है। वैसे सभी त्योहारों के प्रति आम आदमी में उत्साह होता है, परन्तु ईद अनायास नहीं आ जाती, उसे उन कष्ट के दिनों में भूखा-प्यासा रहकर अर्जित करना पड़ता है। बच्चों में तो त्योहार का उत्साह कहीं अधिक होता है विन मां-बाप का, दादी की गोद में पलता हुआ हामिद भी ईद का स्वागत करने के लिए पूरे उत्साह में है। बड़े-बूढ़ों के साथ बालकों का दल शहर के ईदगाह की ओर बढ़ रहा है। शहर आते ही शहर का अजनबीपन उभरने लगता है—बड़ी-बड़ी इमारतें, अदालत, कालेज, क्लबघर। सभी चीज़ें ऐसी हैं जो इन बच्चों के परिवेशगत अनुभव से बड़ी दिखती हैं परन्तु हार मानने का प्रश्न ही नहीं। कालेजों में बड़े-बड़े लड़के पढ़ते हैं, उनकी बड़ी-बड़ी मूंछें है, इतने बड़े हो गए अभी तक पढ़ते जाते हैं, परन्तु इस बात के महत्व को अपनी ही सीमाओं में अपने महत्व के साथ जीने वाला हामिद झुठला देता है, क्योंकि उसके मदरसे में दो-तीन बड़े-बड़े लड़के हैं, बिल्कुल तीन कौड़ी के। रोज मार खाते हैं, काम से जी चुराते हैं। क्लब घर में साहब लोग शाम को खेलते हैं। बड़े-बड़े आदमी खेलते हैं, मूछों-दाढ़ी वाले और मेमें भी खेलती हैं। एक बात सबके सामने आती है—हमारी अम्मा को वह दे दो, क्या नाम है, बैट, तो उसे पकड़ ही न सकें। घुमाते ही लुढ़क जाएं।''

यह एक आशंका है। महमूद ने कहा—''हमारी अम्मी जान का तो हाथ कांपने लगे, अल्ला कसम।''

परन्तु यह भी क्या बात हुई। बाल मन इतनी जल्दी तो हार मानने वाला नहीं। पराजय भाव को नकारने वाले अनेक तर्क उभर आए—''अम्मा मनों आटा पीस डालती हैं, सैकड़ों घड़े पानी रोज़ निकालती हैं। किसी मेम को एक घड़ा पानी भरना पड़े तो आंखों तले अंधेरा छा जाएं.... और खुली गाय को पकड़ने के लिए अम्मां कितनी तेज़ दौड़ी थीं।''

बालमन अपने सवालों का हल ढूंढ लेता है, कहीं तर्क से, कहीं विश्वास से और कहीं समझ से। चौधरी के पास इतना धन इसलिए है कि उसने जिन्नात को काबू में कर रखा है। (बिना शोषण रूपी जिन्न का सहारा लिए धन कहां इकट्ठा होता है) कानून और व्यवस्था की समझ इन बालकों की किसी से कम पैनी नहीं। मोहसिन कहता है—यह कानिसटिबल पहरा देते हैं...अजी हज़रत, यही चोरी कराते हैं। शहर में जितने चोर-डाकू हैं, सब इनसे मिले रहते हैं। रात को ये लोग चोरों से तो कहते

हैं, चोरी करो और आप दूसरे मुहल्ले में जाकर जागते रहो-जागते रहो! पुकारते रहते हैं।

वर्तमान स्थितियों में भी यह बात कितनी सटीक है।

'ईदगाह' में प्रेमचंद धीरे-धीरे हमें उस विन्दु की ओर अग्रसित करते हैं जो इस कहानी का मूल संवेद है। हामिद के सभी साथियों के पास कितने-कितने पैसे हैं, पर उसके पास सिर्फ तीन पैसे हैं। आकर्षण के अनेक प्रसंग हैं–ज़मीन-आसमान की सैर करानेवाला हिंडोला है, चर्खी है, एक पैसे में पच्चीस चक्करों का मज़ा देने वाली, मिट्टी के मुंह बोलते खिलौने हैं–सिपाही और गुजरिया, राजा और वकील, भिश्ती और धोबिन और साधू। महमूद सिपाही लेता है, मोहसिन को भिश्ती पसंद आया, नूरे को वकील से प्रेम है, सम्मी धोबिन खरीद लेता है।

हामिद खिलौनों की निंदा करता है–मिट्टी ही के तो हैं, गिरे तो चकनाचूर हो जाएं। लेकिन वह ललचाई हुई आंखों से उन्हें देखता भी है (पूंजी का अदम्य आकर्षण आख़िर किसे नहीं ललचाता)।

खिलौने के बाद मिठाइयां आती हैं। किसी ने रेवड़ियां ली हैं, किसी ने गुलाब जामुन, किसी ने सोहन हलवा। मज़े से खा रहे हैं। हामिद विरादरी से अलग है। उसके साथी उसके साथ क्रूर विनोद करते हैं। वह ललचाता है, खिसियाता है और उसी में से अपने लिए तर्क की अभेद्य दीवार खींच लेता है–''मिठाई कौन बड़ी नेमत है। किताब में इसकी कितनी बुराइयां लिखी हैं।''

पूंजी-प्रदर्शन के सभी निर्लज्ज प्रयासों के मध्य हामिद अपने कुल जमा तीन पैसों से दादी अम्मा के लिए चिमटा खरीद लेता है। एक ओर चमक-दमक, जुबान का चटखारा और आमोद-प्रमोद। दूसरी ओर है गहन-मानवीय संवेदना–''खाओ मिठाइयां, आप मुंह सड़ेगा, फोड़े-फुंसियां निकलेंगी, आप की जबान चटोरी हो जाएगी...अम्मा चिमटा देखते ही दौड़कर मेरे हाथ से ले लेंगी...हज़ारों दुआएं देंगी...चिमटा कितने काम की चीज़ है। रोटियों तवे से उतार लो, चूल्हे में सेंक लो। कोई आग माँगने आए तो चटपट चूल्हे से आग निकालकर उसे दे दो।''

सम्पन्नता के सभी दिखावों के मध्य चिमटा श्रम का सार्थक प्रतीक बन जाता है। एक ओर मिट्टी है, दूसरी ओर लोहा। चिमटा सारे खिलौनों की जान निकाल सकता है, खजरी का पेट फाड़ सकता है...बहादुर चिमटा आग में, पानी में, आंधी में, तूफान में बराबर डटा रहेगा।

गांव पहुंचने पर देखते-देखते भिश्ती टूट गया, वकील साहब का माटी का चोला माटी में मिल गया। सिपाही की एक टांग में विकार आ गया, परन्तु हामिद का चिमटा कितना विचित्र साबित हुआ। बच्चे हामिद ने बूढ़े हामिद का पार्ट खेला था। बुढ़िया अमीना बालिका अमीना बन गई। वह रोने लगी। दामन फैलाकर हामिद को दुआएं देती जाती थी और आंसू की बड़ी-बड़ी बूंदें गिराती जाती थी।

'ईदगाह' कहानी सामाजिक विषमता की परतों को बड़ी सहजता से खोलती-चलती है और उसमें से भावी निदान का संकेत देती चलती है। इस्लाम समता और बराबरी

का धर्म है। वह अपने अनुयायियों में धन, वंश, जाति आदि किसी भी आधार पर बड़े-छोटे का भेद नहीं करता, "सहसा ईदगाह नज़र आया। ऊपर इमली के वृक्षों की घनी छाया है। नीचे पक्का फर्श है, जिस पर जाजिम बिछा हुआ है और रोज़ेदारों की पंक्तियां, एक के पीछे एक जाने कहां तक चली गई हैं, पक्की जगत के नीचे तक जहां जाजिम भी नहीं है। नए आने वाले आकर पीछे की कतार में खड़े हो जाते हैं। आगे जगह नहीं है। यहां कोई धन और पद को नहीं देखता। इस्लाम की निगाह में सब बराबर है...लाखों सिर एक साथ सिजदे में झुक जाते हैं, फिर सब के सब एक साथ खड़े हो जाते हैं, एक साथ झुकते हैं और एक साथ घुटनों के बल बैठ जाते हैं...कितना अपूर्व दृश्य था, जिसकी सामूहिक क्रियाएं, विस्तार और अनन्तता हृदय को श्रद्धा, गर्व और आत्मानंद से भर देती थी, मानो भ्रातृत्व का एक सूत्र इन समस्त आत्माओं को एक लड़ी में पिरोए हुए हैं।"

यह है वह समानता और बन्धुता जो धार्मिक स्तर पर इस्लाम में है और प्रेमचंद जिसे पूरी अन्तर्ग्रस्तता से वर्णित करते हैं, परन्तु धार्मिक स्तर पर प्राप्त समता ईदगाह से बाहर निकलते ही आर्थिक विषमता से टकरा जाती है और ऊंच-नीच, अमीर-गरीब का यथार्थ अपनी सम्पूर्ण कठोरता और कुरूपता से आ उपस्थित होता है। उसमें जिसकी जेब में पैसे हैं वह हिंडोले पर चढ़ता है, चर्खियों पर चक्कर काटता है, रेवड़ी और गुलाब जामुन खाता है, सबील पर शर्वत पीता है और रंग-विरंगे खिलौने खरीदता है और हामिद जैसा व्यक्ति (उस मेले में ऐसे भी होंगे जिनकी जेब में पैसे भी नहीं होंगे) ललचाई आंखों से सब कुछ देखता है और आर्थिक असमानता के दंश को झेलता है। क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि धर्मग्रंथों में कही गयी मानवीय एकता और समता की बड़ी-बड़ी बातों और मस्जिद (या गुरुद्वारे-मंदिर) में प्रदर्शित समानता का सारा मुलम्मा आर्थिक (और सामाजिक) विषमता के सामने आते ही उतरना शुरू हो जाता है। क्या यहां यह भी संकेत नहीं है कि धार्मिक आधार पर दिया गया बराबरी का दर्ज़ा उस समय तक बेअसर और बेमानी है जब तक उसे सामाजिक और आर्थिक स्तर तक नहीं लाया जाता।

जीवन के आधारभूत प्रश्नों की ओर प्रेमचंद ने जिन कुछ एक कहानियों में बड़ी सहजता और सजगता से हमारा ध्यान आकर्षित किया है, ईदगाह, उनमें से एक है। मेले में हामिद के साथ जाने वाले अन्य बालक भी किसी अन्य वर्ग के नहीं हैं। वे भी गरीब ग्रामीणों के बेटे हैं। सिर्फ उनके पास हामिद से कुछ पैसे अधिक हैं, परन्तु लेखक उन बालकों और हामिद को दो विभिन्न मनोवृत्तियों का प्रतिनिधि बना देता है एक वर्ग विषमता की मार सहते हुए उन मध्यम वर्गीय लोगों का है जो थोड़ी-सी भी सुविधा पाते ही अमीरी के ख्वाब देखने लगते हैं। हिंडोले में चढ़कर वह हवाई जहाज़ की कल्पना कर लेते हैं। चर्खी के घोड़े पर चढ़कर वे थोड़ी देर के लिए सामंती सुख पा लेना चाहते हैं और हामिद जैसे गरीब को चिढ़ा-चिढ़ाकर मिठाई खाते हुए स्वयं अपने साथ गुजरी इसी नियति का प्रतिकार करते हैं। दूसरी ओर हामिद है जो अपनी वास्तविक स्थिति को पूरी तरह समझता ही नहीं, बल्कि उसके प्रति पूरी तरह सजग

और जागरूक है और अपने सीमित साधनों में जो मार्ग चुनता है वह झूठी अमीरी की ओर न जाकर श्रम की ओर जाता है, जिससे किसी भी समाज का भविष्य बनता है। अन्य बालकों का चुनाव उन्हें नितांत निजी क्षणिक तृप्ति देता है, परन्तु हामिद का चुनाव उस बूढ़ी अमीना को तृप्त करता है जिसकी आंखों में निरीह, शोषित मानवता झांकती नज़र आती है।

सहज भाषा, हमारी संवेदना को प्रति पल गहराता चलने वाला आकृत्रिम शिल्प, बाल मनोविज्ञान को व्यंजित करने वाले छोटे-छोटे सार्थक संवाद इस कहानी को ऐसी रचनात्मक उपलब्धि में परिणत कर देते हैं और जो किसी भी आयु, वर्ग और मानसिक स्तर में पाठक को एक-सी तृप्ति देता है। किसी भी भाषा में ऐसी कहानियां अधिक नहीं होतीं।

(दैनिक जागरण, 1 अगस्त, 2002)

40
कितने संवादहीन हो गए हैं लेखक?

मेरी सदैव यह मान्यता रही है कि हमारी अनेक समस्याओं का कारण हमारी संवादहीनता है। ये समस्याएं व्यापक स्तर पर सामाजिक भी हो सकती हैं और वैयक्तिक भी। संवादहीन समाज और व्यक्ति स्व-निर्मित मनोग्रंथियों से पीड़ित रहता है। वह कुछ सुनी-सुनाई बातों को अपना आधार बना लेता है। उसी के अनुसार अपनी धारणाएं बना लेता है। फिर उन्हीं धारणाओं को अन्तिम सत्य मानकर बड़े विश्वास से उसी आधार पर अपने विचार और आचरण को गढ़ता रहता है।

इस देश में आपसी विचार-विमर्श करने की परम्परा बहुत प्राचीन है। विद्वान् एकत्र होते थे और तर्क-वितर्क द्वारा जीवन के किसी प्रश्न का समाधान ढूंढ़ने का प्रयास करते थे, किन्तु तर्क-वितर्क की यह पद्धति जब शास्त्रार्थ में परिवर्तित हो गई तो सारा वाद-विवाद प्रतिपक्ष को पराजित करने, उसे नीचा दिखाने और विजय पताका लहराने की ओर चला गया, भिन्न विचार रखने वाले से किसी प्रकार का संवाद स्थापित करने और उसका दृष्टिकोण समझने का विचार इसमें नहीं रहा।

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात सारे संसार में अनुभव किया गया कि संसार के देशों में आपसी मतभेद भी हैं और विवाद के अनेक कारण भी। इनसे आपसी युद्ध की स्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं। क्यों न संसार के सभी देश-मिल बैठकर आपस में बातचीत करें और मतभेदों को दूर करने का प्रयास करें। उसका परिणाम हुआ कि 1920 में 'लीग आफ नेशन्स' की स्थापना हुई और द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात्, 1946 में उसी का अधिक व्यापक रूप संयुक्त राष्ट्र संघ के रूप में सामने आया। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आज इस संस्था का क्या महत्व है, कहने की आवश्यकता नहीं है।

आज जब सम्पूर्ण संसार संवादशीलता की ओर बढ़ रहा है, यह देखकर बहुत खेद होता है कि हमारे लेखक किस मानसिकता का शिकार बनते जा रहे हैं। लेखक अत्यन्त संवेदनशील होता है। अपेक्षा यह की जाती है कि वह मानसिक और वैचारिक दृष्टि से आम आदमी से कहीं अधिक गंभीर और समृद्ध लोग और समय की नब्ज़ को किसी राजनीति कर्मों की अपेक्षा कहीं अधिक सूक्षमता से पहचानने की शक्ति रखता होगा, किन्तु कुछ समय से कुछ लेखक एक-दूसरे को लांछित करने, उन पर कीचड़ उछालने, उन पर दोषारोपण करने में लगे हुए हैं, उससे तो यह लगता है कि उन्हें एक सामान्य से शिष्ट मानवीय व्यवहार के लिए भी प्रशिक्षित किए जाने की आवश्यकता है।

हाल का ही एक उदाहरण है। एक राष्ट्रीय दैनिक पत्र ने यह परिचर्चा प्रारम्भ की है कि लेखक को सामाजिक दृष्टि से कितना 'एक्टिविस्ट' होना चाहिए। इस परिचर्चा में लेखक-संपादक राजेन्द्र यादव ने भी अपने विचार व्यक्त किए। इसमें उन्होंने लेखक की लिखने की आज़ादी की पूरी वकालत की और यह भी कहा कि वह कभी मनुष्य विरोधी नहीं होता और सदा मनुष्य की संघर्ष यात्राओं के साथ खड़ा होता है।

यह तो हुई सुंदर दिखने वाले सिद्धान्त की बात। यहीं से छद्‌म शुरू होता है जो आजकल राजेंद्र यादव जैसे कुछ लेखकों का असली चेहरा है। इस समय गुजरात के नरसंहार पर बात करना इसी छद्‌म मानसिकता का नया फैशन है। ऐसे लेखक ऐसी किसी भी घटना को एक सीढ़ी बनाकर किसी भी लेखक के बुत पर काली स्याही फेरने का काम करते हैं। राजेन्द्र यादव को गुजरात के दंगा पीड़ितों के प्रति रत्ती भर भी हमदर्दी नहीं है, वैसे ही जैसे 1984 के सिख नरसंहार के प्रति नहीं थी। उस समय सिखों की पीड़ा के प्रति घड़ियाली आंसू बहाकर उन्होंने निशाना कहीं और साधा था। इस समय गुजरात में हुई नृशंस घटनाओं ने उन्हें निर्मल वर्मा को बींधने को अवसर दिया। उन्होंने इस संदर्भ में निर्मल वर्मा की कथित चुप्पी को वाजपेयी, आडवाणी, मोदी और भाजपा के साथ जोड़कर बड़ी सहजता से आर.एस.एस. की किसी शाखा का स्वयंसेवक बना दिया। ऐसा व्यक्ति हाथ में दुधारी तलवार रखता है। एक धार से वह सामने वाले को काटता है तो दूसरी धार से, अपनी आंख तिरछी करके अपने किसी अन्य विरोधी की गरदन उड़ा देता है। इस बार उनकी दूसरी धार का शिकार मैं हो गया।

इस लेख में राजेन्द्र ने लिखा है कि महीप सिंह (दो अन्य लेखकों का भी उल्लेख) का गुजरात के नरसंहारों के पक्ष में होना मेरी समझ में आता है। इन्हीं लेखकों के गुट में निर्मल वर्मा का जा बैठना तकलीफदेह है।

गुजरात में घटी घटनाओं और वहां हुए नरसंहार के प्रति मैंने जितना और जो कुछ लिखा उतना बहुत कम लेखकों ने लिखा होगा। इस संदर्भ में मेरे कुछ लेख दैनिक जागरण में प्रकाशित हुए। 25 अप्रैल के अंक में 'समरस समाज के शत्रु' शीर्षक लेख में मैंने गुजरात में हुए नरसंहार की निंदा करते हुए लिखा था—'गुजरात में मुस्लिम समुदाय पर हुए पाशविक अत्याचारों के लिए इनके (विश्व हिन्दू परिषद् के नेताओं) पास मानवीय सहानुभूति के दो शब्द भी नहीं हैं। इस उन्माद भरे अन्धड़ से अपनी

आंखों को बचाए ये गोधरा कांड का काला चश्मा चढ़ा लेने में अपनी सार्थकता समझते हैं।'

गुजरात में जो कुछ हुआ, वह नृशंस हत्याकांड तो था ही, स्त्रियों के साथ घटी बलात्कार की घटनाएं और उसके बाद उनकी बर्बर हत्या क़िसी भी समय समझे जाने वाले समाज के माथे पर कलंक है। 4 जुलाई के दैनिक जागरण में 'यह कौन-सा समाज है?' शीर्षक से मेरा एक लेख प्रकाशित हुआ था। गुजरात के दंगाइयों ने मुस्लिम-स्त्रियों के साथ जैसा पाशविक व्यवहार किया उसके कुछ उदाहरण मैंने अपने लेख में दिए थे।

दिल्ली की प्रतिष्ठित साहित्यिक संस्था 'संवाद' की ओर से गुजरात में हुए दंगों के संबंध में एक संगोष्ठी आयोजित की गई जिसमें अनेक जाने-माने लेखकों की भागीदारी थी। संचेतना (त्रैमासिक) के पिछले अंक में हमने 'दंगे क्यों भड़कते हैं' की मानसिकता को उजागर करने के लिए हिन्दी के चिंतनशील लेखकों की एक परिचर्चा भी आयोजित की थी, किन्तु सभी लेखकों की सारी सोच इस कदर पूर्वाग्रह युक्त हो गई है कि वे वास्तविक स्थिति को जाने बिना ही लांछना की लाठी हाथ में लेकर जिस-तिस पर प्रहार करना आरम्भ कर देते हैं।

लेखकों में गुटबाजी सदा ही रही है। एक हद तक इसे मैं बुरा भी नहीं समझता। कुछ लेखक आपस में मिलकर यदि एक-दूसरे को आगे बढ़ाना चाहते हैं, उनकी रचनाओं पर चर्चा करना चाहते हैं, उनकी ओर आलोचकों और पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं तो इसमें कोई बुराई नहीं है, किन्तु ऐसे अनेक गुटों के मध्य कभी संवादहीनता उत्पन्न नहीं हुई। पांचवें-छठे दशक में इलाहाबाद में प्रगतिशीलों और परिमिलियों के अलग-अलग खेमे थे। दोनों ही ओर बहुत अच्छे-अच्छे लेखक थे। एक-दूसरे की कटु आलोचना भी होती थी, किन्तु उनमें कभी संवादहीनता उत्पन्न नहीं हुई, कभी असहिष्णुता नहीं आई, आपस में उठना-बैठना भी कम नहीं हुआ।

किन्तु इस समय तो ऐसा दिखता है कि गुट गिरोहों में बदल गए हैं। गुटबाज़ एक-दूसरे को सहन कर लेते हैं, गिरोहबाज़ अपने विरोधी को सहन नहीं करते, उन्हें धराशाही करने में विश्वास करते हैं। ये वही लोग हैं जो साहित्य में भी माफिया का निर्माण करते हैं और उन्हीं की शैली में अपनी गतिविधियां चलाते हैं। जिन लेखकों को वे अपना विरोधी समझते हैं उन पर आरोपों, लांछनों और गालियों की बौछार करना उन्हें अपनी महत्ता प्रदर्शित करने का सबसे अच्छा उपाय लगने लगता है।

यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है कि आज के साहित्यिक माहौल को दूषित करने का काम आज की युवा पीढ़ी नहीं कर रही है। इस पीढ़ी के लेखक/लेखिकाएं अपने वरिष्ठ लेखकों से कुछ सीखना चाहते हैं, उनका मार्ग-दर्शन चाहते हैं, इसलिए वे सभी का आदर-सम्मान करते हैं। सारा संकट उन स्वनामधन्य लेखकों का पैदा किया हुआ है, जो स्वयं पूरी तरह चुक चुके हैं। वे कुछ नया नहीं लिख रहे हैं। नया लिखने के लिए उनके पास कुछ है भी नहीं। एक लेखक जब कुछ नया सृजन नहीं कर पाता तो वह कुंठित होता है, विशेषरूप से वह लेखक जो जीवन भर गलतफहमी पाले रहा है कि सम्पूर्ण साहित्य-आकाश को वह अपनी तर्जनी पर उठाए रहा है, वह न होता

तो आकाश धरती पर आ गिरा होता।

ऐसा लेखक मानसिक दृष्टि से विकृत होने लगता है, जिसे अंग्रेजी में 'पर्वज़न' कहते हैं उसका वह शिकार हो जाता है। वह फतवे देने लगता है। वह ऐसी चीज़ें लिखता है जो उसे सतत चर्चा में रखें और उसकी आत्म-मुग्ध स्थिति बनाए रखें। इसी का परिणाम है कि अब इनकी भाषा में—दरिद्र, घिनौना, क्रूर, साम्प्रदायिक, कमीनगी, जैसे शब्दों का प्रयोग खुलकर होने लग गया है।

हिंदी मानस में पला हुआ व्यथित वर्ण-व्यवस्था, ऊंच-नीच, जाति-पांत, असमानता का कितना ही विरोध करने का छद्म करे, वह इस मानसिकता से मुक्त नहीं हो पाता। ऊंच-नीच वाली व्यवस्था में दो शब्द अपना बहुत महत्व रखते हैं—तिरस्कार अथवा हिकारत और उपेक्षा। आज हिन्दी की स्थिति यह है कि नया कवि, गीत लिखने वाले को हिकारत की नज़र से देखता है, एक नवनीत लेखक कवि सम्मेलनीय कवि की उपेक्षा करता है। यह सिलसिला चलता रहता है। एक लेखक दूसरे लेखक के पास बैठना नहीं चाहता, उसके साथ छपना नहीं चाहता, उसके साथ अपना नाम जोड़ना नहीं चाहता।

एक दिन मेरे पास एक प्रकाशक का फोन आया। प्रकाशक कुछ कहानीकारों की चर्चित कहानियों की एक सीरीज़ प्रकाशित करना चाहता था। उसने कई लेखकों से सम्पर्क किया, मुझसे भी। सबसे पहली बात जो उसने मुझसे पूछी कि आप मुझे यह बता दीजिए कि आप किस या किन लेखकों के साथ इस शृंखला में प्रकाशित होना नहीं चाहेंगे। मैंने कहा, आप इस शृंखला में किस-किस लेखक को शामिल कर रहे हैं, यह नितांत आप का चुनाव है। मुझे किसी नाम पर आपत्ति नहीं है। जब मैंने उस प्रकाशक से इस प्रश्न का कारण जानना चाहा तो उसने बताया कि जब उसने एक बहुख्यात लेखक से उसकी पुस्तक प्रकाशित करने की बात की तो उसने सबसे पहली बात यह पूछी कि इस शृंखला में कौन से लेखक हैं। मैंने उसे कुछ नाम बताए। एक-दो नाम सुनकर वह लेखक भड़क उठा और बोला—यदि आप इन्हें अपनी सीरीज़ में ले रहे हैं तो मैं अपना संग्रह आपको नहीं दूंगा।

अन्य अनेक भारतीय भाषाओं और उसके लेखकों से मेरा सम्बन्ध रहता है। हिन्दी में पिछले कुछ दशकों से जैसी आपा-धापी, गिरोहबाज़ी, दूषणों और लांछनों की बौछार, एक-दूसरे के प्रति हिकारत और तिरस्कार का भाव व्याप्त है, वैसा 'संभवतः अन्य किसी भाषा में नहीं है। यहां एक नया लेखक साहित्य अकादमी पुरस्कार पा जाता है और जीवन-भर साधना लिप्त लेखक पूरी तरह उपेक्षित रहता है, क्योंकि किसी भी कारण वह उस गिरोह का हिस्सा नहीं बन पाता।

इस समय हिंदी की बड़ी चिंता यह नहीं है कि देश में उसे वह स्थान नहीं मिल रहा है जो उसे मिलना चाहिए। यह चिंता भी कम ही है कि इसमें महत्वपूर्ण साहित्य-सृजन नहीं हो रहा है। मुझे लगता है कि इस समय की सबसे बड़ी चिंता यह है कि इस भाषा के कुछ वरिष्ठ लेखक इसे अपनी कुंठाओं और विकृतियों का शिकार बनाकर वातावरण को दूषित करने पर तुले हुए हैं।

(दैनिक जागरण, 5 सितम्बर, 2002)

41

साहित्य की पहचान उसकी समग्रता में है

अभी हाल में ही रुड़की में शैलेन्द्र सम्मान समारोह समिति की ओर से एक सुंदर आयोजन किया गया जिसमें हिन्दी के प्रतिष्ठित गीतकार गोपाल प्रसाद 'नीरज' को 'शैलेन्द्र सम्मान' से सम्मानित किया। इस प्रकार का यह तीसरा सम्मान था। इससे पहले हिन्दी फिल्मों के बहुचर्चित निर्देशक-गीतकार गुलजार तथा उर्दू के प्रसिद्ध शायर कैफ़ी आज़मी को यह सम्मान दिया जा चुका है। इस अवसर पर डॉ. इन्द्रजीत सिंह द्वारा संपादित शैलेन्द्र के जीवन और उनकी उपलब्धियों को रेखांकित करने वाली एक पुस्तक 'जनकवि शैलेन्द्र' का भी लोकार्पण हुआ।

शैलेन्द्र हिन्दी फिल्मों के बहुख्यात गीतकार थे। उन्होंने 170 फिल्मों में 800 से अधिक गीत लिखे और फिल्मी संसार में हिन्दी को प्रतिष्ठित करने में बहुत बड़ा योगदान दिया। जिस समय उन्होंने फिल्मों में गीत लिखना प्रारम्भ किया था, उर्दू के मशहूर शायर इस संसार पर पूरी तरह छाए हुए थे। शकील बदायूंनी, साहिर लुधियानवी, मजरूह सुलतानपुरी, कमाल अमरोही, कैफ़ी आज़मी जैसे नाम बहुत चर्चित थे। इन शायरों की विशेषता यह थी कि इनकी फिल्म संसार में बहुत पूछ थी साथ ही उर्दू साहित्य में भी इनका मान और इनकी स्वीकृति कम नहीं थी। हिन्दी की ऐसी स्थिति नहीं थी, न अब है। प्रदीप, इंदीवर, गोपाल सिंह नेपाली, शैलेन्द्र जैसे कवियों की कुछ मान्यता फिल्म-संसार में तो थी, साहित्य में कोई उनका नाम भूलकर भी नहीं लेता था।

बाद में हिन्दी के कुछ सुपरिचित गीतकारों ने भी फिल्मों के लिए गीत लिखे और वे लोकप्रिय भी हुए। नीरज और संतोष आनन्द के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

पंजाबी कवि इंद्रजीत सिंह तुलसी ने, मनोज कुमार की कुछ फिल्मों के लिए हिन्दी में गीत लिखे। उन्हें भी अच्छी लोकप्रियता प्राप्त हुई।

हिन्दी में साहित्यिक दृष्टि से समादृत कवियों में संभवतः पं. नरेन्द्र शर्मा को छोड़कर अन्य किसी ने फिल्म गीत लेखक की ओर ध्यान नहीं दिया। नरेन्द्र शर्मा ने जो गीत लिखे थे उनमें साहित्य की गरिमा तो थी ही उनकी उस क्षेत्र में स्वीकृति भी हुई थी।

जो साहित्य, विशेषरूप से कविता. सुसंस्कृत सुधी जनों में पढ़ा जाता है वह प्रायः सामान्यजन में लोकप्रिय नहीं होता। और जो कुछ लोकप्रिय होता है उसे अच्छी कविता की श्रेणी में रखने में कितनों को बहुत संकोच होता है। ऐसे कवि बहुत कम हैं जिन्हें साहित्य-क्षेत्र में भी सम्मान प्राप्त हुआ और वे लोकप्रिय भी हुए। हिन्दी में गत सात-आठ दशकों में साहित्य और लोकप्रियता के बीच का अंतर लगातार बढ़ा है। छायावाद के युग तक यह अंतर अधिक नहीं था। कवि सम्मेलनों में अपने समय के प्रख्यात कवि भी भाग लेते थे। छायावादोत्तर काल के दिनकर, बच्चन और नरेन्द्र शर्मा साहित्य क्षेत्र के स्वीकृत हस्ताक्षर थे और लोकप्रियता के शिखरों को छूते थे।

प्रगतिवादी युग की कविता का तो मुख्य उद्देश्य ही था कि साहित्य के माध्यम से जनमानस में वर्ग-चेतना उत्पन्न करना। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध, त्रिलोचन जैसे कवियों की कविताएं सामान्य पाठक अथवा श्रोता से बहुत दूर नहीं गईं, किन्तु नई कविता के उन्मेष के साथ साहित्य और लोकप्रियता के बीच स्पष्ट लकीर खिंचती दिखाई दी। गेयता और संगीत इस कविता के लिए त्याज्य होते चले गए। अच्छी कही जाने वाली कविता केवल पढ़ने और कुछ सुधी श्रोताओं के मध्य सुनने-सुनाने तक सीमित होने लगी। कवि सम्मेलनों का मंच केवल गीतकारों के लिए छोड़ दिया गया। कवि सम्मेलनों में अधिक होड़ इस बात की लग गई कि श्रोताओं से कौन कितनी वाहवाही लूटता है।

इस स्थिति का दुष्परिणाम यह हुआ कि अच्छी कविता का पाठक और श्रोता हिन्दी में निरन्तर कम होता चला गया। नई कविता और गीतात्मक कविता के बीच का विभेद बिल्कुल सवर्ण और अवर्ण कविता जैसा दिखने लगा।

उर्दू में साहिर लुधियानवी जैसे शायरों की अनेक ग़ज़लों और नज़्मों का प्रयोग फिल्मों में भी बड़ी सफलतापूर्वक किया गया। यही कारण था कि वहां अदबी शायरी और फिल्मी शायरी के बीच वैसा अन्तराल अभी पैदा नहीं हुआ जैसा हिन्दी में है। यहां साहित्यिक कविता लिखने वालों का एक वर्ग है। सदैव इस बात से पीड़ित रहता है कि कौन कवि है, कौन कवि नहीं है और कौन अकवि है। इस घमासान में ऐसे सर्टीफिकेट बंटते हैं कि अनेक वरिष्ठ कवि 'कूड़ा' कहकर दरकिनार कर दिए जाते हैं और एक उभरता हुआ नया कवि रातोंरात बड़ा और विशिष्ट मान लिया जाता है और बड़े-से बड़े पुरस्कार के लिए योग्य मान लिया जाता है। इनकी दृष्टि में गीतकार तो कहीं टिकते ही नहीं।

इसलिए उस समय मुझे आश्चर्य हुआ जब रुड़की जैसे एक छोटे-से नगर के

कुछ समुत्साही मित्रों ने मुझे यह बताया कि उन्होंने फिल्म गीतकार शैलेन्द्र की स्मृति में एक न्यास की स्थापना की है और शैलेन्द्र की, उनके गीतों के माध्यम से साहित्यिक अवदान का मूल्यांकन करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

शैलेन्द्र उस समय फिल्मी दुनिया में आए थे जब प्रगतिवादी दौर था। उनके प्रारंभिक गीतों में यह स्वर बहुत मुखर दिखाई देता है। 1955 में उनका एक कविता संग्रह 'न्योता और चुनौती' प्रकाशित हुआ था जो प्रगतिवादी साहित्य का एक महत्वपूर्ण दस्तावेज़ है, किन्तु प्रगतिवादी कविता की चर्चा में इसका भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

यह वह युग था जब यह चर्चा मुखर हो रही थी कि साहित्य किसलिए? साहित्य का अंतिम प्रयोजन क्या है—आत्मतुष्टि या समाज-कल्याण? साहित्य की श्रेष्ठता का मापदंड क्या है? स्वयं साहित्यकार की उपलब्धि क्या है? अपने समय के प्रख्यात प्रगतिशील आलोचक डॉ. शिवदान सिंह चौहान ने बड़े आग्रहपूर्वक कहा था, 'हमारा साहित्यिक नारा कला के लिए नहीं, वरन् कला संसार को बदलने के लिए है। इस नारे को बुलंद करना प्रत्येक प्रगतिशील साहित्यिक का फर्ज है।'

शैलेन्द्र के उन गीतों में जीवन के प्रति गहरी आस्था और भविष्य के प्रति भरपूर विश्वास व्यक्त होता है। इस भौतिक संसार में ही मनुष्य को सम्पूर्ण अर्थवत्ता प्रदान कराने का संकल्प उनकी कविता में झलकता है—

तू ज़िंदा है तो ज़िंदगी की जीत में यकीन कर।
अगर कहीं है स्वर्ग तो उतार ला ज़मीन पर।।

उस समय की कविता में संघर्ष और नवयुग की ललकार का स्वर प्रमुख था। शैलेन्द्र की रचनाओं में प्रारम्भ से ही यह स्वर सुनाई दिया था—

कोटि कोटि कंठों की व्याकुल विकल पुकारें
अंबर की छाती विदारने वाली नवयुग की ललकारें।
खून-पसीने से लथपथ पीड़ित शोषित
मानवता की दुर्दम हुकारें।

यह स्वर शैलेन्द्र के गीतों में निरन्तर बना रहा। बूट पालिश जैसी फिल्म में प्रश्नोत्तर शैली में बच्चों के मुंह से मेहनत की कमाई की महत्ता, भीख का निषेध और भाग्यवाद के विरोध जैसी भावनाएं व्यक्त हुईं—

नन्हें मुन्हे बच्चे तेरी मुट्ठी में क्या है?
मुट्ठी में है तकदीर हमारी, हमने किस्मत
को वश में किया है।
भीख में जो मोती मिले क्या तुम वह ना लोगे?
भीख में जो मोती मिले वह भी हम ना लेंगे।
हमारी अभिव्यक्ति का यह एक स्वर है। यह स्वर हमारे संत काव्य का प्रमुख

स्वर रहा है। अन्याय, भेदभाव, शोषण, उत्पीड़न के विरोध में संत कबीर, रविदास, नामदेव, गुरु नानक जैसे संतों ने बहुत कुछ लिखा। अधिसंख्य संत सांसारिक अर्थों में बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे। उनकी अभिव्यक्तियों में काव्य की कलात्मक छटा उतनी नहीं दिखाई देती जितनी बाद के रीतिकालीन कवियों में है। उनकी भाषा में वह मंजुलता भी नहीं है, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति सीधे-सीधे जनमानस तक पहुंची और करोड़ों लोगों के आत्मविश्वास और मानसिक संस्कार का कारण बनीं।

जब इन कवियों का साहित्यिक मूल्यांकन प्रारम्भ हुआ और अनेक आलोचकों ने उनकी रचनाओं में रीतिबद्ध गुण ढूंढ़ने प्रारम्भ किए तो उन्हें उस दृष्टि से निराश होना पड़ा। अनेक आलोचकों ने संतों की अभिव्यक्तियों को 'अकाव्य' घोषित कर दिया, किन्तु कालान्तर में उन्हें अपनी धारणाएं बदलनी पड़ीं। आज किसी भी स्वनामधन्य आलोचक में यह साहस नहीं है कि वह कबीर को 'अकवि' घोषित करे।

साहित्य को परखने की हमारी दृष्टि बहुत एकाकी हो गई दिखती है। साहित्य में चालू मुहावरे की अंधी नकल करने की दौड़ में बहुत से लोग शामिल हो जाते हैं और वैसा कुछ लिखने में अपनी सार्थकता समझने लगते हैं जैसा उस मुहावरे का पोषण करने वाले कुछ आलोचक चाहते हैं। साहित्य के मूल्यांकन में एक बात लम्बे समय से कही जाती रही है कि आलोचक में नीर-क्षीर विवेक होना चाहिए। आज के समय में कुछ लोगों का प्रयास यह रहता है कि किस प्रकार वे क्षीर को नीर और नीर को क्षीर घोषित करें।

साहित्य की पहचान उसकी समग्रता में होती है। इसमें छंदमुक्त कविता का भी महत्व है और छंदबद्ध कविता का भी। साहित्य में वर्ण-व्यवस्था नहीं चल सकती कि अपने आपको आधुनिक (या उत्तर-आधुनिक) मानने वाला कवि गीत लिखने वाले कवि को अस्पृश्य घोषित कर दे।

मैं समझता हूं कि फिल्मों के लिए जिन गीतकारों ने अच्छे गीत लिखे हैं उन्हें भी साहित्य से बहिष्कृत करने का अधिकार किसी को नहीं है। साहित्य के नाम पर जो कुछ लिखा जाता है, वह सब साहित्य नहीं होता, किन्तु बिना उसकी ओर ध्यान दिए, बिना उसका परीक्षण किए, बिना किसी मूल्यांकन के उसे खारिज करने की प्रवृत्ति साहित्य को कटघरों में सीमित कर देती है और साहित्य को उसकी समग्रता में ग्रहण करने में बाधक होती है।

फिल्मों के लिए लिखने वाले कवियों और उनकी उपलब्धियों की ओर साहित्य जगत् का ध्यान आकर्षित करने के लिए रुड़की के साहित्य रसिक जो प्रयास कर रहे हैं वह अपने आपमें अभिनव भी है और श्लाघ्य भी।

(दैनिक जागरण, 26 सितम्बर, 2002)

42

स्मृति शेष : नरेन्द्र मोहन

एकाएक मैं विश्वास नहीं कर सका था। मेरे बेटे ने कहीं से लौटते समय अपनी गाड़ी में एफ. एम. द्वारा प्रसारित समाचारों में नरेन्द्र मोहन जी के देहावसान का समाचार सुना था। उसने जब मुझे यह दुखद बात सुनाई तो मैं सन्न-सा हो गया। उनके साथ ऐसा कुछ इतना शीघ्र ही हो जाएगा, मेरे लिए कल्पनातीत था।

उनसे मेरा परिचय लगभग पांच दशक पुराना था। अपने प्रकाशन के प्रारंभिक वर्षों में दैनिक जागरण का कार्यालय कानपुर में बिरहाना रोड पर था। बिरहाना रोड पर ही मेरे बड़े भाइयों का साइकिलों का कारोबार था। उन दिनों कानपुर से हिन्दी के अनेक दैनिक पत्र निकलते थे। स्व. गणेश शंकर विद्यार्थी के नाम से जुड़े होने के कारण 'प्रताप' की प्रतिष्ठा सबसे अधिक थी। वर्तमान और विश्वमित्र भी वहां से प्रकाशित होते थे।

कुछ वर्षों के अंतराल से प्रताप, वर्तमान और विश्वमित्र पत्रकारिता के क्षेत्र से तिरोहित होते चले गए और दैनिक जागरण कानपुर का सर्वाधिक प्रिय समाचार-पत्र बन गया।

समाचार-पत्रों और नियतिकालीन पत्रिकाओं का निकलना और बंद हो जाना अपने आप में अध्ययन का एक रोचक विषय है। किसी पत्र की निरंतरता क्यों और कैसे बनी रहती है, यह तथ्य भी अध्ययन की मांग करता है। कुछ बातें तो निश्चित हैं। किसी वाद, राजनीतिक दल, विचारधारा का कठोर अनुशासन और व्यक्ति-केन्द्रित पत्रों की न प्रसार संख्या अधिक होती है न उनकी आयु दीर्घ होती है। इस दृष्टि से नेशनल हेराल्ड, नवजीवन, पैट्रियट, स्वदेश जैसे दैनिक पत्रों का उदाहरण सामने रखा जा सकता है। किसी पत्र के मालिक अथवा संपादक का किसी दल और विचारधारा के प्रति अपना झुकाव कुछ भी हो, किन्तु जब कोई पत्र अपने मालिक या संपादक

की निजी प्रतिबद्धताओं से पूरी तरह बंध जाता है तो अनायास ही उसकी सीमाएं मर्यादित हो जाती हैं। मेरी मान्यता है कि कोई भी समाचार-पत्र अथवा नियतिकालीन पत्रिका किसी व्यक्ति अथवा संस्थान की निजी मिल्कियत होते हुए भी नितांत उसकी मिल्कियत नहीं होती। उसके पाठक वर्ग का उन पर लगभग उतना ही दावा होता है और वह उसमें स्वामी और संपादक का हस्तक्षेप सीमित मात्रा में ही सहन कर पाता है।

मत भिन्नता और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता किसी भी सफल लोकतंत्र के नितांत अनिवार्य तत्व हैं और जो पत्र अथवा पत्र-समूह इनकी रक्षा नहीं कर पाता वह अपने पाठकों का स्नेह भी लम्बे समय तक कायम नहीं रख पाता।

श्री नरेन्द्र मोहन वैचारिक दृष्टि से किस राजनीतिक दल के अधिक निकट थे, यह किसी से छिपा नहीं है। वे भारतीय जनता पार्टी की ओर से राज्यसभा के सदस्य थे। हिन्दूवादी विचारों के पोषण को वे राष्ट्रहित में मानते थे। प्रत्येक रविवार को प्रकाशित होने वाले अपने स्तम्भ विचार प्रवाह में वे इसकी पुष्टि भी करते थे, किन्तु अपने से अलग और विरोधी विचारों को भी दैनिक जागरण में प्रमुखता से स्थान देने में वे किसी से भी पीछे नहीं थे। कुलदीप नैयर और खुशवंत सिंह के स्तम्भ अनेक वर्षों से दैनिक जागरण में नियमित प्रकाशित हो रहे हैं, जिनमें कितनी ही बार भारतीय जनसंघ की नीतियों की कटु आलोचना होती है।

नरेन्द्र मोहन जी से बहुत पुराना परिचय होने के बावजूद मैं उनके पत्र में बहुत कम लिखता था। दिल्ली और पंजाब से प्रकाशित होने वाले पत्र मेरी आंखों के सामने रहते थे, इसलिए प्रायः उन्हीं में लिखना होता था। जब से दैनिक जागरण का प्रकाशन दिल्ली से प्रारम्भ हो गया, वह मुझे नियमित दिखने लगा। यहां नरेन्द्र मोहन जी से यदा-कदा मेरी भेंट भी होने लगी। वे जब भी मुझे मिलते थे गहरी आत्मीयता से मिलते थे और वर्षों पहले का कानपुर वाला स्नेह भाव हमारे मिलन में ताजा हो जाता था। वे मुझे बड़े अपनत्व से दिल्ली में जागरण की प्रतिदिन बढ़ती लोकप्रियता और वितरण संख्या के संबंध में बताते रहते थे।

सितम्बर 1999 में लंदन में हुए छठे विश्व हिन्दी सम्मेलन में नरेन्द्र मोहन जी भी थे और मैं भी। वहां तीन-चार दिन साथ-साथ रहने और अनेक संगोष्ठियों में साथ-साथ भाग लेने का अवसर मिला। एक दिन वे बड़े अधिकार से बोले—''महीप, तुम जागरण के लिए क्यों नहीं लिखते हो?''

मैंने कुछ लज्जित अनुभव किया था। मैंने कहा—''नरेन्द्र भाई, अब महीने में कम- से-कम एक बार जागरण के लिए अवश्य लिखूंगा।''

उन्होंने डपकटे हुए कहा—''महीने में एक बार नहीं, सप्ताह में एक बार अवश्य लिखो...विषय का चुनाव तुम्हारा अपना है। भारत वापस पहुंचकर दिन निश्चित कर लेंगे। अपना वायदा याद रखना।''

नवम्बर 1999 से मैंने दैनिक जागरण के लिए प्रति गुरुवार को नियमित रूप से लिखना प्रारम्भ किया। आज लगभग 3 वर्ष होने वाले हैं। अपवाद स्वरूप एक-दो

बार छोड़कर मैंने प्रत्येक गुरुवार को संपादकीय पृष्ठ पर लिखा है। ऐसे लेखों की संख्या इस समय लगभग 150 हो गई है। मैं मूलरूप से अपने आपको स्तंभ लेखक नहीं मानता हूं। न ही मेरी पहचान एक पत्रकार के रूप में हैं। मैं मूलरूप से एक कहानीकार हूं, यही मेरी पहचान है। इस पहचान को मैं खंडित नहीं होने देना चाहता। यह भी सच है कि जब भी किसी प्रश्न ने मुझे आन्दोलित किया है, किसी समस्या पर अपने विचार व्यक्त करने के लिए मैं अकुलाया हूं तो मैंने उस पर अवश्य लिखा है। मेरे ऐसे लेख हिन्दी के दैनिक/साप्ताहिक पत्रों में भी छपते रहे और पंजाबी के भी।

पंजाब की भाषा समस्या पर मैंने सन् 50 से ही लिखना प्रारम्भ कर दिया था। इसके लिए मुझे अपने अनेक मित्रों का कोपभाजन भी होना पड़ा था। इस विषय पर पांचजन्य और आर्गनाइज़र में मैंने जो लेख लिखे थे वे उस समय भारतीय जनसंघ की घोषित नीति के बहुत अनुकूल नहीं पड़ते थे।

अस्सी और नब्बे के दशक में, जब पंजाब का संकट गंभीररूप धारण करता जा रहा था, मैंने पंजाब की स्थिति पर रविवार, दिनमान, जनसत्ता, धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नवभारत टाइम्स और पंजाबी के अजीत और पंजाबी ट्रिब्यून में नियमित रूप से लिखा। इसके लिए मुझे खालिस्तानी तत्वों और कट्टर हिंदू संगठनों-दोनों की ओर से बड़े धमकियों भरे पत्र मिले। एक स्थिति तो ऐसी आई जब सरकार की ओर से मुझे बिना मांगे सुरक्षा गार्ड मिल गए और घर पर पुलिस गारद आ गई।

भाषा नीति के सम्बन्ध में मेरी स्पष्ट धारणा रही है। भारत की सभी भाषाएं हमारी राष्ट्रीय भाषाएं हैं और समान अधिकार और सम्मान की पात्र हैं। इनमें आपस में न कोई प्रतिद्वंद्विता है और न वैर-विरोध। यदि इन्हें कोई संकट है तो वह अंग्रेज़ी से है जिसने केवल हिन्दी को ही नहीं, सारी भारतीय भाषाओं को उनके योग्य स्थान से वंचित कर रखा है और अपनी प्रभुता को बरकरार रखा है। इसलिए अंग्रेजी प्रभुता से लड़ाई केवल हिन्दी की ही नहीं, सभी भाषाओं को लड़नी है। यह लड़ाई तभी सफल होगी जब सभी भारतीय भाषाएं मिलकर मोर्चा लेंगी।

मैंने सदैव एक बात पर आग्रह किया था कि पंजाबी में हिंदी और पंजाबी के मध्य उत्पन्न हुआ विवाद न केवल दुर्भाग्यपूर्ण था, वरन् वह बहुत बनावटी और गलत और हानिकारक था। हिंदी सम्पूर्ण देश में केन्द्र की राजभाषा के रूप में स्वीकृत और समाहत होनी चाहिए और सभी भारतीय भाषाओं को अपने-अपने क्षेत्रों में राजभाषा होने, शिक्षा का माध्यम बनने, सरकारी काम-काज में पूरी तरह प्रयोग किए जाने का गौरव प्राप्त होना चाहिए। इसी में इस देश की एकता और अखंडता का बीज विद्यमान है।

अनेक संगोष्ठियों में मुझे नरेन्द्र मोहन जी के साथ इस विषय में विचार-व्यक्त करने का अवसर मिला। इस विषय में हमारा सदैव मतभेद रहा। पंजाब के भाषा विवाद को वे भी बहुत दुर्भाग्यपूर्ण मानते थे और इस बात का पूरी तरह समर्थन करते थे कि सभी पंजाबियों की, उनका धर्म, मत कुछ भी हो, पंजाबी को अपनी मातृभाषा स्वीकार करना चाहिए।

इसलिए जब उन्होंने जालंधर से दैनिक जागरण के प्रकाशन की योजना बनाई तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। पंजाब के कुछ भाषाई समाचार-पत्र लम्बे समय तक हिन्दी-पंजाबी के विवाद को तूल देते रहे हैं और इसे हिन्दू-सिख में बांटते रहे हैं। दैनिक जागरण ने पंजाब में इस कृत्रिम भाषा विवाद को समेटने, भाषाओं के मध्य एक सेतु बनाने और सभी प्रकार के विचारों को एक सामूहिक मंच देने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

आज पंजाब में वैसा भाषा-विवाद नहीं दिखाई देता जैसा छठे, सातवें और आठवें दशक में था। अब वहां ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि लोग, बिना किसी आग्रह/दुराग्रह के पंजाबी में भी अपने आपको अभिव्यक्त करते हैं और हिन्दी में भी। इस समय यदि वहां के समाचार-पत्रों में कोई होड़ है तो वह व्यावसायिक स्तर की होड़ है, न कि साम्प्रदायिक खिंचाव की।

आज दैनिक जागरण अपनी सफलता की बुलंदियों पर है। इसका बहुत बड़ा श्रेय नरेन्द्र मोहन जी को है। उनकी बड़ी-बड़ी आंखों में सदा ही कुछ स्वप्न तैरते रहते थे। इस राष्ट्र की दृढ़ता, सुरक्षा और प्रगति का स्वप्न उनमें सर्वप्रमुख था। लंदन के विश्व हिन्दी सम्मेलन में एक गोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने बड़े आग्रह से कहा था कि प्रतिवर्ष हिन्दी दिवस मनाने की औपचारिकता निभाने, प्रस्ताव पारित करने अथवा सरकारी कार्यालयों में हिन्दी सलाहकार समितियों के आग्रह पर फाइलों में खाना-पूरी करने मात्र से हिन्दी को अपना योग्य स्थान प्राप्त नहीं होगा। प्रश्न केवल इतना ही नहीं है कि हमारी भाषाओं का सरकारी काम-काज में कितना प्रयोग होता है, उससे अधिक महत्वपूर्ण यह बात है कि वह प्रतिष्ठा और सम्मान भी प्राप्त हो, जो उनका प्राप्य है।

नरेन्द्र मोहन जी एक 'क्रूसेडर' थे—पत्रकारिता में, हिन्दी के संवर्धन में राष्ट्र की सुरक्षा के क्षेत्र में और मानवीय सम्बन्धों के निर्वाह में। ऐसे व्यक्तित्व को हमने असमय खो दिया।

(दैनिक जागरण, 3 अक्टूबर, 2002)

43

साहित्यिक परिवेश में नया दौर

एक समय था जब हिन्दी की लगभग सभी साहित्यिक चर्चाओं में कहानी की चर्चा सबसे अधिक होती थी। वैसे तो मध्यकाल से ही साहित्यिक चिंतन के केन्द्र में कविता ही प्रमुख रही है। यह स्वाभाविक था। उस समय जो कुछ लिखा जाता था, वह कविता में ही लिखा जाता था। गद्य रचनाएं इतनी कम होती थीं कि उन्हें केवल संदर्भ में ही स्मरण किया जाता था। बैताल पचीसी जैसी लोक-कथाओं का उपयोग समय काटने और मनोरंजन के लिए ही होता था। कहानी विधा को साहित्यिक संस्पर्श उन्नीसवीं शती में यूरोपीय भाषाओं के माध्यम से ही प्राप्त हुआ।

बीसवीं शती के छठे, सातवें और आठवें दशक में कहानी एकाएक केन्द्र में आ गई। अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन, इस विधा की लोकप्रियता के कारण, प्रारम्भ हो गया। कहानी का एक बड़ा पाठक वर्ग उभर आया। अनेक आन्दोलन खड़े हो गए, जिन्होंने अपने-अपने ढंग से इस विधा की व्याख्या प्रारम्भ कर दी। इसे लेकर अनेक खेमे भी बन गए। पिछले दो दशकों में कहानी के पाठक वर्ग की संख्या में इतनी गिरावट आई कि बड़ी लोकप्रिय कहानी पत्रिकाएं भुरभुरी दीवारों की तरह ढहने लगीं। उनका प्रकाशन बंद हो गया। इन दिनों हिन्दी में कहानी की चर्चा फिर शुरू हुई है। कुछ नई पत्रिकाएं भी प्रारम्भ हुई हैं और चर्चा का नया दौर उभरा है। अच्छी कहानी कभी भी यथार्थ की पुनरावृत्ति या दोहराव नहीं होती और न वह मरीचिका होती है। वह यथार्थ से आगे यथार्थ का पुनर्सृजन होती है। आधुनिक कहानी के संबंध में यह बात कई बार कही जा चुकी है। जब कभी इसे यथार्थ की प्रतिकृति बना दिया जाता है तो वह किसी साधारण दर्पण का काम करती है और जब इस पर किसी विचारधारा, मत अथवा सिद्धांत का वोझ लाद दिया जाता है तो वह मरीचिका जैसी हो जाती है, जहां जीवन का कटु सत्य कम, सत्याभास अधिक होता है। अच्छी कहानी सत्य और

सत्याभास के बीच झूलते हुए अपनी जगह तलाश करती है। इसी से उसकी पहचान बनती है, इसी से वह सार्थक होती है।

हिन्दी में कहानी को लेकर जितनी चर्चा, वाद-विवाद, उठा-पटक, खेमेवाजी और फतवागीरी हुई है, वैसी संसार की किसी भी भाषा में शायद ही हुई हो। हिंदी संसार के दो जातीय गुण हैं—एक किसी भी क्षेत्र में काम करने वाला व्यक्ति जैसे ही कुछ सफलता की महत्ता प्राप्त करता है, वह एक मठ बनाने और उसका मठाधीश वनने का स्वप्न देखने लगता है। कानपुर की भाषा में ऐसा व्यक्ति गुरु कहलाता है। साहित्य क्षेत्र में इसका अपवाद नहीं है। थोड़ा-सा वक्तव्य कौशल, थोड़ी-सी चतुराई से इस 'गुरता' की ओर बढ़ा जा सकता है। कुछ समय में ऐसा व्यक्ति फतवे जारी करने के योग्य हो जाता है। एक दिन वह किसी को अद्वितीय लेखक घोषित करता है, दूसरे दिन वह इस अद्वितीय का 'अ' निकालकर और किसी के नाम के साथ जोड़ देता है।

दूसरा गुण है, किसी भी क्षेत्र का—चाहे उसका सम्बन्ध साहित्य और संस्कृति से हो—व्यावसायीकरण कर देना। हिन्दी कहानी के क्षेत्र में दोनों ही बातें हुईं। यहां मठाधीश भी बने और बाजारवाद भी पैदा हुआ। सातवां-आठवां दशक आंदोलनों का युग था। नई कहानी, सचेतन कहानी, अकहानी की खूब चर्चा हुई। स्थान-स्थान पर कहानी सम्मेलन हुए, जिनमें युवा कथाकारों के साथ ही जैनेंद्र कुमार और उपेंद्रनाथ अश्क जैसे स्थापित कथाकारों ने भी बढ़-चढ़कर भागीदारी की। कहानी संसार से जुड़े हमारे कुछ लेखकों ने उस समय दर्शन का अधूरा पाठ पढ़कर, यूरोपीय मानसिकता पर छाए अवसाद को, अपने साहित्य पर आरोपित करना प्रारंभ किया और कहानी को अंधेरे की चीख कहकर जीवन में निरर्थकता-बोध की बातें करने लगे। अकहानी के प्रस्तोताओं ने अमेरिकी वातावरण में उभरे 'एंटी' वाद (एंटी नावेल, एंटी थिएटर, ऐटी पोयट्री) की तर्ज पर अकहानी को कहानी के कथा तत्व से दूर ले जाकर उसे अपठनीय बनाने में अपनी पूरी भूमिका निभाई।

हिंदी कहानी में जब सचेतन दृष्टि की चर्चा शुरू हुई तो उसमें कहा गया कि सचेतना एक दृष्टि है, वह दृष्टि जिसमें जीवन जिया भी जाता है और जाना भी जाता है। निष्क्रियता और निरर्थकता के बहुचर्चित मुहावरों के मध्य सचेतन दृष्टि में जीवन के सक्रिय भावबोध पर विशेष आग्रह किया गया। सचेतन कथाकारों ने कहा कि हम जीवन को मात्र एक प्रदत्त वस्तु के स्तर पर ही नहीं ग्रहण करते हैं जहां सक्रिय रूप से जीने की अपेक्षा कुछ घटित होने का बोध ही अधिक रहता है। जीवन को केवल अनुभूति के स्तर पर जीना उसे एकांगी जीना है। जीवन को समग्र रूप से जीने का अर्थ उसे जानना भी है। सातवें-आठवें दशक में हिंदी में ऐसी चर्चाएं बहुत चलीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि उन दशकों में हुए इस प्रकार के बौद्धिक व्यायाम ने कथा लेखकों को कहानी लिखने के साथ ही बहुत कुछ सोचने, समझने और पढ़ने का अवसर भी दिया। किन्तु इसका एक नकारात्मक प्रभाव भी हुआ। ऐसी चर्चाओं से जुड़े बहुत-से लेखक या तो बौद्धिक व्यायाम में ही लिप्त हो गए अथवा अन्य किन्हीं कारणों से

कहानी लेखन की दृष्टि से निष्क्रिय होते चले गए।

दो दशक पहले के अनेक चर्चित नाम आज न कुछ लिख रहे हैं, न बोल रहे हैं। इन नामों में से कुछ लेखक केवल कुछ बोल तो रहे हैं किन्तु पिछले बीस वर्षों में उन्होंने एक भी अच्छी कहानी नहीं लिखी है। हां, फतवे देने की उनकी महारत पहले से अधिक बढ़ी है। इस बीच कहानी की चर्चा में सक्रिय भूमिका निभाने वाली अनेक पत्र-पत्रिकाओं का बंद हो जाना भी इस दृष्टि से काफी आघातकारी घटना है। कुछ समय तक इस कमी को हिन्दी के दैनिक पत्रों ने पूरा किया। इस समय की स्थिति यह है कि दैनिक पत्रों में से भी कहानी का स्तंभ गायब होता जा रहा है। ऐसा क्यों हो रहा है? क्या इसके पीछे भी बाजारवाद काम कर रहा है।

इन दशकों में एक सकारात्मक घटना भी हुई है। हिंदी के पुरुष लेखक बहस-मुवाहिसों में लगे रहे। पत्रिकाएं बंद होने लगीं तो उन्होंने नए व्यावसायिक क्षेत्रों की तलाश शुरू की। कुछ ने सत्ता प्रतिष्ठानों के गलियारों में अपनी प्रतिभा को खपाने के अवसर ढूंढने शुरू कर दिए। कुछ थककर बैठ गए। इस शून्य को नए-नए रचनाकारों ने भरना शुरू कर दिया और कथा क्षेत्र में एक नई सक्रिय पीढ़ी उभर आई, किन्तु खाली पड़े इस क्षेत्र में चमत्कृत कर देने वाला कार्य कथा लेखिकाओं ने किया है। मुझे यह स्वीकार करने में रत्ती भर संकोच नहीं है कि सभी विपरीत स्थितियों में हिंदी कहानी की डगमगाती नैया को इन लेखिकाओं ने अपनी पूरी शक्ति से संभाला है। चंद्रकिरण सोनरेक्सा, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, कृष्णा सोबती, मालती जोशी, प्रतिभा वर्मा, सुधा अरोड़ा, मेहरुन्निसा परवेज जैसी लेखिकाओं ने इस क्षेत्र में अपना नाम उसी समय बना लिया था, जब पुरुष कहानीकार आंदोलनों से जूझ रहे थे। उसके बाद मृदुला गर्ग से लेकर सिम्मी हर्षिता तक अनेक समर्थ लेखिकाओं ने कथा-लेखन को अपनी सृजनात्मक प्रतिभा से पूरी तरह उजागर रखा है। आज की कहानी की पहचान इन लेखिकाओं के योगदान को रेखांकित किए बगैर नहीं की जा सकती। संभवतः यही कारण है कि पिछले कुछ वर्षों में लिखी गई कहानियों में नारी-मन को उसकी पूरी संश्लिष्टता से उभारने वाली अनेक कहानियां पाठकों के सम्मुख आई हैं।

ये कहानियां इस बात को रेखांकित करती हैं कि हमारे समाज की इस आधी जनसंख्या में अपने आप को पहचानने, आगे बढ़ते समाज में सक्रिय रूप से अपनी भूमिका निभाने और उसके प्रति आग्रहशील होने की जागरूकता किस सीमा तक उभरी है। उसी प्रकार देश की समाज व्यवस्था में सदियों तक अपमान, घृणा और उपेक्षा झेलने वाले दलित वर्ग के लेखकों ने अपनी पीड़ा को व्यक्त करने वाली जो कहानियां लिखी हैं, उनसे भी हिंदी के पाठकों के सम्मुख एक नया संसार उद्घाटित हुआ है। किसी भी समाज में जब पाखंड, भ्रष्टाचार, अवसरवाद और सत्ता प्राप्ति की मारु होड़ बढ़ती है, तो लेखकों का ध्यान उस ओर जाता है। पांचवें दशक के प्रारम्भ में जब बंगाल में अकाल पड़ा था, उसकी पृष्ठभूमि में यशपाल की लिखी कहानी 'महादान' मुझे आज भी याद है। भ्रष्टाचार और मठाधीशों पर अनेक अच्छी कहानियां इन वर्षों में लिखी गईं। जो प्रंपच सारे देश में व्याप्त है, समाज का कोई भी क्षेत्र आज उससे

अछूता नहीं है, वह अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ हमारे साहित्यिक परिवेश में भी आ गया है। व्यक्तिगत रूप से एक-दूसरे को लांछित करने, उसकी बखिया उधेड़ने, उसका मुखौटा उतारने में हमारा लेखक वर्ग भी अब किसी से पीछे नहीं है।

(दैनिक जागरण, 6 फरवरी, 2003)

44
साहित्य अकादमी में आई नई बयार

साहित्य अकादमी के लगभग 50 वर्ष के इतिहास में पहली बार इसके अध्यक्ष पद के चुनाव को लेकर जितनी गहमागहमी रही वह इससे पहले कभी नहीं दिखी। चुनाव के लिए दो उम्मीदवार आमने-सामने थे—उर्दू के जाने-माने विद्वान डॉ. गोपीचंद नारंग और बांग्ला की बहुचर्चित उपन्यासकार श्रीमती महाश्वेता देवी। अध्यक्ष का चुनाव प्रति पांच वर्ष बाद होता है। अकादमी की साधारण सभा में, अकादमी द्वारा स्वीकृत 22 भाषाओं के नब्बे से कुछ अधिक सदस्य होते हैं जो कुछ प्रक्रियाओं के माध्यम से इसमें आते हैं। यह साधारण सभा अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का चुनाव करती है। हर बार यह चुनाव इन सदस्यों के मध्य बिना किसी विवाद के हो जाया करता था। देशभर में फैला हुआ व्यापक लेखक समुदाय इससे अनजान ही रहता है।

किन्तु इस बार उसे ऐसा राजनीतिक रंग मिला कि देश भर के लेखक चौकन्ने भी हुए और शंकित भी। चुनाव तो उन्हीं थोड़े से सदस्यों ने ही किया किन्तु उसमें सक्रिय रुचि और भागीदारी असंख्य लेखकों की रही।

पिछले अनेक वर्षों से देशभर के लेखकों में यह बात गंभीर चिंता का विषय बनती चली जा रही थी कि अकादमी की गतिविधियों पर एक गुट विशेष का वर्चस्व स्थापित हो गया है। ये लोग अपनी इच्छानुसार अकादमी के करोड़ों रुपए के बजट का इस्तेमाल करते हैं, सभी प्रकार की संगोष्ठियों और सम्मेलनों में केवल कुछ थोड़े से लेखक ही आमंत्रित किए जाते हैं। सारी व्यूह रचना कुछ लेखकों को आगे बढ़ाने कुछ को योजनाबद्ध रूप से बाहर रखने और बहुत से लेखकों की उपेक्षा करने को ध्यान में रखकर की जाती है।

साहित्य अकादमी का मुख्य केन्द्र दिल्ली में है, इसलिए इसकी गतिविधियों को

नियंत्रित करने और अपना एकाधिकार बनाए रखने में हिन्दी के कुछ स्वनामधन्य लेखक ही सर्वप्रमुख भूमिका निभाते हैं।

22 भारतीय भाषाओं की चुनी गई कृतियों को प्रतिवर्ष पुरस्कृत करना संभवतः साहित्य अकादमी की गतिविधियों का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। हर भाषा की अपनी-अपनी समिति होती है, जो पुस्तकों के चयन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। साहित्य अकादमी का पुरस्कार धन की दृष्टि से नहीं, प्रतिष्ठा की दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसलिए हर लेखक इसकी कामना करता है और इसे देने-दिवाने के लिए सभी प्रकार के जोड़-तोड़ किए जाते हैं।

हिन्दी का उदाहरण लें। अनेक वरिष्ठ लेखकों को जिनका सम्पूर्ण जीवन लेखन के प्रति समर्पित रहा है और जिनकी रचनाएं साहित्य-क्षेत्र में समाहत हुई हैं, जिन्हें अन्य अनेक पुरस्कारों द्वारा सम्मानित भी किया गया है, साहित्य अकादमी के पुरस्कार से वंचित रखा गया है। उनकी उपेक्षा करके ऐसे लेखकों को पुरस्कार दिए गए जिनके कुल एक-दो उपन्यास या कविता संग्रह प्रकाशित हुए हैं और साहित्य में अभी उनका स्थान भी पूरी तरह निर्धारित नहीं हुआ है।

लगभग तीन वर्ष पहले राजस्थान के सुपरिचित लेखक विजय दान देथा ने एक साक्षात्कार में माफिया शब्द का प्रयोग करते हुए यह कहा था कि साहित्य में एक साहित्यिक माफिया उभर आया है। इस माफिया ने सही और सार्थक सृजनकर्मियों की उपेक्षा करके चाटुकार और पिछलग्गू साहित्यकारों को जबरन स्थापित करने का बीड़ा उठा रखा है। उसी समय संचेतना पत्रिका ने अपने एक अंक में इस मुद्दे को उठाया था कि और अनेक लेखकों को पत्र लिखकर पूछा कि साहित्य-क्षेत्र में उभरते हुए माफिया को वे किस रूप में देखते हैं। अनेक लेखकों ने अपनी पीड़ा को उस समय खुलकर व्यक्त किया था और इस प्रवृत्ति के प्रति अपना गहरा रोष व्यक्त किया था।

सामान्यतः आपराधिक क्षेत्रों में कार्यरत गिरोहों के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है। साहित्य में गुटों का बनना-टूटना, अपने मित्रों के लेखन को चर्चा में लाना, उसे प्रोत्साहित करना, उसकी ओर साहित्य-जगत् का ध्यान आकर्षित करना मुझे अवांछित नहीं लगता। यह एक सामूहिक प्रयास है, जिसे जीवन के अनेक क्षेत्रों में अपनाया जाता है, किन्तु संकट तब प्रारम्भ होता है जब गुट गिरोह का रूप धारण कर लेते रहे हैं। गुट के अंदर अपने साथियों को साथ लेकर चलने की भावना होती है, किन्तु गिरोह केवल अपने साथियों को लाभ पहुंचाने तक ही सीमित नहीं रहता। वह अपने रास्ते में आने वाले, विरोध का स्वर रखने वाले, असहमति व्यक्त करने वालों को हानि पहुंचाने, उन्हें लांछित करने, उनकी अपेक्षा करने, उन्हें प्रभावहीन बनाने और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें किसी भी प्रकार रास्ते से हटाने का प्रयास करने में भी किसी प्रकार का संकोच नहीं करता।

अपराध-जगत् में माफिया के साथ ही 'डॉन' शब्द भी बहुप्रचलित है। माफिया गिरोह का सरगना डॉन कहलाया। डान का काम है अच्छे-बुरे का फैसला देना और बुरे के लिए दंड निर्धारित करना। साहित्य का डान यह तय करने लगा कि अच्छा लेखक कौन है, कौन नहीं; साहित्य में किसका उल्लेख होना चाहिए, किसका नहीं;

पुरस्कार किसे मिलना चाहिए किसे नहीं; विदेश यात्रा पर किसे भेजा जाना चाहिए किसे नहीं; किस लेख को पूरी तरह खारिज कर देना चाहिए और किसे आज का सर्वश्रेष्ठ लेखक घोषित किया जाना चाहिए।

यह स्थिति वर्षों तक रही है। अकादमी के अधिसंख्य अध्यक्ष दिल्ली से बाहर के होते रहे हैं और वे इसे सक्रिय भागीदारी का एक दायित्व न मानकर सदैव सम्मान का पद ही मानते रहे हैं, किन्तु इस बार की स्थिति कुछ भिन्न प्रकार की थी। डॉ. गोपीचंद नारंग का कार्यक्षेत्र सदैव दिल्ली रहा है। वे अकादमी से लम्बे समय से जुड़े रहे हैं और चुनाव पूर्व तक उसके उपाध्यक्ष थे। माफिया गुट किस प्रकार काम करता है, इससे भी वे परिचित रहे हैं। निहित स्वार्थों वाले कुछ लोगों की उनसे, उनकी बेबाकी के कारण, पटरी नहीं बैठती थी। उन्होंने जब इस पद के लिए चुनाव लड़ने की घोषणा की तो उसके गिरोह का सशंक हो जाना स्वाभाविक था। इसी वर्ग के एक लेखक ने पांच वर्ष पूर्व यह चुनाव लड़ा था और उसमें बुरी तरह पराजित हो गया था। इसलिए इनमें से किसी में सीधे-सीधे यह चुनाव लड़ने का साहस नहीं था। उनके स्वार्थ में यही बात आती थी कि अध्यक्ष साहित्य अकादमी के केन्द्र से दूर का व्यक्ति हो और ऐसा व्यक्ति हो 'डमी' के रूप में हो रहे, जिससे अकादमी पर अपना वर्चस्व बनाए रखा जा सके और वे 'रिमोट कन्ट्रोल' वे अपना काम करते रहें। उन्हें श्रीमती महाश्वेता देवी इस कार्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त पात्र लगीं।

महाश्वेता देवी इस देश की बहुत सम्मानित लेखिका हैं। आदिवासियों के जीवन पर लिखे हुए उनके उपन्यास बहुत चर्चित हुए हैं। वास्तविकता यह है कि यह पद उनकी गरिमा के अनुरूप ही नहीं था। वे कभी अकादमी के कार्यकलापों से सक्रिय रूप से सम्बद्ध नहीं रहीं, इसलिए अकादमी को संचालित करने का उन्हें कोई अनुभव भी नहीं है। उनकी 78 वर्ष की आयु भी उन्हें इस बात को सुविधा नहीं देती कि वे कोलकाता में रहकर अकादमी की बहुविधि या गतिविधियों में सक्रिय भूमिका निभा सकें। उनकी ये सभी सीमाएं उस माफिया तंत्र के लिए बहुत अनुकूल थीं जो अकादमी को रिमोट कन्ट्रोल से चलाना चाहते थे।

इस देश में कुछ ऐसे लांछन हैं जिन्हें निहित स्वार्थों वाले लोग अपने प्रतिपक्षी के लिए बड़ी आसानी से लगा देते हैं। एक समय था जब किसी को नक्सलवादी कहना, उग्र वामपंथी कहना ऐसा ही लांछन था। फिर ऐसी सुई दूसरी ओर मुड़ गई। लोगों पर आर्थिक घोटालों और सैक्स सम्बन्धी आरोप खुलकर लगने लगे। इस समय किसी को भी लांछित करना हो तो उसे भाजपाई घोषित किया जा सकता है जो देश की सभी संस्थाओं को भगवाकरण कर देना चाहता है। डॉ. गोपीचंद नागर के विरुद्ध भी ऐसा ही प्रचार व्यापक स्तर पर शुरू हो गया। उनके साथ मनगढ़न्त घटनाएं जोड़ी जाने लगीं। कुछ लेखकों ने दिल्ली में एक पत्रकार सम्मेलन आयोजित किया और इस चुनाव को बड़ी विकृत ढंग से राजनीतिक रंग देना शुरू कर दिया। मीडिया के सभी साधनों का उपयोग किया गया और साहित्य की सम्पूर्ण गरिमा को तिलांजलि देकर सभी असाहित्यिक हथकंडों को पूरी तरह प्रयोग में लाया गया।

लेखकों का विशाल समुदाय जो साहित्य अकादमी में पैदा की गई घुटने से बुरी

तरह त्रस्त था, लम्बे समय से चली आ रही व्यवस्था और वातावरण में परिवर्तन चाहते थे इस दुरमि संधि और दूषित प्रचार के प्रति जागरूक हो गया। अध्यक्ष पद के चुनाव से दो दिन पूर्व ही लगभग 30 लेखकों–जिनमें हिन्दी, उर्दू, पंजाबी, राजस्थानी, उड़िया, बांग्ला आदि कई भाषाओं के लेखक शामिल थे, ने सामूहिक वक्तव्य दिया। अपने वक्तव्य में उन्होंने कहा कि यह अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है कि साहित्य अकादमी जैसी संस्था, जिसकी स्थापना भारतीय भाषाओं में लिखे जा रहे साहित्य को प्रोन्नत करने, उत्साहित करने और विकसित करने के लिए की गई थी और जिसका यह उद्देश्य था कि वह देश की सभी भाषाओं के साहित्यकारों के मध्य संवाद और गहरी समझ उत्पन्न करे, उसे आज गंदी राजनीति में बुरी तरह घसीटा जा रहा है।

इस वक्तव्य में यह भी कहा गया कि कुछ लोगों ने इस संस्था पर गत वर्षों में एकाधिकार स्थापित करने का पूरा प्रयास किया है और इसमें माफिया ढंग का वातावरण उत्पन्न कर दिया है। उनके इस असाहित्यिक और पक्षपातपूर्ण रवैये के कारण ऐसी सम्मानित संस्था की प्रतिष्ठा और गरिमा इस सीमा तक गिरी है कि अनेक प्रमुख लेखकों ने इसकी गतिविधियों से अपने आप को दूर कर दिया है। इस समय मुख्य प्रश्न यह है कि इस संस्था के गौरव और इसकी प्रतिष्ठा को किस प्रकार पुनर्स्थापित किया जाए, इसकी स्वायत्तता किस प्रकार कायम रखी जाए, इसके अराजनीतिक स्वरूप की रक्षा की जाए और उन तत्वों से इसके किस प्रकार बचाया जाए जो इसे नष्ट करने पर उतारू हैं।

अनेक लेखकों ने निजी तौर पर भी वक्तव्य देकर इस माफिया तंत्र के विरुद्ध अपने विचार व्यक्त किए। ऐसा लगा कि देश भर का लेखक समुदाय इस सम्बन्ध में जागरूक होकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए कटिबद्ध हो गया है।

यह भी उल्लेख है कि साधारण सभा के, सभी भाषाओं के लेखकों का डॉ. नारंग को व्यापक समर्थन मिला और उन्हें इतने अधिक मत मिले जितने इससे पहले किसी अध्यक्ष को नहीं मिले थे।

साहित्य अकादमी में आया यह परिवर्तन एक नई बयार लेकर आया है। डॉ. गोपीचंद नारंग प्रबुद्ध व्यक्ति हैं। उर्दू के शीर्षस्थ आलोचक होने के साथ ही वे बहुभाषाविद् हैं। देश भर में फैले हुए लेखकों से उनका सम्बन्ध है और सबसे बड़े बात, वे अकादमी को एक नई रंगत देने के लिए प्रतिश्रुत हैं।

(दैनिक जागण, 27 फरवरी, 2003)

45

सातवां विश्व हिन्दी सम्मेलनः हिन्दी की अन्तर्राष्ट्रीय पहचान की चिंता

पारामारिबो (सूरीनाम) में सातवां विश्व हिन्दी सम्मेलन सम्पन्न हो गया। तीन दिन (6-9 जून) तक होने वाले इस आयोजन में देश-विदेश से आए लगभग 200 प्रतिनिधियों ने भागीदारी की और हिन्दी के विकास के विभिन्न पक्षों पर हुई संगोष्ठियों में बढ़-चढ़कर भाग लिया, किन्तु सभी चर्चाओं में एक मुख्य बात छाई रही कि किस प्रकार हिन्दी को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हो। इस सम्मेलन में कुल आठ प्रस्ताव पारित हुए। लगभग सभी में किसी-न-किसी रूप में यह चिंता व्यक्त होती थी कि हिन्दी को एक विश्व भाषा के रूप में स्थापित करने के लिए किस प्रकार के कदम उठाए जाने आवश्यक हैं।

इस सम्मेलन का पहला और सर्व प्रमुख प्रस्ताव संयुक्त राष्ट्र संघ में हिन्दी को आधिकारिक भाषा बनाने के सम्बन्ध में था। इस समय संसार की छह भाषाएं अंग्रेजी, फ्रांसीसी, स्पेनिश, जर्मन, चीनी तथा अरबी भाषाएं संयुक्त राष्ट्र संघ की आधिकारिक भाषाएं हैं। वहां होने वाली सभी गतिविधियों भाषाणों के साथ-साथ अनुवाद की सुविधा इन भाषाओं के लिए उपलब्ध होती है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में भारत के प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने एक-दो बार हिन्दी में भाषण दिया है, किन्तु वह एक प्रकार से प्रतीकात्मक भाषण ही था। महासभा के सदस्यों के उपयोग के लिए उसे अंग्रेजी में उपलब्ध कराया गया था।

स्वतन्त्रता के बाद से ही यह प्रश्न लगातार उठता रहा है कि हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र संघ में एक भाषा के रूप में मान्यता क्यों न प्राप्त कराई जाए, जबकि वह संसार की तीसरी बड़ी भाषा है, किन्तु पहले की सरकारों ने इस विषय को कभी गंभीरता से नहीं लिया था। संभवतः एक कारण यह था कि देश के कुछ भागों में जिस ढंग से हिन्दी का विरोध हो रहा था, यह आशंका व्यक्त की जा रही थी कि इस दिशा में किए गए किसी भी प्रकार के सक्रिय प्रयास को विरोध का सामना करना पड़ सकता था। इसी से जुड़ा एक और प्रश्न भी था। संयुक्त राष्ट्र संघ में आधिकारिक भाषा के रूप में स्वीकृति के लिए बहुत बड़ी धनराशि वहां के सचिवालय को देनी पड़ती है, जिससे अनुवाद आदि की व्यवस्था की जाती है। केन्द्र सरकार द्वारा हिन्दी के लिए किए जाने वाला संभावित व्यय भी विवाद का एक मुद्दा बन सकता था।

किन्तु इस समय परिदृश्य बदला हुआ है। राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी की मान्यता पहले से कहीं अधिक स्वीकार की जाने लगी है। वाजपेयी सरकार में उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम को अनेक छोटी-बड़ी पार्टियां गत पांच वर्ष से सफलतापूर्वक साथ-साथ चल रही हैं। ऐसा इस देश में पहली बार हुआ है। एक समय लोकसभा में हिन्दी में बोलने वालों की गिनती दो-चार से अधिक नहीं थी। वर्तमान लोकसभा में अधिसंख्य सदस्य हिन्दी में बोलते हैं। श्री अटल बिहारी वाजपेयी का हिन्दी प्रेम सर्वविदित है, इसलिए इनके प्रधानमंत्रित्वकाल में संयुक्त राष्ट्र संघ में हिन्दी के प्रवेश की आशा करना बहुत सहज और स्वाभाविक है। भारत सरकार भी इस समय इस दृष्टि से बहुत सक्रिय दिखाई दे रही है। विश्व हिन्दी सम्मेलन में पारित प्रस्ताव में कहा गया है कि हिन्दी के संयुक्त राष्ट्र संघ की स्वीकृत भाषा बन जाने के उपरान्त विश्व की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग अपनी भाषा के माध्यम से संयुक्त राष्ट्र संघ की गतिविधियों तथा हिन्दी का प्रयोग करने वाले देश भी वहां अपनी बात प्रभावी ढंग से रख सकेंगे। इससे हिन्दी भाषा का भी नए क्षेत्रों में प्रवेश होगा जो इसके विकास और उन्नयन में सहायक होगा।

संसार के लगभग 120 देशों में भारत मूल के लोग रहते हैं। इनमें से बहुत बड़ी संख्या अपनी भाषा को भूल चुकी है अथवा जो भाषा वह बोल सकती है वह हिन्दी मूल की होते हुए भी आधुनिक हिन्दी से बहुत दूर है। उदाहरण के लिए सूरीनाम की सम्पूर्ण जनसंख्या (पांच लाख से कम) में भारतमूल के लोगों की संख्या 28 प्रतिशत है। पूर्वी भारत (पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार) से अवधी और भोजपुरी बोलने वाले मजदूरों की पहली खेप 1873 में यहां आई थी, जिसमें 300 से कुछ अधिक लोग थे। बाद में भी इन्हीं प्रदेशों से आए लोग यहां बस गए। एक सौ वर्षों से अधिक समय में इन लोगों ने भोजपुरी आधारित एक भाषा विकसित कर ली है जिसे 'सरनामी' कहते हैं। आपस में बातचीत के लिए ये इसी भाषा का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक देश हैं जहां भारतवंशी तो हैं किन्तु वे जैसी हिन्दी बोलते हैं वह मानक हिन्दी से बहुत दूर है।

इस सम्मेलन में एक सत्र का विषय था—'हिन्दी पत्रकारिता : नई शताब्दी की चुनौतियां।' इस विषय पर बोलते हुए मैंने विश्व स्तर पर हिन्दी के मानकीकरण का

प्रश्न उठाया। हम दावा करते हैं कि हिन्दी केवल भारत में ही नहीं संसार के अनेक देशों में बोली और पढ़ी जाने वाली भाषा है। अनेक देशों में हिन्दी में सृजनकार्य करने वाले लेखक हैं जिनकी पुस्तकें नियमित रूप से प्रकाशित होती रहती हैं। इन सभी की रचनाओं में स्थानीय परिवेश का रंग तो होता है किन्तु उनकी भाषा वही होती है जिसमें भारत के लेखक लिखते हैं।

इस दृष्टि से अंग्रेजी का उदाहरण बहुत समीचीन है। आज संसार के अनेक देशों की भाषा अंग्रेजी है। ब्रिटेन के अतिरिक्त वह कनाडा, अमेरिका से लेकर आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तक की वह प्रथम भाषा है। किसी समय ब्रिटिश उपनिवेश रहे, राष्ट्र-मंडल के सभी देशों में भी वह प्रमुख भाषा है जहां अंग्रेजी के समाचार-पत्र निकलते हैं, इस भाषा का अध्ययन-अध्यापन होता है, इसमें सृजन कार्य होता है और इसका व्यापक रूप से प्रयोग होता है। इन सभी देशों और क्षेत्रों में बहुत थोड़े अन्तर के साथ मानक अंग्रेजी का प्रयोग होता है। कहीं से भी प्रकाशित अंग्रेजी की कोई भी पुस्तक किसी भी अंग्रेजी बोलने वाले क्षेत्र में सहजता से पढ़ी जाती है।

भारत में हिन्दी का मानकीकरण हो गया है अथवा निरन्तर होता चला जा रहा है, किन्तु विश्व स्तर पर यह स्थिति नहीं है। ब्रिटेन और अमेरिका से प्रकाशित होने वाले बहुत से अंग्रेजी समाचार-पत्रों के अन्तर्राष्ट्रीय संस्करण प्रकाशित होते हैं। 'द न्यूयार्क टाइम्स' का विश्व-दैनिक पत्र-'इंटरनेशनल हेराल्ड ट्रिब्यून' पेरिस से संपादित होता है। इंग्लैंड से निकलने वाले दैनिक 'द गार्डीएन' का अन्तर्राष्ट्रीय संस्करण संसार के अनेक भागों में लोकप्रिय है।

भारत में हिन्दी के समाचार पत्रों ने इस बीच आशातीत प्रगति की है। दैनिक जागरण और भास्कर जैसे समाचार-पत्रों के बीस से अधिक संस्करण देश के विभिन्न भागों से प्रकाशित हो रहे हैं और उनकी प्रसार संख्या, अंग्रेजी सहित, भारत की किसी भी भाषा में प्रकाशित होने वाले समाचार-पत्र से अधिक हो गई है।

मैंने इस सम्मेलन में यह बात उठाई कि जिस प्रकार संसार भर में अंग्रेजी का मानकीकरण हुआ है और यह विश्व भाषा बन गई है, उसी प्रकार यदि हिन्दी को भी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का स्थान ग्रहण करना है तो विश्व स्तर पर उसका मानकीकरण होना बहुत आवश्यक है। कोई आश्चर्य नहीं कि कल दैनिक जागरण का मारीशस और सूरीनामी संस्करण प्रकाशित होने लगे। उस दृष्टि से सम्पूर्ण संसार में एक मानक हिन्दी अपरिहार्य बन जाएगी।

इस दृष्टि से यह बहुत आवश्यक है कि इन देशों में हिन्दी के पठन-पाठन की ओर अधिक ध्यान दिया जाए। वहां के सरकारी पाठ्यक्रम में हिन्दी को शामिल किया जाए, उसे सरकारी स्तर पर मान्यता प्राप्त हो। दुर्भाग्य से ऐसी स्थिति आज भारत से बाहर किसी भी देश में नहीं है।

सूरीनाम में जो थोड़े से विद्यार्थी हिन्दी पढ़ते हैं वे वहां की सनातन धर्म और आर्य समाजी संस्थाओं के प्रयास से ही पढ़ते हैं। सनातन धर्म की ओर से नौ और आर्य समाज की ओर से सात स्कूलों में हिन्दी पढ़ाने की व्यवस्था है। सूरीनाम के दस

प्रान्त हैं। इनमें से तीन में तो आदिवासी ही बसते हैं। सात प्रान्तों में भारत मूल के लोग बसे हुए हैं, जिनमें हिन्दी के विधिवत् अध्यापन की बहुत आवश्यकता है।

एक अन्य प्रस्ताव में इस सम्मेलन में मांग की गई कि संसार के अनेक देशों में विश्वविद्यालय स्तर पर अधिक हिन्दी पीठों की स्थापना के साथ-साथ भारत से अन्य देशों में प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तर पर हिन्दी शिक्षण की व्यापक व्यवस्था हेतु, ठोस कदम उठाए जाएं तथा इन सभी बिन्दुओं पर अधिकाधिक सुविधाएं उपलब्ध कराई जाएं।

अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में हिन्दी की स्वीकृति और उसके मानकीकरण की दृष्टि से यह भी बहुत आवश्यक है कि भारत से बाहर जिन देशों में हिन्दी में मौलिक सृजन कार्य हो रहा है, उसे सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य का अभिन्न अंग स्वीकार किया जाए और उसे विभिन्न विश्वविद्यालयों के हिन्दी पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाए। इस सम्बन्ध में भी वहां एक प्रस्ताव पारित किया गया कि भारत में एम.ए. हिन्दी के पाठ्यक्रमों में विदेशों में रचित हिन्दी लेखन को एक वैकल्पिक प्रश्न-पत्र के रूप में सम्मिलित किया जाए। ऐसा करने से विदेशों में रचे जा रहे हिन्दी साहित्य के विकास और समृद्धि में अनेक आयाम जुड़ेंगे और उसके शोध का नया अध्याय प्रारंभ होगा।

सातवें विश्व हिन्दी सम्मेलन में हिन्दी के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप की स्थापना की चिंता व्याप्त रही। वहां पारित अधिसंख्य प्रस्ताव भी इसी दिशा में अपनी सक्रियता व्यक्त करते थे। एक प्रस्ताव द्वारा यह मांग भी की गई थी कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी साहित्य के उन्नयन हेतु एक उच्च स्तरीय अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिका भी प्रकाशित की जाए।

इस सम्मेलन में विदेशों में रहने वाले भारतीय मूल के हिन्दी सेवियों के अतिरिक्त विदेशी हिन्दी विद्वानों की उपस्थिति भी बहुत महत्वपूर्ण थी। प्रो. के. बिरस्की तथा डॉ. दानुता स्तासीक (पोलैंड), डॉ. स्वेतीस्लाव कोस्तिक (चेक गणराज्य), प्रो. आजाद समातोव (उज्बेकिस्तान), प्रो. एनी मोंतो (फ्रान्स), प्रो. हबीबुलो राजावोव और उस्मानोव मुमताज (तजाकिस्तान), डॉ. वारान्किोव (रूस), योरदान्का बोयानोवा (बलगेरिया), डॉ. मेरोला (इटली) जैसे हिन्दी सेवियों और प्राध्यापकों की उपस्थिति ने इस सम्मेलन को सार्थक अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया।

(दैनिक जागरण, 19 जून, 2003)

46

साहित्यकार कुछ मुद्दों पर तो सहमत हो ही सकते हैं

राजनीति में कम-से-कम दो पक्षों का होना लोकतंत्र के लिए आवश्यक माना जाता है। एक पक्ष सत्ता में होता है तो दूसरा विपक्ष में। सत्ता पक्ष की गतिविधियों, उसके द्वारा किए जा रहे कार्यों और निर्णयों पर आलोचना करना, उनकी कमियों को उजागर करना, अपना विरोध प्रकट करना और उसके लिए जनमत तैयार करना, विपक्ष अपना दायित्व मानता है।

किन्तु साहित्य में इसकी आवश्यकता नहीं होती। इस क्षेत्र में नई से नई प्रवृत्तियां जन्म लेती हैं, आन्दोलन होते है, विचार-चर्चाएं होती हैं, मतभेद होते हैं, इस आधार पर खेमे और गुट भी बन जाते हैं किन्तु सत्ता पक्ष और विरोधी पक्ष जैसी बात कभी प्रासंगिक नहीं बनती। कभी-कभी साहित्येतर विचार साहित्य को प्रभावित करने लगते हैं और सम्पूर्ण साहित्यिक परिवेश में उसकी अनुगूंज सुनाई देने लगती है।

उदाहरण के लिए मध्ययुग में साहित्य पर ईश्वर-भक्ति का व्यापक प्रभाव छा गया था और भक्ति तथा साहित्य एक-दूसरे के जैसे अनुपूरक बन गए थे, किन्तु इस समय भक्ति साहित्य भी खेमों में बंटने लगा था। दो खेमे तो स्पष्ट दिखाई देने लगे थे—एक निर्गुण पंथी थे तथा दूसरे सगुण पंथी थे। दोनों एक-दूसरे के विरोधी थे और उनकी मान्यताओं का खंडन करते रहते थे। कबीर जैसे संत अवतारवाद, मूर्तिपूजा और वर्णाश्रम व्यवस्था की बखिया उधेड़ते थे। तो दूसरी ओर तुलसीदास जैसे भक्त इन संतों को अनपढ़ और मूढ़ कहने से सभी नहीं चूकते थे। सूरदास, नंद दास और बाद में जगन्नाथ दास रत्नाकर का सम्पूर्ण भ्रमर-साहित्य ईश्वर के सगुण-साकार रूप की स्थापना और निर्गुण के खंडन से भरा हुआ है।

साहित्य में असहमति खंडन और विरोध सदैव होते रहे हैं। ये बातें जीवन में गति उत्पन्न करती हैं और चिंतन में प्रखरता लाती हैं। जहां असहमति और विरोध नहीं होता वह जीवन स्थिर और जड़ हो जाता है। लोकतंत्र की यह सबसे मजबूत भित्ति है, इसीलिए इस प्रणाली में सत्ता-पक्ष के समान ही विपक्ष भी महत्वपूर्ण होता है।

किन्तु किसी भी स्वस्थ समाज में पक्ष और विपक्ष दोनों को इस बात का ज्ञान होता है कि जीवन में ऐसे अनेक मुद्दे उभर आते हैं जहां सहमति या असहमति न होकर व्यापक सहमति होना आवश्यक होती है। यदि देश पर कोई विदेशी शक्ति आक्रमण कर दे तो कोई भी राजनीतिक दल उसे अपने राजनीतिक हित के लिए प्रयोग में नहीं लाता। वहां सभी दल एकमत होते हैं कि हर प्रकार से देश की स्वतंत्रता की रक्षा की जानी चाहिए। यही बात साहित्य और भाषा पर भी लागू होती है।

सूरीनाम में हुए सातवें विश्व हिन्दी सम्मेलन के सम्बन्ध में भी अनेक प्रकार की बातें चर्चा में आई हैं और समाचार-पत्रों में अनेक प्रकार की सही-गलत टिप्पणियां भी प्रकाशित हुई हैं। उस सम्मेलन में भाग लेकर लौटे कुछ लेखकों ने भी अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त की हैं। एक लेखक ने अपनी टिप्पणी में लिखा है कि मैं उस सम्मेलन में इसलिए गया था कि विश्व हिन्दी सम्मेलन कहीं विश्व हिन्दू सम्मेलन ही न बन जाए।

यह एक बड़ा बड़बोला और अविचारित वक्तव्य है। यह सातवां विश्व हिन्दी सम्मेलन था। क्या पहले हुए छह सम्मेलनों के लिए भी उस या अन्य किसी लेखक ने ऐसी संभावना व्यक्त की थी? क्या ऐसी आशंका कुछ लोगों के मन में इसलिए पनपी थी कि उस समय केन्द्र में भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाली सरकार थी और श्री अटल बिहारी वाजपेयी प्रधानमंत्री थे? लेकिन ऐसी स्थिति तो सितम्बर 1999 में लंदन में हुए छठे विश्व हिन्दी सम्मेलन के समय भी थी। उस समय भी यही सरकार थी और यही प्रधानमंत्री थे। इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि उस सम्मेलन या उसके पहले के सम्मेलनों में वर्चस्व किनका था?

हिन्दी का संकट यह है कि यहां कुछ लेखक अपनी अहमन्यता में यह समझते हैं कि सम्पूर्ण साहित्य-संसार उनके चारों ओर घूमता है। साहित्य में वही होता है जो वे चाहते हैं। उनके बिना साहित्य सांस नहीं लेता। हर स्थान, हर क्रिया और हर गतिविधि में उनकी उपस्थिति अनिवार्य और अपरिहार्य तो है ही, उनके नेतृत्व भी अवश्यम्भावी है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि पिछले कुछ समय में हिन्दी में ऐसे मठाधीशों के गढ़ टूटे हैं। साहित्य अकादमी, नेशनल बुक ट्रस्ट, राज्यों की अकादमियों, विश्वविद्यालयों की चयन समितियों में से उनका बोलबाला घटा है और इन स्थानों पर ऐसे साहित्यकार भी दिखने लग गए हैं जिन्हें सदैव सायास रूप से हाशियों पर ही रखा जाता रहा है।

सातवें विश्व हिन्दी सम्मेलन के समय भी स्थिति कुछ ऐसी ही थी। केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारों द्वारा चयनित लेखक/लेखिकाओं में, पहले की भांति एक ही

विचारधारा और कुछ की मठाधीशी वाला दृश्य नहीं था। इस सम्मेलन में सभी प्रकार के विचारों, क्षेत्रों और भाषा तथा साहित्य के क्षेत्र में कार्यरत विभिन्न प्रकार के संस्थानों के प्रतिनिधियों की भागीदारी थी। संभवतः यही कारण था कि सम्मेलन प्रारम्भ होने से पूर्व टूटे हुए मठों के स्खलित मठाधीशों के वक्तव्य आने लग गए थे कि इस सम्मेलन को वे विश्व हिन्दी सम्मेलन की मान्यता ही नहीं देते हैं।

पारामारिवो (सूरीनाम) में हुए तीन दिन के सम्मेलन की अनेक संगोष्ठियों में मैं सहभागी भी था और प्रत्यक्षदर्शी भी। लंदन में हुए सम्मेलन से कहीं अधिक खुलापन और विचार-स्वातन्त्र्य इस सम्मेलन में था। अनेक सत्रों में मतभेद भी उभरे, वैचारिक संघर्ष भी हुए, थोड़ी बहुत तू-तू मैं-मैं भी हुई, किन्तु यह सब तो किसी भी सफल सम्मेलन के आवश्यक तत्व हैं। इनके अभाव में सारी विचार-चर्चा मूक सहमति की औपचारिक सभा बनकर रह जाती है।

मेरी मान्यता है कि अनेक मतभेदों और असहमतियों के मध्य भी हिन्दी में भाषा और साहित्य को लेकर अनेक ऐसे मुद्दे हैं जिन पर सभी विचारों के लेखकों की आम सहमति बननी चाहिए। सातवें विश्व हिन्दी सम्मेलन में पारित किए गए लगभग सभी प्रस्ताव ऐसे थे। संयुक्त राष्ट्र संघ में हिन्दी को एक आधिकारिक भाषा बनाया जाए, इस सम्बन्ध में किसी भी विचार या खेमे के लेखक में मतभिन्नता नहीं हो सकती। यह अवश्य है कि इस विशिष्ट उपलब्धि का श्रेय कौन ले जाता है। इस कारण कुछ का आह्लाद बढ़ सकता है और कुछ को कष्ट भी हो सकता है।

वहां जब इस प्रस्ताव पर चर्चा हो रही थी तो एक लेखक ने वड़े उत्साहतिरेक में यह कहा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में हिन्दी की स्वीकृति का पूरा श्रेय श्री अटल विहारी वाजपेयी को मिलेगा और अगले चुनाव के पश्चात् उनका फिर से प्रधानमंत्री बनना सुनिश्चित हो जाएगा। कुछ लेखकों को उनकी यह टिप्पणी अच्छी नहीं लगी थी। यह भी सही है कि हर कार्य और उपलब्धि में से राजनीतिक लाभ-हानि के गणित को ढूंढना स्वस्थ आदत नहीं है।

आठवां विश्व हिन्दी सम्मेलन नीदरलैंड (हंगरी) में करने की वहां घोषणा की गई थी। यह बात सभी अनुभव करते हैं कि विश्व हिन्दी सम्मेलनों की शृंखला को अब अधिक व्यवस्थित रूप दिया जाना चाहिए। इससे पहले सम्पन्न हुए लगभग सभी सम्मेलनों में यह मांग की गई थी कि सम्मेलन के लक्ष्यों और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक स्थायी समिति का गठन किया जाए। 1976 में मारीशस में हुए द्वितीय सम्मेलन में यह प्रस्ताव पारित हुआ था कि मारीशस में एक विश्व हिन्दी केन्द्र की स्थापना की जाए जो सारे विश्व में हिन्दी की गतिविधियों का समन्वय कर सके। चौथे सम्मेलन (1993) में यह घोषणा की गई थी कि मारीशस में एक सचिवालय गठित किया जाएगा जिसका लक्ष्य भविष्य में होने वाले विश्व हिन्दी सम्मेलनों का आयोजन करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में हिन्दी का विकास और उत्थान करना होगा।

इस निश्चय को किए दस वर्ष का समय हो गया है। इस बीच तीन सम्मेलन

और हो चुके हैं, किन्तु इस दृष्टि से कोई स्थायी रूप-रेखा तैयार नहीं हुई है। अभी तक सारा कार्य तदर्थवाद के आधार पर ही चलता आ रहा है। इस दृष्टि से कोई स्थायी नीति या कार्ययोजना के बनने के स्पष्ट संकेत नहीं दिखाई दिए हैं।

सातवें विश्व हिन्दी सम्मेलन के सम्पूर्ण कार्य भार के लिए एक संयोजन समिति अवश्य थी जिसने विदेश राज्यमंत्री श्री दिग्विजय सिंह के नेतृत्व में इस सम्मेलन की रूप-रेखा उकेरने में महत्वपूर्ण कार्य किया था। भारतीय प्रतिनिधिमंडल का नेतृत्व श्री दिग्विजय सिंह ने किया। वहां उनकी उपस्थिति बहुत गरिमामयी थी। नीदरलैंड में होने वाले आठवें सम्मेलन की घोषण भी उन्होंने की थी। इस दृष्टि से यह अवश्यक लगता है कि उस सम्मेलन से पूर्व उन सभी प्रस्तावों को क्रियान्वित कर लिया जाए जिन्हें पहले के सम्मेलनों में पारित किया गया था। इस दृष्टि से इन कार्यों की सम्पन्नता की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए—

1. विश्व हिन्दी सम्मेलनों के आयोजन के लिए विश्व स्तर की एक कार्य समिति की स्थापना की जाए।
2. मारीशस में एक स्थायी सचिवालय बनाने का निश्चय जो पिछले सम्मेलनों में किया गया था, उसे उसकी पूर्णता तक लाया जाए।
3. वर्धा के महात्मा गांधी हिन्दी विश्वविद्यालय को उसकी निष्क्रिय भूमिका से निकाल कर जीवन्त रूप दिया जाए।
4. एक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की ऐसी पत्रिका प्रकाशित की जाए जिसके माध्यम से संसार के उन सभी देशों में हिन्दी के अध्ययन, पठन-पाठन साहित्य सृजन की दिशा में जो कार्य हो रहा है, उसकी पूर्ण जानकारी प्राप्त हो सके।
5. विश्व हिन्दी सम्मेलनों को आयोजित करने के लिए भारत सरकार की भूमिका अग्रणी होती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि विदेश मंत्रालय में सम्मेलनों की गतिविधियों को नियोजित करने के लिए एक अलग 'सेल' की स्थापना की जाए।

ये सभी कार्य हिन्दी की प्रतिष्ठा और उसकी व्यापक स्वीकृति के लिए किए जाने वाले कार्य हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि इनके प्रकार के मतभेदों की उपस्थिति के बावजूद सभी साहित्यकारों की भागीदारी इसके लिए प्राप्त की जाए।

(दैनिक जागरण, 10 जुलाई, 2003)

47
अजातशत्रु थे भीष्म साहनी

भीष्म साहनी वामपंथी विचारधारा के प्रतिबद्ध लेखक थे। किसी लेखक का किसी विशिष्ट विचारधारा से सम्बद्ध होना संकट की बात नहीं है। संकट वहां उत्पन्न होता है जव उसकी विचारधारा साहित्य की अपनी मांगों के सिर पर चढ़कर बोलना प्रारम्भ कर देती है और साहित्य के हाथों में विचारधारा के प्रचार का झंडा पकड़ा देती है। ऐसे लेखक साहित्य का सृजन करने की बजाए किसी विशिष्ट वाद के प्रचारक बनकर रह जाते हैं।

ऐसे मतवादी लेखकों के साथ यह कठिनाई भी होती है कि वे ऐसे लेखकों के साथ जो उनसे सहमत नहीं होते और जिन्हें अपना विरोधी मान लेते हैं सौहार्द्रपूर्ण, शिष्ट और आत्मीय सम्बन्ध भी नहीं बनाए रख पाते हैं। उन्हें देखकर उनके माथे पर सलवटें पड़ने लगती हैं।

भीष्म साहनी विशिष्ट विचारधारा के साथ जुड़े होने के बावजूद सौजन्यता के मानवीय मूल्य को कभी आंखों से ओझल नहीं करते थे। इस अर्थ में वे सचमुच अजात-शत्रु थे।

भीष्म साहनी से पहले उनके बड़े भाई बलराज साहनी से मेरा परिचय हुआ था। मैं 1955 से 1963 तक मुंबई के खालसा कालेज में प्राध्यापक था। कालेज में ही हम एक साहित्यिक गोष्ठी किया करते थे, जिसमें हिन्दी के लेखकों के अतिरिक्त राजिन्दर सिंह बेदी, कृश्न चंदर, महेन्द्र नाथ, सुखबीर जैसे उर्दू और पंजाबी के लेखक भी आते थे। उन गोष्ठियों में कभी-कभी बलराज साहनी भी आते थे।

बलराज साहनी एक अच्छे और लोकप्रिय अभिनेता होने के साथ अंग्रेजी, हिन्दी और उर्दू भाषाओं के बहुत अच्छे जानकार थे और इन भाषाओं में उन्होंने कुछ लिखा भी था, किन्तु उन्होंने, संभवतः गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर की ताड़ना के कारण, यह

निश्चय कर लिया था कि वे केवल अपनी मातृभाषा पंजाबी में ही लिखेंगे। इसलिए, बाद में, उन्होंने जो कुछ भी लिखा, वह पंजाबी में ही लिखा।

1963 में दिल्ली आने के पश्चात् भीष्म साहनी से मेरा परिचय हुआ। जन्म स्थान रावल पिंडी होने के कारण इनकी पंजाबी की मधुरता पंजाब के मालवा या दोआबा क्षेत्रों में कहीं अधिक थी। भीष्म जी मुझसे सदा पंजाबी में ही बातचीत करते थे। बलराज जी तो गुरुमुखी लिपि में ही सब कुछ लिखते थे। भीष्म जी को इस लिपि का अभ्यास नहीं था, इसलिए जब कभी वे मुझे पत्र लिखते थे, वह देवनागरी में लिखी पंजाबी में होता था।

भीष्म साहनी उन सृजनशील लेखकों में थे जो जीवन के अंतिम क्षणों तक लिखते रहे। उनकी कुछ कहानियां तो अविस्मरणीय हैं। चीफ की दावत, इंद्रजाल, अमृतसर आ गया है, घुटपुटा, ओ हरामजादे जैसी कहानियां शायद भीष्म साहनी ही लिख सकते थे।

भीष्म जी को विशेष ख्याति उनके उपन्यास तमस के कारण मिली। देश के विभाजन पर हिन्दी, उर्दू, पंजाबी और बंगाली भाषाओं में बहुत कुछ लिखा गया है। यशपाल का उपन्यास 'झूठा सच' इस पृष्ठभूमि में लिखी गई सबसे वृहद् रचना है।

'तमस' देश-विभाजन की त्रासदी के लगभग तीन दशक बाद प्रकाशित हुआ था। उस समय इस उपन्यास को पढ़कर ऐसा लगता था कि इतने अंतराल के पश्चात् भी इस कथ्य की सर्जनात्मक संभावनाएं चुकी नहीं हैं।

'तमस' की जिस बात ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया था वह थी अपने कथ्य के प्रति लेखक की गहरी समझ और आत्मीयता। लेखक ने जिस ढंग से स्थितियों को उभारा था, जिस सूक्ष्मता से चरित्रों का सृजन किया था और जिस अंतरंग जानकारी से घटनाओं को नियोजित किया था, उससे उस त्रासदी को उसके क्रूरतम रूप में रेखांकित किया जा सका था।

'तमस' पांच दिनों की कहानी है, किन्तु उन पांच दिनों के पीछे हमें बहुत सारे दिन, वर्ष और बहुत सारी शताब्दियों झांकती हुई दिखाई देती हैं। घृणा, विद्वेष, साम्प्रदायिक उन्माद और इन सबसे उत्पन्न विचार तथा व्यवहारजनित क्रूरता इस देश में कितनी सदियों पहले पनपी और समय-समय पर अपना रूप बदल-बदलकर नंगा नाच नाचती रही। एक के बाद एक विदेशी जातियां यहां आती रहीं और लूट-खसोट तथा व्यापक नर-संहार द्वारा इस भयावह अग्नि को हवा देती रही। देश का सामान्यजन एक ओर विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा रौंदा जाता रहा तो दूसरी ओर जाति-पांति, ऊंच-नीच की घोर असमानता में पिसता रहा। 'तमस' की पांच दिनों की कहानी इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को पूरी तरह उजागर करती है।

भीष्म साहनी ने एक अनुवादक के रूप में अनेक वर्ष मास्को में व्यतीत किए थे। उस समय साम्यवादी विचारधारा की चारों ओर तूती बोलती थी। भारत लौटने के बाद भी सोवियत संघ के प्रति उनकी आदर्श छवि बनी रही। उन दिनों की मुझे एक घटना याद आती है। एक युवा रूसी लेखक कुज्नेत्सोव ने अपने देश के शासनतंत्र

पर यह आरोप लगाया, वहां अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पूरी तरह बाधित है। सोवियत अधिकारी उसकी रचनाओं में बुरी तरह काट-छांट करते हैं, इसलिए वह अपने देश को छोड़कर ब्रिटेन में शरण ले रहा है।

मैंने संचेतना में इस विषय पर एक परिचर्चा आयोजित की—'कुज्नेत्सोव का पलायन और लेखकीय स्वतन्त्रता'। इस परिचर्चा में भीष्म साहनी, विष्णु प्रभाकर, राजीव सक्सेना, रामदरश मिश्र, नरेन्द्र मोहन सहित अनेक लेखकों ने भाग लिया था।

उन दिनों जब कभी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का प्रश्न उठता था, सोवियत पक्षी वामपंथी लेखकों को खासी उलझन और असुविधा होती थी। संचेतना के संपादकीय में यह प्रश्न उठाया गया था कि किसी रूसी लेखक के पास कितने विकल्प हैं? उसके पास तीन विकल्प हैं—या तो वह अपनी लिखी प्रत्येक पंक्ति सरकारी तंत्र द्वारा परीक्षित कराता रहे, या ऐसी सेंसरशिप का विरोध करे और परिणामस्वरूप जेल की चारदीवारी के अंदर अपनी स्वतन्त्रता के गीत गाता रहे, जैसा कि रूस के बहुत से लेखक कर रहे हैं अथवा वह उस शिकंजे से भाग निकले। कुज्नेत्सोव ने तीसरा विकल्प चुना था। प्रश्न यह है कि क्या इन सीमित विकल्पों के मध्य कहीं का भी लेखक खुलकर सांस ले सकता है? इसी परिचर्चा में राजीव सक्सेना ने कुज्नेत्सोव को कायर और भगोड़ा कहा था। भीष्म साहनी की टिप्पणी भी यह स्वीकार करने को तैयार नहीं थी कि सोवियत संघ में लेखकों पर बहुत से बंधन हैं और उनकी रचनाओं की काट-छांट की जाती है। उनकी मान्यता थी कि कुज्नेत्सोव इस पीड़ा के कारण नहीं बल्कि पश्चिमी देशों की चकाचौंध से प्रभावित होकर अपने देश से भाग गया था। अपनी टिप्पणी में भीष्म साहनी ने लिखा था कि यह कहना कि वहां पर लेखक डरा और दबा हुआ है और उससे डंडे के जोर से लिखवाया जाता है, झूठ है।

नोबेल पुरस्कार विजेता बोरिस पास्तरनाक और एलेक्जेन्डर सोल्जनेस्तिान भी सोवियत संघ में बहुत पीड़ित हुए थे। इसे लेकर भी हिन्दी में काफी वाद-विवाद हुआ था। उस समय संचेतना का एक विशेषांक—'लेखक और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' विषय पर प्रकाशित हुआ था और दिल्ली के कानस्टीट्यूशन क्लब में एक परिसंवाद भी आयोजित किया गया था। भीष्म साहनी ने उसमें भी भाग लिया था और सोवियत संघ के बचाव में अनेक तर्क दिए थे। इस मुद्दे पर मेरा उनसे मतभेद हो जाया करता था इसके बावजूद उनसे मेरे सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध सदा बने रहे। वैचारिक मतभेद उनकी सौम्यता और सहृदयता में कभी आड़े नहीं आए।

कुछ समय पूर्व भीष्म साहनी की पत्नी का देहान्त हुआ था। उसके बाद वे बहुत अकेले हो गए और अपनी बेटी के साथ रहने लगे। आयु की अपनी बाध्यताएं होती हैं। इस कारण पिछले कुछ समय से सभाओं और गोष्ठियों में उनका जाना बहुत कम हो गया था। इसके बावजूद कुछ महीने पहले ही रुड़की में फिल्म-जगत् के लोकप्रिय गीतकार शैलेन्द्र की स्मृति में आयोजित एक समारोह में सम्मिलित होने के लिए वे गए। उस समारोह में मुझे भी जाना था। कुछ मित्रों सहित भीष्म साहनी जी सहित हम सभी सड़क मार्ग से एक वाहन द्वारा दिल्ली से रुड़की गए।

शैलेन्द्र से भीष्म साहनी का पुराना सम्बन्ध था। भारतीय जन नाट्य मंच (इप्टा) में पांचवें-छठे दशक में दोनों बहुत सक्रिय थे। इस अवसर पर शैलेन्द्र प्रशंसक कुछ मित्रों ने—'जन कवि शैलेन्द्र' शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित की थी। रुड़की में उस पुस्तक का विमोचन भी था और एक कवि सम्मेलन भी वहां आयोजित किया गया था।

भीष्म जी के साथ की गई यह मेरी अंतिम यात्रा थी। 87 वर्ष की आयु होने के बावजूद उनकी सौम्यता और जीवन्तता में कोई अन्तर नहीं आया था।

आज के आपाधापी और उठा-पठक के युग में भीष्म साहनी का व्यक्तित्व बिल्कुल अलग था। प्रेमचंद के बाद वे उस परम्परा के सबसे बड़े लेखक थे। उन्हें उनके लेखन के लिए तो स्मरण रखा ही जाएगा, उनकी सौम्यता और सहृदयता के लिए भी वे चिरस्मरणीय रहेंगे।

(दैनिक जागरण, 24 जुलाई, 2003)

48

किस प्रकार हो साहित्य और साहित्यकार की परख

साहित्य जगत् के विचारकों और सुविज्ञ पाठकों के लिए यह प्रश्न नया नहीं है कि साहित्य की परख का एकमात्र निकष सृजित साहित्य होता है अथवा साहित्यकार का निजी जीवन। उसकी मान्यताएं और आस्थाएं भी इसमें गहरा हस्तक्षेप करती हैं। यह प्रश्न लम्बे समय तक साहित्य में विचारा जाता रहा है, किन्तु आम सहमति तो उस बात पर है ही कि साहित्य को साहित्यकार के व्यक्तित्व से काट कर नहीं देखा जा सकता। रचना में रचयिता का मानस कुछ-न-कुछ परिलक्षित होता ही है।

प्रश्नों के ऐसे ही घटाटोप में से आजकल साहित्य-क्षेत्र में एक चर्चा विस्तार पा रही है। इस वर्ष भारतीय ज्ञानपीठ का पुरस्कार गुजराती कवि राजेन्द्र शाह के लिए घोषित हुआ है। श्री शाह गुजराती के बड़े प्रतिष्ठित कवि हैं। वे अपनी काव्य-यात्रा के सात दशक पूरे कर चुके हैं। उनके उन्नीस कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इसके पूर्व दो गुजराती साहित्यकारों-उमाशंकर जोशी और पन्ना लाल पटेल को ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। गुजराती के अनेक लेखकों की मान्यता है कि राजेन्द्र शाह को यह पुरस्कार बहुत पहले प्राप्त होना चाहिए था।

पिछले दिनों राजेन्द्र शाह का एक साक्षात्कार एक हिन्दी साप्ताहिक में प्रकाशित हुआ। जब उनसे यह पूछा गया कि कुछ समय पूर्व हुए गुजरात के साम्प्रदायिक दंगों पर उनकी क्या प्रतिक्रिया है। साक्षात्कार लेने वाले के अनुसार उनका उत्तर था—वह गोधरा कांड की प्रतिक्रिया थी।

उस इंटरव्यू के अनुसार यह लगता है कि राजेन्द्र शाह ने गुजरात में घटी जघन्य घटना को न्यायोचित ठहराया है और प्रतिहिंसा में मारे गए बेगुनाह लोगों के प्रति उनकी

कोई सहानुभूति नहीं है।

उनकी इस मान्यता से बहुत से लेखक रुष्ट हुए उनकी क्षुब्ध प्रतिक्रियाएं उस साप्ताहिक तथा कुछ अन्य समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुईं। कुछ लेखकों ने भारतीय ज्ञानपीठ से यह मांग की राजेन्द्र शाह को पुरस्कार दिए जाने की घोषणा रद्द कर दी जाए। कुछ ने उन्हें रक्त-पिपासु, साम्प्रदायिक और मानवता विरोधी कवि घोषित कर दिया। कुछ लोगों ने अपना आक्रोश भारतीय ज्ञानपीठ कर भी उतारा और उसके सम्पूर्ण इतिहास को संदेहों के घेरे में डालकर साहित्य के उन्नयन में दिए गए उनके सम्पूर्ण योगदान को ही खारिज कर दिया।

इस संदर्भ में स्वयं राजेन्द्र शाह ने पिछले दिनों एक वक्तव्य में कहा—''यह देखकर हैरत और पीड़ा होती है कि मेरे कथन को विषयवस्तु से काटकर प्रस्तुत किया गया है और इससे मेरे कहने का गलत आशय निकलता है। यह देखकर मुझे दुख हुआ है कि किस तरह मेरे वक्तव्य को छद्म-धार्मिकता का रंग दे दिया गया है, जबकि मेरा विश्वास किसी औपचारिक धर्म या पंथ में नहीं है। मैं एक कवि हूं और मेरे कथन के निहितार्थ में प्राकृतिक व्यवहारवाद था न कि राजनीतिक उद्घोषणा।''

किसी भी लेखक के मानस का आकलन उसके संपूर्ण मानस के आधार पर किया जाना चाहिए। राजेन्द्र शाह का नवीनतम कविता संग्रह हाल में ही प्रकाशित हुआ है। इस संग्रह के नाम वाली प्रमुख कविता है—''हां हुं साक्षी धुं'' (हां मैं साक्षी हूं)। इस कविता की प्रारंभिक पंक्तियों का हिन्दी रूप इस प्रकार है—

> आकाश की कंपा देने वाले न जाने कितने ध्वज लहरा रहे हैं।
> कोई भगवा तो कोई नीला,
> कोई हरा तो कोई लाल
> सबकी अपनी-अपनी धर्म ध्वजा है,
> और हर एक की दृष्टि में दूसरा जो है,
> वह आतताई है—संहार योग्य है।
> हां मैं साक्षी हूं
> मेरा कोई पक्ष नहीं है
> मेरा मन तो पक्ष विहीन है
> मैं देख रहा हूं कि यहां शासक और शासित
> दोनों कर्तव्य बोध से च्युत है
> और जैसे शासक का शासित पर
> वैसे ही शासित का शासन शासक पर चल रहा है।
> हां, मैं साक्षी हूं।

यह कविता उनके मानस की पहचान की एक बानगी है। उनके निकट रहे गुजराती के अनेक प्रबुद्ध लेखकों और काव्य रसिकों का कहना है कि वे मानवता के प्रति गहरी निष्ठा रखने वाले कवि हैं। एक सहृदय और विनयशील कवि के केवल

एक वक्तव्य के आधार पर 'हत्यारों के साझीदार' जैसी बात कह देना बहुत अतिरंजित प्रतिक्रिया है।

राजेन्द्र शाह के प्रसंग में जो विवाद उठा है उसने अनेक प्रश्न हमारे सामने उभार दिए हैं। ज्ञानपीठ पुरस्कार साहित्य सृजन के लिए दिया जाने वाला पुरस्कार है। उसका निकष साहित्यकार का सृजन है। उसकी कला-समझ और मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था की परख उसके सृजन के माध्यम से निर्धारित की जानी चाहिए अथवा किसी घटना की तात्कालिक प्रतिक्रिया?

दूसरी बात यह है कि साहित्य जगत् के लोगों को अपना अभिमत व्यक्त करने से पूर्व क्या उस साहित्यकार की पृष्ठभूमि, उसका सृजन और उसकी समग्र मानसिकता का आकलन नहीं करना चाहिए? बिना उस साहित्यकार का स्पष्टीकरण लिए क्या उस पर फतवों की बौछार कर देना उचित है?

एक बात और है। भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा दिया जाने वाला साहित्य पुरस्कार इस देश का सबसे अधिक सम्मानित पुरस्कार है। इसे भारत का नोबेल पुरस्कार कहा जाता है। गत चार दशकों से अधिक समय से दिया जाने वाला यह पुरस्कार भारत की (लगभग) सभी भाषाओं के लेखकों को प्राप्त हो चुका है। कुछ भाषाएं ऐसी हैं जिनमें चार या पांच साहित्यकारों को इसे प्राप्त करने का गौरव मिल चुका है। इस घटना को लेकर कुछ लेखकों ने भारतीय ज्ञानपीठ पर भी फब्तियां कसी हैं। उनके कथन से ऐसा लगता है कि जैसे यह संस्था भी सांप्रदायिकता, संकीर्णता और निहित स्वार्थों से प्रभावित है और इसके निर्णय इनसे प्रभावित होते हैं।

पुरस्कारों को लेकर हमारे लेखकों में व्याप्त पाखंड की भी अति है। हमारे बहुत से लेखक पुरस्कारों के नाम से बहुत नाक-भौं चढ़ाते हैं। उनमें से कुछ अपनी आत्ममुग्धता के लिए यह भी घोषित करते रहते हैं कि किसी भी सरकारी या गैर-सरकारी संस्थान द्वारा दिए जाने वाले किसी भी पुरस्कार को स्वीकार नहीं करेंगे, किन्तु किसी भी पुरस्कार को प्राप्त करने के लिए उनकी लार टपकती रहती है, जिसे वे चुपचाप गटकते रहते हैं। जब उनके लिए कोई पुरस्कार घोषित हो जाता है तो वे बहानों की तलाश करना शुरू कर देते हैं—''मैं यह पुरस्कार स्वीकार तो नहीं करना चाहता, किन्तु मेरी पत्नी या बेटी या पोषित बकरी इस समय बहुत बीमार है। मैं इसके इलाज के लिए बड़ी अनिच्छा से यह धनराशि स्वीकार कर रहा हूं''

ज्ञानपीठ पुरस्कार देश का कौन-सा लेखक प्राप्त नहीं करना चाहता? इसी प्रकार संसार का कौन-सा लेखक नोबेल पुरस्कार नहीं चाहता है। फ्रान्सीसी लेखक ज्यां पाल सात्र को जब नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ तो उन्होंने अपनी हल्की फुल्की प्रतिक्रिया में कहा था मेरे लिए इस प्रकार के पुरस्कार और आलू की बोरी में कोई अंतर नहीं है। हमारे कुछ स्वनाम धन्य लेखक सात्र कीं उक्ति को पुरस्कारों की महत्वहीनता दरसाने के लिए दोहराते रहते हैं और उसके लिए' जोड़-तोड़ भी करते रहते हैं।

मुझे एक बात का आश्चर्य होता है राजेन्द्र शाह का साक्षात्कार पढ़कर हमारे कुछ लेखक बहुत उंत्तेजित और उद्वेलित हुए हैं। गुजराती लेखकों में इसकी बहुत चर्चा

है। वहां के अनेक लेखकों द्वारा लिखे लेख हिन्दी में प्रकाशित हुए हैं जिनमें राजेन्द्र शाह के समर्थन में बहुत कुछ लिखा गया है? क्या कारण है कि यह उद्वेलन हिन्दी के लेखकों तक ही सीमित है? इस सम्बन्ध में गुजराती लेखकों का मत सकारात्मक क्यों है? क्या गुजराती के सभी लेख संकीर्ण और साम्प्रदायिक हो गए हैं?

भारत की किसी अन्य भाषा में भी इस सम्बन्ध में कोई चर्चा छिड़ी हो, ऐसे मेरे देखने में नहीं आया है। इस साक्षात्कार के माध्यम से गुजरात में हुए नरसंहार के सम्बन्ध में जिन राजेन्द्र शाह के मैंने जो विचार पढ़े हैं उनसे मुझे दुख हुआ है। किसी जागरूक लेखक से मैं ऐसी प्रतिक्रिया की अपेक्षा नहीं करता। गोधरा स्टेशन का अग्निकांड हो अथवा बेस्ट बेकरी का क्रूर हत्याकांड हो, दोनों ही भरपूर निंदनीय घटनाएं हैं। राजेन्द्र शाह ने किन असावधान क्षण में वह प्रतिक्रिया व्यक्त की (यदि सचमुच की) मैं नहीं जानता, किन्तु इस बात को मैं उनके सम्पूर्ण साहित्य के मूल्यांकन अथवा उनकी मानसिकता का एकमात्र निकष मान लूं, यह भी मुझे उचित नहीं लगता। साहित्य और साहित्यकार को उसकी समग्रता में देखना और परखना ही सही और सकारात्मक दृष्टि हैं।

(दैनिक जागरण, 4 सितम्बर, 2003)

49

सामाजिक परिवर्तन में साहित्य की क्या भूमिका है?

साहित्य किस सीमा तक और किस प्रकार सामाजिक परिवर्तन में अपनी भूमिका का निर्वाह कर सकता है, यह प्रश्न साहित्य के संदर्भ में अनेक मूलभूत मुद्दों को उभारता है। ये मुद्दे साहित्य के उद्देश्य एवं प्रभाव से सम्बन्धित हैं, साथ-ही-साथ साहित्य के स्वभाव और चरित्र के प्रति भी हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। साहित्य के उद्देश्य या प्रयोजन को लेकर प्राचीनकाल से भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्री चर्चा करते रहे हैं, परन्तु साहित्य का गहरा सामाजिक सरोकार होना चाहिए, उसे सामाजिक परिवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना चाहिए और उसे समाज के पीड़ित-दलित वर्ग का पक्षधर होना चाहिए, ऐसी चिन्ता और चर्चा अपेक्षाकृत आधुनिक युग की देन है। प्राचीन भारतीय साहित्य में साहित्य को सामाजिक परिवर्तन की भूमिका के साथ जोड़कर देखने की प्रवृत्ति लगभग नहीं है।

इसका कारण क्या है? क्या हमारे प्राचीन कवि को अपने चारों ओर के समाज और उसकी व्यवस्थाओं में कहीं कुछ अन्यायपूर्ण और अनुचित नहीं दिखाई देता था? क्या ऐसी स्थितियां नहीं थीं, जिनके परिवर्तन की कामना वह कर सकता? अथवा सामाजिक व्यवस्था में किसी प्रकार के परिवर्तन की कामना करना उसके संस्कार में ही नहीं था? पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे भारतीय सहृदय का संस्कार कहा है—"दीर्घकाल से भारतवर्ष इस बात में विश्वास करता रहा है कि किए का फल ज़रूर भोगना पड़ता है। इन जन्म में नहीं तो अगले जन्म में उसे अपने कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा। इससे वच सकना संभव नहीं है। इस जन्म में जो कुछ भी मनुष्य ने पाया है, वह पूर्व जन्म के पुण्य या पाप का परिणाम है और इस जन्म में जो पुण्य या पाप करेगा, वह भी उसको भोगना ही पड़ेगा। इस विश्वास का प्रभाव भारतीय साहित्य पर पड़ा

है। इस साहित्य में वह वस्तु एकदम नहीं मिलेगी, जिसे पश्चिमी साहित्य में 'समाज के प्रति विद्रोह भावना' कहकर बहुत बड़ा नाम दिया गया है। वस्तुतः प्राचीन कवि इस जगत् के समस्त विधान को सामंजस्यपूर्ण और उचित मानता है। धनी या निर्धन होना पुराने पुण्य या पाप का परिणाम है, अच्छे या बुरे कुल में जन्म लेना सुकृत या दुष्कृत का फल है, इसमें कहीं विरोध या विद्रोह की जरूरत ही नहीं है।''

विरोध या विद्रोह का जन्म असंतोष से होता है। व्यक्ति या एक वर्ग जब अपनी स्थिति से असंतुष्ट होता है, तो वह उससे उबरना चाहता है, परन्तु स्थापित मान्यताएं और व्यवस्थाएं उसे उबरने नहीं देतीं, क्योंकि इससे निर्धारित सीमाएं टूटती हैं। ऐसे असंतोष के कुछ उदाहरण प्राचीन भारतीय साहित्य में प्राप्त हो जाते हैं। विश्वामित्र का 'राजर्षि' से 'ब्रह्मर्षि' पद की प्राप्ति के लिए आजीवन संघर्ष करना, एकलव्य का धनुर्विद्या में कुलीन राजकुमारों जैसी दक्षता प्राप्त करने का प्रयास करना या शंबूक का यह जानते हुए भी कि वह शूद्र है और तप-साधना उसके लिए एक वर्जित फल है, तपस्यारत होना इस प्रकार के कुछ उदाहरण हैं।

प्राचीन भारत में बौद्ध और जैन धर्मों का जन्म स्थापित और स्वीकृत परम्पराओं और मान्यताओं के विरोध में होता है और अपनी अभिव्यक्ति के लिए संस्कृत को छोड़कर प्राकृत भाषाओं को अपनाने की प्रवृत्ति सामाजिक परिवर्तन के कार्य में भाषा और साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका की ओर संकेत करती है। चार्वाक का दर्शन पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धांतों द्वारा अन्याय को सहने और यथास्थिति बनाए रखने के प्रयासों को उस युग (ईसा की तीसरी शती) में सबसे बड़ी चुनौती थी। आधुनिक द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के कितने ही सूत्र चार्वाक के सिद्धान्तों में प्राप्त हो सकते हैं। जब उसने यह कहा कि जब तक जीयें सुखपूर्वक जीना चाहिए, यदि आपके पास साधन नहीं हैं तो दूसरों से ऋण लेकर भी मौज करना चाहिए। श्मशान में शरीर के जल जाने पर किसने उसको लौटते हुए देखा है? तो यह उस सामाजिक व्यवस्था के प्रति तीव्र-प्रतिक्रिया थी जिसके द्वारा आत्मा, पुनर्जन्म, ईश्वर, परलोक और इन पर आधारित पाप-पुण्य का भय दिखाकर सुविधा प्राप्त वर्ग समाज के अधिसंख्य लोगों को अभाव, दीनता, कष्ट और अन्याय को चुपचाप सहते चले जाने के लिए प्रेरित करता रहता था। चार्वाक ने परलोक और स्वर्ग की अवधारणा को पूरी तरह अस्वीकार कर दिया था और तत्कालीन धार्मिक मान्यताओं की खिल्ली उड़ाते हुए कहा था—वेदादि धूर्तों और स्वार्थियों की रचनाएं हैं, जिन्होंने लोगों से धन पाने के लिए ये सब्ज़बाग दिखाए हैं। यज्ञ में मारा हुआ पशु यदि स्वर्ग को जाएगा तो यजमान अपने पिता को ही उस यज्ञ में क्यों नहीं मारता? मरे हुए प्राणियों की तृप्ति कर साधन यदि श्राद्ध होता है तो विदेश जाने वाले पुरुषों को राह खर्च के वास्ते वस्तुओं को ले जाना भी व्यर्थ है। यहां किसी ब्राह्मण को भोजन करा दें या दान दे दें, तो रास्ते में जो आवश्यक होगा, वहीं वह वस्तु उसे मिल जाएगी।

मानव जीवन में इतनी निर्बाध स्थिति पीड़ा की चरम स्थिति और अन्याय की चरम परिणति पर आती है। चार्वाक् विद्वान् दार्शनिक था, परन्तु प्रेमचंद की कहानी 'कफन' के घीसू और माधो अनपढ़ गंवार थे। परलोक की मान्यता के सम्बन्ध में दोनों

का दृष्टिकोण कितना समान है? घीसू कहता है–"कफन लगाने से क्या मिलता है, आखिर जल ही तो जाता है। कुछ बहू के साथ तो न जाता।"

माधो कहता है–"दुनिया का दस्तूर है, नहीं तो लोग बामनों को हज़ारों रुपया क्यों देते हैं। कौन देखता है, परलोक में मिलता है या नहीं।"

चार्वाक का चाहे कोई सम्प्रदाय न चला हो, चाहे उसके विचारों की कोई परम्परा स्पष्ट रूप से इस देश में विकसित न हुई हो, परन्तु उसके मत और तर्क का व्यापक प्रभाव इस दृष्टि से तो दिखाई देता ही है कि पूर्ववर्ती चिंतन-प्रणालियों और आन्दोलनों में तर्क करने और जीवन में प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण का आग्रह बढ़ता चला जाता है।

मध्ययुग के प्रारंभ होते इस देश में ब्राह्मण और शास्त्र पोषित समाज-व्यवस्था की कुरूपता के प्रति जो विरोधभाव पनप रहा था और सामाजिक परिवर्तन की जो आकांक्षा जन-मानस में जन्म ले चुकी थी उसे अनेक तत्कालीन संतों ने अपने साहित्य द्वारा प्रकट किया है। मध्यकाल का इस प्रकार का सबसे प्रभावशाली आन्दोलन भक्ति आन्दोलन था, परन्तु इसके पूर्व के सिद्धनाथ साहित्य में भी, जिसने भक्ति आन्दोलन की पूर्वपीठिका तैयार की, यह स्वर मुखर था। सिद्धों ने प्रचलित धार्मिक रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और सामाजिक असमता पर अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। समाज-व्यवस्था में सबसे निम्न स्तर पर जीने वाली जातियों, जिन्हें सामाजिक-धार्मिक स्तर पर कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं था, के लिए भक्ति सहित, जीवन के अन्य क्षेत्रों में सम्मान और समता की मांग करना सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से सर्वाधिक प्रगतिशील और अग्रगामी मांग थी। महत्व की बात यह है कि इस दोहरे तेवर को लेकर अपने सामने की सभी धार्मिक-सामाजिक और व्यवसायगत दीवारें तोड़ने-फांदते हुए वे लोग आगे आए जो सदियों से उस व्यवस्था में घुटते हुए जी रहे थे।

साहित्य द्वारा सामाजिक परिवर्तन हो सकता है या नहीं और परिवर्तन कितना दूरगामी तथा प्रभावशाली हो सकता है, इस पर विवाद हो सकता है, परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि समाज में अनेक कारणों से आ रहे परिवर्तन को साहित्य शब्द देता है, उसे मुखर करता है, उसकी दिशा बनाता है, परिवर्तन के स्वर को दूर-दूर तक पहुंचाता है, उसे प्रोत्साहित करता है और आने वाली पीढ़ियों के लिए उस प्रयास और स्वर को जीवित रखता है। इसके साथ ही व्यापक परिवर्तनकामी, स्वल्प परिवर्तनकामी, यथास्थितिकामी और परिवर्तन विरोधी शक्तियों के आपसी टकराव का वह दस्तावेज बनता है।

भारतीय जीवन में 'कर्म' के मूल्य की चर्चा इस लेख के प्रारंभ में की गई है। यह मूल्य इस देश की बहुसंख्या के मानस में संस्कार-रूप में व्याप्त है। यह मूल्य हर व्यक्ति की वर्तमान स्थिति का दायित्व उसके पूर्व या इस जन्म के कर्मों पर डालता है। किसी भी व्यक्ति की वर्तमान स्थिति की व्याख्या उसके पूर्व जन्म के कर्मों का हवाला देकर कर दी जाती है। इस स्थिति में किसी भी व्यक्ति की वर्तमान दुर्दशा का कारण निहित स्वार्थों वाली सामाजिक शक्तियां हो सकती हैं, इस ओर हमारा ध्यान नहीं जाएगा, यदि हम इस मूल्य में अपनी आस्था रखते हैं। यह मूल्य हमें दूसरों के कष्टों के प्रति उदासीन और सरोकारहीन भी बनाता है, क्योंकि उनके जो भी कष्ट

हैं उनका कारण स्वयं उनके कर्म हैं। यह दृष्टिकोण व्यक्ति को अपनी स्थिति के प्रति असहाय और दूसरों की स्थिति के प्रति उदासीन बना देता है।

मध्ययुगीन निर्गुण संत 'कर्म सिद्धान्त' में तात्विक रूप से विश्वास करते हुए भी इसकी मूल्यवत्ता को ठुकराते हुए दिखाई देते हैं। कर्म फल के सिद्धान्त को पूरी तरह नकारते हुए नामदेव (दर्जी), कबीर (जुलाहा), दादू (धुनिया), रविदास (चमार), सैन (नाई), नाभादास (डोम), सदना (कसाई), धन्ना (जाट) आदि छोटी समझी जाने वाली जातियों के लोग भक्ति के क्षेत्र में घुसकर अपने अधिकार और अपनी समता-समकक्षता का दावा करने लगते हैं। नामदेव कहते हैं–

नाना वर्ण गंवा उनका एक वर्ण दूध।
तुम कहां के ब्रह्मन हम कहां के सूद।।

तो कबीर उनसे दो कदम और आगे जाकर कहते हैं–

जौ तू ब्राह्मण ब्रह्माणी जाया।
तउ आन बाट काहे नहीं आया।।
तुम कत ब्राह्मण हम कत सूद।
हम कत लोहू तुम कत दूध।।

प्राचीन भारतीय समाज की संरचना में यह बात बहुत महत्वपूर्ण है। शिक्षा देने का अधिकार ब्राह्मण वर्ग का एकान्तिक अधिकार था। अन्य वर्णों को वह अपनी इच्छा और सुविधानुसार शिक्षा देता था। वणिक थोड़ी-सी व्यावहारिक शिक्षा तक सीमित था और शूद्र तो इस परिधि में आता ही नहीं था। इस प्रकार समाज की सम्पूर्ण बौद्धिक सक्रियता का केन्द्र एकमात्र ब्राह्मण था।

बौद्ध और जैन युग से ही शिक्षा पर ब्राह्मण के एकान्तिक अधिकार को चुनौती मिलने लगी थी। इन धर्मों के अनेक विद्वान् अब्राह्मण जातियों। से आये। भक्तिकाल में तो ब्राह्मण की (पुस्तकीय) शिक्षा को बार-बार झुठलाया गया है–

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोई।
(कबीर)

निस लोगों को शिक्षा से वंचित करके ज्ञानहीन रखा गया था, उन में एकाएक ज्ञान की पिपासा बढ़ जाती है, परन्तु यह ज्ञान ब्राह्मण की शिक्षा से नहीं मिल सकता था, क्योंकि वह उसे इसका अधिकारी ही नहीं मानता था। इसलिए ज्ञान का माध्यम बना 'गुरु' और उसकी कसौटी बना 'आत्मानुभव'–

सफल जनमु मोकउ गुरु कीना। दुख बिसारि सुख अंतरि लीना।
गिआन अंजनु मोकउ गुरि दीना। राम नाम बिनु जीवन हीना।।

और आत्मानुभव की दृष्टि से कबीर कहते हैं–

मैं कहता आंखिन की देखी।
तू कहता कागद की लेखी।।

इसीलिए उनका दावा है कि अनुभवजन्य ज्ञान से वे चीज़ों को सुलझा लेते हैं जबकि पुस्तक-शिक्षा का अभिमानी पंडित तो मात्र चीजों को उलझाता ही है–

मैं कहता सुरझावन हारी, तू राख्यो उरझाई रे।

निर्गुण धारा को सामान्यतः हिन्दी में 'ज्ञानमार्गी' धारा कहते हैं। कितने अचम्भे की बात है कि पंडितों की दृष्टि में 'अशिक्षित' और 'अज्ञानी' लोग 'ज्ञानी' होकर शास्त्रीय विद्वता को नकारते हुए कहने लगे कि ब्राह्मण वह है जो ब्रह्म का विचार करता है, न कि पोथियों को रटता रहता हैं।

भारतीय समाज-रचना मूलतः 'पवित्र' ढंग की रचना रही है। यहां की धार्मिक शिक्षाएं 'लौकिक' पर 'अलौकिक', 'इहलोक' पर 'परलोक' की श्रेष्ठता सिद्ध करती रही हैं, परन्तु आधुनिक काल का प्रारम्भ होते ही, मुख्यतः पश्चिमी जीवन-पद्धति के सम्पर्क में आने के बाद 'लौकिक' मूल्यों का महत्व स्वीकार किया जाने लगा। 'पवित्र' समाज मूलतः आस्थावान् श्रद्धालु समाज होता है और लौकिकता की ओर अग्रसित समाज विचार और तर्क को साथ लेकर चलता है। हमारे साहित्य में 'मध्ययुगीन पवित्रता' से 'आधुनिक लौकिकता' की ओर से संचरण के संकेत बहुत धीरे-धीरे उपलब्ध होने शुरू होते हैं। उसका कारण भी स्पष्ट है। यह समाज मूलतः परिवर्तन का प्रतिरोधी समाज है।

सामाजिक परिवर्तन की सर्वप्रथम पहचान व्यक्ति के मानसिक परिवर्तन से उत्पन्न होती है। व्यक्ति मन में स्थापित मान्यताओं के प्रति जब शंका, प्रश्न और नकार उत्पन्न होना प्रारम्भ हो जाता है तो परिवर्तन की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। यह शंका, प्रश्न और नकार और फिर एक स्वस्थ, अन्याय और शोषणविहीन समाज बनाने की आकांक्षा इस प्रक्रिया को तीव्र करती है। प्रेमचंद के अनेक पात्रों में स्थापित मूल्यों और मान्यताओं के प्रति हलकू का यह प्रश्न और शिकायत उमड़ती रहती हैं–'मजूरी हम करें और मजा दूसरे लूटें।'

(पूस की रात)

समकालीन साहित्य में सामाजिक परिवर्तन के विविध संदर्भों के अनेक मुखी चित्र उपलब्ध हैं। आज का लेखक परिवर्तन का दर्शक या लेखा-जोखा रखने वाला ही नहीं है। वह परिवर्तन की प्रक्रिया का सक्रिय सहभागी बनना चाहता है। इसी बिन्दु पर साहित्य और सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध गहरे अन्तर्संबंध में बदलता है।

(दैनिक जागरण, 25 सितम्बर, 2003)

50
कितने जीवन्त प्रश्न उभार देती है—'तापसी'

हमारा अधिकांश साहित्य मानवीय सम्बन्धों के बदलते समीकरणों के आसपास घूमता रहता है। इसमें भी स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के विविध रंगों का विश्लेषण करना लेखकों का प्रिय क्षेत्र है। सामाजिक विषयों को अपने लेखन का आधार बनाना प्रारम्भ से ही हमारे लेखकों को आकर्षित करता रहता है। प्रेमचंद के 'सेवासदन' से लेकर प्रताप सहगल के 'अनहदनाद' तक असंख्य उपन्यास अपनी-अपनी परिधि में विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर अपनी तीखी नज़र डालते हैं। प्रगतिशीलता के दौर में सर्वहारा वर्ग की आर्थिक विपन्नता और उसके शोषण पर मार्क्सवादी दर्शन के प्रकाश में लेखकों ने बहुत कुछ लिखा, किन्तु एक क्षेत्र ऐसा है, जिस पर इस देश में बहुत कुछ लिखा जा सकता है और हमारे लेखकों ने उस पर बहुत कम लिखा है और यदि लिखा भी है तो अपनी उंगलियों को बहुत सिकोड़कर उसे अपनी रचनाओं में मात्र एक प्रसंग भर बनाया है।

यह क्षेत्र है धर्म और उसके नाम से प्रचलित अनेक प्राचीन परम्पराओं, रूढ़ियों, मान्यताओं, विश्वासों का पूरी तरह अमानवीय हो चुका स्वरूप। इस क्षेत्र में अपना एक विशाल तंत्र है। इसमें साधु-संन्यासी हैं, उनके मठ हैं, आश्रम हैं, उनकी आपसी प्रतिद्वंद्वताएं हैं, जो शत्रुता तक पहुंच जाती हैं। निरासक्त समझे जाने वाले लोगों की असंख्य आसक्तियां हैं, यौन-विकृतियां हैं और अपने क्षेत्र में प्रभुता स्थापित करने, वहां अपनी सत्ता जमाने के लिए ऐसे लोग वह सब कुछ कर सकते हैं जो भ्रष्ट व्यापारी करते हैं, घोटालों में लिप्त राजनीतिक कर्मी करते हैं अथवा अपराध की नदी में आकंठ डूबे अंडरवर्ल्ड के लोग करते हैं।

इस स्थिति की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि यह सब कुछ धर्म की चादर के नीचे होता है। इस संसार में तर्क और विवेक की भूमिका बहुत कम है। यहां श्रद्धा और (अंध) विश्वास का ही बोलबाला होता है और 'पाप' का गहरा अहसास इनकी सोच पर पूरी तरह छाया रहता है।

अनेक वर्ष पहले मैंने 'देवदासियों' के करुण जीवन पर एक उपन्यास पढ़ा था। वर्षों बाद मैंने कुसुम अंसल का हाल में ही प्रकाशित उपन्यास 'तापसी' पढ़ा जो ब्रजभूमि में रहने वाली विधवाओं की त्रासदी को बड़े मार्मिक ढंग से उभारता है।

हमारी कुछ परम्पराएं बहुत अमानवीय हैं जिन्हें हम सदियों से झेलते ही नहीं रहे हैं, कभी-कभी उन्हें गौरवान्वित भी करते रहते हैं। इनमें से एक सती प्रथा है। मृत पति की देह के साथ उसकी जीवित पत्नी को भी चिता की भेंट चढ़ा देना, पता नहीं किन सामाजिक परिस्थितियों में प्रारम्भ हुआ होगा। प्रारम्भ में इस क्रिया के साथ थोड़ी-बहुत स्वीकृति पत्नी की भी रही होगी। बाद में यह एक घिनौनी रूढ़ि बन गई और स्त्रियों को जबरदस्ती अग्नि की भेंट किया जाने लगा। उनकी चीख-पुकार सुनाई न दे इसलिए वहां ढोल-नगाड़े बजाए जाने लगे।

विधवाओं की त्रासदी भी इसी समस्या का दूसरा पहलू है। पति की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी कुमार्गी न बन जाए इस भय से उसे मृतपति के साथ जीवित जला देने की प्रवृत्ति विकसित हुई होगी। वैसे तो सम्पूर्ण देश ही इस व्याधि से ग्रसित रहा है, किन्तु बंगाल इसमें सबसे आगे रहा है। सती प्रथा के गैर कानूनी घोषित किए जाने और ईश्वर चंद्र विद्या सागर जैसे समाज-सुधारकों के प्रयासों के कारण वह प्रथा तो लगभग समाप्त हो गई किन्तु विधवाओं की समस्या से, उसे आज तक छुटकारा नहीं मिला है। बंगाल की ऐसी असंख्य विधवाएं, कुछ स्वेच्छा से, अधिक संख्या में बाध्य होकर अपना घर-बार छोड़कर पुण्य कमाने के लोभ में या तो काशी आती हैं अथवा ब्रजभूमि में। काशी के सम्वन्ध में तो बड़ी प्रचलित उक्ति है–

रांड सांड सीढ़ी संन्यासी
इनसे बचे तो पावै कासी

आज भी इन विधवाओं की कैसी दयनीय स्थिति है, इस विषय पर कुसुम अंसल ने उपन्यास लिखा है वह पाठक को पूरी तरह झकझोर देता है। एक जागरूक व्यक्ति यह सोचने पर बाध्य हो जाता है कि सारी शिक्षा, वैज्ञानिकता, आधुनिकता और सामाजिक सुधार के सभी दावों के बावजूद ब्रजभूमि में बसेरा बनाए अगणित विधवाओं की वह स्थिति है जिसे लेखिका ने अपने उपन्यास में चित्रित किया है?

लेखिका का दावा है कि उसने पिछले छह वर्षों में वृन्दावन और गोवर्धन की गलियों, सड़कों, मंदिरों और आश्रमों के गलियारों में पैदल चल-चलकर वहां की वास्तविकता को निकट से जाना ही नहीं, अनुभव भी किया। उसने बहुत-सी स्त्रियों से जो मंदिर में जाप कर रही थीं या सड़क के किनारे बैठी भीख मांग रही थीं, बातचीत की और यह जानना चाहा कि उनके जीवन का सच क्या है।

उपन्यास की कहानी उसी तरह जन्म लेती है जैसे इस रचना के लिए उसे लेना चाहिए। तापसी बंगाल के गांव की एक अभागी लड़की है। वेश्या-पुत्री होने के कारण मां द्वारा त्याग दी गई। रिश्ते के एक काका द्वारा पाली गई। वह पढ़ना चाहती है किन्तु धन के लोभ में उसका विवाह एक ऐसे वृद्ध व्यक्ति से कर दिया जाता है, जिसमें पुंसत्व (पौरूष) समाप्त हो चुका है। समय अपनी निर्धारित दिशा ग्रहण करता है। दो वर्ष बाद ही बूढ़े पति की मृत्यु हो जाती है। उसकी धन-सम्पत्ति पर दूर-दराज़ के रिश्तेदार कब्जा कर लेते हैं। वैधव्य जीवन जीने के लिए यह जाती है तापसी जिसे वृंदावन के एक आश्रम में लाकर छोड़ दिया जाता है।

इस बिन्दु पर आकर उपन्यास समस्या की उन अंधेरी-संकरी गलियों में प्रवेश करता है, जो इस रचना का सही मन्तव्य है। इस संसार में महंत हैं, पंडे-पुजारी हैं, धनी-मानी सज्जनों द्वारा बनवाए आश्रम हैं, पूजा-पाठ की भरमार है, पग-पग पर ब्रजबिहारी कृष्ण की लीलाओं की चर्चा है। आश्रमों की चालाक और क्रूर व्यस्थापिकाएं हैं। वहां तापसी जैसी बहुत-सी विधवाएं हैं। सबके बाल कटे हैं। सभी से यह अपेक्षा की जाती है कि वे एक निश्चित अवधि तक भजन-कीर्तन करें। यह एक शर्त है। शर्त पूरी होने पर भी उन्हें आधा पेट भोजन नहीं मिलता। अंबिका देवी जैसी प्रबंधिकाएं अपनी लोलुपता और क्रूरता से निरंकुश होकर शासन करती हैं। कुछ दानी लोग अपनी-पाप मुक्ति के लिए वृंदावन की इन विधवाओं के लिए धन, अनाज, वस्त्र आदि देते हैं, वे ज़रूरतमंद विधवाओं तक नहीं पहुंचते। बीच के दलाल उन्हें हड़प जाते हैं। विधवाएं नारकीय जीवन जीने के लिए अभिशप्त हैं।

जब तापसी को वृंदावन लाया गया था, उससे कहा गया था कि वहां रहने वाली विधवाओं को वैकुंठ मिलता है। यह भगवान का घर है। इस पवित्र भूमि पर वास करने से अगले-पिछले सब पाप धुल जाते हैं।

किन्तु तापसी यहां आकर क्या अनुभव करती है। एक स्थान पर अंबिका देवी कहती हैं—यहां मठों के महन्त, साधू, बाबा लोग बड़े काइयां हैं। उनके नीचे उनके गुंडे हैं, शिष्यों के नाम पर पूरा एक जाल बना हुआ है। ये लोग क्या नहीं करते—गांजा, चरस का धंधा...अफीम और हथियार कुछ भी। ये लोग जिसकी चाहें दिन दहाड़े हत्या कर देते हैं। कैसे-कैसे कुकर्म करते हैं, अपने भगवा कपड़ों के नीचे। बलात्कार तो च्यूंटी मसल देने जैसा कार्य है उनके लिए।

'तापसी' एक उपन्यास मात्र नहीं है। वह एक ऐसा समाज-शास्त्र है जो हमें उन सामाजिक विषमताओं के मध्य ले जाता है जिनमें हमें धर्म के आवरण के पीछे की वे अमानवीय क्रियाएं दिखाई देती हैं जिनसे हमारे मन में श्रद्धा नहीं वितृष्णा पैदा होती है। कुछ धनी-मानी लोग धर्म के नाम पर जो दान-दक्षिणा देते हैं उन्हें यह देखने की न रुचि है और न समय है कि उनके दान का किस प्रकार उपयोग हो रहा है। वे संभवतः इस तृप्ति से जीते हैं कि उन्होंने धर्म के नाम पर दान दे दिया है, यही उनका संतोष है। उसका किस प्रकार उपयोग (या दुरुपयोग) होता है इससे उनका कुछ लेना-देना नहीं है।

'तापसी' का दो तिहाई से अधिक भाग बड़े कलात्मक ढंग से ब्रजभूमि में चाहे-अनचाहे ढंग से लाई गई विधवाओं और उनके शोषण (यौन शोषण भी) का चित्रण करता है। अंत के एक तिहाई भाग में लेखिका ने सारे कथानक को एक सकारात्मक दिशा की ओर मोड़ा है। 'तापसी' के जीवन में एक मोड़ आता है। उसकी भेंट जयमाला नाम की एक (भूतपूर्व) अभिनेत्री से होती है जो वृंदावन में एक स्कूल चलाना चाहती है। उसे उस स्कूल में काम करने का अवसर मिल जाता है। तापसी को लगता है कि अब उसे नारकीय जीवन से मुक्ति मिल जाएगी। वह पढ़ाई-लिखाई करती है और योग्यता अर्जित करती है। उसमें आत्म-विश्वास जागता है। जयमाला का उसके जीवन में आना एक चमत्कार जैसा है। उसे अधिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए अमेरिका जाने का अवसर मिलने की पूरी संभावना बढ़ जाती है।

यहीं फिर से उसका दुर्भाग्य उसके आड़े आ जाता है। पहले वह उस समय ठगी गई थी जब उसके काका ने उसे एक वृद्ध और बीमार व्यक्ति के हाथों बेच दिया था। फिर वह वृंदावन में आकर भगवान के दलालों द्वारा ठगी जाती रही। फिर उसे एक संभ्रान्त महिला का सान्निध्य मिल गया। उस सान्निध्य ने उसे पढ़ने-लिखने और अपना व्यक्तित्व निखारने का अवसर दिया, किन्तु उसे यहीं आकर जीवन का सबसे बड़ा आघात लगता है। विदेश जाने की आकांक्षा लिए वह एक मूर्च्छित अवस्था में अस्पताल पहुंच जाती है। बाद में उसे पता लगता है कि आप्रेशन द्वारा उसकी एक किडनी निकाल कर जयमाला की भतीजी वसुन्धरा को लगा दी गई है। उसके साथ ऐसा धोखा हुआ है, इसका उसे कोई आभास नहीं था। यह आघात ही उसका जीवन ले लेता है।

किन्तु यह घटना इस उपन्यास की न तो मुख्यधारा है, न ही उसका संवेद्य है। उपन्यास का यह अंश किसी और ढंग से भी लिखा जा सकता था, तापसी की यातनाभरी मृत्यु किसी व्यक्ति के धोखे भरे व्यवहार की बजाए वृंदावन के परिवेश में ही संत्रास झेलते और उसी में कुछ सकारात्मक करते हुए होती तो रचना का समग्र प्रभाव कहीं अधिक सघन होता।

एक समर्थ उपन्यास के रूप में 'तापसी' की गणना आज के गिने-चुने उपन्यासों में निश्चित ही की जाएगी, किन्तु इस उपन्यास के माध्यम से लेखिका ने जो प्रश्न उभार दिए हैं उनका महत्व रचना की कलात्मक गुणवत्ता से कहीं अधिक है।

(दैनिक जागरण, 4 दिसम्बर, 2003)

51

सदैव संघर्ष में जीती हैं लघु पत्रिकाएं

निजी प्रयासों से, साहित्य के प्रति समर्पित, किसी पत्रिका को आमतौर पर लघु पत्रिका कहा और समझा जाता है। इसके मूल में व्यक्तिमन की वह अकुलाहट होती है जिसमें वह कुछ कहना चाहता है, अपने समानधर्मी रचनाकारों को एक मंच देना चाहता है, अभिव्यक्ति के नए आयाम खोलना चाहता है, किन्तु उसे इसकी सुविधा प्राप्त नहीं होती। उस समय वह अपनी पत्रिका निकालकर उस घुटन से बाहर निकलने का प्रयास करता है।

ऐसी पत्रिका का प्रकाशन एक जुनून है, एक हठ है। यह जुनून या हठ जब तक बना रहता है, पत्रिका निकलती रहती है। जिस दिन (मुख्यतः) आर्थिक संकटों की चट्टान से टकराकर जुनून और हठ की नौका टूटने लगती है तो पत्रिका का ढांचा भी चरमराने लगता है। 37 वर्ष से निरन्तर ऐसी चट्टानों से टकराते, टूटी नाव की मरम्मत कराते, उसे किसी प्रकार खेते हुए मैं संचेतना को जीवित रखे हुए हूं।

इसमें शायद ही किसी की असहमति हो कि स्वतंत्रता के पश्चात् हिंदी साहित्य और पत्रकारिता में लघु-पत्रिकाओं की सतत संघर्ष यात्रा का अपना विशिष्ट योगदान है। हिन्दी पत्रकारिता मिशन से व्यवसाय की ओर अग्रसित होती है। 'उदंत्त मार्तड' (1826) से आज तक की यात्रा इस तथ्य को रेखांकित करती है। स्वतंत्रता पूर्व की सभी पत्रिकाएं अपने चरित्र में चाहे पूरी तरह लघु पत्रिकाएं न रही हों, साहित्य के प्रति उनका समर्पण भाव असंदिग्ध था। पत्रकारिता में बड़ी-बड़ी पूंजी वाले संस्थानों का प्रवेश गत पांच दशक में हुआ। ब्रिटिश संस्थान बेनेट कोलमैम एंड कंपनी को साहू जैन परिवार द्वारा खरीदा जाना और बिड़ला जैसे विशाल पूंजी वाले संस्थान के हाथों

में जब हिन्दुस्तान टाइम्स ग्रुप आ जाता है तो उसमें एक नए युग का प्रारम्भ होता है। मूलतः ये अंग्रेजी आधारित संस्थान हैं। टाइम्स ऑफ इंडिया और हिन्दुस्तान टाइम्स इनकी रीढ़ हैं, किन्तु बिड़ला और साहू जैन का हिन्दी से जुड़े परिवार होने के कारण, अंग्रेजी की छाया में हिन्दी व्यावसायिक पत्रकारिता भी पनपने लगी।

इसी विन्दु से लघुपत्रिकाओं की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। व्यावसायिक संस्थानों से निकलने वाली पत्रिकाएं-'धर्मयुग', 'सारिका', 'दिनमान', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', कादंविनी अपने साथ पूरी चमक-दमक लेकर आईं। ये केवल साहित्यिक पत्रिकाएं ही नहीं थीं। इनमें समसामयिक राजनीति के साथ ही फैशन, घर-गिरस्ती, बच्चों, महिलाओं की रुचि की चीज़ें भी थीं। रहस्य और रोमांच का मसाला भी था। इन पत्रिकाओं के कारण हिन्दी पाठक संसार का मध्य वर्ग, जो स्वतंत्रता के पश्चात् तेजी से पनप रहा था, पत्रिकाओं की ओर आकर्षित हुआ और इनकी वितरण संख्या बढ़ने लगी। किसी पत्रिका का एक लाख से अधिक छपना अजूबा नहीं रहा।

पहले हिन्दी का लेखक होना, 'सरस्वती', 'विशाल भारत' या 'माधुरी' जैसी पत्रिकाओं में छपना सम्मान की बात तो हो सकती थी, उसमें किसी प्रकार का 'ग्लैमर' नहीं था और न ही पारिश्रमिक का आकर्षण था। इन व्यावसायिक पत्रिकाओं ने ये दोनों बातें दीं। साहित्यिक गुटबाजी लेखकों की आपसी उठा-पटक, उपलब्धियां भी इन पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं।

साहित्य को बाज़ार का रूप देने में इन पत्रिकाओं ने पूरी भूमिका निभाई। संपादक की कुर्सी अब एक बड़े बॉस की कुर्सी बन गई। बिना अपाइन्टमेंट लिए उसको मिलना मुश्किल हो गया। सामान्य और उभरते हुए लेखक से वह बहुत दूर हो गया।

उन स्थितियों में लघु-पत्रिकाओं ने एक समानान्तर संसार की रचना की। उनकी पृष्ठ संख्या कम थी, छपाई साधारण थी, रंग-विरंगापन पूरी तरह गायब था, इनमें प्रकाशित होने वाले लेखकों में उस समय के बहुचर्चित लेखकों के नाम नहीं थे और पारिश्रमिक के नाम पर छप जाने का संतोष भर था। उन्होंने ऐसे मुद्दे उठाने प्रारम्भ किए जो न गर्वीले संपादकों के लिए सुविधाजनक थे, न स्थापित लेखकों के लिए। प्रारम्भ में ऐसे संपादकों और स्वनाम धन्य लेखकों ने ऐसी पत्रिकाओं के प्रति नाक-भौं चढ़ाईं, उसे उपेक्षा की नज़र से देखा, फिर फब्तियां कसीं, फिर समझौते की मुद्रा बनाई।

मुझे सातवें दशक के प्रारंभिक वर्षों का स्मरण होता है। उस समय कहानी का बाज़ार बहुत चमका हुआ था। श्रीपत राय की 'कहानी' और भैरव प्रसाद गुप्त की 'नई कहानियां' उस बाज़ार में सक्रिय भूमिका निभा रही थीं। धर्मयुग, सारिका, साप्ताहिक हिन्दुस्तान जैसी पत्रिकाएं कहानी की चर्चा को खूब गर्मा रही थीं। उसी समय कहानी के क्षेत्र में कुछ लेखकों की छवि इस प्रकार उभरी जैसे हिन्दी की कथा-सृष्टि के जन्म, पोषण और विनाश का पूरा दायित्व इन्हीं पर आ गया है। अजीब-सा घुटन-भरा माहौल साहित्य-जगत् में दिखाई देने लगा।

हिन्दी में साहित्यिक अवदान के लिए हैदराबाद से प्रकाशित 'कल्पना' का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। उसका संचालन बद्री विशाल पित्ती जैसे धनी-मानी सज्जन करते

थे। आर्थिक संकट के कारण कुछ समय पश्चात् वह भी अपना दम तोड़ बैठी।

उस समय रामावतार चेतन मुंबई से 'आधार' नाम की लघु पत्रिका निकालते थे। उनके सहयोग से मैंने आधार का सचेतन कहानी विशेषांक प्रकाशित किया। नई कहानी आंदोलन की गुटबंदी और उसकी वैचारिक विशृंखलता के विरुद्ध उस समय 'सचेतन कहानी' की चर्चा प्रारम्भ हो चुकी थी। इस विशेषांक ने सम्पूर्ण हिन्दी जगत् का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। उसी के पश्चात् संचेतना का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ।

छठे-सातवें दशक की दो लघु-पत्रिकाओं 'लहर' और 'वातायन' की लघुपत्रिका आन्दोलन में विशिष्ट भूमिका को कभी भुलाया नहीं जा सकता। आज ये दोनों पत्रिकाएं जीवित नहीं हैं, किन्तु इनके प्रकाशकों-संपादकों ने जितने श्रम और अध्यवसाय से वर्षों तक इनका संचालन किया था, वह आज भी आदर्श है।

पत्रकारिता के क्षेत्र में व्यावसायिक होड़ निरन्तर बढ़ी है। आज वह चरम पर है। बड़े प्रतिष्ठानों के संचालकों की वह ज्येष्ठ पीढ़ी जिसे भाषा और साहित्य से कुछ लगाव था, आज हमारे बीच नहीं है। इन प्रतिष्ठानों का संचालन जिस पीढ़ी के हाथों में आ गया है, वह शुद्ध व्यावसायिक है। इस देश में आज भी कुछ प्रतिष्ठानों की स्थिति ऐसी है कि उसके अंग्रेजी दैनिक पत्र तो कमाऊपूत हैं। टाइम्स ऑफ इंडिया में नवभारत टाइम्स, हिन्दुस्तान टाइम्स में दैनिक हिन्दुस्तान और इंडियन एक्सप्रेस में जनसत्ता आज भी परजीवी बनकर जीते हैं। इस पीढ़ी को साहित्य और संस्कृति से कुछ लेना-देना नहीं है। अर्थोपार्जन ही इनका एकमात्र इष्ट है। जब इन्होंने देखा कि इनकी नियतकालीन पत्रिकाएं पर्याप्त लाभ नहीं दे रही हैं तो उनका प्रकाशन बंद कर दिया जाए।

किसी भी अव्यावसायिक लघु पत्रिका की कुछ कठोर सच्चाइयां हैं। इन पर व्यय होने वाला कम-से-कम धन भी इतना अधिक होता है कि किसी एक व्यक्ति अथवा दो-चार मित्रों का संयुक्त प्रयास भी इसे लम्बी आयु देने में सक्षम नहीं होता। ऐसी पत्रिकाओं को प्रारम्भ में, निजी सम्बन्धों के कारण, कुछ विज्ञापन मिल जाते हैं। धीरे-धीरे उनका मिलना भी बंद हो जाता है। सरकारी विज्ञापनों की इतनी औपचारिकताएं हैं कि उन्हें पूरा कर सकना लघुपत्रिका के सीमित साधनों से बहुत दूभर कार्य है। इनकी वितरण संख्या एक-दो हज़ार से अधिक नहीं हो सकतीं। इन्हें बुक स्टालों और एजेन्टों द्वारा वितरित करना भी घाटे का सौदा होता है, क्योंकि इस व्यवस्था को बनाने का खर्च ऐसी पत्रिकाएं नहीं उठा सकतीं। ऐसी पत्रिकाओं के जितने नियमित सदस्य होंगे, जितने पुस्तकालयों में इनकी सदस्यता होगी और कुछ गिने-चुने बुक-स्टालों पर बिक्री और वापसी (सेल एंड रिटर्न) की शर्त पर रखी प्रतियों से जो धन मिलता है—वही इनकी आय का साधन है। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ऐसी पत्रिकाओं की कुछ प्रतियां खरीद कर हिन्दीतर भाषी क्षेत्रों में वितरित करता है। यह सहायता भी ऐसी पत्रिकाओं को कुछ पोषण देती है।

केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों, प्रकाशन संस्थाओं आदि बड़े

संसाधनों से जो पत्रिकाएं निकलती हैं, उनका हाल भी अच्छा नहीं है। सही अर्थों में इन संस्थाओं से निकलने वाली पत्रिकाएं लघु पत्रिकाएं नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि इन्हें वैसा आर्थिक संघर्ष नहीं झेलना पड़ता जो लघु-पत्रिकाओं की अनिवार्य नियति है।

लघु पत्रिकाएं नए उभरते हुए लेखकों को मंच देने का महत्वपूर्ण कार्य करती हैं। संचेतना ने अपनी पूरी अवधि में अगणित उभरते हुए लेखों को मंच दिया। आज हिन्दी के अनेक प्रतिष्ठित कवि, कहानीकार, आलोचक, समीक्षक वे हैं, जिन्हें पहली बार संचेतना के माध्यम से अपने आपको अभिव्यक्ति करने का अवसर मिला था। ऐसे बहुत से लेखक आज भी संचेतना के साथ जुड़े हुए हैं, किन्तु इसके प्रकाशन संसाधनों का प्रबंध करने के लिए मुझे आज भी बहुत तनाव और दबाव झेलना पड़ता है।

यह बात मुझे संतोष देती है कि वैचारिक चिंतन की दृष्टि से संचेतना ने कभी कोई समझौता नहीं किया। हमने अभिव्यक्ति की स्वाधीनता की बात आपातकाल के उन काले दिनों में भी खुलकर की थी, जब लोगों के मुंह पर ताले लग गए थे। इस विषय पर 'संचेतना' का एक विशेषांक भी प्रकाशित हुआ था। हिन्दी में दलित साहित्य की चर्चा को उभारने और उसके एक लिए मंच बनाने का काम भी संचेतना ने लगभग बीस वर्ष पूर्व दलित साहित्य पर एक विशेषांक प्रकाशित करके किया था।

इस समय भी संचेतना के प्रत्येक अंक में एक महत्वपूर्ण मुद्दे पर अनेक विचारकों के अभिमत आमंत्रित कर परिचर्चा की जाती है। ये मुद्दे साहित्य से भी सम्बन्धित होते हैं और साहित्येतर विषयों से भी।

अपने चार दशक के अनुभव में एक बात कह सकता हूं। नई शताब्दी में जिस प्रकार की व्यावसायिक दौड़ है और साहित्य की अपेक्षा 'इलेक्ट्रानिक मीडिया' लोगों पर सर्वग्रासी प्रभाव डाल रहा है उसमें लघु-पत्रिकाओं का कोई भविष्य नहीं है, किन्तु यह भी निश्चित है कि ऐसी पत्रिकाओं का निकलना बंद नहीं होगा। जुनूनी और हठी व्यक्ति सभी समयों में जन्म लेते हैं—आज भी हैं और भविष्य में भी होंगे। वे ऐसी पत्रिकाएं निकालेंगे और घर फूंक तमाशा देखने से उन्हें कोई रोक नहीं सकेगा।

(दैनिक जागरण, 27 नवम्बर, 2003)

52

जारी है साहित्य की गतिशीलता

गत् वर्ष राजनीतिक गहमा-गहमी से भरा वर्ष था, किन्तु साहित्य की दृष्टि से भी यह वर्ष कम गतिशील नहीं रहा। इस वर्ष दो उपन्यास खासे चर्चा में रहे, कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' और चित्रा मुद्गल का 'आवां'। दोनों ही पुरस्कृत भी हुए। आवां को के.के. बिड़ला फाउंडेशन का 'व्यास' सम्मान प्राप्त हुआ और 'कितने पाकिस्तान' को इस वर्ष का साहित्य अकादमी पुरस्कार मिल गया। इस वर्ष और भी अनेक पुस्तकें चर्चा में रहीं। देवेंद्र इस्सर के वैचारिक निबंधों का संग्रह 'कोई आवाज गुम नहीं होती' हिमांशु जोशी का कहानी-संग्रह 'इस बार बर्फ गिरी तो, 'प्रभाकर श्रोत्रिय के 'वागर्थ' मासिक में लिखे गए लेखों का संग्रह 'समय का विवेक' भी साहित्य अकादमी का पुरस्कार पाने की दौड़ में थे। कुछ अन्य पुस्तकों ने भी पाठकों का ध्यान आकर्षित किया।

आजकल लेखक, प्रकाशक, पुस्तक-विक्रेता और पाठक—सभी अनुभव कर रहे हैं कि पुस्तकों के पठन-पाठक की रुचि निरंतर घट रही है। सामान्यतः इस बात के लिए 'इलेक्ट्रॉनिक मीड़िया' को दोषी ठहराया जाता है। कहा जाता है कि लोग अपनी फुर्सत का समय टेलीविजन के कार्यक्रम देखते हुए गुजार देते हैं। विशेष रूप से महिलाओं को तो टी.वी. पर प्रसारित होने वाले धारावाहिकों की लत-सी पड़ गई है। पहले यह समय पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं को मिल जाया करता था। फिर भी नई-से-नई पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं और पाठकों द्वारा पढ़ी और सराही जा रही हैं। ऐसी ही दो पुस्तकों की मैं यहां चर्चा करना चाहता हूं। इस वर्ष डॉ. नरेन्द्र मोहन की निजी डायरी पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई है—'साथ-साथ मेरा साया।' इसमें उन्होंने गत तीन दशकों से अधिक (1967-2001) के समय को अपनी डायरी के रूप में लिखा है। डॉ. नरेन्द्र मोहन हिंदी के जाने-माने कवि, आलोचक नाटककार हैं और साहित्यिक सरोकारों में जीने वाले व्यक्ति हैं।

हिन्दी में बहुत कम ऐसे रचनाकार हैं जो साहित्य-कर्म को इतनी गंभीरता से लेते हैं और उसमें सातत्य बनाए रखते हैं। डॉ. नरेन्द्र मोहन का यह वैशिष्ट्य है। हिन्दी में लघुविधाओं (डायरी, आत्मकथा, रेखाचित्र, यात्रा-वृत्तांत, संस्मरण आदि) में लिखने की परम्परा तो हैं, किन्तु साहित्यिक-क्षेत्रों में इसे कभी अधिक गंभीरता से नहीं लिया गया। इसे यूं भी कहा जा सकता है कि इन विधाओं को कभी गंभीर साहित्य-कर्म माना ही नहीं गया। इस दृष्टि से डॉ. नरेन्द्र मोहन की यह कृति बरबस हमारा ध्यान आकर्षित करती है।

आत्मकथा और डायरी लेखन का सबसे बड़ा संकट यह है कि वह लेखक के व्यक्तित्व प्रकाशन का सर्वाधिक प्रामाणिक माध्यम है। उसमें समकालीन घटनाओं, पात्रों, अनुकूल प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं का लेखा-जोखा होता है, निजी जीवन से संबंध रखने वाली कितनी ही बातों का खट्टा-मीठा स्वाद होता है। इसलिए ऐसी रचनाओं में इस कलात्मक तटस्थता और वस्तुपरकता की कमी का आभास होने लगता है, जो किसी भी अच्छी साहित्यिक कृति का अपना गुण होता है। डॉ. नरेन्द्र मोहन डायरी विधा की इन सीमाओं और संकटों से परिचित हैं, यह इस पुस्तक को पढ़ते समय अनुभव होता है। सातवें-आठवें दशक में साहित्य में मार्क्सवाद की बड़ी चर्चा थी और हर कृति को मार्क्सवादी कसौटी पर कसा जाता था। उन्हीं दिनों का संदर्भ लेते हुए डॉ. नरेन्द्र मोहन ने अपनी डायरी में लिखा, ''हर आलोचना से किसी समाधान या निष्कर्ष की उम्मीद करना या उसे पूरी तरह से कम्युनिस्ट सिद्धांतों पर निर्भर मानना, जार्ज लुकाच (मार्क्सवादी चिंतक) के अनुसार कट्टरपंथी दृष्टिकोण है। इस तरह का दृष्टिकोण तभी उभरता है, जब कवि और आलोचक अपने आपको चारों ओर से बंद करके जीवन के बजाय सिद्धांत को सर्वोपरि मान बैठता है और फतवे देना शुरू कर देता है।''

डॉ. नरेन्द्र मोहन ने 26 जून, 1975 में तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी द्वारा लागू की गई आपातकालीन स्थिति के कुछ प्रसंग अपनी डायरी में दिए हैं। यह बात कितनी विचित्र लगती है कि उस समय कुछ लेखकों ने आपातकाल का समर्थन करते हुए वक्तव्य दिया था। वह डायरी ही क्या जिसमें निजी संबंधों को लेकर खट्टे-मीठे अनुभव न हों, व्यक्तियों के संबंध में नितांत निजी विचार और टिप्पणियों न हों? हम अपनी डायरी में कुछ भी लिख सकते हैं, किन्तु प्रकाशित करके क्या हम इन्हें सार्वजनिक बना सकते हैं?

मुझे लगता है कि डायरी पूरी तरह आत्मपरक रचना होती है जिसे व्यक्ति सिर्फ अपने लिए लिखता है। वह प्रकाशित करने के उद्देश्य से नहीं लिखी जाती। डॉ. नरेन्द्र मोहन ने अपनी डायरी को पुस्तक का रूप देकर सार्वजनिक बना दिया। किसी महिला के संबंध में यह लिखना कि वह बहुत शक्की या तुनक मिजाज है, किसी व्यक्ति के बारे में यह लिखना कि वह बड़ा ड्रामेबाज है और तोता-चश्म भी अथवा किसी अति परिचित व्यक्ति का नाम लेते हुए यह लिखना कि वह बहुत औघट, मुंहफट और कामातुर है, मुझे बहुत शोभनीय बात नहीं लगती। डायरी तथ्यपरक और सत्यानुभूति

पर आधारित होती है। उसमें कल्पित पात्रों अथवा घटनाओं की गुंजाइश नहीं होती। ऐसी बातें कथा-साहित्य का अंग बनती हैं। इस डायरी में मुझे कुछ पात्र कल्पित ही नहीं लगे, बल्कि अहम भूमिका का निर्वाह करते हुए दिखाई दिए। चूंकि मैं इस संपूर्ण अवधि का चश्मदीद गवाह हूं, अतः यह जानता हूं कि लेखक ने आत्मतृप्ति से भरी किन बातों पर अधिक बल दिया है, किन बातों और व्यक्तियों से वह कतरा कर निकल गया है, किन प्रसंगों को उसने अनावश्यक महत्व दिया। अपनी सभी सीमाओं के मध्य यह एक महत्वपूर्ण रचना है और लंबे अंतराल के बाद डायरी जैसी विधा को चर्चा में ले आती है।

एक अन्य पुस्तक जिसने गत वर्ष मेरा ध्यान आकर्षित किया, वह थी सुश्री नासिरा शर्मा की लिखी, 'राष्ट्र और मुसलमान'। नासिरा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर भी विचार करती हैं और अपनी प्रतिक्रियाएं भी देती हैं। नासिरा ने ईरान, इराक, अफगानिस्तान जैसे इस्लामी देशों की बहुत यात्राएं की हैं। वे फारसी भाषा की विदुषी हैं। यह विडंबना ही है कि इस देश में सदियों तक एक साथ जीने वाले दो प्रमुख समुदायों-हिंदुओं और मुसलमानों के बीच कभी गहरा आत्मिक संवाद नहीं पैदा हुआ। आपसी व्यवहार, तीज-त्योहार, खान-पान में ये दोनों समाज अपवादों को छोड़कर, कभी एकरस नहीं हुए। दोनों के बीच भ्रांतियों, शंकाओं और अविश्वासों की दीवारें इतनी ऊंची रहीं कि इस ओर से और उस ओर से देख सकने की भावना और इच्छा की अभिव्यक्ति बड़ी सीमित मात्रा में ही हुई। नासिरा शर्मा ने अपनी पुस्तक में इन सभी प्रश्नों को उकेरा है। स्वतंत्रता से पहले देश के मुसलमानों का बहुमत मुस्लिम लीग के दिए मंत्र से प्रभावित हो गया था और देश के विभाजन को आवश्यक मानने लग गया था।

विभाजन के समय आम मुसलमान की जो भूमिका थी, विभाजन के पश्चात् भी वर्षों तक वह उसी की छाया में जीता रहा। उस पर मुल्ला-मौलवी वर्ग का जलवा बरकरार रहा। देश की राजनीति कुछ इस प्रकार विकसित हुई कि मुस्लिम समाज देश की मुख्य धारा का सक्रिय भागीदार बनने की बजाय दलगत राजनीति में वोट बैंक बन कर रह गया। इसी संदर्भ में नासिरा ने अपनी पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है—"आज पढ़ा-लिखा मुसलमान इस बात को बड़ी शिद्दत से महसूस कर रहा है कि राष्ट्रीय समस्याओं में, विशेषकर उन जटिल समस्याओं में, जिनमें वही कारण है, उनमें विचार और अभिव्यक्ति के स्तर पर तो उसकी भागीदारी है, परन्तु कानून और फैसले में नहीं है।" लेखिका का मानना है कि आज का पढ़ा-लिखा मुसलमान सारी कुंठाओं से मुक्त होकर इस नतीजे पर पहुंचा है कि भारत उसकी मातृभूमि है। उसकी दस पुश्तों के मुर्दे इसी जमीन में दफन हैं। संसार में उसकी पहचान भारतीय मुसलमान की है। इसलिए उसे मुखर होकर अपने को इस राष्ट्र के साथ जोड़ने की अभिव्यक्ति पुरजोर अंदाज में करनी है।

(दैनिक जागरण, 8 जनवरी, 2004)

53
उपेक्षा का शिकार साहित्यकार

क्या लेखकों/साहित्यकारों की नियति सदैव अपने आश्रयदाताओं, समय की सरकारों और धनिकों की ओर देखना और उनसे कुछ कृपा प्राप्त करना ही है अथवा उनकी अपनी भी कुछ स्वायत्तता भी है? यह प्रश्न उन्हें तथा संस्कृति-कर्म से जुड़े सभी लोगों को उद्वेलित करता रहता है। साहित्य में संबंध रखने वाले सभी अध्येता जानते हैं कि प्राचीन काल से ही साहित्य राजाओं-महाराजाओं, जागीरदारों के आश्रय में पलता और फलता-फूलता रहा है। भक्त कवियों ने अपने आपको सांसारिक आश्रयदाताओं से विमुख करके सभी के आश्रयदाता परमेश्वर से जोड़ा था। गुरु नानक ने अपने आपको परमसत्ता के दरबार का 'शायर' कहा था। संत तुलसीदास ने अपने आप को राम का चाकर कहकर इस बात की खुली घोषणा कर दी थी कि मुझे किसी राजा या बादशाह की मनसबदारी नहीं करनी हैं, किन्तु यह मनसबदारी किसी-न-किसी रूप में चलती रही है। आज भी चल रही है। राजाओं-नवाबों की न सही धनपतियों की, नौकरशाहों की और नेताओं की, किन्तु लोकतंत्र की अवधारणा इस प्रवृत्ति को तोड़ती है। ऐसी सामंतीय परंपराओं से वह मुक्त होती है।

लोकतंत्र की दृष्टि में वह हर व्यक्ति जो अपने कार्य में पूरी निष्ठा से लगा हुआ है, समाज का महत्वपूर्ण घटक है और शासनतंत्र से समान व्यवहार की अपेक्षा करता है, किन्तु विडंबना यह है कि लोकतंत्र भीड़तंत्र में परिवर्तित होता चला गया। भीड़तंत्र में व्यक्ति की पहचान इतनी ही है कि वह किस वर्ग या समूह से संबंध रखता है। सीधे शब्दों में कहा जाए तो यह देखा जाता है कि वह कितना बड़ा वोट बैंक हैं। हमारी सारी चुनावी अपेक्षाएं इस तलाश में रहती हैं कि किस वर्ग, जाति, समूह में हमें कितने मत प्राप्त हो सकते हैं। आजकल समाचार-पत्रों में विभिन्न लोकसभा क्षेत्रों के सर्वेक्षण प्रकाशित हो रहे हैं, जिनमें यह बताया जाता है कि किस वर्ग, जाति, समूह से हमें कितने मत प्राप्त हो सकते हैं। आजकल समाचार-पत्रों में विभिन्न लोकसभा

क्षेत्रों के सर्वेक्षण प्रकाशित हो रहे हैं जिनमें यह बताया गया है कि अमुक क्षेत्र में कितने ब्राह्मण, ठाकुर, वैश्य, जाट, यादव, कुर्मी, अथवा कितने दलित और मुसलमान हैं...। इसी आधार पर समीकरण बनते हैं और चुनावी रणनीति तैयार होती है। लेखक या संस्कृति कर्म से जुड़े व्यक्तियों का अपना कोई सुगठित समूह नहीं होता। वैसे तो यह पूरा कर्म ही नितांत वैयक्तिक कर्म होता है, फिर भी ऐसे लोग अपने छोटे-मोटे संगठन बना लेते हैं। ऐसे संगठन थोड़ा-बहुत दवाव तो बना सकते हैं, पर वे इतने प्रभावशाली कभी नहीं बनते कि चुनाव में किसी व्यक्ति अथवा दल को लुभा सकें। परिणाम यह होता है कि कोई भी सरकार आए, उन्हें उसकी कृपा पर ही निर्भर होना पड़ता है।

चुनाव के दंगल में व्यक्ति का महत्व न होता हो, ऐसी बात नहीं है। आज सभी दल फिल्मी सितारों की ओर भाग रहे हैं। ये सितारे किसी वर्ग विशेष से संबंध रखने के कारण महत्वपूर्ण नहीं हैं। इनका महत्व इस बात में है कि वे जनता के बीच अपने 'ग्लैमर' के कारण लोकप्रिय होते हैं। इस कारण वे चुनाव सभा में बड़ी भीड़ एकत्र करने में सफल होते हैं, किन्तु लेखकों के पास ऐसा 'ग्लैमर' नहीं होता जो उन्हें फिल्मी सितारों जैसा लोकप्रिय बनाए। बड़े-से-बड़े लेखक के नाम से किसी चुनावी सभा में आखिर कितने लोग जमा हो सकते हैं? यही कारण है कि फिल्मी सितारों, क्रिकेटरों द्वारा किसी दल विशेष में शामिल होने की खबरें तो नित्य पढ़ने में आ रही हैं, किसी बड़े लेखक का किसी दल में सम्मिलित होने का समाचार अखबार के किसी कोने में भी नहीं दिखाई देता। राजनीतिक दल उन्हें 'वोट कैचर' नहीं समझते।

यदि कुछ लेखकों ने राजनीति में पहले या आज कोई महत्वपूर्ण स्थान बनाया है तो लेखक होने के नाते नहीं, उस राजनीतिक दल में वर्षों की अपनी सक्रिय भागीदारी के कारण बनाया। इससे संस्कृति-कर्म का महत्व कम नहीं हो जाता। समाज की मूल्याधारित मानसिकता के निर्माण और लोगों को एक जागरूक नागरिक बनाने की दिशा में लेखकों/कलाकारों की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका सदैव रही है, इससे कौन इनकार कर सकता है। ऐसी स्थिति में राजनीतिक दलों की क्या भूमिका होनी चाहिए?

क्या उन्हें सदैव उन वर्गों की ही चिंता होनी चाहिए जो अपनी छोटी-बड़ी संख्या के कारण वोट बैंक बनते हैं अथवा उनका भी ध्यान रखना चाहिए जो मूक रहकर समाज को संस्कार देने का कार्य करते रहते हैं? सभी दल चुनाव से पहले अपना घोषणा-पत्र जारी करते हैं, जिनमें विभिन्न वर्गों की प्रगति और देश के व्यापक विकास की दृष्टि से उनका दल क्या कार्य करेगा, इसकी व्याख्या होती है, किन्तु आज तक मुझे किसी भी घोषणा-पत्र में यह बात नहीं मिली कि वह दल साहित्य और संस्कृति के विकास और उन्नयन के लिए क्या करेगा और इस संदर्भ में उसकी सरकार के सम्मुख कौन-सी योजनाएं और प्राथमिकताएं होंगी? मैं समझता हूं कि जो काम अभी तक नहीं हुआ है उसे अब होना चाहिए। सभी घोषणा-पत्रों में यह भी आना चाहिए कि यदि उनका दल सत्ता में आया तो उनकी सरकार की संस्कृति नीति क्या होगी। इस दृष्टि से कुछ बातें घोषणा-पत्र में आनी चाहिए : (1) सभी भारतीय भाषाओं के प्रोन्नयन की दृष्टि से सरकार कौन से कदम उठाएगी? (2) देश में सभी नागरिकों की

मानसिक समृद्धि के लिए अच्छी पुस्तकों के प्रसार-प्रचार के लिए सरकार क्या करेगी? (3) केन्द्र तथा राज्यों की साहित्य, नाटक, संगीत और ललित कला अकादमियों को किस प्रकार अधिक प्रभावशाली बनाया जाएगा? (4) सभी प्रदेशों की संस्कृतियों और संस्कृति कर्मियों के मध्य अधिक सार्थक संवाद स्थापित करने के लिए सरकार क्या कदम उठाएगी। (5) छोटे-बड़े नगरों और कस्बों में संस्कृति-केन्द्र और सभागारों के निर्माण करने की किस प्रकार की योजनाएं बनाई जाएंगी।

यह बात सभी जानते हैं कि सभी सरकारें करदाताओं द्वारा किए गए धन से चलती हैं। इसमें किसी राजा, नवाब या धनपति का न हस्तक्षेप होता है, न वर्चस्व। इसलिए यदि जनता द्वारा चुनी हुई सरकारें संस्कृति के विकास की दृष्टि से कोई सार्थक कार्य करती हैं तो उसमें आश्रय और कृपा वाला भाव नहीं होता, न होना चाहिए। जिस प्रकार पक्की सड़कों, पानी-बिजली की व्यवस्था और आम नागरिकों की सुरक्षा सरकार का दायित्व है, उसकी कृपा नहीं है, उसी प्रकार साहित्य और कला का संरक्षण करना भी सरकार का दायित्व है, उसकी कृपा नहीं है। इस दृष्टि से मैं एक अन्य बात की ओर भी ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं। सरकार ने वरिष्ठ नागरिकों के लिए कुछ अच्छी योजनाएं बनाई हैं, जिनमें थोड़ी-सी पेंशन की व्यवस्था भी है, किन्तु मैं मानता हूं कि वरिष्ठ साहित्यकारों और कलाकारों के लिए कुछ अतिरिक्त व्यवस्था की जानी चाहिए। 29 जनवरी को इसी स्तंभ में मैंने पद्म पुरस्कारों के संबंध में लिखा था। ये सम्मान इस देश के बहु प्रतिष्ठित सम्मान हैं, किन्तु इनके साथ किसी प्रकार की भौतिक सुख-सुविधा नहीं जुड़ी है। खिलाड़ियों को दिया जाने वाला 'अर्जुन' पुरस्कार भी पहले ऐसा ही था, किन्तु अब इस पुरस्कार के साथ तीन लाख रुपए की धनराशि भी दी जाती है।

इस वर्ष हिन्दी के वरिष्ठ साहित्यकार विष्णु प्रभाकर को 'पद्म भूषण' सम्मान दिए जाने की घोषणा हुई। उनकी इस समय आयु 92 वर्ष की है। वे जीवन भर मसिजीवी रहे हैं। उन्होंने कोई सरकारी अथवा गैर-सरकारी नौकरी नहीं की, कहीं से किसी प्रकार का अनुदान नहीं प्राप्त हुआ। इस आयु में भी वे नियमित लेखन करते हैं। रायल्टी से जो कुछ प्राप्त होता है वही उनकी आय है। पद्म पुरस्कार पाकर भी उनकी भौतिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया है। क्या किसी भी सरकार का यह दायित्व नहीं है कि वह ऐसे कलमकारों को पूरा सम्मान दे और यह भी सुनिश्चित करे कि अपने जीवन की संध्या बेला में वे न्यूनतम सुविधाओं के साथ, गौरवपूर्ण ढंग से जीवन यापन कर सकें? जातीय समीकरणों से बने वोट बैंक और फिल्मी सितारों की बनावटी चमक-दमक से ऊपर उठकर संस्कृतिकर्मियों के योगदान की ओर ध्यान देना लोकतंत्र की मांग भी है और अपेक्षा भी।

(दैनिक जागरण, 25 मार्च, 2004)

54

लेखकों के लिए थोड़ी-सी अड्डेबाज़ी ज़रूरी है।

लेखकों के बीच पेरिस के कॉफी-हाउसों की बड़ी चर्चा होती रहती है। कहा जाता है कि ज्यां पाल सार्त्र जैसे लेखक भी वहां शाम को नियमित रूप से आते थे। लेखकों के बीच विवाद और संवाद न हो, थोड़ी-सी प्रशंसा और ढेर-सी निंदा न हो, एक-दूसरे की टांग खींचने और बखिया उधेड़ने की सायास नियति न हो तो लेखक होने का मज़ा अधूरा रह जाता है।

किन्तु कॉफी-हाउस संस्कृति उन शहरों में ही पनपती है जो महानगर नहीं होते, जहां अपने स्थान से कॉफी-हाउस पहुंचने तक आधा घंटे से लेकर एक घंटे से अधिक समय नहीं लगता, जहां सड़कों पर बहुत रेल-पेल नहीं होती और जहां आपको अपना वाहन इतनी दूर नहीं खड़ा करना पड़ता कि गन्तव्य तक पैदल पहुंचने में ही आपकी सांस फूलने लगे। यह भी कि जहां बस के लिए लम्बी लाइन नहीं लगानी पड़ती है, न उसमें चढ़ने के लिए बहुत ठेलम-ठेल करनी पड़ती है। संभवतः यही कारण है कि यह संस्कृति लखनऊ, इलाहाबाद, दिल्ली जैसे शहरों में एक समय खूब फली-फूली, किन्तु मुंबई जैसे महानगरों में नहीं उभर सकी। कुछ वर्ष तक मैं महानगर में था। वहां उस समय टाइम्स आफ इंडिया की बिल्डिंग नाभि केन्द्र थी। इसीलिए उसी के आसपास के पारसी-ईरानी रेस्टरां में कुछ लेखक, पहले से निश्चित करके, कभी-कभी मिल लिया करते थे।

1963 में मैं वहां से दिल्ली आया। उस समय की दिल्ली आज जैसी नहीं थी। किसी भी ओर से आने के लिए कनाट प्लेस की बस आसानी से मिल जाती थी। मेरे पास दुपहिया स्कूटर था। उसे रीगल बिल्डिंग के आसपास कहीं भी खड़ा कर देने

में कोई असुविधा नहीं थी।

दिल्ली आने से पहले जनपथ का कॉफी-हाउस लोकप्रिय हुआ करता था। बाद में रीगल बिल्डिंग के टी-हाउस ने सभी छोटे-बड़े लेखकों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। जनपथ का काफी-हाउस कुछ 'एलीट' अंग्रेजी लेखकों, सट्टा बाजारियों और अंग्रेजी पत्रकारों के लिए रह गया। टी हाउस जैनेन्द्र जी से लेकर शक्तिपाल केवल तक सभी पुराने नए लेखकों की मिलन-स्थली बन गया। टी हाउस में घुसते ही दाईं ओर एक छोटी-सी दुकान थी। उसमें छोटी-बड़ी सभी पत्रिकाएं मिल जाती थीं। लेखकों के लिए यह आकर्षण भी कम नहीं था।

सातवें दशक के उन वर्षों में नई कविता की चर्चा कुछ कम हो चली थी। जगदीश चतुर्वेदी के सम्पादन में निकला 'निषेध' चर्चा के केन्द्र में आ गया था और अकविता की चर्चा शुरू हो गई थी, किन्तु पूरे साहित्यिक माहौल पर नई कहानी की त्रिमूर्ति की दुंदुभी बज रही थी। कहानी का बाजार बड़ी तेजी से शेयर मार्केट के सेन्सेक्स की तरह ऊपर उठ गया था। कहानी, नई कहानियां, सारिका, धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित कहानियां एकदम चर्चा में आ जाती थीं। मोहन राकेश की छवि किसी हीरो से कम नहीं थी। वह सारिका का संपादन छोड़ चुका था। उसके रोमान्स के किस्से बड़े चटखारे लेकर टी-हाउस में सुनाए जाते थे।

टी-हाउस का जमावड़ा जिनसे बनता था उनमें विष्णु प्रभाकर का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। वे अजमेरी गेट की कुंडेवालान गली में रहते थे। अपनी चारपाई पर बैठे सारा दिन लिखे थे और अत्यन्त नियमितता से शाम को प्रायः पैदल ही टी हाउस की ओर चल पड़ते थे। देवराज, दिनेश, योगेश गुप्त, जगदीश चतुर्वेदी, राजीव सक्सेना, रवीन्द्र कालिया, रमेश रंजक, कुलभूषण, हंसराज रहबर, धर्मेन्द्र गुप्त, मनहर चौहान, मुद्राराक्षस, नरेन्द्र मोहन, बलदेव वंशी, रमेश गौड़, सौमित्र मोहन, मणिका मोहिनी, ममता अग्रवाल, मोना गुलाटी और कितने ही चेहरे जो मुझे आज याद नहीं आ रहे हैं, वहां आने वाले नियमित पंछी थे। बलराज मेनरा, महमूद हाशमी, सुरिन्दर प्रकाश जैसे उर्दू लेखक और कुछ पंजाबी के लेखक हरिभजन सिंह, हरनाम शांति देव जैसे भी टी हाउस के लम्बे-चौड़े हाल के किसी कोने में दिखाई देते थे।

तीखी टिप्पणियां, चुभते चुटकुलों, सिर खपाऊ बहसों, साहित्यिक आन्दोलनों की चर्चाओं के कारण टी-हाउस आज भी कितनों के मन में गहरा नास्टेल्जिया पैदा कर देता है। टी-हाउस में काफी के साथ बड़े खाए जाते थे। देवराज दिनेश का डीलडौल काफी था। एक बार वेटर ने उससे पूछा—"क्यों साहब बड़ा लाऊ"? उसने तपाक से जवाब दिया—"मुझे देखता नहीं...बड़ा तो मैं हूं" फिर उसने मनहर चौहान की तरफ इशारा करते हुए कहा—"देखो, सामने वह छोटा बैठा है। उससे जाकर पूछो।" दिनेश की बात से सारा टी-हाउस ठहाकों से गूंजने लगा था।

दुबले पतले हंसराज रहबर अपने तीखे वामपंथी विचारों के लिए जाने जाते थे। जितने तीखे वे विचारों में थे उससे कहीं अधिक तीखे अपने शब्दों में थे। किसी भी बात पर उनकी प्रतिक्रिया बड़ी उत्तेजनापूर्ण होती थी। टी-हाउस के बाहर फुटपाथ के

किनारे जो रेलिंग लगी थी, उसका ठासना लगाकर बहुत से लेखक खड़े रहते थे और टी-हाउस में आने-जाने वालों और फुटपाथ से गुज़रते लोगों को देखने के साथ अपनी टिप्पणी भी देते रहते थे।

उन दिनों हंसराज रहबर की एक पुस्तक 'गालिब बेनकाब' की बड़ी चर्चा थी। हम कई लोग रेलिंग से लगे इधर-उधर की बातें कर रहे थे। रहबर भी वहीं खड़े थे। मैं उनसे पूछ बैठा—रहबर साहब, आज कल "गालिब बेनकाब" की बड़ी चर्चा है। वे अपनी सहज उत्तेजक भाषा में बोले—"गालिब तो अंग्रेजों का पिट्ठू था। थोड़ी-सी पेन्शन पाने के लिए वो कलकत्ता जाकर उनके सामने गिड़गिड़ाया था। मैंने उसे पूरी तरह बेनकाब कर दिया है।"

"आगे क्या लिख रहे हैं?" मैंने पूछा।

"अब मैं गांधी को बेनकाब कर रहा हूं।" वे बोले, "मैंने उसकी पूरी बखिया उधेड़ दी है। उसकी बुर्जुवाई मैंने बेनकाब कर दी है।"

उन्हें छेड़ने के लिए मैंने पूछा—"आप माओ बेनकाब कब लिखेंगे?"

जैसी मैं आशा करता था। वे एकदम भड़क उठे—"माओ तो महान् क्रान्तिकारी नेता है...वह तो दबी-कुचली जनता का मसीहा है। मैं जानता हूं कि तुम मुझे यह क्यों पूछ रहे हो। तुम सब लोग पूंजीपतियों के एजेन्ट हो...तुम से तो कोई बात नहीं की जा सकती।"

ऐसी थी टी-हाउस की दुनिया जहां नोक-झोंक तो खूब होती थी किन्तु किसी प्रकार का वैमनस्य नहीं दिखाई देता था।

वह दौर साहित्यिक आन्दोलनों का दौर था। अकविता की खूब चर्चा हो रही थी। उसी की तर्ज पर अकहानी की चर्चा शुरू हो गई थी। रवीन्द्र कालिया और गंगा प्रसाद विमल को लोग मोहन राकेश की शिष्य परम्परा में मानते थे इसलिए अकहानी को नई कहानी को अनुवर्ता या अवशिष्ट के रूप में ही देखा जाता था। नई कहानी के पुरोधा सचेतन कहानी को अपने लिए बड़ा खतरा मानने लगे थे।

रामावतार चेतन बम्बई में रहकर त्रैमासिक 'आधार' निकालते थे जो छपती इलाहाबाद में थी। उन्होंने अपनी पत्रिका का सचेतना कहानी विशेषांक निकालने की मुझे अनुमति दे दी थी। लगभग 250 पृष्ठ के इस विशेषांक में 70 पृष्ठ विचार पक्ष के थे और शेष पृष्ठों में 20 कहानियां थीं। इन दिनों हिन्दी भवन का कार्यालय उस स्थान पर था जहां आज नगरपालिका बाजार हैं। हिन्दी भवन के कार्यालय में ही इस विशेषांक का विमोचन हुआ था। इसके बाद वर्षों तक यह विशेषांक और सचेतन आन्दोलन टी हाउस में चर्चा का विषय बना रहा।

पीछे मुड़कर देखता हूं तो कई चेहरे याद आते हैं। सुरेन्द्र कुमार मल्होत्रा स्कूली पुस्तकों का प्रकाशक था। साप्ताहिक हिन्दुस्तान में उसने कुछ अच्छी कहानियां लिखी थीं। वह टी हाउस में प्रायः मिल जाता था। शक्तिपाल केवल वहां नियमित आने वालों में था। इन चेहरों को मैंने बरसों से नहीं देखा है। ये कहां हैं, हैं भी कि नहीं, मुझे कुछ पता नहीं। बहुत से साथी इस दुनिया से विदा हो गए हैं। सबसे वरिष्ठ आयु

के विष्णु जी आज भी हमारे बीच हैं। कुछ दिन पहले योगेश गुप्त से भेंट हुई थी। उसकी आवाज़ बुरी तरह कंपकंपाती है। बुढ़ापा हम सभी पर उतर आया है। किसी पर ढोल बजाते हुए दिखता है किसी पर सीटी की हल्की आवाज़ की तरह सुनाई देता है।

टी-हाउस बंद तो हो गया। वह लेखकों का अड्डा तो था किन्तु रीगल बिल्डिंग के मालिकों के लिए उतना कमाऊ पूत नहीं था जितना साड़ी की दुकान बन कर हो सकता था। बाद में बहुत हद तक उसकी जगह मोहन सिंह प्लेस के काफी-हाउस ने ले ली। वहां के अंदर के हाल में इतनी भीड़ रहती हैं कि टी-हाउस वाली उन्मुक्ता पैदा नहीं हो पाती। बाहर की खुली छत में वैसा जुड़ाव नहीं दिखता जैसा टी-हाउस में था। वहां भी मैं वर्षों तक जाता रहा था, किन्तु पिछले कुछ वर्षों में दिल्ली की आबादी विस्फोटक ढंग से बढ़ी है। इस समय यहां इतनी मोटर गाड़ियां हैं जितनी मुंबई, कोलकाता और चेन्नई जैसे महानगरों में मिलाकर भी नहीं हैं। इस समय दिल्ली में अपना वाहन चलाना और पार्किंग की जगह ढूंढ़ लेना अन्तरिक्ष की यात्रा से कहीं अधिक दूभर लगता है। हरदयाल जैसे बहुत से लेखक आज भी वहां नियमित रूप से पहुंचते हैं, चाहे उन्हें दो-तीन स्थानों पर अपनी बस बदलनी पड़े।

काफी हाउस में मिलना और कई बार बिल्कुल निरर्थक दिखने वाली गपशप करना, एक प्रकार की अड्डेबाजी है। अड्डेबाजी का अपना नशा होता है। जिन्हें इसकी लत लग जाती है, वे इसके बिना जीवित नहीं रह सकते। लेखकों के लिए ऐसी अड्डेबाजी उद्दीपक और उकसावे वाली सिद्ध होती है।

अपनी प्रकृति में लेखन-कर्म बड़ा एकांकी कर्म है, किन्तु यह भी सच है कि कोई भी लेखक अपने सहधर्मियों को मिले बिना, उनसे चर्चा किए बिना, उनसे विवाद और संवाद किए बिना नहीं जी सकता। काफी-हाउस का ऐसा संसार उनके क्षितिज का विस्तार करता है और उन्हें समकालीन लेखन से पूरी तरह जोड़े रखता है। दिल्ली के टी-हाउस और लखनऊ, इलाहाबाद के काफी हाउसों की स्मृतियां बड़ी सजीव हैं, किन्तु महानगरों का जीवन काफी-हाउस संस्कृति को नष्ट करता जा रहा है। काफी-हाउस उनकी भड़ास निकालने में सहायक सिद्ध होते रहे हैं। इनके अभाव में वे अकेले तो हुए ही हैं, उनकी घुटन भी बढ़ी हैं।

(दैनिक जागरण, 29 जुलाई, 2004)

55
सक्रिय संस्कृति नीति की ज़रूरत

संसार के अनेक भागों में जहां भारत के लोग पहुंचे हैं, अपने साथ साहित्य और संस्कृति की कुछ विरासत भी ले गए हैं। कनाड़ा में पिछले कुछ दिनों में मेरी भेंट हिन्दी, पंजाबी और उर्दू के कुछ लेखकों से हुई। मेरा अनुमान है कि यहां पंजाबी के लेखक अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में कहीं अधिक हैं। टोरंटो, सरी, बैंकुवर जैसे नगरों से पंजाबी में अनेक साप्ताहिक पत्र निकलते हैं। टैबलाइड साइज में निकलने वाले पत्रों की पृष्ठ-संख्या आमतौर पर 30 से लेकर 70 के करीब होती है। कागज और छपाई का स्तर भी उच्चकोटि का होता है। इनमें भारत के पंजाबी लेखकों के अतिरिक्त कनाड़ा में रहने वाले लेखकों की रचनाएं भी प्रकाशित होती हैं। मुझे स्मरण है कि 22 वर्ष पहले ओटावा में दूसरा विश्व पंजाबी लेखक सम्मेलन आयोजित हुआ था। भारत के उसमें अनेक लेखक सम्मिलित हुए थे जिनमें मैं भी था। इस बार मैं इस नगर में पहुंचा तो पता लगा कि तीन दिन पश्चात् ही यहां दो विशेष कार्यक्रम हैं।

एक दिन कवि सम्मेलन है और दूसरे दिन गजल गायन का आयोजन है, जिसमें ओटावा के रहने वाले बहुत अच्छे गजल गायक हरदीप बक्शी और दिल्ली से आए जाने-माने गजल कलाकार सतीश बब्बर अपनी कला का प्रदर्शन कर रहे हैं। मैं दोनों ही कार्यक्रमों में आमंत्रित था। कवि सम्मेलन में हिन्दी, पंजाबी और उर्दू में 15-20 कवियों/शायरों ने अपनी रचनाएं सुनाईं। अधिकांश रचनाएं सामान्य स्तर की थीं। दो-तीन दशक पहले जब ये लोग अपने देश से निकल कर इधर आए थे, उस समय जिस प्रकार की कविताएं वहां लिखी जा रही थीं, ये उससे आगे नहीं बढ़े हैं। कुछ कविताएं और गजलें ऐसी थीं, जिनमें आज का कथ्य और मुहावरा देखने को मिलता था। यहां मेरी भेंट डॉ. (श्रीमती) संतोष गोयल से हो गई जो दिल्ली से अपने डॉक्टर पुत्र के पास आई हुई थीं। श्रीमती गोयल हिन्दी में बहुत अच्छी कहानियां और कविताएं

लिखती हैं और दिल्ली में मेरा उनसे संवाद बना रहता है। इस कवि सम्मेलन में उनकी सुनाई गई कविता ही सही अर्थों में आज की कविता का प्रतिनिधित्व करती थी। कुछ दिन पूर्व संतोष जी ने स्थानीय लेखकों से मेरी भेंट कराने के उद्‌देश्य से अपने घर पर कुछ लेखकों को चाय पर आमंत्रित किया।

अपनी भाषा की मुख्य भूमिका से कटे हुए इन रचनाकारों की अनेक कठिनाई हैं। कई दशकों से अंग्रेजी और फ्रेंच भाषी इस देश में रहने के बावजूद इनके मन की भावात्मक हिलोरें अपनी भाषा के साथ जुड़ी हैं और उसी में वे अपने आपको व्यक्त करना चाहते हैं। इनकी सबसे बड़ी शिकायत है कि भारत के साहित्यिक परिदृश्य में उन्हें कोई नहीं पूछता। इनकी रचनाएं वहां की पत्र-पत्रिकाओं में स्थान नहीं पातीं। यदि कोई छप जाए तो इन्हें यह भी ज्ञात नहीं होता कि वहां के साहित्यिक क्षेत्रों में इनके अवदान की कोई चर्चा होती है कि नहीं। कोई प्रकाशक इनकी पुस्तक प्रकाशित नहीं करता। यदि कोई प्रकाशक इसके लिए तैयार हो जाता है तो बहुत अधिक धन की मांग करता है। प्रकाशित पुस्तक की कुछ प्रतियां उनके पास पहुंचती हैं। शेष का क्या हुआ, उसे पता नहींलगता। पंजाबी के एक लेखक मित्तर राशा का दुखड़ा यह था कि विभिन्न विषयों पर पंजाबी में उनकी बीस से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें नौ कविता-संग्रह हैं। उनके रचे साहित्य पर पंजाब या दिल्ली में कोई चर्चा होती है या नहीं, उनकी पुस्तकों की कहीं समीक्षा भी हुई है या नहीं, उन्हें कुछ पता नहीं।

जब कभी वह भारत जाते हैं, वह स्वयं ही कुछ लेखकों/प्रकाशकों/संपादकों से मिल लेते हैं। विदेश में रहकर वह अपनी भाषा की जो सेवा कर रहे हैं, इसका भी कोई मूल्यांकन नहीं करता। हिन्दी और उर्दू लेखकों का संकट भी यही है। पंजाबी के तो अनेक साप्ताहिक पत्र कनाड़ा में प्रकाशित होते हैं, किन्तु हिन्दी या उर्दू में नियमित प्रकाशित होने वाला कोई पत्र मुझे नहीं दिखाई दिया। व्यक्ति अपने भावात्मक आलोड़न की तृप्ति के लिए लिखता है, लेकिन लेखन मात्र स्वांतः सुखाय नहीं होता।

यदि कोई कुछ अच्छा और सार्थक लिख रहा है तो वह पहचान और उचित सराहना चाहता है। कीर्ति और धन भी मिले तो बहुत अच्छी बात है। यह सब कुछ पाने के लिए लेखकों/लेखिकाओं को क्या कुछ करना पड़ता है, इसे भुक्तभोगी ही जानते हैं, किन्तु एक बात मैं निश्चित रूप से जानता हूं कि लेखन में निरन्तरता और सक्रियता बनाए रखने के लिए वातावरण की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है। मुझे लगा इस देश में इन लेखकों के लिए अभी वह वातावरण नहीं बना है जिससे साहित्य की गतिशीलता उत्पन्न होती है। वर्ष में एक बार कवि सम्मेलन कर लेने से, कभी-कभी आपस में मिल बैठने से यह वातावरण उत्पन्न नहीं होगा। साहित्यिक गोष्ठियों का नियमित रूप से होना और नवीनतम साहित्यिक प्रवृत्तियों से अवगत होना बहुत आवश्यक है। इसके लिए भारत से प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं का नियमित संपर्क भी बहुत आवश्यक है। पुस्तकों की अनुपलब्धता यहां के लेखकों का बहुत बड़ा संकट है।

मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि कुल तीन करोड़ की आबादी वाले इस देश में पुस्तकों की कितनी बड़ी-बड़ी दुकानें हैं। पुस्तकों का इतना बड़ा शोरूम संभवतः हमारे देश में एक भी नहीं है। इन पुस्तक भंडारों में भारतीय भाषा की किसी पुस्तक का होना बहुत दूर की बात है, भारत से प्रकाशित अथवा भारत संबंधी अंग्रेजी पुस्तकें भी दिखाई नहीं देतीं। नवीनतम पुस्तकों के अभाव में यहां के लेखकों में लेखकीय सक्रियता कैसे उत्पन्न होगी? यहां के हिंदी लेखकों ने मुझे बताया कि हिन्दी पुस्तक या हिन्दी पत्रिका प्राप्त करने का एकमात्र स्रोत यहां का भारतीय उच्चायोग है। वहां बड़े अनियमित ढंग से कभी-कभी कुछ हिन्दी पुस्तकें आती हैं। मुझे लगता है कि टोरंटो जैसे नगर में, जहां भारतीय की संख्या दस लाख से कम नहीं है, यदि हिन्दी, पंजाबी, उर्दू, गुजराती आदि भारतीय भाषाओं की नवीनतम प्रकाशित पुस्तकों की कोई दुकान हो या किसी प्रकार का केन्द्र स्थापित किया जा सके तो वह बहुत बड़ी कमी को दूर कर सकता है। भारत को अपनी संस्कृति नीति को अधिक स्पष्ट और सक्रिय बनाना चाहिए। संसार भर में जहां भी भारत के राजदूतावास हैं उन्हें केवल उस देश से राजनीतिक और आर्थिक संबंधों की ही चिंता नहीं होनी चाहिए, बल्कि उन्हें भारत का सांस्कृतिक केंद्र भी बनना चाहिए।

विदेशों में बसे हुए भारतीय आर्थिक दृष्टि से संपन्न हैं और निरन्तर संपन्न होते जा रहे हैं। उनके अंदर भारतीय कलाओं और भारतीय साहित्य से परिचित होने की जिज्ञासा ही नहीं भूख है। ओटावा में हुए ग़ज़ल गायन के आयोजन की चर्चा मैं कर चुका हूं। कार्लटन विश्वविद्यालय के बड़े सभागार में हरदीप बक्शी, सतीश बब्बर और उनकी बेटी वाणी बब्बर ने अपने गायन से श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया। दो घंटे से अधिक समय के इस आयोजन में सभी श्रोता अंत तक बैठे रहे और करतल ध्वनि करते रहे। इसी प्रकार भारतीय उच्चायोग और कनाडा के सभ्यता संग्रहालय के सहयोग से ख्याति प्राप्त ओडिसी नर्तकी किरण सहगल तथा उनके मंडल के दस सदस्यों ने अपनी कला का बहुत सुंदर प्रदर्शन किया। एक बड़ा खतरा भी है। नई पीढ़ी के कुछ लोग ऐसे भी मुझे मिले (विशेष रूप से बच्चे) जो कोई भी भारतीय भाषा नहीं बोल सकते। यदि इस देश में उचित सांस्कृतिक वातावरण को प्रोत्साहित नहीं किया गया तो आने वाली पीढ़ियों को केवल इतना ही पता रहेगा कि उनके पूर्वज भारत से आकर यहां बसे थे।

(दैनिक जागरण, 2 सितम्बर, 2004)

56
लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता

मनुष्य का इतिहास पराधीनता से स्वाधीनता की ओर की यात्रा का एक लम्बा संघर्षपूर्ण इतिहास है। इस इतिहास-क्रम में उसे प्रकृति से, अपनी वासनाओं और मूल प्रवृत्तियों से, अपने स्वनिर्मित परिवेश से, अपने द्वारा निर्मित समाज, उसकी अनेक व्यवस्थाओं से और अपने आप से निरन्तर संघर्ष करना पड़ा है। दोस्तोवस्की ने कहा था कि मनुष्य की स्वतन्त्रता केवल स्वतन्त्रता ही नहीं, वरन् वह उसका भाग्य है। जब से मनुष्य ने अपने कर्म, संघर्ष और चयन पर विश्वास रखकर आगे बढ़ना शुरू किया, उसकी चेतना ने जीवन के प्रमुखतम कार्य के रूप में अस्तित्व की अर्थ प्रदान करना स्वीकार किया।

मनुष्य की सर्वोच्च कामना अपने आपको अभिव्यक्त करने की रही है। इस अभिव्यक्ति में वह आत्म-साक्षात्कार करता है, अपने आपको पहचानता है, अपने अस्तित्व को सार्थकता प्रदान करता है। भारत के प्राचीन ऋषियों और मध्ययुगीन सन्तों का आग्रह सूत्र रहा कि 'आप चीन्हे' विना अपनी पहचानहीनता से उत्पन्न भ्रम की काई नहीं मिटती–

कहु नानक बिनु आपा चीन्हे
मिटे न भ्रम की काई।

परन्तु इतिहास-प्रवाह में ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब निहित स्वार्थों और निहित शक्तियों द्वारा मनुष्य की अपने आपको पहचानने की क्रिया, अपने आपको अभिव्यक्त करने की इच्छा और अपने अस्तित्व की सार्थकता देने के प्रयासों पर बन्धन लगा दिये जाते हैं। उसे एक निश्चित पहचान देने की कोशिश होती है, उसकी

अभिव्यक्ति की दिशाएं निर्धारित कर दी जाती हैं और उसकी अस्तित्वहीनता ही उसके अस्तित्व की सार्थकता बताई जाती है। तब 'अनलहक' की आवाज उठती है, सिर देकर सार की रक्षा करने वाले व्यक्ति आगे आते हैं, उन्हें पत्थरों से मारा जाता है या बीच चौराहे पर उनकी गर्दन उतार ली जाती है।

अस्तित्ववादी लेखक कामू ने कहा था, "आदमी वह चेतना और शक्ति है, जो अन्ततोगत्वा हर देवता और हर अन्यायी के अस्तित्व को मिटा देती है। यह चेतना और शक्ति मनुष्य की सबसे बड़ी गवाही है।" कार्ल यास्पर्स का कहना है कि "हमारी स्वतन्त्रता हमारी अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा हमारे कार्य द्वारा सिद्ध होती है।" आज का मनुष्य उस स्थिति में ला खड़ा किया गया है जहां वह अपने आपको नगण्य अनुभव करता है। हमारे भक्ति काल के कवि बड़ी विनम्रता से अपनी नगण्यता की चर्चा करते थे–

मेरा मुझ में कुछ नहीं जो कुछ है सो तेरा
तेरा तुझको सौंपते क्या लागे है मेरा

उनका यह नगण्यता-बोध उस सत्ता (ईश्वर) के प्रति होता था जो उन्हीं का आत्म-विस्तार होता था। परन्तु जब किसी सांसारिक व्यक्ति द्वारा उन्हें बलात-नगण्यता का अहसास कराया जाता था तो वे यह कहकर उस सत्ता की उपेक्षा कर देते थे कि सन्तन कौ कहा सीकरी सों काम। आवत जात पनहियां टूटीं बिसर गयो हरि नाम।

यास्पर्स के शब्दों में–"नगण्यता का अनुभव मनुष्य का सबसे अधिक कसकने वाला अनुभव है।"

आपातकालीन स्थिति के दौरान इस देश में दो लाख लोगों को जेल में डाल दिया गया अथवा अभिव्यक्ति की आजादी छीन ली गयी, यह बात जितनी महत्वपूर्ण होगी इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण और कसकने वाली बात थी कि यहां के मनुष्य को नगण्य बना दिया गया था।

श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन से अपनी एक भेंट में अस्तित्ववादी चिंतक कार्ल यास्पर्स ने कहा था–"क्या वास्तव में आधुनिक परिस्थिति में व्यक्ति को अपनी पसन्द को व्यावहारिक रूप देने की छूट है? क्या वह किसी भी महत्व के प्रश्न पर इस या उस का वरण कर सकता है? वह अनुभव करता है कि नहीं कर सकता। यही उसका नगण्यता-बोध है। संसार में ऐसे बहुत-से लोग हैं जो सर्वसत्तावाद को स्वीकार कर लेंगे, इसलिए नहीं कि वे उसे पसन्द करते हैं, केवल इसलिए कि वे अनुभव करते हैं कि उनकी पसन्द का कोई मूल्य नहीं है।"

हमारे साथ भी ऐसा ही हुआ। हम पर कुछ थोप दिया गया और हमसे अपेक्षा की गयी हम उसे स्वीकार कर लें, सिर्फ स्वीकार ही न कर लें बल्कि सीखे हुए बन्दर की तरह मदारी की छड़ी की गति के साथ नाच-नाचकर यह भी कहें कि यह सब कुछ हमें स्वीकार है, इसे स्वीकार करना हमारा अहोभाग्य है, और हाय! यह अहोभाग्य हमें इतनी देर से क्यों प्राप्त हुआ।

सबसे दयनीय स्थिति इस देश के लेखकों-बुद्धिजीवियों की हुई। वरण के अधिकार और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का दावा करने वाला लेखक अधिकार और स्वाधीनता के छिन जाने पर संज्ञाशून्य-सा हो गया। सबसे अधिक विदूषक स्थिति उन लेखकों की बनी जिन्होंने अदृश्य हाथों में कठपुतलियों की तरह खेलते हुए कभी हाथ उठाकर जोर से नारे लगाये, कभी छड़ी के इशारे पर सम्मेलन-दर सम्मेलन किये, कभी धागों के तीखे खिंचाव से धरती पर लोट-पोट मचाने लगे, कभी 'हमसे गलती हुई' का निर्देश पाकर मातमी मुद्रा बनाकर खड़े हो गये।

ऐसे समय में वही सवाल एक बार फिर उभरा—स्वतन्त्रता का मनुष्य के लिए क्या महत्व है? और विशेष रूप से अपनी अभिव्यक्ति की स्वाधीनता की रक्षा करते हुए एक लेखक इस बृहत्तर स्वतन्त्रता में अपनी क्या और कैसी भूमिका का निर्वाह कर सकता है।

हमारे सामने कुछ प्रश्न उभरते हैं—

अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का लेखक के लिए क्या महत्व है?

अभिव्यक्ति की स्वाधीनता शासन द्वारा किन्हीं विशेष स्थितियों में प्रदत्त एक सुविधा मात्र है या वह लेखक के लिए एक अनमनीय मूल्य का महत्व रखती है?

क्या कोई ऐसी शासन-व्यवस्था है या हो सकती है जिसमें लेखक की यह स्वाधीनता नगण्य, महत्वहीन अथवा मूल्यहीन हो जाती है? उस स्थिति में क्या लेखक का काम शासनतन्त्र और उसके द्वारा उद्घोषित समाज-व्यवस्था का समर्थन-पोषण करना ही रह जाता है?

इन प्रश्नों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता पर व्यापक दृष्टि से विचार करने के लिए अनेक लेखकों ने अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त की हैं।

मनुष्य की स्वतन्त्रता की कामना का सामाजिक प्रतिफलन क्या है? क्या व्यक्ति की स्वतन्त्रता अनिवार्यतः सामाजिक उन्नति में बाधक है? क्या शोषण-मुक्त समाज की स्थापना के महत् उद्देश्य को पाने के लिए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की बलि आवश्यक है? जब भी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य या सीमित संदर्भ में लेखकीय अभिव्यक्ति की स्वाधीनता की बात की जाती है, ऐसे अनेक प्रश्न सामने आ खड़े होते हैं। समाजवादी विचारकों का दावा है कि वे अपनी व्यावहारिक गतिविधि में वस्तुपरक नियमों को लागू करेंगे, सामाजिक विकास की दिशा को सोद्देश्यपूर्ण और योजनाबद्ध ढंग से निर्धारित करेंगे और सम्पूर्ण समाज तथा प्रत्येक व्यक्ति के बहुमुखी विकास के लिए भौतिक और आध्यात्मिक पूर्वाकांक्षित स्थितियों का निर्माण करेंगे जिससे सही स्वतन्त्रता का उपयोग किया जा सके।

परन्तु अनुभव यह भी है कि व्यवस्था के नाम पर निरंकुश सत्ता पनप जाती है, अनुशासन के नाम पर अभिव्यक्ति की सभी स्वतन्त्रताओं को कुंठित कर दिया जाता है और बड़ी-बड़ी तथा लुभावनी घोषणाओं में व्यक्ति का निरीह चीत्कार डूब जाता है।

इकबाल के शब्दों में–

ऐ ताहरे-लाहूती उस रिज्क से मौत अच्छी
जिस रिज़्क से आती हो परवाज़ में कोताही।

(ऐ आकाश में उड़ने वाले पक्षी, उस अन्न से मौत अच्छी है, जिस अन्न से उड़ने में बाधा आती है।)

समाज के सचेत और संवेदनशील प्रतिनिधि के रूप में लेखक को अपनी आजादी की लड़ाई को लगातार लड़ना होगा, इस प्रश्न से निरन्तर जूझना होगा और परिवर्तित संदर्भों में इन प्रश्नों पर बार-बार विचार करना होगा।

(दैनिक ट्रिब्यून, 8-8-04)

57
संवाद भारत-चीन लेखकों का

भारत और चीन के मध्य राजनीतिक, आर्थिक और व्यावसायिक संबंधों के अतिरिक्त सांस्कृतिक-साहित्यिक संबंध भी हैं। प्रति दूसरे वर्ष चीनी लेखकों का एक प्रतिनिधिमंडल भारत आता है। इसी प्रकार भारतीय लेखकों का प्रतिनिधिमंडल चीन जाता है। इस वर्ष दस भारतीय भाषाओं—हिन्दी, उर्दू, पंजाबी, बांग्ला, उड़िया, गुजराती, कन्नड़, तेलुगु, तमिल और खासी भाषाओं का प्रतिनिधिमंडल दो सप्ताह तक चीन में रहा और उसने अनेक स्तरों पर चीनी लेखकों से संवाद स्थापित किया। चीनी लेखकों से संवाद करने की सबसे बड़ी कठिनाई भाषा है। वे अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य कोई भाषा नहीं जानते। बड़े-बड़े होटलों, बाजारों, डिपार्टमेंटल स्टोरों में बड़ी कठिनाई से एक-दो व्यक्ति ऐसे मिलते हैं जो थोड़ी-बहुत अंग्रेजी बोल और समझ लेते हैं। सभी कार्यों के लिए दुभाषिए का सहारा लेना पड़ता था। लेखकों के मध्य संवाद की दूसरी बड़ी कठिनाई यह है कि चीन में लेखक उस प्रकार से उन्मुक्त संवाद नहीं करते जैसे भारत अथवा किसी लोकतांत्रिक देश में। चीन में राष्ट्रीय स्तर के लेखकों का विशाल संगठन है।

भारत से गए लेखकों में से कौन किस लेखक से मिलेगा, लेखकों की गिनती कितनी होगी, बातचीत की सीमा कितनी होगी, इसका निर्धारण चीनी लेखक संघ के अधिकारी ही करते हैं। बीजिंग में चीनी लेखकों से हमारी पहली भेंट हुई। स्वाभाविक है कि इस बैठक में चीनी लेखकों का केंद्रीय नेतृत्व था, किन्तु हमारे लिए सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह थी कि इस बैठक में कुल 5 अथवा 6 लेखक ही थे। बीजिंग के साहित्य संस्थान के निदेशक प्रो. ट्वांग उनका नेतृत्व कर रहे थे। वहां की एक बड़ी कठिनाई यह भी है कि मात्र बोल देने से चीनियों के मन पर भारतीय नाम दर्ज नहीं होते, उसी प्रकार भारतीयों को सभी चीनी नाम एक जैसे ही लगते हैं। भारतीय

लेखकों के पास उनके विजिटिंग कार्ड उनकी अपनी भाषा तथा अंग्रेजी में छपे हुए थे, किन्तु चीनी लेखकों में से किसी-किसी लेखक का कार्ड द्विभाषी होता था। सभी अपना कार्ड हमें अवश्य देते थे, किन्तु वह हमारे लिए अधिक अर्थ नहीं रखता था। वैसे पहले दिन की बैठक अच्छी थी। हम जानना चाहते थे कि ये चीनी लेखक भारतीय साहित्य और साहित्यकारों से कितना परिचित हैं। चीन के कुछ लेखक केवल एक नाम जानते हैं—टैगोर। गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर अपने समय में चीन गए थे। उनकी रचनाओं का चीनी भाषा में अनुवाद भी हुआ है। कहीं-कहीं प्रेमचंद का नाम भी सुनने को मिल जाता है। चीनी के एक संग्रहालय में हमें टैगोर की विशाल प्रतिमा भी दिखाई दी।

एक अन्य नाम से भी चीनी लेखक कुछ परिचित हैं, वह नाम है महात्मा गांधी। भारतीय मूल के कुछ अंग्रेजी लेखक संसार भर में जाने जाते हैं। हमें इस बात पर आश्चर्य हुआ कि पहली बैठक में ही कुछ चीनी लेखकों ने अपने चीनी उच्चारण में मुल्क राज आनंद, आर. के. नारायण, राजा राव और सलमान रुश्दी जैसे लेखकों का उल्लेख किया। चीन के लेखकों में यह भ्रम व्याप्त है कि ये लेखक भारतीय साहित्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। हमने अपने दुभाषिए के माध्यम से उन्हें यह समझाया कि वास्तविक भारतीय साहित्य का सृजन भारतीय भाषाओं के मध्य से ही हो रहा है। अंग्रेजी में लिखने वाले ये लेखक विदेशी बाजार के लिए ऐसा साहित्य लिखते हैं जिसमें न भारतीय जीवन की वास्तविकताएं उजागर होती हैं और न जन-जीवन की समस्याओं और संघर्षों का ही सही ढंग से चित्रण होता है।

भारतीय भाषाओं की अधुनातन प्रवृत्तियों की चर्चा भी लेखकों के मध्य हुई। दलित विमर्श जैसी कोई विशेष समस्या चीन में नहीं है। हम यह अवश्य जानना चाहते थे कि आधुनिक नारी की स्थिति वहां कैसी है। हमारे बीच उड़िया की डॉ. प्रतिभा राय और तमिल की तिलकावती थीं। वे इस प्रश्न को बार-बार उठाती थीं, किन्तु कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता था। हम चार बड़े नगरों में गए। प्रत्येक नगर में हम लगभग तीन दिन रहे। इनमें लेखकों से भेंट के लिए केवल दो घंटे का समय होता था। शेष समय हमारे पर्यटन के लिए निर्धारित रहता था। हमारी यात्रा का दूसरा नगर श्यान था। यह नगर इतना विकसित और भव्य होगा, इसका मुझे अनुमान नहीं था। लगभग दो घंटे की हवाई यात्रा के बाद जब हम वहां पहुंचे तो स्थानीय चीनी लेखक संघ के प्रतिनिधि हमारा स्वागत करने के लिए उपस्थित थे। इस नगर में लेखकों से संवाद कुछ अधिक सार्थक रहा।

चीनी लेखकों की संख्या भी लगभग 10 थी, जिसमें 2-3 महिलाएं थीं। इन लेखकों से बातचीत करने के पश्चात् यह महसूस हुआ कि सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर दोनों देशों की समस्याओं में बड़ी समरूपता है। वैश्वीकरण और उन्मुक्त बाजार को लेकर इस देश में भी बहुत-सी चिंताएं और सरोकार व्यक्त किए जाते हैं। यह चिंता हमें श्यान के लेखकों में भी दिखाई दी। श्यान में हमें एक अविस्मरणीय अनुभव हुआ। वहां एक बहुत बड़ा थिएटर हाल है, जिसमें एक विशाल जलपान-गृह बना हुआ है। सामने एक बहुत बड़ा रंगमंच है, जिस पर परंपरागत चीनी गीत-संगीत, अभिनय

का कार्यक्रम चलता रहता है। चीनी परंपरागत सांस्कृतिक कार्यक्रम देखना अपने आप में एक सुखद अनुभव है। हमारा तीसरा गंतव्य स्थल हांगशाऊ नगर था। हांगशाऊ में हमारा केवल एक बार लगभग दो घंटे तक लेखकों से मिलना हुआ। लेखकों के प्रश्न-उत्तर कुछ जटिल होते हैं।

चीन यात्रा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू बीजिंग विश्वविद्यालय में जाकर वहां के उन विद्यार्थियों से मिलना था, जो कुछ भारतीय भाषाएं सीख रहे हैं। इस विश्वविद्यालय में चीनी विद्वान् प्रो. वांग ने 1920 में भारतीय भाषाओं का अध्ययन प्रारंभ किया था। 1970 में यहां प्राच्य भाषा अध्ययन केंद्र स्थापित हुआ। यहां भारतीय और बौद्ध अध्ययन केंद्र स्थापित हुए। इस विश्वविद्यालय में इस समय हिंदी, उर्दू और बांग्ला का विधिवत् अध्ययन होता है। बीजिंग विश्वविद्यालय में सांस्कृतिक आदान-प्रदान के अंतर्गत एक हिन्दी प्राध्यापक डॉ. रघुवंश है। वह दिल्ली के जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय से गए हैं। इसी विश्वविद्यालय से एक शोधार्थी विनोद कुमार सिंह यहां चार वर्ष तक चीनी भाषा का अध्ययन करने के बाद आगे की पढ़ाई के लिए गए हैं। हिंदी पढ़ाने के लिए यहां एक भारतीय अध्यापक भी हैं और दो-तीन चीनी अध्यापक भी। बांग्ला का विद्यार्थी हमारे साथ गए बांग्ला लेखक डॉ. पालित से बांग्ला में बातचीत करता रहा। सामान्यतः यह स्वीकार किया जाता है कि भारत में रहने वाला कोई भी व्यक्ति हिंदी बोल सकता है। दुर्भाग्य से हमारा जो प्रतिनिधिमंडल चीन गया उसके संवाद की भाषा लगभग अंग्रेजी थी। हम दूसरों से तो अंग्रेजी में बात करते ही थे, अधिकांश समय आपस में भी इसे संवाद का माध्यम बनाते थे।

हमारे प्रतिनिधि मंडल के नेता तेलुगू के विद्वान् भाषाविद् डॉ. कृष्णमूर्ति इस बात के लिए बहुत आग्रही थे कि हम सभी लोग केवल अंग्रेजी का प्रयोग करें। एक दिन मैंने उनसे हिंदी में एक बात पूछी। वह अंग्रेजी में बोले—मैं आपके प्रश्न का उत्तर तब दूंगा जब आप मुझसे अंग्रेजी में पूछेंगे। मैंने पूछा—क्या आप हिंदी में कुछ नहीं बोल सकते? वह बोले—आप मुझसे तेलुगू में बातचीत कीजिए तो मैं हिंदी में बोलूंगा। बीजिंग विश्वविद्यालय में वहां के चीनी अध्यापक चाहते थे हम चीनी विद्यार्थियों से हिन्दी में बातचीत करें। डॉ. गिरिराज किशोर जब उनके बीच हिंदी में बोलने लगे तो उन्होंने उन्हें रोक दिया और कहा कि आप अंग्रेजी में बोलें। जब मेरे बोलने का अवसर आया तो मैंने उनके निर्देश की चिंता किए बिना विद्यार्थियों से हिंदी में बातचीत की। कुछ अवसर ऐसे भी आए जब भारतीय दूतावास के अधिकारियों ने हमसे इशारे में कहा कि चीनी लेखकों और दुभाषिए की उपस्थिति में हम हिंदी में ही बात करें, जिससे दुभाषिए के माध्यम से हमारी बातचीत चीनियों तक न पहुंचे, किन्तु डॉ. कृष्णमूर्ति ने तो हिंदी न बोलने की कसम खा ली थी। दो सप्ताह की यात्रा में वह एक वाक्य भी हिंदी में नहीं बोले। क्या भविष्य में भेजे जाने वाले प्रतिनिधिमंडलों को भेजते समय इस बात का ध्यान नहीं रखा जाना चाहिए?

(दैनिक जागरण, 4 नवम्बर, 2004)

58

लेखकीय आदान-प्रदान को अधिक सार्थक बनाया जा सकता है

साहित्य अकादमी का यह प्रयास बहुत श्लाघनीय है कि भारतीय लेखक अन्य देशों में जाकर उनसे संवाद स्थापित करें तथा अन्य देशों के लेखक भारत आकर यहां के लेखकों तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों से परिचित हों। ऐसे संवाद की आवश्यकता उन देशों के साथ अधिक होती है जिनसे इस प्रकार के संवाद की अन्यथा गुंजाइश बहुत कम होती है। अंग्रेजी से हमारा सम्पर्क काफी लम्बा है इसलिए उस भाषा की नवीनतम प्रवृत्तियों और गतिविधियों का परिचय हमारे पास अनेक माध्यमों से पहुंचता रहता है, किन्तु दक्षिणी-पूर्वी अरब, अफ्रीकी और लातिनी अमरिकी देशों से यह सम्पर्क सरलता से नहीं बन पाता और जो भी बनता है उसका माध्यम केवल अंग्रेजी होती है।

चीनी लेखकों के साथ आदान-प्रदान की प्रक्रिया इस दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखती है। अभी हाल में ही (10 से 23 अक्टूबर, 2004 तक) चीन जाने वाले 10 भारतीय लेखकों के प्रतिनिधि-मंडल का एक सदस्य होने के नाते इस दृष्टि से मेरे कुछ निजी अनुभव हैं और सुझाव भी।

मुझे लगता है कि चीन जैसे देश में ऐसे किसी प्रतिनिधिमंडल को भेजने के पूर्व कुछ तैयारी करनी आवश्यक है। उदाहरण के लिए चीन और हमारे मध्य संवाद का माध्यम एकमात्र अंग्रेजी थी, जिन्हें हमारा नेता नियुक्त किया गया था वे एक तेलुगु भाषी भाषा-विज्ञानी थे, सर्जनात्मक लेखक नहीं। यहां तक सब कुछ ठीक था, किन्तु ये सज्जन घोर अंग्रेजी समर्थक होने के साथ ही हिन्दी विरोधी भी थे और एक शब्द भी हिंदी में सुनना या बोलना अपना अपमान समझते थे।

मुझे एक घटना का स्मरण है। पेइचिंग विश्वविद्यालय में एक चीनी भाषी हिंदी

विद्यार्थी ने जब हम सभी भारतीयों को अंग्रेजी में संवाद करते और इस पर आग्रह करते सुना, तो उसने बड़े मासूम भाव से पूछा, क्या आपमें हिन्दी किसी को नहीं आती?

हम सभी ने उस समय यह अनुभव किया था कि उसकी मासूमियत में कितना चुटीला व्यंग्य छिपा हुआ है।

भारत की सारी भाषाएं समान हैं और बराबर के सम्मान की अधिकारिणी हैं। हमारे बीच बहुत से भाषा-विवाद और मतभेद हो सकते हैं, किन्तु विदेशों में हमें अपना संयुक्त रूप प्रस्तुत करना चाहिए। इस संबंध में शायद ही कोई मतभेद हो कि हिन्दी इस देश में सबसे अधिक भागों में मातृभाषा के रूप में स्वीकार की जाती है। साथ ही वह भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत केन्द्र की राजभाषा है। यह भी सच है कि सह राजभाषा के रूप में यह स्थान अभी तक अंग्रेजी को भी प्राप्त है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि देश-विदेश में हम हर स्थान पर हिन्दी की अपेक्षा अंग्रेजी को प्राथमिकता दें और यह जताने की कोशिश करें कि भारत में अंग्रेजी ही सबसे प्रमुख भाषा है। दुर्भाग्य से चीन में हमने यही प्रदर्शित किया।

यह आवश्यक नहीं है कि भारतीय प्रतिनिधि-मंडल का जो नेता हो वह हिन्दी भाषी हो अथवा हिन्दी का पक्षधर हो, किन्तु उसकी दृष्टि खुली और राष्ट्रीय अस्मिता से भरी तो होनी ही चाहिए। इसलिए मुझे यह भी आवश्यक लगता है कि हमारे बीच का दुभाषिया अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाएं बोल सकने में समर्थ होना चाहिए। इसका अर्थ यह भी है कि जो भारतीय लेखक चीनी (अथवा अन्य किसी विदेशी भाषा में) वहां के लेखकों के साथ संवाद करना चाहते हैं, वे हिन्दी में भी अपनी बात कह सकें। यही स्थिति भारत में विदेशों से आए लेखकों के साथ भी होनी चाहिए।

चीन में भारतीय और चीनी लेखक किसी बैठक में जब अपना परिचय देते थे तो स्थिति बहुत रोचक हो जाती थी। चीनी लेखकों का परिचय उनके दल का नेता देता था जिसका अंग्रेजी अनुवाद दुभाषिया कर देता था, किन्तु भारतीय लेखक स्वयं अपना परिचय देते थे, क्योंकि हमारे मुखिया को हमारे बारे में बहुत सीमित जानकारी थी। लेखक अपना परिचय देते समय अपनी उपलब्धियां बड़े असंतुलित ढंग से रखते थे। मैं नहीं जानता कि इसमें से कितनी बात दुभाषिए के माध्यम से चीनी लेखकों तक पहुंचती थी।

इस दृष्टि से मुझे यह आवश्यक लगता है कि सभी लेखकों के परिचय किसी प्रतिनिधि-मंडल के जाने के पूर्व ही हिन्दी और अंग्रेजी में तैयार कर लिए जाएं और दल का नेता ही सबका परिचय कराए। परिचयों की प्रतिलिपि चीनी लेखकों को पहले से ही दे दी जाएं। लेखकों की ऐसी परिचय सूची साहित्य अकादमी ने तैयार भी की थी, किन्तु हमारे नेता ने उसका उपयोग करने की कभी आवश्यकता नहीं समझी।

एक बात और स्पष्ट होनी चाहिए। इस प्रकार के लेखकीय आदान-प्रदान का मूल उद्देश्य क्या है? मैं यह मानता हूं कि लेखकों को संसार के विभिन्न भागों के साहित्य के साथ ही वहां की संस्कृति, सभ्यता, इतिहास और पौराणिकता का परिचय हो तो उसके मानसिक क्षितिज का विस्तार होता है, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि इस

प्रकार की लेखकीय यात्राओं का केन्द्र-बिन्दु साहित्य है, पर्यटन या सैर-सपाटा नहीं। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि इस यात्रा में हमने बौद्ध-स्मारकों की यात्रा की, वहां के संग्रहालय देखे, लेखकों का संग्रहालय देखना तो अपने आप में एक अद्‌भुत अनुभव था। हममें से हर लेखक ने बड़ी शिद्‌दत से यह अनुभव किया कि काश भारत में भी ऐसे लेखकीय संग्रहालय हों।

इस दृष्टि से हमारा सबसे सुखद अनुभव चीन के बहुप्रतिष्ठित लेखक लू शुंग के जन्म-स्थान और उनके घर की यात्रा थी। लू शुंग प्रेमचंद के समकालीन लेखक थे और उन्हीं की भांति प्रगतिशील विचारों के वाहक थे। भारत में यदि किसी चीनी लेखक को सबसे अधिक जाना जाता है, तो वह लू शुंग ही हैं। उनकी अनेक कहानियों के अनुवाद हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में प्रकाशित हुए हैं।

चीन सरकार ने लू शुंग की प्रत्येक स्मृति को बहुत संजोकर रखा हुआ है। वे किस पाठशाला में पढ़ते थे, किस कुर्सी पर बैठकर लिखते थे, उनकी लिखने की मेज, उनकी पुस्तकें, पुस्तकों के विभिन्न भाषाओं में अनुवाद—सभी कुछ हमें देखने को मिले। अनूदित पुस्तकों में दो पुस्तकें हिन्दी में भी थीं।

लू शुंग जीवन के अन्तिम वर्षों में शंघाई में रहे थे। हमें उनका शंघाई वाला घर भी दिखाया गया था। हमारी भाषाओं में लेखकों और उनसे जुड़ी स्मृतियों की क्या दशा है हम अच्छी तरह जानते हैं।

यह सब होते हुए भी मैं यह अवश्य कहना चाहता हूं कि हमारी यात्रा में लेखकीय संदर्भ एक-चौथाई से भी कम था। यह मैं पहले भी लिख चुका हूं कि दो सप्ताह के हमारे निवास में लेखकों से हमारी भेंट कुल आठ घंटों की हुई थी, जिसमें चार नगरों में सब मिलाकर 20-25 लेखकों से ही हम भेंट कर सके। जबकि जैसा हमें बताया गया, चीनी लेखक संघ के सदस्यों की संख्या सत्तर हजार से अधिक है।

चीन जाने की पूर्व रात्रि में नई दिल्ली के चीनी दूतावास में हमारा रात्रि भोज था। वहां विदा होते समय, हमें चीन की संस्कृति, भाषा, साहित्य, इतिहास, उसकी अधुनातन प्रगति के सम्बन्ध में बहुत-सा साहित्य अंग्रेजी में दिया गया था। यह सब कुछ बहुत उपयोगी था। यदि यह सब कुछ हमें एक-दो सप्ताह पूर्व मिल जाता तो हम चीन के सम्बन्ध में कहीं अधिक जानकारी से भरपूर होकर वहां जाते।

भोजन के सम्बन्ध में भी मैं कुछ कहना चाहूंगा। व्यक्ति अपने भोजन से बुरी तरह बंधा होता। उत्तर भारत का व्यक्ति दक्षिण भारत जाकर तीन दिन में ही इडली-डोसा खाकर ऊब जाता है। यही दशा दक्षिण भारतीय भोजन के आदी व्यक्ति की उत्तर में होती है। चीन में हमारी सर्वाधिक दुर्दशा वहां के भोजन के कारण हुई। दो-तीन बार ही हमें वहां किसी प्रकार भारतीय भोजन प्राप्त हुआ, अन्यथा प्रतिदिन दोनों समय हमें चीनी खाना खाने को मिलता था, वह कुछ ही समय में हमें दूभर लगने लगा। भोजन की कोई वैकल्पिक व्यवस्था न होने के काण हमारे कई साथियों का स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। वहां से प्रस्थान के एक दिन पूर्व मेरी स्थिति तो ऐसी हो गई थी कि दिल्ली पहुंचकर दो-सप्ताह तक मैं पीलिया रोग से पीड़ित हुआ और कुछ दिन

अस्पताल में भी रहना पड़ा।

यह सब कुछ लिखने का मेरा उद्देश्य यही है कि ऐसी किसी भी यात्रा के पूर्व, सभी दृष्टियों से उसकी पूरी तैयारी की जाए तो ऐसे लेखकीय आदान-प्रदान के ऐसे जितने अधिक अवसर उत्पन्न किए जा सकें, बहुत अच्छा है, किन्तु इस दृष्टि से कुछ पहले से 'होम वर्क' अवश्य किया जाना चाहिए। विदेशी लेखकों के सम्मुख समग्र भारतीय साहित्य का समन्वित चित्र प्रस्तुत हो सके, यह हमारा प्रयास होना चाहिए। इस दृष्टि से साहित्य अकादमी की ओर से न केवल स्पष्ट दिशा-निर्देश होने चाहिए, बल्कि पहले जो लेखक ऐसी यात्राओं पर जा चुके हैं, उनके अनुभवों से परिचित कराया जाना चाहिए।

चीन जाने के पश्चात् ही यह अनुभव हुआ कि हमारे देश में साहित्य के प्रति रुचि और लेखकीय जागरूकता किसी भी देश की अपेक्षा कम नहीं है। ऐसी ही एक योजना में पिछली बार भारत आए एक चीनी लेखक ने, जो अंग्रेजी बोल सकता था, इस बात पर बहुत आश्चर्य व्यक्त किया था कि जब साहित्य अकादमी के सभागार में भारतीय लेखकों से मिलने के लिए उन्हें बुलाया गया था तो कितनी बड़ी मात्रा में लेखक वहां उपस्थित थे।

(दैनिक जागरण, 18 नवम्बर, 2004)

59

लेखकों में बढ़ती जा रही है—सन्ध्या छाया

कई वर्ष पहले मैंने मराठी का एक नाटक देखा था, नाम था संध्या-छाया। शायद वह नाटक जयंत दलवी का लिखा हुआ था। पति-पत्नी बूढ़े हो गए हैं। संतान विदेश में जा बसी है। जो घर एक समय किलकारियों और हंसी-ठट्ठे से गूंजता था, वहां सन्नाटा छा गया है। पुरुष को थोड़ी-सी पेन्शन मिलती है। बूढ़े पति-पत्नी का इसी से निर्वाह होता है। उनके जीवन की सभी रुचियां शिथिल हो गई हैं। खाने-पीने के शौक भी समाप्त हो गए हैं। पति-पत्नी को एक-दूसरे के होने का अहसास, उनकी आहट सुनकर होता है—कभी रसोई घर में बर्तनों की खनखनाहट से तो कभी बाथरूम में गिरते हुए पानी से। दोनों के पास अब बातचीत का कोई विषय नहीं रह गया है, सिवाय इसके कि टमाटर कितने महंगे हो गए हैं। राशन की दुकान वाला, राशन में दी जाने वाली सस्ती चीनी ब्लैक में बेच देता है, इसलिए बाजार भाव की महंगी चीनी खरीदनी पड़ती है। इतनी पेन्शन में गुजारा कैसे होगा?

विदेश में जा बसे बेटे का कभी-कभी पत्र या फोन आ जाता है। उनके दो बच्चे स्कूल जाते हैं। पति-पत्नी दोनों काम करते हैं, फिर भी गुजारा बड़ी मुश्किल से होता है—अर्थ यह है कि बूढ़े मां-बाप को उनसे कुछ विशेष आशा नहीं करनी चाहिए।

आज के युग में यह कहानी किसी एक परिवार के वृद्धजनों की नहीं है। व्यक्ति की औसत आयु बढ़ती जा रही है। सारे संसार में बूढ़े स्त्रियों-पुरुषों की गिनती भी लगातार बढ़ रही है। भारत जैसे देशों में उनके लिए आर्थिक संकट तो है ही, जिन देशों में सरकारों की ओर से उन्हें इस प्रकार की सुरक्षा मिली हुई है, वहां वे मानसिक असुरक्षा और अकेलेपन से बुरी तरह पीड़ित है। हमारे देश की सरकार भी वृद्ध नागरिकों

(सीनियर सिटी जन्स) के लिए कुछ करने की घोषणा करती रहती है, किन्तु दिल्ली जैसे महानगरों में तो अब वृद्ध जनों की शारीरिक सुरक्षा गंभीर समस्या बन गई है। ऐसा कौन-सा दिन है जब अखबारों में यह खबर नहीं आती कि अमुक क्षेत्र में किसी वृद्ध महिला या पुरुष अथवा दोनों की किन्हीं लोगों ने नृशंस हत्या कर दी है।

संध्या छाया की गिरफ्त में आए लेखकों की चिंताएं, मनःस्थितियां और समस्याएं कुछ भिन्न प्रकार की हैं। आम लोगों की औसत आयु बढ़ी है, तो उसी अनुपात में उनकी भी आयु बढ़ी है। कुछ दशक पूर्व बहुत कम लेखक ऐसे थे जो साठ की आयु पार करते थे। प्रेमचंद को 56 वर्ष की आयु प्राप्त हुई थी—तो जयशंकर प्रसाद 50 वर्ष भी पूरे नहीं कर सके थे। आज किसी लेखक का 70 वर्ष की आयु पार कर जाना किसी को अचंभित नहीं करता।

हमारे लेखक मुख्य रूप से दो-तीन व्यवसायों में से आते हैं—अध्यापक, पत्रकार, वकालत या इस प्रकार की कोई नौकरी जिसमें उसे लिखने के लिए कुछ समय मिल सके। लेखिकाओं की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है। कुछ गृहिणियां बड़ी अच्छी लेखिकाएं हैं क्योंकि घर की आर्थिकता का बोझ उनके पति संभाले रहते हैं। स्वतंत्र लेखन से आजीविका चलाने वाले लेखक तो उंगलियों पर गिने जा सकते हैं।

मेरा अनुमान है कि हिन्दी के 80 प्रतिशत से अधिक लेखक अध्यापन कार्य से जुड़े होते हैं और उसी से सेवा-मुक्त होते हैं। सरकारी या अन्य किसी प्रकार की सेवा से मुक्त व्यक्ति या तो अपनी पेंशन से जीवन की संध्या काटते हैं अथवा सेवा मुक्ति के पश्चात् मिलने वाली प्रोवीडेंट फंड और ग्रेज्युटी की एकमुश्त रकम को बैंक में जमा करा कर उससे प्राप्त होने वाले ब्याज से। सेवा-मुक्ति के पश्चात् ऐसे लोगों के पास कोई समयबद्ध कार्य नहीं रहता इसलिए उनके बूढ़े होने की गति अधिक तेज हो जाती है।

लेखक के सम्मुख सामान्यतः ऐसी स्थिति नहीं उत्पन्न होती। जब तक वह सेवारत रहता है वह लिखता रहता है। जब वह सेवा-मुक्त हो जाता है तो अधिक मुक्तभाव से लिखता है, बशर्ते वह अपने ही लेखन से थक या ऊब न गया हो, लिखने के लिए उसके प्रेरणा-स्रोत सूख न गए हों अथवा लेखन उसकी प्राथमिकता में न रह गया हो। मेरा विश्वास है कि इस आयु में आकर लेखक बहुत सार्थक लेखन कर सकते हैं।

इस दृष्टि से केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारें कुछ महत्वपूर्ण कार्य कर सकती हैं। इस आयु की सबसे बड़ी समस्या स्वास्थ्य है। जैसे-जैसे आयु बढ़ती है, स्वास्थ्य सम्बन्धी अनेक व्याधियां उसे घेरने लगती हैं। बहुत कम ऐसे लेखक हैं जो ऐसी सेवा से मुक्त हुए हैं, जिनमें हालात सम्बन्धी सभी खर्च सरकार वहन करती है। इस आयु में लेखकों की आय बहुत कम हो जाती है और आर्थिक संकट उन्हें सदैव घेरे रहते हैं। आज की चिकित्सा इतनी महंगी है कि सामान्य व्यक्ति की सीमा से वह परे है। हृदय संबंधी कोई बीमारी हो जाए तो किसी अस्पताल में भरती होते समय तो चार लाख रुपए की तत्काल आवश्यकता होती है। कितने लेखक ऐसे हैं जिनके पास इतनी

जमा पूंजी होती है? बीमा कम्पनियां भी इस आयु में आए किसी व्यक्ति का स्वास्थ्य बीमा नहीं करती हैं।

मैं समझता हूं कि संस्कृति मंत्रालय को ऐसे लेखकों की सूची बनानी चाहिए और उनके स्वास्थ्य पर व्यय होने वाले धन का बोझ वहन करना चाहिए। साहित्य अकादमी को यह दायित्व सौंपा जा सकता है।

पारिवारिक दृष्टि से भी इस आयु के लेखकों की कुछ विचित्र समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। वह पुत्र-पौत्रों के साथ रहता हो तो परिवार बहुत बड़ा हो जाता है। यदि संतान किसी अन्य नगर या देश में बस गई हो तो वह नितान्त अकेला हो जाता है। दोनों ही स्थितियों में उसकी स्थिति असहज हो जाती है। बड़ा, भरा-पूरा परिवार हो तो पुस्तकों से लदा हुआ उसका लिखने का कमरा सभी की आंखों में खटकने लगता है। वह कहीं बाहर जाकर, एकान्त में रहकर कुछ लिखना-पढ़ना चाहता है।

बहुत से सरकारी और गैर सरकारी संस्थान हैं जिनके अनेक रमणीक स्थानों पर, सभी सुविधाओं से युक्त अतिथि-गृह (गेस्ट हाउस) होते हैं। कितनी विचित्र और दुखद बात है कि भारत में शायद ही किसी स्थान पर लेखकों के लिए कोई अथिति गृह हो। स्थिति तो ऐसी है कि छोटे बड़े नगरों की बात छोड़ दें, दिल्ली जैसे महानगर में एक स्थान ऐसा नहीं है जहां लेखक इकट्ठे होकर अपनी साहित्यिक गोष्ठियां कर सकें। लेखकों की जैसी दयनीय स्थिति इस देश में है, शायद ही संसार के किसी अन्य देश में हो।

कुछ दशक पहले, जब गुजराती के प्रतिष्ठित कवि उमाशंकर जोशी साहित्य अकादमी के अध्यक्ष थे, मैंने अनेक लेखक मित्रों सहित अनेक बार उनसे मिलकर इस बात पर आग्रह किया था कि देश के कुछ भागों में लेखकों के अतिथि गृह बनने चाहिए, कम से कम उन स्थानों पर तो बनने ही चाहिए, जहां साहित्य अकादमी के अपने क्षेत्रीय कार्यालय हैं। उन्होंने हमें इस दृष्टि से अनेक आश्वासन भी दिए थे किन्तु इस दृष्टि से कोई प्रगति नहीं हुई।

संस्कृति मंत्रालय प्रति वर्ष कुछ लेखकों-कलाकारों को कुछ क्षेत्रों में काम करने के लिए वरिष्ठ और कनिष्ठ छात्रवृत्तियां देता है। वह बहुत उपयोगी योजना है। मैं समझता हूं कि इस योजना का विस्तार किया जाना चाहिए। एक सौ करोड़ से अधिक जनसंख्या वाला हमारा देश बहुत विशाल है, किन्तु कुल साढ़े तीन करोड़ जनसंख्या वाले देश में कनाडा में लेखकों को अपने सम्मेलन करने, अपनी पुस्तकें प्रकाशित कराने, उन्हें अनेक प्रकार की शोध-वृत्तियां देने जैसी जितनी सुविधाएं प्राप्त हैं, उतनी अपने देश में नहीं हैं।

मेरा सुझाव हैं कि संस्कृति मंत्रालय को सत्तर वर्ष से अधिक आयु वाले लेखक/लेखिकाओं के लिए अलग से कुछ शोध-वृत्तियों देने का विचार करना चाहिए। इस आयु का कोई लेखक यदि कोई उपन्यास, काव्य, नाटक अथवा आलोचना ग्रंथ लिखना चाहता है तो उसे कम-से-कम दो वर्षों की शोध-वृत्ति देकर, यदि वह चाहे तो किसी रमणीक स्थान पर उसके आवास की व्यवस्था करनी चाहिए। इस प्रकार के

प्रोत्साहन से न केवल लेखक को मानसिक-नैतिक वल मिलेगा, बल्के अच्छे साहित्य के सृजन को भी प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

श्री विष्णु प्रभाकर इस समय सबसे अधिक आयु (92 वर्ष) के वरिष्ठतम् लेखक हैं। सम्पूर्ण आयु उन्होंने कहीं नौकरी नहीं की, मसिजवी रहकर ही जीवन व्यतीत किया। लेखन ही आजीविका का एकमात्र साधन रहा है। इसी से उन्होंने अपना परिवार पाला और अपने बच्चों के विवाहादि किए। उनकी यह आवश्यकता आज भी है, इसलिए आज भी वे कई घंटे लेखन कार्य करते हैं।

गत वर्ष भारत सरकार ने उन्हें पद्म भूषण सम्मान से सम्मानित किया था। कोई भी पद्म सम्मान राष्ट्रीय महत्व का बहुत बड़ा सम्मान है, किन्तु इसके साथ किसी प्रकार की धनराशि नहीं जुड़ी हुई है। गत वर्ष इस संदर्भ में मैंने दैनिक जागरण में एक लेख लिखा था। पद्म भूषण सम्मान मिलना गौरव की बात है, किन्तु विष्णु प्रभाकर जैसे लोगों की तत्काल आवश्यकता ऐसे गौरव की नहीं है, जितनी कुछ धन की है। कुछ वर्ष पहले तक खेल-जगत् के सर्वोच्च 'अर्जुन सम्मान' के साथ भी किसी प्रकार की धनराशि नहीं जुड़ी हुई थी। बाद में सरकार ने इस सम्मान के साथ तीन लाख रुपए भी जोड़ दिए।

पद्म सम्मानों के साथ भी इसी प्रकार किया जाना चाहिए। मेरा मत है कि कोई भी पदम सम्मान (पद्मश्री, पद्म भूषण, पद्म विभूषण) प्राप्त करने वाले व्यक्ति को कम-से-कम पांच लाख रुपए भी साथ दिए जाने चाहिए।

संध्या छाया की ओर बढ़ते हुए लेखकों की ओर साहित्य संसार का ध्यान आकर्षित करने के लिए हमने संचेतना में इसी नाम से एक नया स्तम्भ प्रारम्भ किया है। इस स्तम्भ में हम सत्तर वर्ष की आयु पार कर चुके किसी भी लेखक की समग्र उपलब्धियों, उसके अंतरंग जीवन की झांकी तथा लेखक के लम्वे आत्म-वक्तव्य को प्रकाशित कर रहे हैं। अभी तक इस स्तम्भ के अन्तर्गत श्री देवेन्द्र इस्सर (75 वर्ष), डॉ. रामदरश मिश्र (80 वर्ष) तथा डॉ. कन्हैया लाल नंदन (72 वर्ष) पर अंक प्रकाशित हो चुके हैं। आगामी अंक में सुविख्यात लेखक गुरुबचन सिंह (80 वर्ष) की उपलब्धियों की चर्चा हैं।

किसी भी देश के सांस्कृतिक जीवन में लेखकों का अपना विशिष्ट स्थान होता है। लेखन कार्य एक सौ किलोमीटर लम्बी दौड़ है। बहुत कम लेखक ऐसे हैं जो इस दौड़ में लम्बे समय तक शामिल रहते हैं। कोई दस किलोमीटर दौड़कर बाहर हो जाता है। कोई बीस, तीस या चालीस किलोमीटर दौड़कर थम जाता है। आर्थिक तंगी, स्वास्थ्य की खराबी, लेखकीय सुविधाओं का अभाव, उचित सम्मान की कमी आदि अनेक बातें उसमें कुंठा और निराशा भर देती हैं और वह लिखना बंद कर देता है। यह किसी से छिपा नहीं है कि सौ किलोमीटर की लम्बी दौड़ में छोड़ने के लिए अन्य बातों की अपेक्षा, उचित लेखकीय वातावरण बहुत आवश्यक होता है। वरिष्ठ लेखकों को ऐसे वातावरण की बहुत आवश्यकता होती है।

(दैनिक जागरण, 2 दिसम्बर, 2004)

60
हिन्दी कैसे बने व्यापक संवाद की भाषा

भारत की विभिन्न भाषाओं के लेखक जब कहीं एक मंच पर एकत्र होते हैं तो प्रायः आपस में वे अंग्रेजी में बातचीत करते हैं। ऐसी स्थिति तब विशेष रूप से उभर आती है, जब उस समूह में दक्षिण भारत के लेखक भी हों। चीन यात्रा के अपने अनुभव में मैं यह बात लिख चुका हूं कि भारतीय लेखों के प्रतिनिधि-मंडल की वहां आपसी संवाद की मुख्य भाषा अंग्रेजी थी।

मुझे यह बहुत विचित्र लग रहा था कि विदेशी धरती पर भारतीय लेखकों का आपसी संवाद अंग्रेजी में हो। मैंने सभी से हिन्दी में बातचीत करने का आग्रह किया। बंगाली के दिब्येन्दु पालित, अश्विन कुमार देसाई को अथवा उड़िया की प्रतिभा राय को कोई कठिनाई नहीं थी। गुजराती के डॉ. अश्विन कुमार देसाई अथवा कन्नड़ के डॉ. गिरुडी गोविन्द राज भी हिंदी बोल सकने में समर्थ थे। तमिल लेखिका सुश्री तिलकावती की कठिनाई स्वाभाविक लगती थी। वे दो-शब्दों से अधिक हिन्दी नहीं बोल पाती थीं। सर्वाधिक विचित्र रवैया प्रो. कृष्ण मूर्ति का था। जब मैंने हिन्दी में उनसे कुछ पूछा तो अंग्रेजी में उनका उत्तर था—यदि यह बात आप अंग्रेजी में पूछेंगे तो मैं इसका उत्तर दूंगा या आप तेलुगू में मुझसे पूछिए।

फिर उनकी शिकायतों का पुलिंदा खुल गया। उनका कहना था कि हिंदी वाले यह तो चाहते हैं कि देश की अन्य भाषाओं के लोग हिन्दी में पारंगत हों, किन्तु वे भारत की किसी अन्य भाषा को सीखने का कोई प्रयास नहीं करते। आप मुझे किसी एक व्यक्ति का नाम बताइए जिसने तेलुगू में कोई कार्य किया हो।

मैं सोचने लगा। मैं ऐसे अनेक नाम जानता हूं जिनकी मातृभाषा तेलुगू है और

हिन्दी भाषा तथा साहित्य का उनका अध्ययन किसी हिन्दी भाषी से कम नहीं है, किन्तु मुझे ऐसे किसी नाम का स्मरण नहीं हुआ जिसकी मातृभाषा हिन्दी हो और उसने तेलुगू में सिद्धता प्राप्त की हो। मुझे केवल एक नाम याद आया—डॉ. रविन्द्र नाथ सेठ जो पंजाबी भाषी हैं, हिन्दी के प्राध्यापक हैं और तमिल भाषा में पारंगत हैं।

प्रो. कृष्ण मूर्ति संस्कृत के विद्वान् हैं। कालिदास के अनेक पद वे बड़े मृदुल स्वर में सुनाते हैं, किन्तु हिन्दी के कट्टर विरोधी हैं। चीन की दो सप्ताह की यात्रा में हिन्दी का एक वाक्य भी उन्होंने नहीं बोला।

इस स्थिति को भावुक होकर देखना ठीक नहीं रहेगा। क्या कारण है कि इस देश में हिन्दी व्यापक रूप से संवाद की भाषा नहीं बन पा रही है? क्या कारण है कि कृष्णमूर्ति जैसे लोग हिंदी के प्रति इतना कठोर दुराग्रह अपने मन में पाले हुए हैं? हिंदी विरोध का उनका मूलाधार यह था कि जब हिन्दी प्रदेश के लोग भारत की किसी अन्य भाषा को सीखने में कोई रुचि नहीं रखते हैं तो आप हमसे यह आशा क्यों करते हैं कि हम हिन्दी को अपनाएं?

जब उनसे कहा गया कि हिन्दी को इस देश में 40 प्रतिशत से अधिक लोग अपनी मातृभाषा के रूप में स्वीकार करते हैं, वह केन्द्र सरकार की राजभाषा है, उनका उत्तर था—हिन्दी जिनकी मातृभाषा है, वे उसे स्वीकारें। वह हमारी मातृभाषा नहीं है। केन्द्र सरकार की राजभाषा अंग्रेजी भी है। हम उसका उपयोग क्यों न करें?

कोई व्यक्ति किसी भाषा को क्यों सीखता है? हमने मुगलों के समय फारसी सीखी थी, इसलिए कि वह उस समय की राजभाषा थी। फारसी पढ़े-लिखे व्यक्ति को सरकारी नौकरी मिलने की अधिक संभावना होती थी, राज-दरबार और पढ़े-लिखे समाज में उसे आदर-सम्मान प्राप्त होता था। अंग्रेजी को भी इस देश में इसी रूप में लिया गया। अंग्रेजी राज्य के समय अच्छी नौकरी पाने के लिए उच्च स्तर की पढ़ाई करने के लिए अंग्रेजी जानना आवश्यक था, साथ ही मान-सम्मान भी जुड़ा हुआ था।

मुगलों का राज्य समाप्त हो गया तो फारसी का प्रभुत्व भी जाता रहा, किन्तु अंग्रेजी के साथ यह नहीं हुआ। स्वतन्त्र भारत में, वे सभी भाषाएं जो जनता के मध्य बोलचाल की भाषाएं थी, जिनमें साहित्य की रचना भी होती थी, अपने-अपने प्रदेशों में अपनी अस्मिता के प्रति आग्रहशील हो उठीं और शासन प्रबन्ध की भाषा भी बनने लगीं। भाषा के आधार पर देश का पुनर्गठन होने से यह स्थिति पूरी तरह मान्य हो गई।

स्वतंत्रता आन्दोलन के समय देश के नेताओं के सम्मुख यह प्रश्न उभरा था कि कौन-सी भाषा भावी भारत की राष्ट्रभाषा बनेगी? हिन्दी देश के अधिसंख्य भागों में बोली और समझी जाती थी। अनेक राज्यों में थानों और कचहरियों का काम उर्दू में होता था। गांधी जी ने उस समय हिन्दी और उर्दू की मिली-जुली भाषा हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किए जाने का सुझाव दिया था किन्तु उसकी अव्यावहारिकता और बनावटीपन जल्दी ही स्पष्ट हो गया। अधिसंख्य वरिष्ठ नेताओं में यह विचार उभरने लगा कि हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा होने का गौरव मिलना चाहिय।

सम्पूर्ण देश में राष्ट्रभाषा समितियां बनने लगीं। अहिन्दी भाषी प्रदेशों में उनकी सक्रियता विशेष रूप से दृष्टव्य थी। उनकी ओर से हिन्दी की परीक्षाएं प्रारम्भ की गईं और असंख्य विद्यार्थी, जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी, इन परीक्षाओं के माध्यम से हिन्दी का ज्ञान प्राप्त करने लगे। कुछ सीमा तक ये संस्थाएं अभी भी सक्रिय हैं।

किन्तु संविधान का निर्माण होते समय यह प्रश्न उभर आया कि क्या किसी एक भाषा को सम्पूर्ण देश की राष्ट्रभाषा का स्थान दिया जा सकता है? उस समय आम सहमति से यह स्वीकार किया गया कि देश की सभी भाषाएं इस देश की राष्ट्रीय भाषाएं हैं, इसलिए किसी एक भाषा के लिए इस शब्द का प्रयोग उचित नहीं है। संविधान के आठवें अनुच्छेद में देश की 14 भाषाओं (आज उनकी संख्या 20 है) को राष्ट्रीय भाषाएं माना गया। हिन्दी को संघ की राजभाषा (राष्ट्रभाषा नहीं) घोषित किया गया। साथ ही यह भी कहा गया कि इस संविधान के प्रारम्भ से पंद्रह वर्ष की अवधि तक संघ के उन सभी शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा जिनके लिए उसका ऐसे प्रारंभ से ठीक पहले प्रयोग किया जा रहा था।

संविधान के एक संशोधन द्वारा संघ की राजभाषा के रूप में अंग्रेजी के प्रयोग को उस समय तक बढ़ा दिया गया है, जब तक संघ के सभी राज्य उसे हटाने के लिए सहमत न हों। इस प्रकार अनिश्चितकाल के लिए अंग्रेजी को अभयदान दे दिया गया है। यही कारण है कि प्रो. कृष्णमूर्ति जैसे व्यक्ति अंग्रेजी को वरीयता देते रहते हैं।

आज देश के सभी राज्यों में उच्च स्तर तक हिन्दी का अध्यापन और अध्ययन हो रहा है। सभी राज्यों के विश्वविद्यालयों में हिंदी विभाग हैं जिनमें अहिन्दी भाषी प्राध्यापक और विद्यार्थियों की संख्या ही अधिक होती है।

बहुत कम ऐसा होता है कि किसी भाषा (अपनी) मातृभाषा ही क्यों न हो) का अध्ययन उसके प्रति प्रेम, कर्तव्य या मोह के कारण किया जाता हो। भाषा का सीधा संबंध आजीविका से होता है। जो भाषा अच्छी आजीविका प्राप्त कराने में जितनी अधिक सहायक सिद्ध होती है, व्यक्ति उसे ही पढ़ता है। आज अंग्रेजी की प्रभुता इसलिए भी बनी हुई है कि वह अच्छी नौकरी और स्तरीय व्यवसाय में बहुत सहायक है। सारे संसार में सूचना तकनीक के विकास से अंग्रेजी का महत्व और बढ़ गया है। गत वर्षों में हिन्दी का व्यावसायिक महत्व भी बढ़ा है। केन्द्र सरकार की राजभाषा होने के कारण देश भर में फैले हुए उसके कार्यालयों, बैकों, रेलवे तथा अन्य संस्थानों में बहुत-सा काम हिन्दी में भी होने लगा है। परिणामस्वरूप हिंदी अधिकारियों, अनुवादकों, आशुलिपिकों आदि पदों पर नियुक्तियों के अनेक अवसर हिन्दी के स्नातकों को उपलब्ध हो गए हैं।

किन्तु आज भी संभ्रान्त समाज की भाषा अंग्रेजी बनी हुई है। अंग्रेजी के साथ रोज़गार तो जुड़ा हुआ है ही, उसके साथ पढ़ा-लिखा व्यक्ति होने का प्रमाण पत्र भी नत्थी है। जो लोग हिंदी के माध्यम से अपनी रोज़ी कमाते हैं, वे भी अंग्रेजी लिखने-बोलने में गौरव अनुभव करते हैं।

प्रश्न यह है कि प्रो. कृष्ण मूर्ति जैसे लोगों की मानसिकता का आकलन किस प्रकार किया जाए? उनके भाषाविद् और विद्वान् होने में मुझे कोई संदेह नहीं हैं, किन्तु उनके मन में हिन्दी विरोधी ऐसी जटिल ग्रंथि क्यों बन गई है? चीन में अनेक बार ऐसे अवसर आए जब हम सभी लेखक यह चाहते थे कि हमारी बात चीनी अधिकारी न समझ सकें। अंग्रेजी में बोलने के कारण दुभाषिए के माध्यम से वह बात उन तक पहुंच सकती थी। इसलिए हमने अनेक बार उनसे यह आग्रह किया कि इतनी बात वे हिन्दी में कर लें, किन्तु वे टस से मस नहीं हुए। हिन्दी में एक वाक्य बोलना भी उन्हें गंवारा नहीं था। पेइचिंग विश्वविद्यालय में जब हमारे मित्र गिरिराज किशोर ने हिन्दी पढ़ने वाले चीनी विद्यार्थियों को हिंदी में संबोधन करना प्रारम्भ किया तो उन्होंने उन्हें टोक दिया और अंग्रेजी में बोलने के लिए कहा।

आन्ध्र में हिन्दी विरोधी यह ग्रंथि व्यापक हो मुझे ऐसा नहीं लगता। वहां के विश्वविद्यालयों में उच्च स्तर पर हिंदी का अध्ययन-अध्यापन होता है। अनेक शोधार्थी वहां डाक्ट्रेट की डिग्री के लिए शोध कार्य कर चुके हैं। यह कार्य निरन्तर चल रहा है।

यह सुझाव मैं इससे पहले दे चुका हूं कि भारत सरकार को एक राष्ट्रीय भाषा आयोग का गठन करना चाहिए जिसका कार्य सभी भारतीय भाषाओं के मध्य सौहार्द का निर्माण करना हो। ऐसा आयोग यह प्रयास करे कि सभी भारतीय भाषाएं अपने-अपने क्षेत्रों में उन्नति करें तथा आपस में संवाद के लिए हिंदी का प्रयोग करें। एक से अधिक भारतीय भाषाओं में विशेषज्ञता प्राप्त करने वाले अध्यावसायियों को प्रोत्साहित करने के लिए विशेष योजनाएं बनाई जाएं।

इससे पेइचिंग विश्वविद्यालय में एक चीनी छात्रा का वह मासूम प्रश्न कभी नहीं भूलता, जब उसने हम सभी को अंग्रेजी में बातचीत करते सुन कर पूछा था कि क्या आप लोगों में हिंदी किसी को नहीं आती?

(दैनिक जागरण, 6 जनवरी, 2005)

61

हिन्दी पूरी तरह केन्द्र की राजभाषा क्यों नहीं बन सकी?

ठीक 40 वर्ष पूर्व, 26 जनवरी, 1965 में हिन्दी को केन्द्र सरकार की पूरी तरह राजभाषा बन जाना था। 26 अगस्त, 1950 से जो संविधान इस देश पर लागू हुआ था उसमें देवनागरी लिपि में हिन्दी को देश की राजभाषा स्वीकार किया गया था। उस समय यह प्रावधान किया गया था कि आगामी 15 वर्ष तक अंग्रेजी का भी उन सभी शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग किया जाता रहेगा जिनके लिए उसका ऐसे प्रारम्भ से ठीक पहले प्रयोग किया जा रहा था। 15 की बजाए आज 55 वर्ष हो गए हैं। केन्द्र की राजभाषा के रूप में अंग्रेजी का न केवल प्रयोग हो रहा है, उसकी स्थिति और अधिक मजबूत हो गई है।

15 वर्ष की अवधि समाप्त होने पर द्रविड़ मुनेत्र कषगम के नेता सी. एन. अन्ना दुराई ने तत्कालीन प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री को एक पत्र लिखा जिसमें यह कहा गया कि हिन्दी को सम्पूर्ण भारत पर थोपा नहीं जाना चाहिए। 1956 में तमिल संस्कृति अकादमी ने एक प्रस्ताव पारित किया था जिसमें कहा गया था कि अंग्रेजी को भारत संघ की राजभाषा के रूप में बनाए रखना चाहिए, उसे केन्द्र तथा राज्यों के आपसी पत्र-व्यवहार की भाषा बनाए रखना चाहिए। इस प्रस्ताव पर सी. अन्ना दुराई के अतिरिक्त ई. वी. रामास्वामी 'पेरियार' तथा सी. राजा गोपालाचारी के भी हस्ताक्षर थे। राजा जी के रुख में यह बड़ा परिवर्तन था क्योंकि इससे पहले हिन्दी को देश की राष्ट्र-भाषा बनाने के वे पूरी तरह समर्थक थे।

26 जनवरी, 1965 के निकट आते ही दक्षिण में हिन्दी विरोध का स्वर प्रबल हो गया। प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री तथा मंत्रिमंडल के उनके वरिष्ठ सहयोगी-मोरारजी

देसाई तथा गुलजारी नंदा भी हिन्दी के समर्थक थे। 26 जनवरी से दस दिन पहले अन्ना दुराई ने प्रधानमंत्री को एक पत्र लिखकर यह कहा कि यदि अंग्रेजी को हटाया गया तो वे गणतंत्र दिवस को शोक दिवस के रूप में मनाएंगे।

प्रारम्भ में डी. एम. के. ने एक स्वतंत्र द्रविड़ राज्य की मांग की थी। धीरे-धीरे इस मांग में लचीलापन आता गया। 1963 में हुए एक सम्मेलन में इस मांग को त्याग कर राज्यों को अधिक अधिकार देने की मांग रखी गई। अन्ना दुराई का तर्क था कि चाहे आप तमिल बोलें या अंग्रेजी बोलें—आप अच्छे भारतीय बने रह सकते हैं। किन्तु प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री का आग्रह था कि निश्चित तिथि को उनकी सरकार हिन्दी को एकमात्र राजभाषा बनाने के लिए प्रतिबद्ध है।

इसके पश्चात् सम्पूर्ण तमिल प्रदेश में हिन्दी का व्यापक विरोध प्रारम्भ हो गया। प्रदेश के अनेक भागों में हिन्दी विरोध में पुतले जलाए गए। विद्यार्थियों ने कक्षाओं का वहिष्कार करना प्रारम्भ कर दिया। कोयम्बटूर, मदुराई आदि नगरों में हड़ताल रखी गई, बंद करवाए गए। कुछ स्थानों पर हिंसक घटनाएं हुईं। गणतंत्र दिवस के दिन दो नवयुवकों ने मद्रास (अब चेन्नई) में आत्मदाह कर लिया।

इस प्रश्न पर कांग्रेस पार्टी में मतभेद उभर आए। बैंगलोर में कुछ वरिष्ठ कांग्रेस नेताओं की एक बैठक हुई जिसमें यह कहा गया कि हिंदी-प्रेमियों को अहिंदी-भाषी क्षेत्रों पर हिन्दी को आरोपित नहीं करना चाहिए। विरोध प्रदर्शन करने वालों में एस. निजलिंगप्पा, अतुल्य घोष, संजीवा रेड्डी तथा कांग्रेस अध्यक्ष के. कामराज भी शामिल थे, किन्तु मोरारजी देसाई का विचार इनसे भिन्न था। तिरुपति के संवाददाताओं से बातचीत करते हुए उन्होंने कहा कि तमिल लोग यदि हिन्दी सीखेंगे तो सम्पूर्ण भारत में उनका प्रभाव बढ़ेगा। उन्होंने तमिल प्रदेश के कांग्रेस नेताओं से आग्रह किया कि वे लोगों को हिन्दी का विरोध करने की गलती से परिचित कराएं। मोरारजी देसाई ने यह भी कहा कि 1950 में ही हिन्दी को राजभाषा न बनाकर बड़ी भूल की गई।

उस स्थिति में प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री के सम्मुख बड़ी विषम समस्या पैदा हो गई। हृदय से वे पूरी तरह हिन्दी के समर्थक थे किन्तु विरोधपक्ष को सुनना भी उनकी बाध्यता थी। तमिलनाडु (उस समय मद्रास) के केन्द्रीय मंत्रिमंडल के दो सदस्यों ने इस प्रश्न पर अपना त्यागपत्र दे दिया था। 11 फरवरी को उन्होंने आकाशवाणी से राष्ट्र के नाम एक संदेश प्रसारित किया। इस संदर्भ में सभी प्रकार की आशंकाओं को दूर करने के लिए उन्होंने कहा कि पंडित जवाहरलाल नेहरू ने यह भरोसा दिया था कि जब तक लोग चाहेंगे, अंग्रेजी बनी रहेगी।

इसी के साथ उन्होंने कुछ और वायदे किए। एक बात यह कही कि सभी राज्यों को यह पूरा अधिकार है कि वे अपने प्रदेश का काम-काज अपने प्रदेश की भाषा या अंग्रेजी में करें। दूसरी बात यह है कि एक राज्य-दूसरे राज्य से पत्र व्यवहार अंग्रेजी में कर सकेंगे। यदि उसके लिए हिंदी का प्रयोग किया गया तो उसके साथ प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद भी रहेगा। तीसरी बात यह कि अहिन्दी भाषी राज्य केन्द्र सरकार से अंग्रेजी में पत्र-व्यवहार कर सकेंगे। इस व्यवस्था में उस समय तक कोई परिवर्तन नहीं

किया जाएगा जब तक अहिंदी भाषी राज्यों की पूर्ण सहमति नहीं होगी। चौथी बात यह कि केन्द्र में अंग्रेजी का प्रयोग पहले की तरह चलता रहेगा।

पांचवीं महत्वपूर्ण बात यह थी कि अखिल भारतीय नागरिक सेवाओं की परीक्षाएं अंग्रेजी के माध्यम से होती रहेंगी। उन्हें केवल हिन्दी-माध्यम में परिवर्तित नहीं किया जाएगा।

इन वायदों से तमिल प्रदेश का हिन्दी विरोधी आन्दोलन तो शांत हो गया किन्तु वहां कांग्रेस पार्टी का प्रभाव बहुत कम हो गया। डी. एम. के. द्वारा संचालित हिन्दी विरोधी आन्दोलन का प्रभाव यह हुआ कि अन्ना दुराई की लोकप्रियता बहुत बढ़ गई। दो वर्ष बाद जब वहां विधानसभा के चुनाव हुए तो उसमें डी. एम. के. को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ और वहां कांग्रेस का पूरी तरह सफाया हो गया। देश के लगभग सभी लोगों में—केन्द्र में तथा राज्यों में—कांग्रेस की सत्ता जाती-आती रही है, किन्तु दो राज्य ऐसे हैं जिनमें गत तीन दशकों में उसे वापस आने में सफलता नहीं मिली है। इनके एक राज्य है पश्चिमी बंगाल जहां मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी तथा उसे सहयोग देने वाली अन्य वामपंथी पार्टियों का गठ-जोड़ निरन्तर सत्ता में बना हुआ है।

तमिलनाडु की स्थिति भी ऐसी ही है। अन्ना दुराई की मृत्यु के पश्चात् डी. एम. के. दो भागों में बंट गई—करुणानिधि के नेतृत्व में द्रविद्र मुनेत्र कषगम और एम. जी. राम चंद्रन के नेतृत्व में आल इंडिया द्रविड़ मुनेत्र कषगम जिसका नेतृत्व इस समय जयललिता कर रही हैं। तमिलनाडु की सत्ता कभी डी. एम. के. पास होती है, कभी ए.डी.एम. के. पास।

हिन्दी के समर्थन तथा विरोध से एक बात स्पष्ट हो गई कि यदि 26 जनवरी 1950 में ही हिन्दी को केन्द्र की एकमात्र राजभाषा घोषित कर दिया जाता तो संभवतः उसका इतना विरोध न होता। 15 वर्ष तक अंग्रेजी को उसके साथ नत्थी करने का परिणाम यह हुआ कि भाषा के आधार पर पुनर्गठित राज्यों के अंदर अपनी राजनीतिक तथा भाषाई आकांक्षाएं बहुत उभर आईं और उन्हें लगने लगा कि हिन्दी के राजभाषा बनने से देश के शासन तंत्र पर हिंदी भाषी लोगों का प्रभुत्व बहुत बढ़ जाएगा।

मुझे यह कहने में भी कोई संकोच नहीं हैं कि हिंदी प्रेमियों ने अहिंदी भाषी लोगों की इन आशंकाओं को दूर करने का कोई सार्थक प्रयास नहीं किया। वर्धा में जब अन्तर्राष्ट्रीय महात्मा गांधी हिन्दी विश्वविद्यालय की स्थापना की गई तो उसे इस बात के लिए एक सशक्त मंच बनाया जा सकता था, किन्तु यह विश्वविद्यालय सिर्फ एक कागज पर बना रहा और उसके माध्यम से कुछ नौकरशाह अपनी निजी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करते रहे। भारत सरकार ने भी दो-तीन बार सभी भारतीय भाषाओं के विद्वानों को लेकर ऐसी समितियां बनाई जिनका कार्य सभी भाषाओं के मध्य सार्थक संवाद उत्पन्न करना था, किन्तु ये समितियां भी एक-दो बैठकों के अतिरिक्त कोई रचनात्मक काम नहीं कर सकीं। परिणाम यह हुआ कि अहिंदी भाषी क्षेत्रों में बनी हुई आशंकाओं का कोई निदान नहीं निकल सका।

आज स्थिति ऐसी है कि हिन्दी को केन्द्र की एकमात्र राजभाषा बनाना पहले

से अधिक कठिन हो गया है। इसमें संदेह नहीं कि अखिल भारतीय स्तर पर हिंदी की प्रगति हुई है, किन्तु यह बात भी नहीं भूलनी चाहिए कि इस स्तर पर अंग्रेजी का प्रभाव कहीं अधिक बढ़ा है। भूमंडलीकरण और सूचना प्रौद्योगिकी के विकास ने अंग्रेजी के पक्ष में अनेक नए तर्कों को जन्म दे दिया है।

यह भी निश्चित है कि 40 वर्ष पहले तत्कालीन प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने जो आश्वासन अहिंदी भाषी राज्यों को दिए थे उनसे केन्द्र में आई कोई भी सरकार पीछे नहीं हट सकती, विशेषरूप से उस समय जब केन्द्र में किसी भी पार्टी को बहुमत नहीं मिल रहा है और बीस-बीस छोटी-बड़ी पार्टियों की मिली-जुली सरकार बन रही है।

इस दृष्टि से हिन्दी के लिए कुछ रचनात्मक उपाय करने की कहीं अधिक आवश्यकता है। केन्द्र सरकार को एक राष्ट्रीय भाषा आयोग तो बनाना ही चाहिए, वर्धा के अन्तर्राष्ट्रीय महात्मा गांधी हिन्दी विश्वविद्यालय को सभी भारतीय भाषाओं के विश्वविद्यालय का रूप देना चाहिए।

(दैनिक जागरण, 27 जनवरी, 2005)

62

अध्यापक पूर्ण सिंह बनाम प्रो. पूरन सिंह

प्रो. पूरन सिंह को पंजाब का अलबेला कवि कहा जाता है। उन्होंने पंजाबी कविता को मुक्त छंद में ऐसा रंग-रूप दिया जो समकालीन योरोपीय कविता का था। उनका अलबेलापन केवल पंजाबी कविता क्षेत्र में ही नहीं, उनके हिंदी निवंधों और अंग्रेजी की रचनाओं में भी दिखाई देता है।

प्रो. पूरन सिंह को यह मस्ती भरी प्रकृति उनके सम्पूर्ण जीवन में भी दिखाई पड़ती है। उनका जन्म 17 फरवरी, 1881 को ऐबटाबाद (पश्चिमी पंजाब) में हुआ था। उनका देहान्त 31 मार्च, 1931 को देहरादून में हुआ।

उन्हें मात्र पचास वर्ष की आयु प्राप्त हुई, परन्तु इस अवधि में ही उन्होंने पंजाबी, अंग्रेजी और हिन्दी में जो साहित्य सृजन किया उसकी गुणवत्ता का अनुमान तो इसी बात से लगाया जा सकता है कि हिन्दी में प्रकाशित उनके मात्र छह निबंधों ने उन्हें हिन्दी निबन्ध साहित्य में अमर स्थान का अधिकारी बना दिया है।

हिन्दी संसार प्रो. पूरन सिंह को 'अध्यापक पूर्ण सिंह' के रूप में जानता है। हिन्दी का ऐसा कौन-सा विद्यार्थी है जिसने अपने पाठ्यक्रम में अध्यापक पूर्ण सिंह का कोई न कोई निबंध न पढ़ा हो। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का इतिहस' में लिखा था–

'सरस्वती' के पुराने पाठकों में से बहुतों को अध्यापक पूर्ण सिंह के लेखों का स्मरण होगा। उनके तीन-चार निबंध ही उक्त पत्रिका में निकले। उनमें विचारों और भावों को एक अनूठे ढंग से मिश्रित करने वाली एक नई शैली मिलती है। उनकी लाक्षणिकता हिन्दी गद्य साहित्य में एक नई चीज़ थी। भाषा की वहुत कुछ उड़ान, उसकी बहुत कुछ शक्ति 'लाक्षणिकता' में देखी जाती है। भाषा और भाव की एक

नई विभूति उन्होंने सामने रखी (पृ. 500)।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में अध्यापक पूर्ण सिंह के लिखे तीन, निबंधों का उल्लेख किया है—'मजदूरों और प्रेम', 'सच्ची वीरता' और 'आचरण की सभ्यता'। इनके अतिरिक्त—'कन्या दान', 'पवित्रता' और 'अमेरिका का मस्त जोगी-वाल्ट हिटमैन'। इनके अधिकांश निबन्ध सन् 1909 से 1912 के दौरान प्रकाशित हुए। बीसवीं शती के इन प्रारंभिक वर्षों में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में साहित्य की नवीन विधाएं पश्चिमी साहित्य की प्रेरणा और प्रभाव से विकसित हो रही थीं। 'निबंध' भी एक ऐसी ही विधा थी। हिन्दी में निबंध शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'ऐसे' शब्द के समानार्थी के रूप में प्रारम्भ हुआ। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध निबंधकार जानसन ने निबंध की परिभाषा करते हुए कहा था—"मुक्तमन को मौज अनियमित, अपरिपक्व रचना, न कि नियमबद्ध और व्यवस्थित कृति' निबंध के लक्षणों में स्वंच्छदता, सरलता आडंबरहीनता घनिष्ठता और आत्मीयता के साथ लेखक के वैयक्तिक आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण का भी उल्लेख किया जाता है, परन्तु यह बात भी सभी साहित्य पारखी जानते हैं कि निबंध तेखक की अनियमितता में भी एक नियम होता है और यही लेखक अपनी राह स्वयं बनाता है।

जब निबन्ध साहित्य की इस प्रकार की परिभाषाएं बन रही थीं, जब अभी हिन्दी निबंध का कोई स्वरूप निर्मित नहीं हुआ था, डॉ. पूर्ण सिंह नितान्त अपनी शैली, अपना विषय और अपना रंग लेकर आए और उन्होंने अपने गिने-चुने निबंधों से सभी को चमत्कृत कर दिया। पूर्ण सिंह की चर्चा एक श्रेष्ठ आत्मव्यंजक निबंधकार के रूप में की जाती है। द्विवेदी युग की उपदेशात्मकता, इतिवृत्तात्मकता या नीरस निर्वैयक्तिकता उनकी रचनाओं में नहीं है। भावना और कल्पना का ऐसा संयोग रचनाओं में है जो छायावाद की पूर्व भूमिका है और विचारों की ऐसी गतिशीलता और गहनता है जो आगे चल गांधीवाद और प्रगतिवाद में विकसित होती है। यूरोप की मशीनी सभ्यता की प्रतिक्रिया टाल्सटाय, रस्किन और बाद में गांधीजी की रचनाओं में दिखाई दी, वह पूर्ण सिंह के निबन्धों में बड़ी सघनता से प्राप्त है। यह अपने आप में कम महत्वपूर्ण बात नहीं है कि गांधी जी से पहले पूर्ण सिंह ने चरखा और हस्त-उद्योग की मशीनी उत्पादन से होती हुई टकराहट को अनुभव किया और अपनी लेखनी द्वारा उसे सशक्त ढंग से रूपायित किया। पूंजीवाद उभरते युग में उन्होंने श्रम और श्रमिक के महत्व को रेखांकित किया। पूंजीवादी व्यवस्था में हर वस्तु पैसे से तौली जाती है, परन्तु डॉ. पूर्ण सिंह उस आध्यात्मिक समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसमें मशीन का नहीं, मनुष्य का मूल्य है। 'मज़दूरी और प्रेम' वे कहते हैं—

"आदमियों की तिजारत करना मूर्खों का काम है। सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल झाफ की कलों का दाम तो हजारों रुपया है, परन्तु मनुष्य कौड़ी के सौ-सौ विकते हैं। सोने और चांदी की प्राप्ति से जीवन का आनन्द नहीं मिल सकता। सच्चा आनन्द तो मुझे काम से मिलता है। मुझे अपना काम मिल जाए तो फिर स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा नहीं, मनुष्य पूजा ही सच्ची ईश्वर पूजा है...मजदूर और मजदूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है।

पूर्ण सिंह के निबन्धों में व्यक्त विचार अपने समय से बहुत आगे के विचार हैं रूढ़ियों और परम्पराओं में जकड़े हुए लोगों के लिए उन विचारों को समझना और आत्मसात् करना उस समय बहुत कठिन था, आज भी सरल नहीं है। हमारे देश में प्राचीन काल से ही साधु-संन्यासियों का जीवन श्रमहीन और परजीवी जीवन बनकर रहा है। ऐसे साधु-संन्यासी, संत और फकीर दूसरों की कमाई पर जीकर अपने लिए सभी प्रकार की भौतिक सुविधाएं और सम्मान अर्जित करते हैं। पूर्ण सिंह ने ऐसे परजीवियों के लिए कहा–

"बिना मजदूरी किए फकीरी का उच्च भाव शिथिल हो जाता है, फकीरी भी अपने आसन से गिर जाती है, बुद्धि बासी पड़ जाती है। बासी चीजें अच्छी नहीं होतीं। कितने ही उम्र भर बासी बुद्धि और बासी फकीरी में मग्न रहते हैं, परन्तु इस तरह मग्न होना किस काम का...निकम्मे बैठे हुए चिन्तन करते रहना अथवा बिना काम किए शुद्ध विचार का दावा करना मानो सोते-सोते खर्राटे मारना है।

हमारे देश में मेहनत, मजदूरी, श्रम, सेवा करने वाले लोगों को आमतौर पर कभी सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा गया। सामाजिक स्तर पर उन्हें निम्न श्रेणी का व्यक्ति समझा जाता रहा और धार्मिक स्तर पर उन्हें शूद्र कहकर उनसे वे सभी मानवीय अधिकार छीन लिए गए जिनके कारण उन्हें अपने जीवन की कुछ सार्थकता का अहसास हो सकता था। श्रमजीवी व्यक्ति की इस विडम्बना पर अपना गहरा सरोकार व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा था–

"जब हमारे यहां के मजदूर, चित्रकार तथा लकड़ी और पत्थर पर काम करने वाले भूखे मरते हैं तब हमारे मंदिरों की मूर्तियां कैसे सुंदर हो सकती हैं? ऐसे कारीगर तो यहां शूद्र के नाम से पुकारे जाते हैं। याद रखिए, बिना शूद्र-पूजा के मूर्ति-पूजा, किंवा, कृष्ण और शालिग्राम की पूजा होना असंभव है। सच तो यह है कि हमारे धर्म-कर्म बासी ब्राह्मणत्व के छिछोरेपन से दरिद्रता को प्राप्त हो रहे हैं। यही कारण है जो आज हम जातीय दरिद्रता से पीड़ित हैं।"

इस लेख में पूर्ण सिंह ने गुरु नानक के जीवन से सम्बन्धित भाई लालो और मलिक भागो वाले प्रसंग का उल्लेख किया है। श्रमिक भाई लालो की सूखी रोटी से दूध और धनवान मलिक भागो के पकवान से खून निकलने की जनश्रुति को उन्होंने व्याख्या करते हुए लिखा था–

"भागो की हलवा पूरी उन्होंने एक हाथ में और भाई लालो की मोटी रोटी दूसरे हाथ में लेकर दोनों को जब दबाया तो एक से लोहू टपका और दूसरी से दूध की धारा। यही धारा शिव की जटा से और यही धारा मजदूरों की उंगलियों से निकलती है।"

प्रो. पूर्ण सिंह के भावात्मक कहे जाने वाले निबंधों में गहन प्रगतिशील दृष्टि प्रतिबिंबित होती है। उद्योगों के विशाल पैमाने पर किए जाने वाले मशीनीकरण के उत्तर में गांधी ने कुटीर उद्योगों पर बल दिया था। भारत जैसे बहुसंख्य किन्तु निर्धन देश में किस प्रकार की अर्थव्यवस्था उपयोगी हो सकती है, इस ओर पूर्ण सिंह ने भारतीय राजनीति के दृश्य पटल पर गांधी जी के आगमन से पूर्व (सन् 1912) में ये विचार

व्यक्त किए थे–

"एक तरफ दरिद्रता का अखंड राज्य है, दूसरी तरफ अमीरी का चरम दृश्य हैं। परन्तु अमीरी भी मानसिक दुखों से विमर्दित है। मशीनें बनाई तो गई थीं मनुष्यों का पेट भरने के लिए–मज़दूरों को सुख देने के लिए, परन्तु वे काली-काली मशीनें ही काली बनकर उन्हीं मनुष्यों का भक्षण कर जाने के लिए मुख खोल रहीं...भारत जैसे दरिद्र देश में मनुष्यों के हाथों की मज़दूरी के बदले कलों से काम लेना काम का डंका बजाना होगा।"

(मजदूरी और प्रेम)

प्रो. पूर्ण सिंह एक जागरूक और अध्ययनशील व्यक्ति थे। उन्हें प्राचीन भारतीय संस्कृति, आधुनिक पश्चिमी विचार-पद्धति और जापानी जीवन-बोध का गहरा अध्ययन था। यूरोप में मशीनीकरण से उत्पन्न सांस्कृतिक संकट को उन्होंने पहचाना था और उस पर अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। भारतीय जीवन के अन्तविरोधों पर तीखे कटाक्ष उन्होंने अपने दो निबंधों–'पवित्रता' और 'आचरण' की 'सभ्यता' में किए हैं। रूढ़िग्रस्त मानसिकता अर्थहीन मान्यताओं और संदर्भ-च्युत जीवन-मूल्यों के संबंध में उनकी बेलाग टिप्पणियां हैं।

एक निबंध में पूर्ण सिंह आचरण और धर्म के अन्तःसंबंध की व्याख्या करते हुए कहते हैं–

"वह आचरण जो धर्म-सम्प्रदायों के अनुच्चारित शब्दों को सुनता है, हमने कहा? जब वही नहीं तक फिर क्यों न ये सम्प्रदाय हमारे मानसिक महाभारतों के कुरुक्षेत्र बनें? क्यों न अप्रेम, अपवित्रता, हत्या और अत्याचार इन सम्प्रदायों के नाम से हमारा खून करें। कोई भी धर्म-सम्प्रदाय आचरण-रहित पुरुषों के लिए कल्याण कारक नहीं हो सकता और आचरण वाले पुरुषों के लिए सभी धर्म-सम्प्रदाय कल्याणकारक हैं। सच्चा साधु धर्म को गौरव देता है, धर्म किसी को गौरवान्वित नहीं करता।

(आचरण की सभ्यता)

अध्यापक पूर्व सिंह का हिन्दी साहित्य को योगदान इतना ही नहीं है कि उन्होंने हिन्दी निबंध के विकास के उन प्रारंभिक वर्षों में निबंध के स्वरूप की रचना की और भाषा तथा शैली का उत्कृष्ट उदाहरण सामने रखा। यह योगदान इस दृष्टि से भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि उन्होंने रूढ़िग्रस्त, निरर्थक विश्वास से चिपटे हुए अतीत के स्वर्णिम स्वप्नों में जीते हुए और परम्परा की निर्धारित लकीरों पर आंखें बंद करके चलते हुए समाज को अपने विचारों, अपनी प्रगतिशील दृष्टि और अपनी बेबाक अभिव्यक्ति से झकझोर कर जगाने का प्रयत्न किया।

(दैनिक जागरण, 10 फरवरी, 2005)

63
प्रकाशन व्यवसाय की चुनौतियां

पुस्तक प्रकाशन और व्यवसाय की दृष्टि से भारत संसार के कुछ अग्रणी देशों में है। अंग्रेजी, हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में बड़ी संख्या में यहां पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। देश के विभिन्न भागों में निरंतर पुस्तक मेले लगते रहते हैं। इनमें प्रति दूसरे वर्ष लगने वाला विश्व पुस्तक मेला पुस्तक प्रेमियों के लिए बड़ी सुखद स्मृति लेकर आता है। इस मेले में लगभग डेढ़ हजार प्रकाशक भाग लेते हैं और संसार के तीस से अधिक देशों की इसमें भागीदारी होती है, किन्तु व्यापार और उद्योग की दृष्टि से पुस्तक प्रकाशन, वितरण और बिक्री को आज भी वह स्थान प्राप्त नहीं है जो सौ करोड़ से अधिक जनसंख्या वाले देश में उसे प्राप्त होना चाहिए। इस देश में विशेष रूप से हिंदी में जिन कुछ लोगों ने इस व्यवसाय को बड़ी गंभीरता से ग्रहण किया और इसे उद्योग की स्थिति तक पहुंचाया उनमें दीनानाथ मल्होत्रा का नाम सबसे पहले लिया जाता है। उन्होंने प्रकाशन क्षेत्र में अनेक मानक स्थापित किए हैं, किन्तु इस क्षेत्र में उनका सबसे बड़ा योगदान हिंदी में जेवी पुस्तकों के आंदोलन का अग्रदूत होने में है।

प्रकाशन व्यवसाय के अध्यावसाय, उसकी कठिनाइयों और उसकी उपलब्धियों पर बहुत कम पुस्तकें लिखी गई हैं। कुछ वर्ष पूर्व हिंदी प्रचारक संस्थान वाराणसी के (स्व) कृष्णचंद्र बेरी ने प्रकाशन व्यवसाय पर बहुत अच्छी पुस्तक लिखी थी। कुछ समय पूर्व ही दीनानाथ की पुस्तक 'डेयर टु पब्लिश' आई है। अच्छा होता कि उन्होंने इसे हिंदी में भी लिखा होता, किन्तु अंग्रेजी में आने के कारण इसका महत्व कम नहीं होता। 'डेयर टु पब्लिश' पुस्तक आत्मकथा नहीं है। यह मुख्य रूप से संस्मरणात्मक है जिसमें लेखक ने देश के विभाजन के पूर्व की स्मृतियों तथा प्रकाशन क्षेत्र में अपने अनुभवों और कार्यों की बहुत रोचक स्मृतियों को संजोया है। दीनानाथ के पिता राजपाल ने लाहौर में प्रकाशन कार्य प्रारंभ किया था। उनके प्रकाशन से एक ऐसी पुस्तक प्रकाशित हुई जिस पर वहां के मुस्लिम समुदाय में बड़ा असंतोष उत्पन्न हो गया था। एक धर्मान्ध

व्यक्ति ने राजपाल की हत्या कर दी। बाद में वही संस्थान दिल्ली में राजपाल एंड सन्स के नाम से स्थानांतरित हुआ और हिंदी के अग्रणी प्रकाशकों में उसकी गणना होने लगी। विभाजन के पूर्व के इस देश में हिंदू और मुसलमान साथ-साथ तो रहते थे, किन्तु सभी ओर पुनर्जागरण की ऐसी लहर आई हुई थी कि सभी धार्मिक समुदाय अपनी अस्मिता की पहचान में बहुत सक्रिय हो उठे थे। ऐसे समय में अपनी अस्मिता के साथ ही प्रतिपक्षी धर्म और उसके पूज्य पुरुषों की छींटाकसी की प्रवृत्ति भी प्रारंभ हो गई थी। यदि मुसलमानों का एक वर्ग हिंदुओं को काफिर कहता तो हिंदुओं का एक वर्ग मुसलमानों को म्लेच्छ समझता और उनसे उसी प्रकार का व्यवहार करता था।

दीनानाथ मल्होत्रा ने अपनी पुस्तक में एक बड़ी रोचक, किन्तु खेदपूर्ण घटना का उल्लेख किया है। गर्मी की ऋतु में लाहौर में कुछ संपन्न परिवारों के हिंदू युवक केवड़ा और चंदन की गंध से युक्त ठंडे पानी की ट्रालियां लेकर लोगों को पानी पिलाते थे। यह सेवा हिंदुओं के लिए होती थी और उन्हें अच्छे सिल्वर के गिलासों में पानी पिलाया जाता था। संयोग से यदि कोई मुसलमान पानी पीने के लिए आ जाता तो उसे बड़ी अनिच्छा से बांस की नली द्वारा घटिया किस्म के गिलास में पानी दिया जाता जो अत्यंत अपमानजक होता था। जिस समाज में लोगों में पानी की भी सांझ नहीं थी, क्या वे एक राष्ट्र के रूप में गठित हो सकते थे? निश्चित है कि मोहम्मद अली जिन्ना के द्विराष्ट्रवाद के सिद्धान्त को ऐसी घटनाओं से बल मिला होगा।

प्रकाशन व्यवसाय मात्र एक व्यवसाय नहीं है, वह एक मिशन है। उसके साथ सामाजिक दायित्व भी जुड़ा हुआ है। अपने प्रकाशनों के माध्यम से वह लोगों के चिंतन-क्षितिज का विस्तार करता और मानसिक दृष्टि से उन्हें समृद्ध बनाता है। इसलिए यह व्यवसाय व्यक्ति की रोजी-रोटी का साधन तो बन सकता है, लेकिन केवल लाभ कमाने का साधन नहीं। दीनानाथ ने ऐसे अनेक प्रश्नों पर बड़ी गंभीरता और संवेदनशीलता से विचार किया है। लेखन के क्षेत्र में प्रायः लेखक और प्रकाशक के संबंधों पर बहुत चर्चा होती है। आम लेखक किसी न किसी स्तर पर यह मानता है कि प्रकाशक लेखक का शोषण करता है। आम प्रकाशक की मानसिकता यह होती है कि किसी लेखक की पुस्तक प्रकाशित करके वह उसे उपकृत करता है, किन्तु ये दोनों ही एक-दूसरे पर पूरी तरह आश्रित होते हैं। प्रकाशक को अच्छे लेखकों की आवश्यकता होती है और हर लेखक यह चाहता है कि उसे ऐसा प्रकाशक मिले जो न केवल उसकी रचना को बड़े सुंदर ढंग से प्रकाशित करे, बल्कि उसका ठीक ढंग से प्रचार करे और उसे ईमानदारी से रायल्टी भी दे।

लेखक और प्रकाशक का संबंध कैसे जुड़े, हमारे देश के लेखकों के सम्मुख यह बड़ी समस्या रहती है। आम लेखक अपनी पांडुलिपि लेकर प्रकाशकों के द्वार पर दस्तक देता है और स्वीकृति-अस्वीकृति के बीच झूलता रहता है। बहुत कम ऐसे सौभाग्यशाली लेखक होते हैं, जिनके द्वार पर प्रकाशक पहुंचते हैं। इस पुस्तक में लेखक ने पश्चिमी देशों में प्रचलित 'साहित्यिक दलाल' (लिटरेरी एजेंट) का उल्लेख किया है। ऐसी एजेंसियां प्रकाशक-लेखक के बीच बिचौलिए का काम करती हैं। लेखक अपनी पांडुलिपि लेकर सीधे प्रकाशक से नहीं मिलता। वह एजेंसी के पास जाता है। एजेंसी में इस

व्यवसाय के कुशल और विज्ञ व्यक्ति होते हैं। वे प्रकाशकों की रुचियों और आवश्यकताओं से परिचित होते हैं। वे उस पांडुलिपि से प्रकाशक को परिचित कराते हैं, दोनों के मध्य की शर्तों को भी अंतिम रूप देते हैं। यह एक प्रकार से त्रिपक्षीय समझौता होता है।

यदि प्रकाशक लेखक को 10 प्रतिशत रायल्टी देता है तो उसमें से एक प्रतिशत एजेंसी को मिलता है। यह प्रथा पश्चिमी देशों में लंबे समय से चल रही है, किन्तु अपने देश में इसका विकास नहीं हुआ है। यहां स्थापित और समृद्ध प्रकाशक हैं और उनका अपना लेखक वर्ग होता है। अधिक संख्या उन प्रकाशकों की है जो थोड़े से अनुभव और थोड़ी सी पूंजी से यह व्यवसाय प्रारंभ कर देते हैं। बहुत से नए लेखक अपनी जेब से धन देकर पुस्तकें प्रकाशित कराते हैं और बदले में अपनी पुस्तक की कुछ प्रतियां प्राप्त कर लेते हैं। हिंदी में बहुत से लेखकों की पांडुलिपियां तो प्रकाशकों द्वारा ले ली जाती हैं, किन्तु कई-कई वर्ष तक उनके छपने का नंबर नहीं आता। प्रकाशकों की न सुनने या लंबे समय तक प्रतीक्षा करने की यातना उन्हें सहनी पड़ती है। हिन्दी में ऐसी एजेंसी बनाने के छिटपुट प्रयास तो हुए हैं, किन्तु पश्चिमी देशों जैसा कोई ठीक-ठाक प्रयास नहीं हुआ है। इस देश में पुस्तकों के प्रचार-प्रसार और विज्ञापन करने की भी कोई व्यवस्था नहीं है। दीनानाथ को पाकेट बुक्स आंदोलन का प्रणेता स्वीकार किया जाता है। उन्होंने 1957 में 'हिंद पाकेट बुक्स' की स्थापना से एक नए युग का सूत्रपात किया। जेबी पुस्तकों की लोकप्रियता निरंतर बढ़ती गई। कुछ वर्ष बाद उसने अपने चरमोत्कर्ष को छुआ, जब बहुत लोकप्रिय लेखक गुलशन नंदा के उपन्यास 'झील के उस पार' का प्रथम संस्करण पांच लाख प्रतियों का प्रकाशित हुआ। फिर हिन्दी में पॉकेट बुक्स के प्रकाशकों की बाढ़ सी आ गई और बाजार ऐसी पुस्तकों से पट गया। ऐसी पुस्तकों में हल्की-फुल्की रोमानी या जासूसी पुस्तकों का ही बोलबाल था और सस्ता मनोरंजन करने वाले लेखक ही इनमें छपते थे।

मुझे यह लिखने में संकोच नहीं है कि हिंद पॉकेट बुक्स ने उस अंधी व्यावसायिक दौड़ में सुरुचिपूर्ण प्रकाशनों से किनारा नहीं किया। उसने हिंदी के प्रतिष्ठित लेखकों की साहित्यिक कृतियों के जेबी संस्करण भी प्रकाशित किए और सामान्य जनता के मानस में बसे हुए संतों-भक्तों की जीवनीपरक रचनाएं भी प्रकाशित कीं। मुझे यह बात बहुत विचित्र और रहस्यपूर्ण लगती है कि दो दशक पूर्व तक की जेबी पुस्तकों की व्यापक लहर इस बीच कहां गायब हो गई है। पुस्तक व्यवसाय को हमारी सरकार की डाक नीति ने बहुत नुकसान पहुंचाया है। जेबी पुस्तकें दूर-दराज के इलाकों में भी जाती थीं। उनके भेजने पर अब इतना अधिक डाक खर्च आ जाता है कि प्रकाशक उसे सहन नहीं कर पाता। इस पुस्तक में लेखक ने जेबी पुस्तकों की लहर में आए आज के गतिरोध पर प्रकाश नहीं डाला है।

(दैनिक जागरण, 7 अप्रैल, 2005)

64
जागरूक प्रहरी भी थे राष्ट्रकवि

यह बात मुझे अच्छी तरह से याद है। स्कूल और कालेज के दिनों में मैं और मेरे अनेक साथी एक गीत समवेत स्वर में गाया करते थे : *वंदना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो...*

राष्ट्र भक्ति के गीतों का उस समय युवा पीढ़ी में बहुत चलन हुआ करता था। स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी जा रही थी। अगस्त, 1942 के 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' आंदोलन के बाद देश में राजनीतिक गतिविधियां बहुत तेज हो गई थीं। महात्मा गांधी तथा देश के अन्य बड़े नेता जेलों में बंद थे। युवा पीढ़ी क्रांतिकारियों से बहुत प्रभावित थी। चंद्रशेखर आजाद और भगत सिंह इस पीढ़ी के आदर्श पुरुष थे। लगता था कि स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए अगणित लोगों को अपने प्राण न्योछावर करने होंगे। इस वर्ष पं. सोहन लाल द्विवेदी की जन्मशती मनाई जा रही है। इसे हमारी भाषा का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि जिन साहित्य-सेवियों ने साहित्य-सृजन में अपना संपूर्ण जीवन समर्पित किया, उनकी स्मृतियों को संजोने और उन्हें राष्ट्र की थाती के रूप में सुरक्षित रखने का कोई सार्थक प्रयास नहीं होता।

साहित्य कर्मियों की जयंतियां आती हैं और निकल जाती हैं। कुछ लोग उनका स्मरण कर लेते हैं, फिर वे विस्मृति के गर्त में डूब जाते हैं। राष्ट्रीय गीत से ओत-प्रोत रचनाओं के कारण सोहन लाल द्विवेदी को राष्ट्रकवि कहा गया, किन्तु विडंबना यह है कि स्वतंत्रता के पश्चात् से ही हमारी राष्ट्रीयता का विखंडन प्रारंभ हो गया। देश में प्रांतवाद उभरा, जातिवाद उभरा, वंशवाद उभरा और सबसे अधिक व्यक्तिवाद उभरा। इस आपाधापी में न राष्ट्रवाद याद रहा, न राष्ट्रकवि। सत्ता प्राप्ति की दौड़ में वे सभी नेता दौड़ने लगे जिन्होंने जनता के सम्मुख बड़े सुहावने स्वप्न रखे थे। लोगों का मोहभंग होने लगा। क्या इसी दिन के लिए उन्होंने लाठियां-गोलियां खाई थीं, फांसी पर चढ़े

थे, विदेशी शासकों की गोलियों का शिकार हुए थे? मोहभंग की स्थिति से अधिक पीड़ित वे लोग हुए जिनकी वाणी ने देश में नवजागरण उत्पन्न किया था। सोहन लाल द्विवेदी उनमें से एक थे। उनकी एक कविता में उद्विग्न मन की व्यथा बड़ी मार्मिकता से व्यक्त हुई है :

ऐ लाल किले पर झंडे फहराने वालो,
सच कहना, कितने साथी साथ तुम्हारे हैं।
क्या आज खुशी की लहर देश में है सचमुच,
उठ रहे खुशी के सचमुच ऊंचे नारे हैं।।

इसी तरह एक अन्य कविता में विक्षुब्ध कवि ने देश की सत्ता संभालते हुए नेताओं से कुछ तीखे सवाल पूछे हैं :

पीछे झंडा फहराना, ऐ झंडा फहराने वालो,
पहले जवाब दो, मेरे चंद सवालों का।
घर बसे हमारे आज और हैं उजड़ रहे,
जो पहले थी, वह आज नहीं घर में पूंजी।
आजादी तो आई, बरबादी गई नहीं,
पूरी न हुई वह आशा जो मन में पूजी।।

इस लंबी कविता में देश के नेताओं से अनेक सवाल पूछे गए हैं। देश की आर्थिकता पर विदेशी एजेंसियों का बढ़ता हुआ कर्ज, नित्य उपयोग की वस्तुओं की आकाश छूती महंगाई, बढ़ती चोर-बाजारी से लोगों की बेहाली :

तुम चोर बाजारी घटा रहे या
बढ़ा रहे, बेहाल करो मत,
हाल और बेहालों का।

जैसे समय बीतता गया, उन लोगों की निराशा और विक्षुब्धता बढ़ती गई जिन्होंने आजादी के तराने गाए थे और देश की निर्धन-बेरोजगार जनता के लिए सुख-समृद्धि की कामना की थी। ऐसे समर्पित लोगों को लगने लगा था कि कुछ लोगों के घरों में आजादी का दिन निकला, वहां रोशनी भी हुई, किन्तु आम लोगों के लिए न अंधेरा छटा, न काली-काली रातों से उन्हें मुक्ति मिली :

दिन आया होगा, जहां रोशनी भी होगी,
है यहां अंधेरा, काली-काली रातें हैं।
यह रंग भरी तस्वीर नहीं हैं ख्यालों की,
सच्ची हालत है, सच्ची यही हकीकत है।।

1 मार्च, 1988 को सोहनलाल द्विवेदी का 82 वर्ष की आयु में कानपुर में निधन हुआ। यदि आज वे जीवित होते तो यह देखकर और अधिक दुखी और व्याकुल होते कि देश में आर्थिक घोटालों की संख्या कितनी बढ़ी है, राजनेताओं की सत्तालिप्सा अपने चरम पर पहुंच गई है, राजनीति का किस सीमा तक अपराधीकरण हो गया है और राष्ट्रीयता के उपर सांप्रदायिकता कितनी हावी हो गई है।

द्विवेदीजी को 1941 में प्रकाशित उनकी प्रथम रचना 'भैरवी' से बहुत ख्याति मिली। उसके पश्चात् वे निरंतर लिखते रहे। वासव दत्ता, कुणाल, पूजागीत, विषपान, युगाधार, वासंती, चित्रा आदि अनेक रचनाएं प्रकाश में आईं। बाल साहित्य के सृजन में भी उनका योगदान बहुत उल्लेखनीय है। स्वाधीनता के पश्चात् वे एक जागरूक प्रहरी की भांति देश के नेताओं को निरंतर सावधान करते रहे :

महलों की भूलो यारो,
झोंपड़ियों की ओर चलो।
उनकी रोटी नमक निहारो,
अपनी खीर भारी थाली।
उनके सूखे खेत निहारो,
अपनी उपवन-फुलवारी
उनके खाली टेंट निहारो,
अपनी बसन धनवाली।

मैं स्वर्गीय हरिवंश राय बच्चन की इस बात से पूरी तरह सहमत हूं कि जिस कवि को राष्ट्रकवि के नाम से सर्वप्रथम अभिहित किया गया वह सोहन लाल द्विवेदी जी ही थे। हिंदी की राष्ट्रीय धारा की कविता की चर्चा जब भी होगी, उन्हें सर्वप्रथम स्मरण किया जाएगा। इस वर्ष उनकी जन्म-शताब्दी है।

मैंने प्रारंभ में ही इस बात को रेखांकित किया है कि ऐसी शताब्दियां आती हैं और निकल जाती हैं। उस स्मृति में कुछ औपचारिकताएं निभाई जाती हैं। ये शताब्दियां समय की शिला पर कुछ निशान छोड़ जाएं, इस दृष्टि से अर्थ भरपूर प्रयास नहीं होते हैं। द्विवेदी जी के संदर्भ में कुछ काम हुआ है। अनेक विश्वविद्यालयों से उनकी कृतियों पर शोध कार्य हुआ है। कानपुर विश्वविद्यालय से उन्हें डी. लिट. की मानद उपाधि भी दी गई। राष्ट्रपति की ओर से उन्हें 'पद्मश्री' से भी विभूषित किया गया और पं. बनारसी दास चतुर्वेदी, पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी तथा डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के संपादकत्व में उन्हें एक अभिनंदन ग्रंथ भी भेंट किया जा चुका है। मुझे इस बात की भी प्रसन्नता है कि जब गत वर्ष तुलसी उपवन, कानपुर में तुलसी जयंती समारोह के संयोजक पं. बद्री नारायण तिवारी ने केंद्रीय गृह राज्य मंत्री श्रीप्रकाश जायसवाल से द्विवेदीजी के जन्मशती वर्ष पर डाक टिकट जारी कराने का सार्वजनिक रूप से आग्रह किया तो श्री जायसवाल ने उसे स्वीकार भी कर लिया। ऐसे प्रयास

किए जाने चाहिए कि द्विवेदी जी के साहित्यिक योगदान से देश की नई पीढ़ी न केवल परिचित हो, उनकी स्मृति को चिर स्थाई भी बनाया जा सके। इस दृष्टि से मेरे कुछ सुझाव हैं। सोहन लाल द्विवेदी जन्मशती पर वर्ष भर के कार्यक्रमों की रूपरेखा तैयार करने और स्थाई स्मृति निर्मित करने के लिए एक समिति गठित की जाए जिसमें प्रमुख साहित्यकारों और साहित्यरसिकों को सम्मिलित किया जाए।

कानपुर विश्वविद्यालय में राष्ट्रकवि सोहनलाल द्विवेदी पीठ की स्थापना की जानी चाहिए। इस पीठ का मुख्य कार्य हिंदी साहित्य सहित सभी भारतीय भाषाओं में देश के स्वाधीनता संग्राम के समय जो साहित्य सृजित हुआ उस पर शोध कराना हो। 1913-15 के दौरान अमेरिका में उभरे गदर आंदोलन के समय वहां के अप्रवासी भारतीयों ने न केवल गदर नाम की साइक्लो स्टाइल्ड पत्रिका पंजाबी, उर्दू और गुजराती में कई वर्षों तक निकाली थी, बल्कि इन भाषाओं में देश भक्तिपूर्ण बहुत-सा साहित्य भी लिखा गया था। इस तथ्य से बहुत कम लोग परिचित हैं। कुछ समय पूर्व प्रकाशन विभाग भारत सरकार की ओर से एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी—'जब्तशुदा गीत'। कुछ और ऐसे ही छुटपुट प्रयास हुए हैं, किन्तु राष्ट्रीय स्तर पर कोई समन्वित प्रयास हुआ हो, मुझे याद नहीं आता। यह प्रस्तावित पीठ इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कर सकती है। ऐसे कुछ प्रयासों से हम राष्ट्रकवि सोहन लाल द्विवेदी की स्मृति को चिर-स्थाई बना सकते हैं।

(दैनिक जागरण, 5 मई, 2005)

65

लेखन पर ऐसा प्रतिबंध क्यों?

लगता है मुहम्मद अली जिन्ना का भूत इस समय हमारे सिर पर चढ़कर बोल रहा है। पिछले दशकों में कुछ लोग उन्हें यदाकदा याद करते थे। 1947 में हुए देश-विभाजन के बाद से तीन पीढ़ियां और आ गई हैं। दोनों ही देशों की युवा पीढ़ियों के लिए दोनों ही देश बड़ा रोमानी अहसास देते हैं। दोनों देशों में युद्ध होते हैं, दोनों देशों में क्रिकेट और हॉकी के मैच होते हैं, दोनों देश एक-दूसरे को खूब घूरते हैं, फिर आपस में सद्भावना और शांति की वार्ताएं चलाने लगते हैं। दोनों ही देशों में बनने वाली फिल्में भी वहां की नई पीढ़ी को खूब रोमांचित करती हैं। इस समय दोनों ही देशों के फिल्म निर्माताओं की मान्यता है कि देश-भक्ति और वतन-परस्ती की एक ही कसौटी है कि किस प्रकार उनका हीरो प्रतिद्वंद्वी देश को नाकों चने चबवा देता है।

विभाजन के समय और उसके पश्चात् इस त्रासदी पर बहुत-सी कहानियां और उपन्यास दोनों ही ओर के लेखकों द्वारा लिखे गए, किन्तु मुझे याद नहीं आता कि किसी लेखक ने इस त्रासदी के नायकों को आधार बना कर कोई साहित्यिक कृति लिखी हो, सिवाय गिरिराज किशोर के जिन्होंने महात्मा गांधी के जीवन पर अपना बहुचर्चित उपन्यास 'पहला गिरमिटिया' लिखा है।

डॉ. नरेन्द्र मोहन ने पिछले वर्ष मुझे बताया था कि वे मुहम्मद अली जिन्ना पर एक नाटक लिख रहे हैं। मैंने यह भी अनुभव किया कि पिछले कुछ समय में उन्होंने जिन्ना और पाकिस्तान के निर्माण से सम्बन्धित साहित्य बड़े मनोयोग से पढ़ा है और कुछ निष्कर्ष भी निकाले हैं। यह मेरा भी प्रिय-विषय है इसलिए इस सम्बन्ध में मेरी उनसे निरन्तर विचार चर्चा होती रही है।

इस नाटक का मंचन 22 और 23 जून को दिल्ली के हैबिटेट सेंटर के प्रेक्षा गृह में होना था। मैंने दूसरे दिन इसे देखने का कार्यक्रम बनाया था। 21 जून की

रात को 10 बजे नरेन्द्र मोहन का फोन आया—'पुलिस ने नाटक के मंचन पर रोक लगा दी है।'

मुझे बहुत आश्चर्य हुआ—'पुलिस ने रोक क्यों लगा दी है? उसमें ऐसी आपत्तिजनक बात क्या थी?'

नरेन्द्र मोहन ने बताया कि कुछ दिन पूर्व नाटक के निर्देशक अरविंद गौड़ ने पुलिस के मांगने पर नाटक की स्क्रिप्ट उनके पास भेज दी थी। पुलिस ने यह नहीं बताया कि नाटक की किस बात से उसे आपत्ति है। वहां से केवल यह आदेश आया है कि इस समय आप इस नाटक का मंचन मत कीजिए।

"यह अजीब तानाशाही है।" मैंने कहा—"नाटक का कल और परसों मंचन होना है और अब पुलिस कह रही कि मंचन मत कीजिए।"

नरेन्द्र मोहन ने बताया कि पिछले दो महीनों से इस नाटक की रिहर्सल चल रही थी। मंचन के लिए हाल बुक हो चुका था, टिकट विक गए हैं। ऐसी स्थिति में पुलिस ने यह बखेड़ा कर दिया है।

लेखन और मंचन से जुड़े बहुत से संस्कृतिकर्मियों ने अपना विरोध प्रकट किया, किन्तु नाटक का मंचन नहीं हो सका।

लेखक से लेकर मैंने पूरा नाटक पढ़ा।

पाकिस्तान से लौटने के बाद, श्री लाल कृष्ण आडवाणी द्वारा कराची में जिन्ना के सम्बन्ध में व्यक्त विचारों ने विचित्र प्रकार की हलचल पैदा कर दी है। मुझे लगता है कि सामान्य स्थितियों में इस नाटक के मंचन की ओर पुलिस का ध्यान ही नहीं गया होता।

सामान्यतः हम अपने नेताओं के जीवन के सार्वजनिक पक्ष से ही परिचित होते हैं। इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसने मुहम्मद अली जिन्ना के निजी जीवन में झांककर उस पक्ष पर अपनी उंगली रखी है जो नितान्त मानवीय है। अंग्रेजी साहित्य के एक आलोचक ने एक बार कहा था कि इतिहास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त सब कुछ झूठ होता है और उपन्यास में नामों और तिथियों के अलावा सब सच होता है। यह नाटक उसी सच को उद्घाटित करता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि जिन्ना आज तक एक इतिहास पुरुष है। उनकी बौद्धिक प्रखरता और संगठन-शक्ति का लोहा उनके प्रवल विरोधी भी मानते हैं। ऐसे मूल्यांकन के समक्ष यह पक्ष ओझल हो जाता है कि वह भी हाड-मांस का बना एक वैसा ही सामान्य व्यक्ति था जैसे हम सब हैं। सभी सांसारिक उपलब्धियों की प्राप्ति के बावजूद उसने 42 वर्ष की आयु तक विवाह नहीं किया और जब किया तो अपने धनाढ्य पारसी मित्र सर दिनशा मनोकजी पेटिट की 18 वर्ष की लड़की रुत्ती से जिसके मां-बाप इस विवाह के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थे। जिन्ना का विवाहित जीवन सुखमय नहीं था। विडम्बना यह है कि उसकी एकमात्र संतान दीना ने भी अपनी मां का अनुसरण करते हुए, एक पारसी युवक से उसी प्रकार विवाह किया जिस प्रकार उसकी मां ने जिन्ना से किया था। जिन्ना ने इस संवंध का उसी प्रकार कड़ा विरोध किया

था जिस प्रकार रुत्ती के पिता ने किया था।

भावात्मक संसार से संबंध रखने वाली ये ऐसी स्थितियां हैं जिनके अंदर कोई साहित्यकार ही झांक सकता है, इतिहासकार नहीं। जिन्ना की व्यावसायिक और राजनीतिक व्यस्तताओं के बीच रुत्ती कितनी अकेली हो गई थी और अकेलेपन की यातना से मुक्त होने के लिए वह पियानो बजा कर किस प्रकार अपना समय व्यतीत करती थी, नाटककार ने बड़ी कुशलता से इसे अपनी कृति में संजोया है।

यही स्थिति दीना की थी। उसकी मां कुल 29 वर्ष की आयु में बड़ी मायूस स्थिति में यह संसार छोड़ गई थी। मरने से साल भर पहले ही वह जिन्ना की मालाबार हिल (मुंबई) वाली शानदार कोठी छोड़कर ताजमहल होटल में रहने चली गई थी। दस वर्ष की दीना ने उसे तिल-तिल मरते हुए देखा था।

और इनके बीच थी जिन्ना की छोटी बहन फातिमा जो जिन्ना की गृहस्वामिनी तो है ही, रुत्ती और दीना के मध्य एक फिल्मी त्रिकोण बनाती है और खलनायिका की भूमिका अदा करती रहती है।

नरेन्द्र मोहन ने अपने नाटक में इन सभी पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वों, हताशाओं और कुंठाओं को बड़ी बारीकी से उभारा है। अपने प्रेम प्रसंगों से हताश फातिमा पूरी तरह परपीड़क हो गई थी। उसे न कभी रुत्ती भायी थी, न भतीजी दीना।

इस नाटक का सबसे प्रबल पक्ष जिन्ना का अपना अन्तर्द्वन्द्व है। राजनीति में नम्बर दो की स्थिति उसे स्वीकार नहीं थी। इस मार्ग में गांधी जी उसके सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी थे। लोग उन्हें महात्मा गांधी कहते थे, जिन्ना को मिस्टर गांधी कहकर सुख मिलता था। कांग्रेस की मान्यता थी कि गांधी जी देश की सम्पूर्ण जनता के नेता हैं, जिन्ना उन्हें केवल हिन्दुओं के नेता मानते थे।

नाटककार ने इस बात को दरसाया है कि विभाजन के समय देश में हुए भयंकर साम्प्रदायिक दंगों से जिन्ना बहुत व्याकुल थे। पाकिस्तान बन जाने के बाद के कुछ दिनों में भी लाहौर और कराची जैसे नगरों में अल्पसंख्य हिन्दुओं-सिखों पर लगातार हमले हो रहे थे। जिन्ना पुलिस कमिश्नर को बुलाकर इसके लिए फटकारते हैं और अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के प्रति पूरी चिंता व्यक्त करते हैं।

जीवन के अंतिम वर्षों में जिन्ना का स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया था। उन्हें फेफड़ों की गंभीर बीमारी थी और यह अहसास भी हो गया था कि मृत्यु उनके आसपास ही मंडरा रही है। अपनी बीमारी का उन्होंने किसी को आभास नहीं होने दिया था, क्योंकि उन्हें लगता था कि इससे उनके लोगों में हताशा फैलेगी, जो उनके लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक सिद्ध होगी।

नाटक में एक स्थान पर मरणासन्न जिन्ना अपने डाक्टर कर्नल इलाही बख्श से कहता है—मुझे फेफड़ों का कैंसर है...वो माउंटबेटन अगर भनक पा जाता तो न पार्टीशन होता, न पाकिस्तान बनता। वो मेरे मरने का इंतजार करता।

मौत से पहले जिन्ना अपने डाक्टर से कहता है—पाकिस्तान मेरी ज़िंदगी की सबसे बड़ी भूल थी।

समकालीन इतिहास को आधार बनाकर किसी साहित्यिक कृति का सृजन करना बहुत दूभर कार्य है और बेहिसाब जोखिम से भरा हुआ भी। नरेन्द्र मोहन ने यह जोखिम उठाया और अपने नाटक को जिन्ना के कार्यकलापों तक ही सीमित नहीं रखा, उसके अंतरंग पहलुओं को भी उजागर करने का प्रयास किया। जिन्ना के जीवन में तीन स्त्रियां आईं। उनकी बहन फातिमा, उनकी आखिरी सांस तक उनके साथ रही। उनसे आधी आयु की उसकी पत्नी रुत्ती उन्हें एक दशक का भी वैवाहिक सुख नहीं दे सकी। उनकी एकमात्र बेटी दीना उसे करारा झटका देकर, बहुत हद तक उन्हें तोड़कर अपने प्रेमी, एक पारसी लड़के के साथ चली गई। रुत्ती और दीना जिन्ना को निरन्तर 'हांट' करती रहीं।

नरेन्द्र मोहन की यह रचना एक नाटक है, इतिहास नहीं है। प्रसंगवश इसमें उस समय के अनेक नेताओं गांधी, नेहरू, पटेल, राजेन्द्र प्रसाद अबुल कलाम आज़ाद आदि का उल्लेख हुआ है, किन्तु नाटक के फोकस में सिर्फ जिन्ना है।

मेरे लिए यह समझ सकना बहुत कठिन है कि पुलिस ने इसे मंचित करने पर रोक क्यों लगाई? नरेन्द्र मोहन ने जिन्ना को न नायक बनाया है, न खलनायक। इस नाटक से किसी प्रकार के साम्प्रदायिक तनाव के बढ़ने की बात सोची भी नहीं जा सकती। लाल कृष्ण आडवाणी ने जिन्ना को 'सेक्युलर' कहकर विश्व हिन्दू परिषद् जैसी कुछ संस्थाओं को बहुत बेचैन कर दिया। उनकी चीख-पुकार अभी तक वातावरण में गूंज रही है, किन्तु नरेन्द्र मोहन ने उन्हें उस मानवीय स्तर पर ही रखा है जिसमें गुणों-अवगुणों का विचित्र सम्मिश्रण होता है।

सरकारें अपनी सनक में आकर प्रायः ऐसे काम करती रहती हैं। कुछ वर्ष पूर्व महाराष्ट्र सरकार ने 'मो नाथूराम गोडसे बोलतोय' नाम के मराठी नाटक पर प्रतिबंध लगा दिया था। विजय तेंदुलकर के नाटक 'सखा राम बाइन्डर' को भी प्रतिबंधित किया गया था। बाद में दोनों पर से प्रतिबंध हटे और वे मंचित हुए।

नरेन्द्र मोहन के नाटक 'मिस्टर जिन्ना' पर सरकारी प्रतिबंध की कोई घोषणा नहीं हुई है। यह केवल स्थानीय पुलिस की कार्रवाई है, किन्तु क्या पुलिस बिना कोई कारण बताए ऐसी कार्रवाई कर सकती है? निश्चय ही इसके पीछे सरकारी तन्त्र भी काम कर रहा होगा।

इस देश में अभिव्यक्ति की स्वाधीनता, लेखक की आज़ादी लोकतंत्र की मर्यादा जैसी बड़ी-बड़ी बातें की जाती हैं, किन्तु इन कथित आदर्शों का दस्ताना पहने क्रूर हाथ कब नंगा होकर किसका गला घोंटने लगेगा कोई नहीं जानता। 'मिस्टर जिन्ना' नाटक को ऐन वक्त पर मंचन से रोक देना इस तथ्य की ताजी मिसाल है।

(दैनिक जागरण, 30 जून, 2005)

66
हिंदी में सिख जीवन-दर्शन

हिंदी में गुरु ग्रंथ साहब की थोड़ी-बहुत चर्चा होती रहती है। इस ग्रंथ में क्या है, इस संबंध में लोगों की जानकारी भ्रामक भी होती है। बहुत से लोग यह समझते हैं कि इस ग्रंथ में गुरु नानक की वाणी संगृहीत है। जिन छह गुरुओं—गुरु नानक, गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव और गुरु तेग़बहादुर की रचनाएं इस ग्रंथ में हैं, सभी ने कवि नाम 'नानक' का ही प्रयोग किया है। इसलिए अनेक सुधी विद्वानों ने भी अन्य गुरुओं की रचनाओं को गुरु नानक की ही वाणी मानकर उद्धृत किया है। यह बात तो बहुत कम लोग जानते हैं कि इस ग्रंथ में इन गुरुओं के अतिरिक्त, जयदेव, नामदेव, फरीद और कबीर सहित 15 संतों तथा 15 भट्ट कवियों की रचनाएं भी हैं। इस बीच हिंदी में सिख विचारधारा और इतिहास से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण कार्य पंजाबी विश्वविद्यालय में कार्यरत डॉ. जोध सिंह ने किया है।

डॉ. जोध सिंह ने संपूर्ण गुरु ग्रंथ साहब का लिप्यांतरण भी किया है और उसकी हिंदी में विशद् टीका भी की है। यह संपूर्ण ग्रंथ 1430 पृष्ठों में समाहित हैं। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंध कमेटी, अमृतसर ने इसे मूल, गुरुमुखी लिपि में प्रकाशित किया है। डॉ. जोध सिंह ने ठीक उसी के अनुरूप पृष्ठ-दर-पृष्ठ वही अंक रखते हुए लिप्यांतरित मूल पाठ बाएं पृष्ठ पर रखा है और उसके अर्थ को सामने के पृष्ठ पर दिया है। चार खंडों में बहुत सुचारु ढंग से इसका प्रकाशन हुआ है। इससे पहले गुरु ग्रंथ साहब के अनेक अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। पंजाबी के अतिरिक्त अंग्रेजी, सिंधी, उर्दू, तेलुगू में प्रकाशित ये अनुवाद लंबे समय से उपलब्ध हैं। हिंदी में इस दृष्टि से कोई व्यवस्थित प्रयास नहीं हुआ। कुछ अध्यावसायियों ने खंड-खंड में इसके अनुवाद प्रकाशित किए हैं, किन्तु अनेक लोगों की यह जिज्ञासा निरन्तर बनी रही है कि उन्हें संपूर्ण गुरु ग्रंथ साहब देव नागरी लिपि में अच्छी और सुबोध टीका सहित प्राप्त हो। डॉ. जोध सिंह

ने इस अभाव की पूर्ति कर दी है। इस महत् कार्य की उल्लेखनीय विशेषता प्रथम खंड में आई इसकी 82 पृष्ठ की भूमिका है, जिसे अनुवादकर्ता ने बड़े मनोयोग और विद्वता से लिखा है। गुरु ग्रंथ साहब एक धर्म ग्रंथ है जिसमें दर्शन, पौराणिकता, ऐतिहासिकता, समकालीनता और नैतिक आदर्शों का अद्भुत समन्वय है। सिख गुरुओं ने जनता को प्रभु-भक्ति, प्रभु की प्राप्ति और निर्वाण पद प्राप्त करने के लिए सहज मार्ग तो खाया ही था, उन्हें अन्याय का विरोध करने, अत्याचार का प्रतिरोध करने, ऊंच-नीच की भावना से ऊपर उठकर समतामूलक समाज का निर्माण करने की प्रेरणा भी दी थी।

सभी प्रकार के अंध-विश्वासों से दूर होकर सत्य का साक्षात्कार करने, सम्मानपूर्वक जीवनयापन करने, भय-मुक्त होकर विघ्नों और संकटों का सामना करने के लिए उत्साहित किया था। गुरुवाणी की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वह व्यक्ति को संसार से उदास होकर संसार त्यागने की बात नहीं समझाती। संसार में रहकर सांसारिक दायित्वों का पालन करना, श्रम करके जीवकोपार्जन करना, फिर उसी में से सामाजिक कार्यों के लिए दान करना गुरुवाणी का अभिप्रेत हैं। डॉ. जोध सिंह ने सिख जीवन-दर्शन और विचारधारा की विस्मृत व्याख्या अपनी भूमिका में की है। यह ग्रंथ सिखों में गुरु का स्थान रखता है। गुरु नानक देव जी की दृष्टि में सच्चा गुरु, परम शिक्षक वही है जो सबको एक-दूसरे के साथ जोड़ देता है और सबके हृदय से घृणा दूर कर सबको मिलाता है। पंचम गुरु-गुरु अर्जुन देव ने इस ग्रंथ को विभिन्न प्रदेशों, विभिन्न वर्गों, विभिन्न जातियों और समुदायों की मिलन भूमि बना दिया था। इस ग्रंथ में उन्होंने बंगाल के जयदेव, महाराष्ट्र के नामदेव राजस्थान के धन्ना, मध्यप्रदेश के सेन और उत्तर प्रदेश के रामानंद, कबीर, रविदास सहित अनेक भक्तों की वाणियों को स्थान दिया।

शेख फरीद मुलतान के सूफी फकीर थे। उनकी वाणी में भरपूर भारतीय रंग है, यह उस ग्रंथ में संगृहीत उनके पदों और श्लोकों को पढ़कर जाना जा सकता है। अपनी भूमिका में डॉ. जोध सिंह ने भारतीय दर्शन एवं चिंतन में सिख धर्म की विशिष्टता को बड़ी गंभीरता से रेखांकित किया है। सिख धर्म एक भारतीय धर्म है। भारतीय दर्शन का अध्ययन करते समय एक तथ्य सामने आता है कि यहां परस्पर विरोधी विचारधारा का भी पक्ष और विपक्ष, दोनों ने आदर किया है और एक के दर्शन सिद्धांतों को ठंडे दिल से देखा, भाला और परखा है। सिख-चिंतन में इस प्रकार की वैचारिक सहिष्णुता को अत्यन्त आत्मीयता से स्वीकार किया गया है।

अपनी भूमिका के तत्व मीमांसा शीर्षक अध्याय में विद्वान् टीकाकार ने सिख धर्म की विविध मान्यताओं का विश्लेषण किया है। परमात्मा की अवधारणा क्या है? परमात्म-शक्ति को विभिन्न वादों, सिद्धांतों और मानसिक स्तरों पर विभिन्न तर्कों और प्रमाणों के आधार पर समझने का प्रयास किया गया है। उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए गुरु नानक तथा अन्य गुरुजन किसी तर्क-वितर्क का आश्रय नहीं लेते। वे परमात्मा को अनादि सत्य मानते हुए उनकी उपस्थिति का अनुभव करते हैं। सृष्टि

की रचना का रहस्य क्या है, इस संबंध में भारतीय चिंतकों ने बहुत विचार किया है। गुरु अर्जुन देव अपनी रचना 'सुखमनी' में कहते हैं कि जिस कर्ता ने सृष्टि की रचना की है वही इसके क्रम आदि के बारे में जान सकता है। यह सृष्टि-रचना कई बार हुई है और कई बार उस परमात्मा में विलीन हुई हैं। यह सृष्टि तो परमात्मा का स्वांतः सुखाय किया हुआ खेल हैं। जब वह चाहता है तब इस खेल का विस्तार करना शुरू कर देता है और जब चाहता है तब इस खेल को समेट कर इसे अपने में समाहित कर लेता है–

आपन खेलु आपि करि देखै।
खेल संकोचै तउ नानक एकै।।

सिख धर्म की मान्यता है कि सृष्टि की उत्पत्ति हुक्म (आदेश) से होती है। गुरु नानक देव ने कहा कि प्रत्येक वस्तु उसी के भीतर है, उसके बाहर कुछ भी नहीं। उस 'हुक्म' को यदि कोई भली प्रकार समझ सके तो फिर उसे अपने को भिन्न सिद्ध करने वाले अहंकार का बोध नहीं होता। सृष्टि की अनंतता के संबंध में आज के वैज्ञानिक अनुसंधानों ने अपना मत प्रकट किया है। गुरु ग्रंथ साहब में इस अनंतता की चर्चा अनेक स्थानों पर की गई है। जपुजी में गुरु नानक देव कहते हैं–

असंख नाव असंख थाव।।
अगम अगम असंख लोअ।।
पाताला पाताल लख आगासा आगास।

ब्रह्म को सत्य और उसकी रचित सृष्टि को मिथ्या मानने का बहुत-सा आग्रह इस देश में किया गया है। अद्वैत वेदांत में इन प्रश्नों पर बार-बार विचार हुआ है कि माया भ्रम है, मिथ्या है या सत् है? यह ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न? माया और जगत् के निरंतर तिरस्कार का परिणाम यह हुआ कि 'मिथ्या संसार' के दायित्वों के प्रति लोग उदासीन होने लगे। गुरु ग्रंथ साहब में संसार को मिथ्या नहीं माना गया और न ही इसे भ्रम कहा गया। यदि परमात्मा सच है तो उसकी रचना भी सच है–

सचे तेरे खंड सचे ब्रहंड,
सचे तेरे लोआ सचे आकार।
सचे तेरे करणे सरब बीचार।।

इस संसार कर्म भूमि के रूप में, परमेश्वर की आत्मसृष्टि के रूप में सच है, परन्तु जो लोग इस संसार के भोगों को ही अंतिम सच मान लेते हैं उनके लिए भोग युक्त संसार की असारता की बात भी स्थान-स्थान पर कही गई है। डॉ. जोध सिंह भारतीय दर्शन के विद्वान हैं। पटियाला आने से पूर्व वह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में प्राध्यापक रहे हैं। वह गुरुवाणी के अध्येता तो हैं ही, संस्कृत और

हिंदी में पारंगत होने के कारण भारतीय दर्शन से भी तादात्म्य रखते हैं। संपूर्ण गुरु ग्रंथ साहब के अनुवाद में यह बात स्पष्ट रूप से दिखती है। विशाल हिंदी प्रदेश में ऐसे लोगों की बड़ी संख्या है जिनकी गुरुवाणी में असीम श्रद्धा है और वे इसका विधिवत् अध्ययन करना चाहते हैं? ऐसे जिज्ञासुओं की संख्या भी कम नहीं जो गुरु ग्रंथ साहब, उसकी संरचना और उसमें निहित संदेश से परिचित होना चाहते हैं। मुझे यकीन है कि डॉ. जोध सिंह का यह कार्य उनका दिशानिर्देश करेगा।

(दैनिक जागरण, 7 जुलाई, 2005)

67

ब्रिटेन की संस्था गीतांजलि द्वारा भारतीय भाषाओं के माध्यम से भारतीय एकता की तलाश

ब्रिटेन में भारतवंशियों की संख्या भी बहुत है और उनकी प्रतिष्ठा में भी किसी प्रकार की कमी नहीं है। हाल में ही लंदन में हुए बम धमाकों से इस प्रतिष्ठा को बड़ी ठेस लगी है। गोरी चमड़ी वालों को सभी एशियाई, विशेष रूप से भारतीय उपमहाद्वीप के निवासी एक जैसे ही लगते हैं। इसलिए इन देशों से आए किसी व्यक्ति की कारगुजारी विशेष रूप से आतंकवादी प्रयास का ख़ामियाज़ा भूरी चमड़ी वाले सभी लोगों को किसी -न-किसी रूप में भुगतना पड़ता है।

ब्रिटेन में विभिन्न भागों में बसे बहुभाषी भारतीयों की अपनी-अपनी धार्मिक सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक संस्थाएं हैं जो बहुत सक्रिय हैं किन्तु यह दुर्भाग्य की बात है कि इन संस्थाओं का आपसी मेलजोल या संवाद नहीं के बराबर हैं। सभी संस्थाएं अपनी-अपनी भाषा के मध्य ही काम करती हैं। उनके सम्मेलनों में, उनके सांस्कृतिक कार्यों में, उनकी साहित्यिक गोष्ठियों में उसी भाषा-समुदाय के लोग आते हैं। विदेशों में रहने वाले पंजाबी, बंगाली और तमिल, मलयालम भाषी लोग एक-दूसरे के प्रति उसी प्रकार के अलगाव में जीते हैं जैसे संसार की किसी भी भाषा के लोग।

इस दृष्टि से एक बहुत अच्छा प्रयास ब्रिटेन की विशिष्ट साहित्यिक संस्था 'गीतांजलि' की ओर से किया जा रहा है। 27 अगस्त से 29 अगस्त तक एक त्रिदिवसीय संगोष्ठी का आयोजन बर्मिंघम में हो रहा है। यह संगोष्ठी बहुभाषायी आयोजित की गई जिसमें अनेक भारतीय भाषाओं के विद्वान् भाग लेने के लिए आमंत्रित किए गए

हैं। इस संगोष्ठी में भारत के विभिन्न भाषाओं के अनेक लेखकों के सम्मिलित होने की संभावना तो है ही, ब्रिटेन तथा अन्य देशों से भी विद्वानों को भाग लेने के लिए आमंत्रित किया गया है।

हिंदी तथा भारत की अनेक भाषाएं संसार के डेढ़ से अधिक विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाती हैं। इन विश्वविद्यालयों में भारत से गए अनेक प्राध्यापक तो हैं ही, स्थानीय प्राध्यापकों की संख्या भी बहुत बड़ी है। जापान और चीन के विश्वविद्यालयों के भारतीय भाषाओं के विश्वविद्यालयों को मैंने स्वयं देखा है और वहां हिन्दी, उर्दू, पंजाबी, बंगाली, तमिल पढ़ाने वाले जापानी और चीनी भाषी प्राध्यापकों को मैंने निकट से जाना है। विश्व हिन्दी सम्मेलनों में अनेक देशों में हिन्दी का अध्यापन करने वाले विदेशी विद्वानों से भी मेरा मिलना हुआ है।

अंग्रेजी संसार के अनेक देशों की प्रमुख भाषा है। भारत की भी कुछ भाषाएं एक से अधिक देशों की मुख्य भाषाएं हैं। इनमें पंजाबी, बंगाली और तमिल का नाम सहज ही लिया जा सकता है।

यह सब होते हुए भी विश्व स्तर पर भारत की किसी भाषा को वह स्थान नहीं मिला है। संयुक्त राष्ट्र संघ में अंग्रेजी, फ्रान्सीसी, स्पेनी, जर्मन, चीनी और अरबी ही स्वीकृत भाषाएं हैं। पारामारिबो (सूरीनाम) में दो वर्ष पूर्व सातवां विश्व हिन्दी सम्मेलन हुआ था। उसमें एक बात मुख्य रूप से चर्चा में रही थी कि किस प्रकार हिन्दी को विश्व स्तर पर स्वीकृति दिलाई जाए। उस सम्मेलन में आठ प्रस्ताव स्वीकृत हुए थे। लगभग सभी प्रस्तावों में किसी न किसी रूप में यह चिंता व्यक्त की गई थी कि हिंदी को विश्व भाषा के रूप में स्थापित करने के लिए किसी प्रकार के कदम उठाए जाएं। उस सम्मेलन का पहला और सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रस्ताव यह था कि संयुक्त राष्ट्र संघ में हिन्दी एक आधिकारिक भाषा किस प्रकार बने। पिछली राष्ट्रीय जनतांत्रिक मोर्चे की सरकार ने इस दृष्टि से कुछ कदम भी उठाए थे। तत्कालीन प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने इस सम्बन्ध में अपनी निजी रुचि भी दिखाई थी, किन्तु उनकी सरकार के जाते ही यह प्रश्न ठंडे बस्ते में चला गया।

भारतीय भाषाओं के आपसी सम्बन्ध और समन्वय का प्रश्न आज भी बहुत जटिल है। संविधान के आठवें अनुच्छेद के अनुसार 18 भाषाओं को देश की राष्ट्रीय भाषाएं होने का गौरव प्राप्त है। इनमें से अधिसंख्य भाषाएं किसी-न-किसी क्षेत्र की राजभाषाएं हैं, जिनकी उस क्षेत्र में व्यापक प्रगति भी हो रही है। ये सभी भाषाएं अपने-अपने राज्यों में प्राथमिक कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम भी हैं। अधिसंख्य अहिन्दी भाषी राज्यों में द्वितीय भाषा के रूप में कहीं तीसरी और कहीं पांचवीं कक्षा से हिन्दी भी पढ़नी होती है। यह सब होते हुए भी सम्पूर्ण देश में अंग्रेजी का वर्चस्व आज भी स्थापित है और निरंतर बढ़ता जा रहा है।

भारत सरकार की शिक्षा नीति त्रिभाषी फार्मूले को प्रोत्साहित करती है। इसके अनुसार प्रत्येक विद्यार्थी को किसी-न-किसी स्तर पर तीन भाषाएं पढ़नी चाहिए—अपनी मातृभाषा, केन्द्र की राजभाषा (हिन्दी) और अन्तर्राष्ट्रीय संबंध की भाषा अंग्रेजी। हिंदी

भाषी राज्यों में जहां विद्यार्थी मातृभाषा के रूप में हिंदी पढ़ते हैं, वहां उन्हें अंग्रेजी के अतिरिक्त किसी एक अन्य आधुनिक भारतीय भाषा का अध्ययन करना चाहिए।

तमिलनाडु को छोड़कर देश के सभी राज्यों ने त्रिभाषा फार्मूला स्वीकार किया है। गुजरात में प्राथमिक कक्षाओं में विद्यार्थी गुजराती पढ़ता है। कुछ कक्षाओं के पश्चात् उसकी हिन्दी और अंग्रेजी की पढ़ाई प्रारम्भ हो जाती है।

विडम्बना यह है कि हिन्दी भाषी राज्यों में इस फार्मूले को उसकी मूलभावना के अनुरूप लागू नहीं किया जाता है। यहां प्रत्येक विद्यार्थी को हिन्दी और अंग्रेजी के अतिरिक्त एक आधुनिक भारतीय भाषा पढ़नी चाहिए। जिन स्कूलों का संचालन प्रदेशों में बसे अहिन्दी भाषी समुदायों द्वारा होता है उनमें यह फार्मूला अपनी सही भावना के अनुरूप लागू हो जाता है। बंगाली समाज द्वारा चलाए जाने वाले विद्यालय में विद्यार्थी हिन्दी, अंग्रेजी और बंगाली पढ़ लेता है, किन्तु अधिकतर सरकारी स्कूलों में किसी आधुनिक भारतीय भाषा के स्थान पर संस्कृत पढ़ाई जाती है।

संस्कृत का अपना महत्व है। इस देश की प्राचीन ज्ञान संपदा इस भाषा में उपलब्ध है, किन्तु आज वह इस अर्थ में एक आधुनिक भारतीय भाषा नहीं है जिस अर्थ में असमी, उड़िया, तेलुगू, मराठी, पंजाबी आदि हैं। यही कारण है कि अहिन्दी भाषी राज्यों में हिन्दी में पारंगत जितने व्यक्ति बड़ी, सरलता से उपलब्ध होते हैं, उसका शतांश भी हिन्दी राज्यों में अन्य भारतीय भाषाओं के ज्ञाता नहीं मिलते।

दस भारतीय भाषाओं के लेखकों के एक प्रतिनिधि मंडल की गत वर्ष की चीन यात्रा के कुछ संस्मरण मैंने दैनिक जागरण में लिखे थे। उसमें मैंने तेलुगु भाषी एक विद्वान की चर्चा की थी। वे हिन्दी में संवाद करना बिल्कुल पसंद नहीं करते थे। उनका सबसे बड़ा तर्क यह था कि जब आप मुझसे तेलुगू में बातचीत नहीं कर सकते हैं तो मैं आपसे हिंदी में क्यों करूं?

अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में ऐसा भाव विरल नहीं है। हिन्दी विद्वानों में यह भ्रम भी व्याप्त है कि इस देश में सभी लोगों को हिन्दी का पठन-पाठन इसलिए करना चाहिए क्योंकि वह 'राष्ट्रभाषा' है। अन्य भाषाएं तो (मात्र) क्षेत्रीय भाषाएं हैं, इसलिए हिंदी वालों को उन्हें पढ़ना-पढ़ाना अनिवार्य नहीं है।

जब तक भारतीय भाषाओं के मध्य इस प्रकार की संवादहीनता बनी रहेगी, अंग्रेजी का बोलवाला भी बना रहेगा और हिन्दी सहित सभी भाषाएं उसकी चेरी अपने ही घर में ही दूसरे स्तर की ही भाषाएं रहेंगी।

इसी स्तम्भ में मैं यह बात एक से अधिक वार लिख चुका हूं कि यदि विश्व स्तर पर हम हिन्दी को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं तो यह बहुत आवश्यक है कि अखिल भारतीय स्तर पर हिन्दी की स्वीकृति हो। हिन्दी को यह स्थिति अन्य भारतीय भाषाओं को प्रतिद्वन्द्विनी बनकर नहीं उनकी सहयोगिनी बनकर ही प्राप्त हो सकता है। इस दृष्टि से मेरा यह सुझाव भी रहा है कि प्रति वर्ष सितम्बर मास में मनाए जाने वाले हिन्दी दिवस को हम भारतीय भाषा दिवस के रूप में मनाया करें।

मैं यह सुझाव भी देता रहा हूं कि भारत सरकार को अल्पसंख्यक आयोग, पिछड़ा

वर्ग आयोग, जनसंख्या आयोग आदि की भांति राष्ट्रीय स्तर पर एक भारतीय भाषा आयोग का गठन करना चाहिए। इस आयोग को एक स्वायत्त संस्था का दर्जा प्राप्त होना चाहिए। इसका मुख्य कार्य यह होना चाहिए कि सभी भारतीय भाषाओं में किस प्रकार सौमनस्य और सौहार्द बढ़े, किस प्रकार हिन्दी सभी भारतीय भाषाओं के मध्य संवाद की भाषा के रूप में विकसित हो, किस प्रकार हिन्दी भाषी राज्यों में अन्य भारतीय भाषाओं के पठन-पाठन को प्रोत्साहित किया जाए, किस प्रकार इन सभी भाषाओं में आदान-प्रदान को बढ़ावा मिले और समग्र रूप से किस प्रकार भारतीय चेतना का निर्माण हो।

पिछली राजग सरकार में इस प्रकार के कुछ प्रयास भी हुए थे। मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने विभिन्न भाषाओं के विद्वानों को लेकर कुछ समितियां भी गठित की थीं, किन्तु उन प्रयासों का कोई सार्थक परिणाम इसलिए नहीं निकला था क्योंकि वे सभी सरकारी तंत्र का भाग बनकर रह गए थे। उन समितियों की यदा-कदा एक-दो बैठकें मानव संसाधन विकास मंत्री और एक बार प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में हुई थीं। बात इससे आगे नहीं बढ़ी थी। कोई नहीं जानता कि यह प्रश्न आज की सरकार की प्राथमिकता में है या नहीं।

ब्रिटेन की बहुभाषी संस्था 'गीतांजलि' की ओर से अगस्त के अंत में जो आयोजन बर्मिंघम में किया जा रहा है और बहुत सराहनीय है। यह कार्य व्यापक स्तर पर इस देश में होना चाहिए। हमारी कल्पना की उड़ान तो यहां तक जानी चाहिए कि विश्व हिन्दी सम्मेलन, विश्व पंजाबी सम्मेलन, विश्व तमिल सम्मेलन के साथ ही विश्व भारतीय भाषा सम्मेलनों का आयोजन भी किया जाए। इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन संसार के विभिन्न भागों में बसने वाले बहुभाषी भारतीय समुदाय को आपस में निकट लाने तथा उनमें संवाद उत्पन्न करने में बहुत सहायक सिद्ध हो सकते हैं। साहित्य अकादमी को इस दिशा में पहल करनी चाहिए।

गीतांजलि का यह प्रयास इस बात की भूमिका बन सकता है। इस आयोजन में विभिन्न भारतीय भाषाओं के विद्वान् अपनी-अपनी भाषाओं में, उनकी भाषाओं में प्राप्त भारतीय एकता के सूत्रों को रेखांकित करेंगे। वहां उनके अंग्रेजी अनुवाद भी उपलब्ध रहेंगे।

इस आयोजन की सार्थकता और सफलता का पूर्ण मूल्यांकन तो इसकी समाप्ति के पश्चात् ही हो सकेगा, किन्तु ऐसे प्रयास का स्वागत तो किया ही जाना चाहिए।

(दैनिक जागरण, 11 अगस्त, 2005)

68

बहुभाषी भारत की एकता

पिछले माह मैंने बर्मिंघम, ब्रिटेन में 27 से 29 अगस्त तक होने वाली अंतर्राष्ट्रीय बहुभाषी संगोष्ठी की चर्चा की थी। इस संगोष्ठी का आयोजन बर्मिंघम की 'गीतांजलि बहुभाषाई साहित्यिक समुदाय' की ओर से किया गया था। डॉ. कृष्ण कुमार और उनकी पत्नी चित्रा कुमार ने दस वर्ष पूर्व इस संस्था की स्थापना की थी। इसी संस्था के अथक प्रयत्नों से भारत से बहुत दूर ब्रिटेन में भारत की बहुभाषी संस्कृति का व्यापक रूप और उसकी चिंताओं का साक्षात्कार हुआ। इस संगोष्ठी का केंद्रीय विषय था, 'भारतीयों की सार्वभौमिक अखंडता'। इसमें भाग लेने के लिए हिंदी के अलावा संस्कृत, बंगाली, मराठी, कश्मीरी, गुजराती, सिंधी, पंजाबी, उर्दू, तेलुगू और तमिल के साथ ही बिहार की एक भाषा अंगिका का प्रतिनिधि भी था। भारत के साथ ही ब्रिटेन के विभिन्न भागों से तथा नार्वे के सुरेशचन्द्र शुक्ल व इटली से डॉ. श्याम मनोहर पांडेय भी आए थे। इस संगोष्ठी का वैशिष्ट्य इस बात में था कि भारतीय भाषाओं के विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किए गए आलेख उनकी अपनी भाषाओं में थे। उनमें से अधिक के अंग्रेजी अनुवाद भी उपलब्ध थे।

जो आलेख समय से आयोजकों के पास पहुंच गए थे उन्हें आयोजन समिति ने बहुत उत्तम ढंग से इस अवसर के लिए संगोष्ठी पत्रिका के रूप में प्रकाशित भी कर दिया था। संगोष्ठी की सभी चर्चाओं में कुछ बातें बहुत स्पष्ट होकर उभरीं। भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत सभी भाषाएं भारत की राष्ट्रीय भाषाएं हैं और समान सम्मान और स्वीकृति की अधिकारिणी हैं। हिंदी केंद्र सरकार की राजभाषा है और बहुभाषी भारत में संपर्क भाषा के रूप में कार्य करे, यह अपेक्षित भी है और आवश्यक भी। शिक्षा ग्रहण करने वाले प्रत्येक विद्यार्थी को अपनी मातृभाषा तथा अंग्रेजी के साथ ही कम-से-कम एक अन्य आधुनिक भाषा का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। राष्ट्रीय अखंडता के लिए यह मानसिकता सहायक नहीं कि हिंदी तो सारे देश की राष्ट्रभाषा है तथा अन्य भारतीय भाषाएं मात्र

क्षेत्रीय भाषाएं हैं देश की किसी भी भाषा की उपलब्धि क्षेत्रीय न होकर राष्ट्रीय उपलब्धि है और इसे व्यापक रूप से स्वीकार किया जाना चाहिए। एक बात के लिए सर्वमान्य स्वीकृति थी कि सभी भारतीय भाषाओं का सहयोग लिए बिना राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी की स्वीकृति और उसका व्यापक व्यवहार संभव नहीं है। संगोष्ठी के अंतिम दिन पढ़े गए आलेखों और चर्चाओं में उभरे प्रश्नों तथा व्यापक सहमति के आधार पर भारत सरकार तथा वैश्विक भारतीयों के विचारार्थ प्रस्ताव रूप में कुछ संस्तुतियां प्रस्तुत की गईं, जिस पर देश-विदेश के सभी विद्वानों व चिंतकों ने विचार किया और उन्हें स्वीकार किया। संस्तुतियां इस प्रकार थीं :

सभी भारतीयों में भारतीयता की भावना की अभिवृद्धि को मंतव्य और घोषणा के रूप में स्वीकार करना चाहिए। सभी भारतीय भाषाओं को सम्मानित स्थान दिया जाना चाहिए। इसके लिए केंद्र सरकार को उचित संसाधन उपलब्ध कराने चाहिए। भारतीय भाषाओं के मध्य आदान-प्रदान के कार्यक्रमों को अधिक बढ़ावा देना चाहिए। भाषाओं के मध्य अनुवाद कार्य के लिए एक राष्ट्रीय केंद्र की स्थापना की जानी चाहिए। एक भाषा से दूसरी भाषा के मध्य अनुवाद कार्य को प्रोत्साहित करना चाहिए तथा इस कार्य को अधिक सम्मानपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिए। व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक ढंग से सभी भारतीय एक भाषा हिंदी की पहचान भारतीयता के विकास के लिए करें। दस से बीस वर्ष के अंदर धीरे-धीरे भारत को विदेशी भाषा के मोहपाश से छुटकारा पाना चाहिए। लोगों की भारतीय भाषाओं से अपनी अंतरंगता बढ़ानी चाहिए तथा देश की एक साझी भाषा की स्वीकृति की ओर बढ़ना चाहिए। संस्कृत तथा अन्य प्राचीन भाषाओं के पुनरुत्थान का प्रयास किया जाना चाहिए।

उपरोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए देश तथा विदेश में बहुभाषी सम्मेलनों तथा संगोष्ठियों का अधिक आयोजन किया जाना चाहिए। विश्व हिंदी सम्मेलनों के साथ ही भारत सरकार को बहुभाषी विश्व सम्मेलनों के आयोजन पर भी गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। इस सम्मेलन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिफारिश यह थी कि भारतीय भाषाओं में सौमनस्य और सौहार्द्र स्थापित करने के लिए एक 'राष्ट्रीय भाषा आयोग' का तुरंत गठन करना चाहिए। भारतीय भाषाओं के आपसी संबंध और सौमनस्यता के विषय पर मैं प्रायः लिखता रहा हूं। मैं इस बात पर आग्रह करता रहा हूं कि राष्ट्रीय स्तर पर हिंदी की व्यापक स्वीकृति उस समय तक संभव नहीं है जब तक अन्य भारतीय भाषाओं का सहयोग उसे प्राप्त नहीं होगा।

अभी भी देश में ऐसे लोग हैं जो हिंदी के प्रति अनुकूल भाव नहीं रखते हैं और संपर्क भाषा के रूप में अंग्रेजी को बनाए रखना चाहते हैं। बर्मिंघम में हुई संगोष्ठी में भी एक प्रतिनिधि ने बहुत आग्रहपूर्वक यह कहा कि केवल हिंदी को ही नहीं, संविधान द्वारा स्वीकृत सभी भाषाओं को देश की संपर्क भाषा का स्थान दिया जाना चाहिए। अपने सुझाव की अव्यावहारिकता को वह भी अच्छी तरह समझते थे, किन्तु हिंदी विरोध के कारण ही वह अपनी बात पर जोर दे रहे थे। त्रिदिवसीय इस संगोष्ठी में अनेक भाषाओं के विद्वान् थे, किन्तु उनके आपसी संवाद की भाषा कभी-कभी अंग्रेजी होने के बावजूद हिंदी थी। भारत में जब कभी भारतीय भाषाओं के लेखक मिलते हैं तो

उनके आपस की बातचीत का माध्यम अंग्रेजी होती है। इस संगोष्ठी में स्थानीय भारतीयों की उपस्थिति बहुत उत्साहवर्धक थी। उद्घाटन हाल तथा संगोष्ठी-कक्ष श्रोताओं से भरे रहते थे। पढ़े जाने वाले आलेखों में वे गहरी रुचि लेते थे और प्रश्नकाल में वक्ता के सम्मुख अपनी जिज्ञासाएं भी रखते थे। बर्मिंघम में बसे भारतीयों में हिंदी, पंजाबी, गुजराती तथा अनेक भाषाओं के लोग हैं। वे अपनी संस्कृति तथा भाषा से दूर नहीं हुए हैं।

ब्रिटेन की सरकार स्कूलों में भारतीय भाषाओं को पढ़ाए जाने की व्यवस्था को बहुत प्रोत्साहित करती है। वहां के एक सरकारी स्कूल में पढ़ाने वाले एक भारतीय (पंजाबी) अध्यापक ने मुझे बताया कि सरकारी स्तर पर पंजाबी और उर्दू को वही स्थान प्राप्त है जो फ्रांसीसी, जर्मन या स्पेनी को प्राप्त है। इस आयोजन की दो संध्यायों में कवि-सम्मेलन हुए। एक सम्मेलन में ब्रिटेन में बसने वाले कवियों ने अपना कविता पाठ किया। लंदन में बसने वाले कथाकार तेजेन्द्र शर्मा ने उसका संचालन किया था। भारत से दूर बसने वाले इन कवियों और कवयित्रियों में अपने देश की कविता का रंग बहुत स्पष्ट था। एक संध्या में भारत से गए हिंदी के अतिरिक्त बंगाली, गुजराती, सिंधी, पंजाबी, तेलुगू, उर्दूभाषी कवियों ने अपनी कविताएं सुनाईं। दिल्ली की सरिता शर्मा ने मंच-संचालन किया। लोकप्रिय कवि सोम ठाकुर के साथ ही राज्यसभा के सदस्य उदय प्रताप सिंह की बहुरंगी कविताएं सुनना मेरे लिए बड़ा अनूठा अनुभव था। लंदन में बसे रमेश पटेल भारतीय कलाओं के केंद्र बिंदु हैं। उनकी संस्था 'नवलका' की ओर से उन्हीं के गीतों पर आधारित नृत्यसंध्या इस आयोजन की स्मरणीय संध्या थी। इस संगोष्ठी के सभी आयोजन बर्मिंघम के संत निरंकारी सत्संग भवन में किए गए। वहां के स्वयंसेवकों तथा पदाधिकारियों का सेवाभाव रोमांचित करने वाला था।

ऐसे सभी आयोजन बहुत व्यवसाध्य होते हैं। प्रायः वहां रहने-सहने की व्यवस्था तो आयोजक कर लेते हैं, किन्तु प्रतिनिधियों के लिए आने-जाने के हवाई-खर्च की व्यवस्था करना उनके लिए भी बहुत दूभर होता है। डॉ. कृष्ण कुमार ने भारत की अनेक सरकारी, अर्द्ध सरकारी संस्थाओं को पत्र लिखे थे कि वे एक-दो प्रतिनिधियों को प्रायोजित कर दें, किन्तु किसी की ओर से उन्हें सकारात्मक उत्तर नहीं प्राप्त हुआ। ऐसे समय उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ ने उनके साथ सहयोग किया और अनेक प्रतिनिधियों की समस्या का समाधान कर दिया। यह बात पूरे विश्वास से कही जा सकती है कि बर्मिंघम की त्रिदिवसीय अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी अपने मंतव्य की प्राप्ति में बहुत सफल रही, किन्तु मुझे लगता है कि ऐसी संगोष्ठियों की अधिक आवश्यकता भारत में है। अपने देश में इस विश्वास को बल देना बहुत आवश्यक है कि इस देश की अस्मिता अंग्रेजी के माध्यम से नहीं, भारतीय भाषाओं की सर्व-स्वीकृति से ही प्रतिष्ठित होगी।

(दैनिक जागरण, 8 सितम्बर, 2005)

69
विदेशों में भी मौलिक साहित्य सृजन हो रहा है

संसार के विभिन्न देशों में बसे हुए भारतीयों की संख्या लगभग दो करोड़ है। इन लोगों ने सभी देशों में अपनी लगन, अपने श्रम और अपने दृढ़ निश्चय से वहां के जन जीवन में अपना विशेष स्थान बनाया है। उन्होंने वहां आर्थिक सम्पन्नता तो अर्जित की ही है, वहां के सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर भी अपनी छाप छोड़ी है और ऊंचे-से-ऊंचे पद प्राप्त किए हैं।

किन्तु जब साहित्य की बात आती है तो हमें सलमान रश्दी और विक्रम सेठ जैसे दो-चार लेखकों के संबंध में ही पढ़ने को मिलता है जो अंग्रेजी में लिखते हैं। हिन्दी तथा अन्य किसी भारतीय भाषा में लिखने वाले, विदेश में बसे, किसी भारतीय लेखक के संबंध में बहुत कम सुनने को मिलता है। मारीशस में बसे अभिमन्यु अनंत तथा रामदेव धुरन्धर जैसे कुछ लेखकों से हम परिचित हैं किन्तु अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, जर्मनी, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क जैसे अनेक देशों में भी भारतीय मूल के लेखक अपनी भाषाओं में साहित्य-सृजन कर रहे हैं, इसका समुचित ज्ञान हमें यहां प्राप्त नहीं होता है।

इस बार की ब्रिटेन यात्रा में मेरी भेंट वहां के कुछ हिन्दी लेखक/लेखिकाओं से हुई। इस देश में साहित्यिक सक्रियता की केन्द्र बिन्दु 'कथा : यू. के.' नाम की वह संस्था है जिसे इस देश में बसे हुए दक्षिणी एशिया के लेखकों ने गठित किया है, किन्तु इसमें विशेष सक्रियता भारतीय (हिन्दी) लेखकों की ही है। इस संस्था की ओर से प्रतिवर्ष दो पुरस्कार दिए जाते हैं—एक, अन्तर्राष्ट्रीय इंदु शर्मा कथा-सम्मान जो प्रायः भारत के किसी हिन्दी कथाकार को मिलता रहा है। दूसरा, पद्मानंद साहित्य

सम्मान, जो ब्रिटेन में बसने वाले किसी हिन्दी लेखक को दिया जाता है। इस संस्था के प्रेरणास्रोत हिन्दी के सुपरिचित कथाकार तेजेन्द्र शर्मा हैं और गत दस वर्षों से ये पुरस्कार नियमित रूप से दिए जा रहे हैं।

ब्रिटेन में बसने वाले अधिसंख्य लेखक/लेखिकाएं या तो कहानियां लिखते हैं या कविताएं। किसी उपन्यासकार, आलोचक अथवा निबन्धकार लेखक से मेरी भेंट नहीं हुई। इस देश में हिंदी और उर्दू लेखकों का आपसी सम्बन्ध और सहयोग बहुत अच्छा है। बर्मिंघम की संगोष्ठी के समय मुझे एक विज्ञप्ति प्राप्त हुई। वहां की एक संस्था तावीर अकादमी, जो साहित्य और संस्कृति के संवर्धन की समर्पित एक संस्था है, की ओर से हिन्दी कहानी और हिन्दी गजल तथा उर्दू कहानी तथा उर्दू गजल की एक प्रतियोगिता से संबंधित थी। प्रत्येक के लिए तीन पुरस्कार 1000, 600 तथा 300 पौंड निर्धारित किए गए थे। भारतीय मुद्रा में जिनका मूल्य 80,000 रु. 48,000 रु. तथा 24,000 रु. बन जाता है पुरस्कार की कुल धन राशि 6 लाख रुपए से ऊपर थी।

बर्मिंघम में ही मुझे सुश्री उषा वर्मा द्वारा संपादित कहानी-संग्रह—'सांझी कथा यात्रा' की एक प्रति प्राप्त हुई। इस संग्रह में हिन्दी की सात और उर्दू की पांच महिला कथाकारों की कहानियां संगृहीत हैं।

अधिसंख्या लेखकों की विदेशी भूमि में बसे एक-दो पीढ़ियां ही गुजरी हैं। प्रारंभिक वर्षों में इनकी कहानियों और कविताओं में अपने घर और देश की याद (नास्टेल्जियां) बड़ी सघनता से उभरता रहा। कुछ वर्षों बाद मूल्यों की टकराहट का दौर उभरने लगा। तीसरा दौर है कि ये लेखक अब अपनी भाषा और भूमि से जुड़े होने के बावजूद किस प्रकार अपने आपको वहां के समाज और संस्कृति के अनुरूप ढाल रहे हैं।

'सांझी कथा यात्रा' में पहली कहानी उर्दू लेखिका आतिया खान की है—पराए देश में। बहुत गरीब परिवार में जन्मे-पले सैयद तारिक अली को पहले सऊदी अरब का वीजा मिल जाता है, वहां से वह ब्रिटेन पहुंच जाता है। उसके पास ब्रिटेन का छह महीने का वीजा है। वहां उसका अजीज दोस्त कासिम उसकी सहायता करता है। उसे कुछ समय के लिए नौकरी भी मिल जाती है तारिक के मन में लंदन के प्रति बड़ा मोह उत्पन्न होता है। वहां की सामाजिक सुरक्षा, नौकरी न होने पर सरकारी भत्ता, रहने का ठिकाना न हुआ तो कौंसिल का फ्लैट और बीमार होने पर मुफ्त इलाज। उसके मुकाबले में हिन्दुस्तान की स्थिति? किन्तु अब उसे वहां से निकाला जाता है तो वह कहता है—मैं अपने वतन जाना चाहता हूं। भले ही भरपेट खाना न मिले, पर इस तरह बेइज़्ज़ती के साथ निकाले जाने का अंदेशा तो न रहेगा।

इसी संग्रह में दूसरी कहानी उषा वर्मा की है—'रौनी' हम अपने देश में दलितों के प्रति किए जाने वाले भेदभाव की बहुत चर्चा करते हैं। हमार देश का कानून इसकी बिल्कुल अनुमति नहीं देता, तो भी इस प्रकार के भेदभाव के उदाहरण भी मिलते रहते हैं। ब्रिटानी समाज और वहां की कानून-व्यवस्था अनेक दृष्टियों से बड़ी उदार है, किन्तु

वहां नस्ली भेदभाव भी कम नहीं है। एक समय वहां 'स्किन हेड' नाम के उद्दंड गोरे लड़कों का वहां बहुत बोलबाला था। ये युवक वहां बसे एशियायी और अफ्रीकी मूल के लोगों पर बहुत खार खाते थे और अवसर मिलते ही उन पर आक्रमण कर देते थे। ये तत्व आज भी वहां विद्यमान हैं।

रौनी काला लड़का है, इसलिए स्कूल में उसका क्लास टीचर मि. ह्यूवर्ट उसे बात-बात पर प्रताड़ित करता रहता है। स्कूल की एक भारतीय अध्यापिक मिस. रीमा उसके प्रति हमदर्दी का भाव रखती है। वह उसकी पीड़ा को समझती है। उसका स्नेहभाव रौनी को बड़ी सान्तवना देता है।

साहित्य हमें किसी भी समाज की अन्तर्व्यथाओं और उसके अन्तर्विरोधों को समझने में बहुत सहायक होता है। वहां रचे जा रहे साहित्य से हम पश्चिमी संसार के समाज की पूरी झलक पा जाते हैं।

नार्वे निवासी सुरेश चंद्र शुक्ल ने अपने संपादित कहानी संग्रह—'प्रवासी कहानियों' की एक प्रति मुझे दी। इस संग्रह में ब्रिटेन के अतिरिक्त अमेरिका, कनाड़ा, नार्वे, कुवैत, आबूधाबी आदि देशों में लिखी जा रही हिन्दी कहानियां संकलित हैं।

पश्चिमी संसार में सबसे बड़ी समस्या बूढ़ों की है। अच्छे खान-पान तथा चिकित्सा सुविधाओं के कारण संसार के सभी भागों में व्यक्ति की औसत आयु बढ़ रही है। युवा पीढ़ी का अपने वृद्ध मां-बाप के प्रति रुखा व्यवहार पश्चिमी समाज में लम्बे समय से दिख रहा है। उन देशों में वृद्धों के लिए बड़ी संख्या में वृद्धाश्रम बने हुए हैं जहां वे पूरी तरह से सुख-सुविधा से भरा जीवन व्यतीत कर लेते हैं।

किन्तु स्थिति की विडम्बना यह है कि कोई भी सरकार जीवन की भौतिक सुविधा ही दे सकती है। वह उन्हें भावात्मक सुरक्षा नहीं दे सकती। वहां के वृद्धजनों का संकट यह है कि वृद्धाश्रमों में उन्हें परिवार से प्राप्त वह भावात्मक सुख नहीं प्राप्त हो पाता है जिसकी उन्हें बड़ी आवश्यकता होती है।

सुरेश चंद्र शुक्ल की कहानी 'मंज़िल के करीब' में बूढ़ा थोम और कथानायक अपनी-अपनी व्यथाओं के कारण आयु में अंतर होते हुए भी एक-दूसरे के मित्र बन जाते हैं। थोम की व्यथा यह है कि उसकी पत्नी की मृत्यु हो चुकी है, उसका एकमात्र बेटा उससे कोई लगाव नहीं रखता है, इसलिए वह रात-दिन शराब में डूबा रहता है। उसके भारतीय मित्र का संकट यह है कि वह पग-पग पर यह महसूस करता है कि वह नस्लवाद का शिकार है। उसे लगता है कि गोरा ट्राम चालक भी उसे देखकर ट्राम नहीं रोकता है। हर नार्वेजिन उससे यह पूछता है कि कहां से (किस देश से) आए हो और वापस कब जाओगे?

विदेशों में रचे जा रहे साहित्य का अपना अलग रंग है। वहां के लेखकों के अपने अछूते अनुभव हैं। लम्बी अवधि तक विदेश में रहने के बावजूद वे 'प्रवासी' होने के अहसास से मुक्त नहीं हो पाते। इसलिए जब-तब उन्हें अपने देश की सोंधी मिट्टी की याद आती रहती है।

अमेरिका में हिन्दी लेखकों की संख्या काफी बड़ी है। मैं ऐसे अनेक लेखक/लेखिकाओं

को जानता हूं जो भारत में बड़ी सक्रियता से लेखन कार्य करते थे कि अमेरिका ने उन्हें धीरे-धीरे निकाल दिया है। उषा प्रियंवदा को कौन नहीं जानता। 'पचपन खंबे लाल दीवारें' जैसा उपन्यास और 'वापसी' जैसी कहानी साहित्यिक क्षेत्रों में लम्बे समय तक चर्चा का विषय रही हैं। इसी प्रकार यहां रहकर सोमावीरा ने कुछ बहुत अच्छी कहानियां लिखी थीं। अमेरिका जाकर ये दोनों लेखिकाएं कहीं गुम हो गई हैं।

अमेरिका में ही बसने वाली कवयित्री अंजना संधीर का कविता-संग्रह है—अमेरीका हड्डियों में जम जाता है। उस देश में अनन्त सुविधाएं हैं—

मूंगफली और पिस्ते का एक भाव
पेट्रोल और शराब पानी के भाव
इतना सस्ता लगता है सब्जियों से ज़्यादा मांस खाना
कि ईमान डोलने लगता है
और धीरे-धीरे अमरीका स्वाद में बसने लगता है।

अमेरीका सुविधाएं देकर हड्डियों में जम जाता है।

अमेरिका की यह सर्वग्राही भूख कितनों को निगल जाती है और कितने ही निगल जाने की प्रक्रिया में तड़पते रहते हैं। यह व्यथा वहां के लेखकों में बड़ी स्पष्ट दिखाई देती है।

अंजना संधीर द्वारा संपादित एक कविता-संग्रह मुझे प्राप्त हुआ है, शीर्षक है—ये कश्मीर है। इस संग्रह में 23 प्रवासी भारतीय कवियों की कश्मीर से सम्बन्धित कविताओं का संकलन हुआ है। इस संग्रह की कविताएं विस्मित करती हैं। दूर बैठे हुए भारतीय मूल के ये कवि कश्मीर को लेकर कितना गहरा सरोकार अनुभव करते हैं, यह बात इन कविताओं को पढ़कर जानी जा सकती है।

कोलंबिया विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य में रत सुश्री सुषम वेदी इस समय वहां बसी सबसे अधिक चर्चित लेखिका हैं। उपन्यास, कहानी तथा कविताएं लिखती हैं। 'बारामूला' नामक उनकी कविता की कुछ पंक्तियां निम्न हैं—

पर यह क्या संदेश लाए हो तुम
कि हवा में बसी है नरकीली सड़ांध
कि मीठे पानी के नहीं
हिंसा और क्रूरता के चश्मे फूटते हैं वहां।
केसर की क्यारियों में उगते हैं
मांस, मज्जा और रक्त सनी लाशें
कि झील में खिल आए हैं बारूद के फूल
और लहू लुहान पड़ी है मां...

भारतीय मूल के ऐसे सभी सर्जक लेखक/लेखिकाओं का सबसे बड़ा संकट पुस्तक प्रकाशन का है। ऐसे सभी लोग चाहते हैं कि उनकी रचनाएं भारत में पढ़ी जाएं। विदेशों में प्रकाशन कार्य बहुत महंगा हैं। ये सभी लेखक अपनी रचनाएं भारत में ही प्रकाशित कराते हैं। मैं नहीं जानता कि इनकी बिक्री और वितरण की यहां क्या व्यवस्था है।

मुझे लगता है कि विदेशों में रचे जा रहे साहित्य के प्रति हमें अधिक जागरूक होना चाहिए और उच्च स्तर के हिन्दी अध्ययन में उन्हें विशिष्ट स्थान भी प्राप्त होना चाहिए।

(दैनिक जागरण, 15 सितम्बर, 2005)

70
हिन्दी में उपेक्षित हैं महाकवि भाई संतोष सिंह

हमारे बहुत से साहित्यकार ऐसे हैं जो लम्बे समय तक उपेक्षा की मार सहते-रहते हैं। यह सायास भी होता है और अनायास भी। मलिक मुहम्मद जायसी को लम्बे समय तक हिन्दी क्षेत्रों में नहीं जाना गया। उन्होंने अनेक प्रेमाख्यानों की रचना की थी, जिनकी भाषा तो अवधी थी किन्तु लिपि फारसी थी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के प्रयासों से उनका साहित्य देवनागरी लिपि में आया और फिर वह पाठ्यक्रमों का भाग बना। आज हिन्दी का ऐसा कौन विद्यार्थी है, जिसने मलिक मुहम्मद जायसी के महाकाव्य 'पद्मावत' का अध्ययन किया हो।

यही स्थिति भाई संतोष सिंह की है। उन्होंने ब्रज भाषा में विपुल साहित्य की रचना की किन्तु अपने लेखन के लिए गुरुमुखी लिपि का प्रयोग किया। हिन्दी के कुछ शोधार्थियों ने उनके साहित्य पर शोध करके डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की है। ऐसे कार्य पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हुए हैं, किन्तु हिन्दी विद्वानों का अभी तक समुचित ध्यान इस साहित्य की ओर नहीं गया है।

भाई संतोष सिंह का व्यक्तित्व उस प्रकार की प्रतिभा का स्वामी था, जिसे काव्य-शास्त्री महाकाव्यात्मक प्रतिभा कहते हैं। इस प्रकार की प्रतिभा का स्वामी बहुश्रुत, बहुदर्शी एवं बहुज्ञानी होता है। उसे काव्य शास्त्र के अतिरिक्त दर्शन, ज्योतिष, राजनीति और शस्त्र-विद्या का भी ज्ञान होता है।

भाई संतोष सिंह का जन्म 8 अक्टूबर सन् 1787 में पंजाब के अमृतसर जिले में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा के पश्चात् वे अमृतसर आकर ज्ञानी संत सिंह के शिष्य हो गए। यहां 15 वर्ष रहकर उन्होंने गुरुवाणी के साथ प्राचीन साहित्य, काव्य शास्त्र,

दर्शन, पुराण और संस्कृत भाषा में सिद्धता प्राप्त की। कुछ समय पश्चात् कैथल राज्य के राजा उदय सिंह ने उन्हें अपने पास बुला लिया। अपने अधिक साहित्य की रचना उन्होंने कैथल में ही की।

भाई संतोष सिंह की मौलिक और अनूदित 6 रचनाएं प्राप्त होती हैं—'नामकोश', 'वाल्मीकि रामायण' और 'आत्म पुराण', ये तीनों अनूदित रचनाएं हैं। अमृतसर से वे यमुना नगर के पास बुरिया नामक स्थान पर आ गए। यहां उन्होंने संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथ 'अमर कोश' का 'नामकोश' शीर्षक से 1500 छंदों में ब्रजभाषा में अनुवाद किया।

उनकी दूसरी अनूदित कृति वाल्मीकि द्वारा रचित आदि रामायण है। इसमें 7 कांड एवं 651 सर्ग हैं। कवि ने सम्पूर्ण कथा-स्वरूप को आदि रामायण के अनुसार ही रखा है। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा है—

बाल्मीकि मुनि की कृति सरब जथारथ जानि।।
ज्यो बीती बरनी तथा बाध-घाट पछानि।।

तीसरी अनूदित कृति 'आत्म पुराण' है। उसमें भाई संतोष सिंह ने वेदांत के प्रति अपने अध्ययन का परिचय दिया है।

इन ग्रंथों के साथ उनके द्वारा गुरु नानक देव की सुप्रसिद्ध रचना—'जपु' की टीका की चर्चा करना ठीक रहेगा। उनसे पहले सन् 1795 में आनंदघन नाम के एक साधू ने जपुजी की टीका की थी जिसमें अनेक अशुद्धियां थीं। उसे देखकर कैथल के राजा उदय सिंह ने भाई संतोष सिंह से इस रचना की ऐसी टीका लिखने के लिए कहा जो आनंदघन के गर्व को तोड़ सके। इसीलिए भाई संतोष सिंह द्वारा की गई टीका को 'गर्व भंजनी' टीका कहा जाता है।

भाई संतोष सिंह की प्रतिभा का विशेष परिचय उनकी दो मौलिक कृतियों से प्राप्त होता है। ये ग्रंथ हैं। 'गुरु नानक प्रकाश' और 'गुरु सूरज प्रताप'। गुरु नानक प्रकाश के दो भाग हैं—'पूर्वाद्ध और उत्तरार्ध'। पूर्वाद्ध में 73 और उत्तराद्ध में 57 अध्याय हैं। इस ग्रंथ में कुल 9700 छंद हैं। इसमें गुरु नानक देव के जीवन की साखियों, उपदेशों और आदर्शों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

संस्कृत के आचार्य कहते हैं कि महाकाव्य में नगर, उपवन, वन, समुद्र, नदी, प्रभात, सन्ध्या तथा ऋतुओं का वर्णन होना चाहिए। गुरु नानक प्रकाश में आए इस प्रकार के वर्णन बड़े सजीव और स्वाभाविक हैं।

'गुरु प्रताप सूरज' (प्रचलित नाम 'सूरजप्रकाश') बड़े आकार (वृहत् आकार) की रचना है। भारतीय वाङ्मय में महाभारत को छोड़कर और कोई ग्रंथ इतना बड़ा नहीं है। इस ग्रंथ में 50,000 से अधिक छंद हैं। गुरु नानक प्रकाश और गुरु प्रताप सूरज को मिलाकर जो ग्रंथ बनता है वह ब्रजभाषा साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं।

गुरु प्रताप सूरज में 20 अध्याय, 1151 अंसु एवं 51829 छंद हैं। सम्पूर्ण कथा वस्तु सूर्य की गति के आधार पर 12 राशियों, 6 ऋतुओं और 2 अयनों में बंटी हुई

है। भाई संतोष सिंह के अनुसार सिख गुरुओं के प्रताप से ज्ञान रूपी सूर्य की किरणें अंधविश्वास, भ्रम, पाखंड, अज्ञान, असत्य, अन्याय तथा अत्याचार के अंधेरे को चीरकर नव प्रकाश देने वाली हैं।

गुरु प्रताप सूरज पूरी तरह शास्त्रीय पद्धति पर लिखा गया महाकाव्य है। सर्गों अथवा अध्यायों में बंटा होना, प्रारम्भ में मंगलाचरण होना महाकाव्य के लिए आवश्यक माना गया है। इस ग्रंथ के प्रारंभिक 44 छंदों में सिख गुरुओं की स्तुति की गई है। भाई संतोष सिंह प्राचीन भारतीय परंपरा से बहुत प्रभावित थे। इसलिए मंगला चरण में वे गणेश, ब्रह्मा वृहस्पति, वाल्मीकि, वशिष्ट, इंद्र, अगस्त्य, व्यास आदि अनेक देवताओं और ऋषियों का स्तवन करना नहीं भूले। गुरु कथा को वे गंगा के समान पवित्र मानते हैं–

श्री गुरु गाथा शुभ गंगा।
छंद उमंग उमंग तरंगा।।

भाई संतोष सिंह ने दसों गुरुओं के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति से प्रेरित होकर इस ग्रंथ की रचना की थी। इसीलिए इसमें गुरुओं को दिव्य स्वरूप दिया गया है। इसीलिए अनेक ऐतिहासिक घटनाओं की पौराणिकता देकर चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयास भी हुआ है।

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने सन् 1700 से 1900 तक के समय को रीतिकाल कहा है। भाई संतोष सिंह इस काल के अंतिम चरण के कवि थे। यह वह समय था जब इस देश की केन्द्रीय सत्ता औरंगजेब की बादशाहत के अन्तर्गत जनता पर अनंत अत्याचार कर रही थी, किन्तु उस समय के अधिसंख्य कवि शृंगार रस की कविता लिखने में अधिक रुचि ले रहे थे। इस युग के प्रथम चरण में भूषण तथा गुरु गोबिंद सिंह ने वीर रस की कविता लिखकर प्रचलित काव्यधारा को नया मोड़ देने का प्रयास किया था। इस काल के अंतिम चरण में भाई संतोष सिंह ने 'गुरु प्रताप सूरज' ग्रंथ लिखकर वही कार्य किया।

कुछ वर्ष पहले तक सभी गुरुद्वारों में सन्ध्या में सूरज प्रकाश की कथा होती थी, किन्तु अब यह प्रथा लगभग समाप्त हो गई है। आधुनिक पंजाबी साहित्य के जन्मदाता समझे जाने वाले प्रख्यात कवि भाई वीर सिंह ने सम्पूर्ण गुरु प्रताप सूरज (गुरु नानक प्रकाश सहित) की विस्तृत टीका पंजाबी में लिखी है, किन्तु ब्रजभाषा की रचना होने के कारण पंजाबी साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में आज इसका कोई स्थान नहीं है।

रीतिकाल में ब्रजभाषा का प्रभाव राजस्थान से बंगाल तक और पंजाब से केरल तक छा गया था। ब्रज प्रदेश से दूर के अनेक क्षेत्रों में ब्रजभाषा की नियमित शिक्षा देने वाली अनेक पाठशालाएं स्थापित हो गई थीं। ब्रज से दूरस्थ क्षेत्रीय कवि ब्रज भूमि में रहकर नहीं उसके साहित्यिक रूप का अध्ययन करके ही उसके ब्रजभाषा का ज्ञान

प्रताप करते थे।

उस युग में पंजाब निवासी कवि पंजावी में भी काव्य रचना करते थे, किन्तु अधिकतर कवि ब्रजभाषा को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते थे। ये चाहते थे कि सम्पूर्ण भारत में उनकी रचनाएं पढ़ी जाएं।

भाई संतोष सिंह का सम्पूर्ण साहित्य ब्रजभाषा में लिखा हुआ है, उसी प्रकार जैसे भूषण, देव, मतिराम और पद्माकर का काव्य है। इसलिए इसका अध्ययन हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत होना चाहिए। डॉ. जय भगवान गोयल जैसे कुछ विद्वानों ने भाई संतोष सिंह पर कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से शोध कार्य किया और डाक्टरेट की उपाधि भी प्राप्त की, किन्तु यह कार्य भी हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों और कोशकारों का समुचति ध्यान इस ओर आकर्षित नहीं कर सका है। इसलिए आज भी इस रचनाकार या इसके साहित्य का कहीं उल्लेख नहीं प्राप्त होता।

भाई संतोष सिंह का मूल्यांकन करने में लिपि को बाधा नहीं बनना चाहिए। हिंदी के अधिसंख्य सूफी प्रेमाख्यान काव्य मूल रूप से फारसी लिपि में लिखे गए थे। उन्हें लिपि अंतरित करके देवनागरी में लाया गया और प्रकाशित किया गया। आज ये काव्य रचनाएं हिन्दी साहित्य का अभिन्न अंग हैं।

इस समय पूर्व पंजाब के भाषा विभाग ने गुरु प्रताप सूरज को देवनागरी लिपि में प्रकाशित करने का उपक्रम किया था। हिन्दी के विद्वानों और अकादमिक क्षेत्रों को इसका लाभ उठाना चाहिए। इस साहित्य का अध्ययन भी होना चाहिए, इसे पाठ्यक्रमों में भी स्थान प्राप्त होना चाहिए।

(दैनिक जागरण, 29 सितम्बर, 2005)

71
एक कथाकार अंतर्जगत का

चंद दिन पूर्व साहित्य अकादमी तथा महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्वावधान में वर्धा में आयोजित जैनेन्द्र कुमार की जन्म शताब्दी के संदर्भ में त्रिदिवसीय संगोष्ठी में भाग लेना एक सुखद अनुभव था। देश के अनेक भागों से हिंदी के साहित्यकारों का इस संगोष्ठी में भाग लेना और विचार-विमर्श में सम्मिलित होना इस आयोजन की बड़ी सफलता थी। मेरा यह निश्चित मत है कि हमें इस बहुभाषी देश में सभी भाषाओं से समन्वित भारतीय साहित्य की अवधारणा को उभारना चाहिए और जब कभी देश की किसी एक भाषा के वरिष्ठ साहित्यकार की जन्मशती अथवा अन्य किसी प्रकार की उपलब्धि की चर्चा हो तो वह केवल उस भाषा तक ही सीमित न होकर सभी भाषाओं की उल्लेखनीय घटना समझी जानी चाहिए। दुर्भाग्यवश अभी तक यह स्थिति नहीं बनी है। यही कारण है कि जैनेन्द्र कुमार जैसे चिंतक-कथाकार की जन्मशती केवल हिंदी वालों का सरोकार बन कर रह गई है।

हिंदी उपन्यास की जो यात्रा तिलिस्मी और ऐयारी उपन्यासों की बहुतायत से प्रारंभ हुई वह प्रेमचंद के हाथों सामाजिक प्रश्नों से जूझने लगी। प्रेमचंद ने अपने समय के अनेक सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों का प्रभाव ग्रहण किया था। पारिवारिक और सामाजिक सरोकारों का जो रूप उन्होंने अपनी रचनाओं में चित्रित किया उसने हिंदी कथा साहित्य को बीसवीं शती के प्रारंभिक साढ़े-तीन दशकों को अपने कलावे में रखा। प्रेमचंद बहिर्मुखता के रचनाकार थे। विशाल मानव समाज अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए विविध प्रकार की बहिर्मुख समस्याओं से जूझता रहता है। प्रेमचंद जैसे कथाकारों ने न केवल समाज को उस सबके प्रति जागरूक बनाया, बल्कि उसे नए समाज की संरचना की ओर भी प्रेरित किया। जो भी हो, अंतर्जगत का भी एक विशाल संसार है। मनुष्य की बहिर्जगत से संबंधित अनेक समस्याएं मानव मन की

उन अवचेतन गुत्थियों से गहरा तादात्म्य रखती हैं जो उसकी चेतना का निर्माण करती हैं। संसार की सभी भाषाओं में ऐसे लेखकों की संख्या कम नहीं है, जिन्हें हम अकादमिक आलोचना शैली में मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार कहते हैं। जैनेन्द्र कुमार अंतर्जगत के कथाकार थे। वह अपने पात्रों की सामान्यगति में सूक्ष्म संकेतों की निहिति की खोज करके उन्हें प्रस्तुत करते थे। उनके उपन्यासों में घटनाओं की संघटनात्मकता पर अधिक आग्रह नहीं किया गया था, जैसा कि उनके युग के कथाकार करते थे।

जैनेन्द्र कुमार एक कुशल कथाकार थे। इसी के साथ वह गहन चिंतक थे। प्रेमचंदोत्तर काल में उपन्यासों के माध्यम से प्रेम विवाह, यौन संबंध आदि अनेक प्रश्नों पर चर्चा प्रारंभ हुई। यह चर्चा सर्जनात्मक साहित्य के माध्यम से भी हुई और वैचारिक विचार-विमर्श के स्तर पर भी। विवाह जैसी निर्विवाद संस्था को वह विवाद के घेरे में ले आए। जीवन में प्रेम की स्थिति की महनीयता के संबंध में उन्होंने स्पष्ट कहा, ''प्रेम नैसर्गिक है, विवाह प्रेमी की इच्छा पर निर्भर करता है।'' एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा, ''मैं विवाह को धरती की चीज मानता रहा हूं। प्रेम आसमानी होता है। विवाह का विधान इसलिए किया गया कि प्रेम और यौन मर्यादाएं शासित और मर्यादित रहें।'' जैनेन्द्र ने विवाह की सफलता का आधार श्रद्धा को स्वीकार किया, जो प्रेम का ही महत्तर रूप है। उनके सर्वाधिक चर्चित उपन्यास 'त्यागपत्र' की नायिका मृणाल एक स्थान पर कहती है, ''श्रद्धा के साथ मरना भी सार्थक है, पर श्रद्धा गई तो पास क्या रह जाएगा?''

जैनेन्द्र का पहला उपन्यास 'परख' 1929 में प्रकाशित हुआ था। 'सुनीता' का प्रकाशन 1930 में हुआ, जो उस समय बहुचर्चित भी हुआ और विवादास्पद भी, किन्तु सबसे अधिक चर्चा 1937 में प्रकाशित उनके तीसरे उपन्यास 'त्यागपत्र' की हुई। वर्धा संगोष्ठी में एक पूरा सत्र इस उपन्यास को समर्पित था। इस पर अपना आलेख प्रस्तुत करते हुए एक आलोचक ने कहा कि 'त्यागपत्र' जैनेन्द्र के चिंतन और व्यवहार का चरम उत्कर्ष है। इसके पूर्व का उनका साहित्य भूमिका है और बाद का साहित्य विचार। जैनेन्द्र उसके बाद भी निरंतर लिखते रहे। कल्याणी, विवर्त, सुखदा, व्यतीत, जयवर्द्धन, अनाम स्वामी और दर्शक जैसे उपन्यास उनके अधिक प्रौढ़काल की रचनाएं हैं। इसे आश्चर्य ही कहा जाएगा कि इस संगोष्ठी में उनके इन उपन्यासों की कोई विशेष चर्चा नहीं हुई। सारी चर्चा के केंद्र में परख, सुनीता और त्यागपत्र ही रहे।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सुनीता और त्यागपत्र जैसे उपन्यास अपने समय से बहुत आगे के उपन्यास थे। चालीस के दशक में लिखे गए इन उपन्यासों की नायिकाओं—सुनीता और मृणाल के माध्यम से स्त्री की यातना, उसकी नियति और विडंबनाओं को शब्द देने का कार्य लेखक ने किया है। उस समय प्रेमचंद और उनके समकालीन उपन्यासकारों का अधिक आग्रह सामाजिक सुधारों की ओर था। स्त्री भी उनके लिए व्यक्ति न होकर एक सामाजिक समस्या ही थी। उसका निदान भी वे इन्हीं सीमाओं में रख कर खोजते थे। जैनेन्द्र के उपन्यासों में एक नई नारी उद्‌घाटित हुई।

'त्यागपत्र' की मृणाल के माध्यम से देह की पवित्रता बनाम मन की पवित्रता का प्रश्न उठता है। मृणाल सभी आपदाओं को झेलकर भी आत्मा की पवित्रता पर बल देती है। प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यास को सामाजिक यथार्थ से जोड़ा था। जैनेन्द्र और उनके युग के इलाचंद जोशी तथा अज्ञेय ने उसे मनोवैज्ञानिक यथार्थ की ओर उन्मुख किया।

जैनेन्द्र के सभी पात्र बाह्य वातावरण और परिस्थितियों से अप्रभावित लगते हैं और वे अंतर का सृजन प्रतीत होते हैं। संभवतः यही कारण था कि उस गोष्ठी में एक आलोचक ने जैनेन्द्र को यथास्थितिवादी लेखक कहा था, ऐसा लेखक जो अपने साहित्य के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन की कोई भूमिका नहीं निभाता। जैनेन्द्र के चिंतन का स्वरूप उनके निबंध संग्रहों तथा साक्षात्कारों से उभरता है। साहित्य का श्रेय और प्रेय, सोच-विचार, काम, प्रेम और परिवार, समय और हम जैसी चिंतनपरक रचनाएं उसी समय प्रकाशित हुईं जब उनके परवर्ती उपन्यास प्रकाशित हुए। क्या यह मान लिया जाए कि त्यागपत्र के पश्चात् जैनेन्द्र ने कुछ नया नहीं दिया अथवा जैनेन्द्र साहित्य के अध्येताओं की यह सीमा बन गई है, जिसे वे लांघना नहीं चाहते? हिंदी के किसी भी कथाकार पर बात हो तो प्रेमचंद की चर्चा अनिवार्य है। प्रेमचंद ऐसे दीप स्तंभ हैं कि अनुकूल-प्रतिकूल दिशाओं में आने-जाने वाले सभी जहाजों को उनसे प्रकाश लेना ही होता है, किन्तु ऐसी चर्चाओं में यह आवश्यक नहीं है कि सभी बातों का केंद्र प्रेमचंद के मंडन अथवा खंडन को ही बना लिया जाए। वर्धा में संपन्न संगोष्ठी में यह सीमा स्पष्ट दिखाई दी।

इसमें संदेह नहीं कि प्रेमचंद की लोकप्रियता जैनेन्द्र कुमार से कहीं अधिक है। एक बहिर्मुख कथाकार किसी मनोविश्लेषणवादी अंतर्मुख कथाकार की अपेक्षा जनसाधारण तक अधिक पहुंचता है, किन्तु यह भी सच है कि सभी लेखकों का मिजाज एक-सा नहीं होता। कुछ लेखक समाजोन्मुख होते हैं और सामाजिक परिवर्तन को वे साहित्य का मूल प्रयोजन मानते हैं, किन्तु कुछ लेखक मानवमन की अतल गहराइयों में जाकर उसके अवचेतन में झांकने का प्रयास करते हैं और उन प्रश्नों से जूझते हैं जो उसके अंतरंग जीवन की गुत्थियों से जुड़े होते हैं। दोनों प्रकार के लेखकों का अपना-अपना महत्व है। प्रेमचंद और जैनेन्द्र कुमार की भाषा, शैली, मुहावरा और कथ्य में बहुत अंतर है। साहित्य की सोद्‌देश्यता को लेकर भी दोनों की अवधारणाओं में अंतर है। प्रेमचंद सुनीता अथवा त्यागपत्र जैसे उपन्यास नहीं लिख सकते थे, उस प्रकार जैसे जैनेन्द्र कुमार रंगभूमि, कर्मभूमि और गोदान को उस प्रकार नहीं लिखते जैसे प्रेमचंद ने लिखा था।

(दैनिक जागरण, 20 अक्टूबर, 2005)

72

साहित्य पर दोहरा आघात

देखते-देखते 2005 का वर्ष भी गुजर गया। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में यह वर्ष बहुत गतिशील रहा। आतंकवाद की दहशत लंदन से लेकर दिल्ली तक गूंजती रही। कश्मीर में आए भूचाल और बिहार में जहानाबाद की जेल पर नक्सलवादियों के आक्रमण की घटनाओं ने असंख्य लोगों को विचलित किया। लगता है कि हम अराजकता के दौर में प्रवेश कर रहे हैं, कहीं प्रकृति के प्रकोप के कारण और कहीं मनुष्य निर्मित गतिविधियों के कारण। अपने आपको साहित्य तक सीमित करूं तो दो साहित्यकारों के विछोह ने सभी साहित्य प्रेमियों को बहुत विचलित किया है। ये हैं निर्मल वर्मा तथा अमृता प्रीतम।

इन दोनों ही रचनाकारों के कारण भारतीय साहित्य का अंतर्राष्ट्रीयकरण हुआ और विश्व स्तर पर उसकी पहचान स्थापित हुई। एक समय था जब अंग्रेजी में थोड़ी-सी भी सिद्धता रखने वाला कोई लेखक अंग्रेजी में लिखने में ही अपनी धन्यता अनुभव करता था। हिंदी अथवा अन्य किसी भाषा में लिखना उसे दोयम दर्जे का काम लगता था। बहुत हद तक आज भी ऐसी ही स्थिति है। इस मानसिकता को खंडित करने में सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण थी और फिर निर्मल वर्मा की। निर्मल वर्मा बहुत सजग लेखक ही नहीं थे, साहित्य के सरोकारों के गहरे चिंतक भी थे। लंबे समय तक वे वामपंथी विचारधारा से जुड़े रहे। फिर उससे उनका मोहभंग होना प्रारंभ हुआ और जो वामपंथी आलोचक उनकी प्रसन्नता के पुल बांधते थे वही उनके कटु आलोचक भी हो गए थे। कुछ ने तो उन्हें कट्टर हिंदूवाद के घेरे में घेरना भी प्रारंभ कर दिया था। हिंदी में यह बहस लंबे समय तक चलती रही है कि कला का उद्‌देश्य क्या है? कला कला के लिए है या कला जीवन के लिए है। इन्हीं विश्वासों को आधार बनाकर आलोचक कुछ लेखकों को स्वीकार और कुछ

को अस्वीकार करते रहे हैं। निर्मल के साथ भी यही हुआ। अपने एक निबंध 'रचना की जरूरत' का प्रारंभ ही उन्होंने इस प्रश्न से किया था—क्या कला हमारी सामाजिक ज़िंदगी पर सचमुच कोई असर डालती है? इसी निबंध में उन्होंने लिखा था कि कला का रहस्य उसकी स्वतंत्रता में ही छिपा होता है। वह अकेली संभावना है जो कलाकार को अपनी स्वतंत्रता के लिए प्रतिबद्ध बनाती है।

हर कवि एक विवेकशील आलोचक भी होता है। वह स्वीकार और अस्वीकार करता है, चुनता और रद्द करता है, सारा समय इस भेदभाव के साथ कि कौन-सा हल मिथ्या और भ्रमकारी है और कौन संभावित? निर्मल वर्मा ने कला और जीवन को विलगाने वाली सीमाओं को कभी स्वीकार नहीं किया। इसी कारण कुछ प्रतिबद्ध कहे जाने वाले आलोचकों ने उन्हें कलावादी लेखक कहना प्रारंभ कर दिया था और उन्हें खारिज कर देना चाहा था। निर्मल वर्मा साहित्य की अपनी प्रक्रिया पर विश्वास का आग्रह करते थे। वह कला के यथार्थ को दुनिया के यथार्थ से अलग करके नहीं देखना चाहते थे और मानते थे कि इस अलगाव के रहते न केवल हमारा जीवन यथार्थहीन हो गया है, बल्कि स्वयं कल्पनाशीलता की गरिमा धीरे-धीरे सूखने लगी है। उनकी मान्यता थी कि कला का सामना करते हुए हम एक दुनिया का सामना करते हैं—एक ऐसी दुनिया जो एक साथ ही यथार्थ और अयथार्थ दोनों हैं, हालांकि यह हमारी रोजमर्रा की दुनिया से मिलती-जुलती होने के बाद बिल्कुल वैसी नहीं होती। यह सपने की तरह होती है और सपने की दुनिया बावजूद इसके कि उसमें हमारी चेतन ज़िंदगी के अंश होते हैं, जीती-जागती दुनिया से अलग होती है। साहित्य से जुड़े अनेक गंभीर प्रश्नों पर निर्मल वर्मा ने विचार करते हुए बहुत कुछ लिखा। उनके इस लेखन ने उन्हें कहानी और उपन्यास जैसी साहित्यिक विधाओं से परे लेजाकर एक आत्म-विश्लेषक चिंतक के रूप में हिंदी पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया। इसलिए उनके निधन से हिंदी का केवल एक सृजनशील लेखक ही हमारे बीच से नहीं गया, एक साहित्य-चिंतक की उपस्थिति से हमारी भाषा वंचित हो गई है।

अपने एक लेख में 'साहित्य और लेखक की आस्था' में निर्मल ने एक स्थान पर अंग्रेजी के एक लेखक टामस इलियट को उद्धृत किया है। इलियट पूछते हैं कि 'हम क्या हैं'। वह खुद उत्तर देते हैं कि हम यह तभी जान सकते हैं जब हम यह जान लें कि 'हमें क्या होना चाहिए'? लेकिन हमें क्या होना चाहिए, यह तभी जाना जा सकता है जब हमें ज्ञात हो कि 'हम क्या हैं'? अमृता प्रीतम के देहावसान के साथ पंजाबी साहित्य के एक युग की समाप्ति हो गई। उनका जीवन पंजाब और पंजाबी के लिए एक युग का जीवन था। अमृता प्रीतम अपने जीवन काल में ही 'लीजेंड' बन गई थीं। इस समय वह केवल पंजाबी भाषा का ही प्रतिनिधित्व नहीं करती थीं, उनकी ख्याति पूरे भारत में थी और सभी भाषाओं में उनके पाठकों और प्रशंसकों की विशाल संख्या थी। हिंदी में उनकी रचनाओं की लोकप्रियता इसी बात से परखी जा सकती है कि कई बार तो पंजाबी में प्रकाशित होने से पूर्व ही वे हिंदी में प्रकाशित हो जाती

थीं। भारत विभाजन की त्रासदी को सबसे अधिक पंजाब ने झेला था। देश विभाजन के साथ ही पंजाब का विभाजन भी हुआ था। दोनों ओर भयंकर रक्तपात और जनसंख्या की अदला-बदली हुई थी। उस अवसर पर अमृता प्रीतम ने हीर-रांझा प्रेमाख्यान के कवि और सबसे चहेते लोककवि सैयद वारिस शाह को संबोधित करते हुए एक कविता लिखी थी। अमृता प्रीतम की इस कविता में पूरे पंजाब का दुख-दर्द पूरी तरह व्यक्त हुआ। इसे पढ़कर दोनों ओर असंख्य आंखें नम हो गई थीं। अमृता प्रीतम ने अपनी प्रतिभा से पंजाबी साहित्य को राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मंच पर स्थापित कर दिया।

उन्होंने कविताएं लिखीं, उपन्यास लिखे, कहानियां लिखीं, वैचारिक लेख लिखे। वर्षों तक पंजाबी की प्रतिष्ठित पत्रिका 'नागमणि' का संपादन किया। वह नए लेखक-लेखिकाओं की प्रेरणा-स्रोत बनीं। अमृता प्रीतम उसी दौर में नारी संवेदना की बाहरी अनुभूति लेकर पंजाबी के काव्य क्षेत्र में आईं। उन्होंने पंजाब की पीड़ित और व्यथित आत्मा को अभिव्यक्त किया। उस समय तक पंजाबी के काव्य-जगत् में कवियत्रियों का अधिक प्रवेश नहीं हुआ था। पुरुष प्रधान समाज में उस समय अमृता के स्वर को विद्रोही स्वर के रूप में देखा गया। निर्मल वर्मा और अमृता प्रीतम, दोनों ही जीवन के अंतिम वर्षों तक बहुत सक्रिय होकर लिखते रहे। दोनों की भाषाओं ने युवा पीढ़ी के लेखक-लेखिकाओं को उन्होंने बहुत प्रभावित किया। इन दोनों लेखकों के देहावसान से हिंदी और पंजाबी साहित्य को नहीं संपूर्ण भारतीय साहित्य को अपूरणीय क्षति हुई है।

(दैनिक जागरण, 29 दिसम्बर, 2005)

73

अमृता प्रीतम की रचनाओं में व्यथित नारी की पीड़ा बोलती थी

अमृता प्रीतम के देहावसान के साथ पंजाबी साहित्य के एक युग की समाप्ति हो गई। अमृता अपने जीवनकाल में ही 'लीजेण्ड' बन गई थीं। इस समय वे केवल पंजाबी भाषा का ही प्रतिनिधित्व नहीं करती थीं, अपितु उनकी ख्याति पूरे भारत में थी और सभी भाषाओं में उनके पाठकों और प्रशंसकों की विशाल संख्या थी। हिन्दी में उनकी रचनाओं की लोकप्रियता इसी बात से परखी जा सकती है कि कई बार तो पंजाबी में प्रकाशित होने से पूर्व ही वे हिन्दी में प्रकाशित हो जाती थीं।

20वीं शती में पंजाब में दो अमृताओं का नाम उजागर हुआ। दोनों को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता मिली। एक थी अमृता शेरगिल, प्रख्यात चित्रकार और दूसरी अमृता प्रीतम सुप्रसिद्ध कवयित्री। अमृता शेरगिल का जन्म 1913 में हुआ था। उसके पिता सरदार उमराव सिंह शेरगिल अमृतसर के मजीठा गांव के प्रख्यात घराने के थे और माता अन्तोइनेट हंगरी के एक सामन्ती परिवार की थी। अमृता प्रीतम 1919 में पश्चिमी पंजाब के गुज़रावालां में जन्मी थीं। पिता करतार सिंह हितकारी बहुत धार्मिक प्रकृति के थे।

कुछ दृष्टियों से दोनों अमृताओं का जीवन अपने-अपने क्षेत्र की विशिष्ट उपलब्धियों के साथ चलता रहा, किन्तु अमृता शेरगिल ने कुल 28 वर्ष की आयु में अपनी ज़ीवनलीला समाप्त कर दी। अमृता प्रीतम को 86 वर्ष की दीर्घ आयु प्राप्त हुई। साहित्य को उनकी जितनी देन थी, असंख्य हृदयों में उनके लिए जितना प्रेम था, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय पुरस्कारों और सम्मानों से वे जितना अलंकृत थीं, उसे देखते हुए मृत्यु के देवता ने उनके साथ क्रूरता का ही परिचय दिया। अंतिम कुछ वर्षों में वे बहुत

बीमार थीं, सूखकर एकदम पिंजर हो गई थीं। एक समय अमृता प्रीतम अपने सौंदर्य के लिए भी बहुत जानी जाती थीं। अमृता शेरगिल भी बहुत सुंदर थी। वह अपना सौंदर्य अपने साथ समेटे मृत्यु-देवता को समर्पित हो गई, किन्तु अमृता प्रीतम वैसा नहीं कर सकीं।

भारत विभाजन की त्रासदी को सबसे अधिक पंजाब ने झेला था। देश-विभाजन के साथ ही पंजाब का विभाजन भी हुआ था। दोनों ओर भयंकर रक्तपात और जनसंख्या की अदला-बदली हुई थी। उस अवसर पर अमृता प्रीतम ने हीर-रांझा प्रेमाख्यान के कवि और पंजाबी के सबसे पहले लोककवि सैयद वारिसशाह को सम्बोधित करते हुए एक कविता लिखी थी–

अज आखां वारिसाह नूं किते कबरा विच्चों बोल...
इस कविता के एक अंश का हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार है–
अज वारिसशाह से कहती हूं, कहीं कब्रों में से बोलो।
एक रोई थी बेटी पंजाब की तुम करुण गान लिखते चले गए।
आज लाखों बेटियों रोती हैं, वारिसशाह और तुमसे कहती हैं,
ओ, दुखियों के हमदर्द उठो देखो अपना पंजाब,
आज जंगलों में लाशें बिछी हुईं हैं,
और चेनाब खून से भरपूर है।

अमृता प्रीतम की इस कविता में पूरे पंजाब का दुःख-दर्द पूरी तरह व्यक्त हुआ। इसे पढ़कर दोनों ओर असंख्य आंखें नम हो गई थीं।

अमृता प्रीतम ने अपनी प्रतिभा से पंजाबी साहित्य को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर स्थापित कर दिया। उन्होंने कविताएं लिखीं, उपन्यास लिखे, कहानियां लिखीं, वैचारिक लेख लिखे। वर्षों तक पंजाबी की प्रतिष्ठित पत्रिका 'नागमणि' का संपादन किया। लेखक/लेखिकाओं की प्रेरणा स्रोत बनीं।

अमृता प्रीतम से पहले आधुनिक पंजाबी के काव्य क्षेत्र में भाई वीर सिंह, प्रो. पूरन सिंह, प्रो. मोहन सिंह आदि कवियों ने पंजाबी कविता को आधुनिक संवेदनाओं के साथ जोड़ा था। भाई वीर सिंह की कविता में रहस्यवादी अनुभूति थी। प्रो. पूरन सिंह की मुक्त छंद कविता पर अंग्रेजो कवि वाल्ट विहटमेन का बहुत प्रभाव था। प्रो. मोहन सिंह को कविता में एक ओर हिन्दी के छायावादी काव्य की झलक है तो उसी के साथ दूसरी ओर प्रगतिवादी कविता का प्रभाव है। अमृता प्रीतम उसी दौर में नारी संवेदना की गहरी अनुभूति लेकर पंजाबी के काव्य क्षेत्र में आई। उन्होंने पंजाब की पीड़ित और व्यथित आत्मा को अपने आत्मिक अनुभव और दर्द भरे बिम्बों से अभिव्यक्त किया है। इस समय पंजाबी के काव्य जगत् में कवयित्रियों का अधिक प्रवेश नहीं हुआ था। पुरुष प्रधान समाज में उस समय अमृता के स्वर को विद्रोही स्वर के

रूप में देखा गया था। उनकी भाषा की कोमलता और समाज में नारी की स्थिति पर व्यंग्यात्मक चोटों ने साहित्य जगत को इस प्रकार आन्दोलित किया कि उन्हें पंजाब की आवाज़ कहा जाने लगा।

यह वह समय था जब महादेवी वर्मा की हिन्दी जगत् में खूब चर्चा हो रही थी। 1935 से 1955 के बीच अमृता प्रीतम के 15 कविता संग्रह प्रकाशित हुए थे। 1955 में उनका कविता संग्रह 'सुनहड़े' के लिए उन्हें साहित्य अकादमी का पुरस्कार प्राप्त हुआ था। 1970 में प्रकाशित उनकी कविता पुस्तक 'कागज़ ते कैनवस' के लिए उन्हें भारतीय ज्ञानपीठ के पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

नारी का पुरुष पर आर्थिक दृष्टि से निर्भर होना उसकी सामाजिक दुर्दशा का सबसे बड़ा कारण है, यह तथ्य किसी-न-किसी रूप में उनके सम्पूर्ण साहित्य में विद्यमान हैं। उनकी एक कविता है—'अन्नदाता'—

अन्नदाता
मेरी जिह्वा पर तुम्हारा नमक है
तेरा नाम मेरे बाप के होंठों पर
और मेरी मूर्ति में मेरे बाप का खून है
मैं कैसे बोलूं
मेरे बोलने से पहले
बोल पड़ता है तुम्हारा अन्न
कुछ बोले थे
पर हम अन्न के कीड़े
अन्न के भार के नीचे-वे दब गए हैं।
अन्नदाता
मैं चमड़े की गुड़िया, खेल लो खिला लो
लहू का प्याला, पी लो पिला लो
तुम्हारे सामने खड़ी हूं
ये उपभोग की शै
जैसे चाहो इस्तेमाल कर लो।

अमृता प्रीतम के कथा साहित्य की अन्तर्यात्रा में भी नारी संवेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति है। उनके डाक्टर देव, पिंजर, आल्हणा (घोंसला), जलावतन, जेबकतरे, कच्ची सड़क आदि 27 उपन्यास और 12 कहानी-संग्रह तथा 14 निबंध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। देश-विदेश में उनकी प्रसिद्धि उनके कथा-साहित्य के कारण अधिक हुई है। हिन्दी में उनके सभी उपन्यास, कहानियां तथा निबंध पुस्तकाकार रूप में आ चुके हैं। भारत की ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसमें उनकी पुस्तकों के अनुवाद न प्रकाशित

हुए हों। भारतीय भाषाओं के ऐसे लेखक बहुत कम हैं, जिनकी रचनाओं के विदेशी भाषाओं में इतने अनुवाद प्रकाशित हुए हों जितने अमृता प्रीतम के हुए हैं। यही बात विदेशी पुरस्कारों और सम्मानों पर लागू होती है।

अमृता प्रीतम के कई उपन्यासों पर फिल्में बनी हैं और सफल रही हैं। कुछ समय पूर्व ही उनके उपन्यास 'पिंजर' पर बहुत अच्छी फिल्म बनी थी, जिसका कथानक देश के विभाजन पर आधारित था।

कुछ वर्ष पूर्व जब अमृता प्रीतम की आत्मकथा 'रसीदी टिकट' प्रकाशित हुई थी, तब साहित्यिक क्षेत्रों में उसने काफी हलचल पैदा की थी। अमृता के प्रेमियों और प्रशंसकों का संसार बहुत व्यापक रहा है, उनके आलोचकों और निंदकों की दुनिया भी छोटी नहीं है। जिस बेबाकी से उन्होंने अपने अनुभवों और संबंधों की चर्चा अपनी आत्मकथा में की है वह दुर्लभ है, विशेष रूप से उर्दू के लोकप्रिय शायर साहिर लुधियानवी से उनके संबंधों को लेकर वर्षों तक हलचल रही है।

अमृता प्रीतम जीवन के अंतिम वर्षों तक बहुत सक्रिय होकर लिखती रहीं। पंजाबी के युवा पीढ़ी के लेखक लेखिकाओं के लिए उनका घर किसी तीर्थ से कम नहीं था। लगभग 5 दशकों तक उनकी छाया बनकर जिए कलाकार इमरोज़ किसी समर्पित साथी के जीवन्त उदाहरण हैं।

अमृता प्रीतम के देहावसान से केवल पंजाबी साहित्य की ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की अपूरणीय क्षति हुई है।

(साहित्य अमृत)

74
प्रकाशन व्यवसाय की विडंबना

लेखकों और प्रकाशकों के आपसी संबंधों और उनके बीच उभरे तनावों की चर्चा नई नहीं है। लेखकों की आम शिकायत यह है कि प्रकाशक उनकी पुस्तकों की रायल्टी का हिसाब नियमित रूप से नहीं देते। बहुत से प्रकाशक ठीक से लेखकों के साथ अनुबंध नहीं करते। अनेक प्रकाशक तो अनुबंध करते ही नहीं। जो प्रकाशक अनुबंध करते भी हैं वे इस बात का स्पष्ट उल्लेख नहीं करते हैं कि उनकी पुस्तक के प्रथम संस्करण की गिनती क्या है? प्रकाशक द्वारा प्राप्त रायल्टी स्टेटमेंट भी इस आशंका से घिरा होता है कि क्या इतनी ही पुस्तकें बिकी हैं? यह सब कुछ प्रकाशक की ईमानदारी पर ही निर्भर करता है। लेखक के पास इस विश्वसनीयता को जानने का कोई साधन नहीं होता।

निर्मल वर्मा के निधन के पश्चात् यह विवाद इसलिए उजागर हुआ कि उनकी पत्नी गगन गिल ने, निर्मल वर्मा के प्रकाशकों पर यह आरोप लगाया कि उन्होंने पुस्तकों की रायल्टी का हिसाब लंवे समय से नहीं दिया। इसके पश्चात् इस विवाद को और अधिक बल मिला जब प्रख्यात लेखिका महाश्वेता देवी ने हिन्दी में उनकी पुस्तकों के प्रकाशकों के संवंध में यह शिकायत की कि प्रकाशक उन्हें न तो उनकी प्रकाशित पुस्तकों की सही गिनती बताते हैं और न ही उनकी रायल्टी का सही हिसाब देते हैं। इस संबंध में उन्होंने तथा एक अन्य बांग्ला लेखक नवारूण भट्टाचार्य ने दो प्रकाशकों को कानूनी नोटिस भी दिया। हिन्दी में लेखकों की स्थिति बहुत विचित्र है। ऐसे लेखकों की गिनती संभवतः उंगलियों पर ही गिनी जा सके जिनकी नई पुस्तक प्रकाशित करने के लिए कोई प्रकाशक बहुत आतुर हो और उसे अग्रिम रायल्टी देने को भी तैयार हो। संभवतः ऐसे सौभाग्यशाली लेखक गुलशन नंदा ही थे। सामान्यतः हर लेखक को अपनी रचना के लिए प्रकाशक की तलाश करनी पड़ती है। प्रकाशक उस लेखक को

प्राथमिकता देता है जो उसके द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की बिक्री में सहायक हो सके अथवा किसी अन्य प्रकार से उसकी सहायता कर सके। दूसरी प्राथमिकता उस लेखक के लिए होती है जो चर्चित हो, जिसकी पुस्तकें थोक खरीद में बिना अधिक किन्तु-परन्तु किए ले ली जाएं, साथ ही जिनकी पुस्तकें प्रकाशित होने से प्रकाशक की प्रतिष्ठा भी बढ़ती हो। हिन्दी में नित्य नए प्रकाशक जन्म लेते हैं। एक व्यक्ति जो कुछ समय तक पुस्तक विक्रेता रह चुका होता है वह प्रकाशन का व्यवसाय प्रारंभ कर देता है और अपने संपर्कों के कारण अपनी पुस्तक को खपा भी देता है।

वह इस बात पर पूरी नजर रखता है कि कब और कहां पुस्तकों की थोक खरीद होनी है, कौन से सरकारी और गैर सरकारी संस्थान अपने पुस्तकालयों के लिए पुस्तकें खरीदते हैं अथवा उनकी अनुशंसा करते है? वहां किस व्यक्ति को पटाना चाहिए और उसे किस प्रकार खुश करना चाहिए। छोटे और नए प्रकाशकों के मध्य अदला-बदली का धंधा भी खूब होता है। अपने प्रकाशन की पुस्तकें दूसरे प्रकाशकों को और दूसरे प्रकाशकों की उतने ही मूल्य की पुस्तकें स्वयं लेकर वह अपने स्टाक में टाइटिलों की गिनती बढ़ा लेती है और पुस्तकों का गट्ठर लेकर पुस्तकालय दर पुस्तकालय और नगर दर नगर के चक्कर काटता है और पुस्तकें बेचता है। हिन्दी में नित्य उभरते हुए नए लेखकों की कमी नहीं है जो कुछ लिख लेने के पश्चात् अपने लेखन को पुस्तक रूप में देखना चाहते हैं। अपनी नई प्रकाशित पुस्तक को देखकर नए-पुराने सभी लेखकों को जो अलौकिक आनंद प्राप्त होता है उसे सभी जानते हैं। इसलिए बहुत से लेखक अपने पास से धन खर्च के भी किसी प्रकाशक से पुस्तकें छपवाते हैं अथवा स्वयं प्रकाशित करते हैं। कुछ प्रकाशक चर्चित लेखकों को उनकी पांडुलिपि के बदले में एकमुश्त कुछ धन देकर उसके प्रकाशन अधिकार ले लेते हैं। कुछ नए लेखकों को अपने लगाए धन के बदले में प्रकाशित पुस्तकों को कुछ प्रतियां लेकर संतुष्ट होना पड़ता है। लेखक-प्रकाशक संबंध सचमुच एक बड़ा गोरखधंधा है। बहुत कुछ लेखक व प्रकाशक की अपनी आवश्यकताओं पर निर्भर करता है। पश्चिमी देशों में प्रकाशन व्यवसाय के साथ कुछ मापदंड और परंपराएं विकसित हो गई हैं वहां लेखक और प्रकाशक के बीच ऐसी एजेंसियां आ गई हैं जो दोनों के बीच दलाली जैसा काम करती हैं।

उनके पास लेखकों की तैयार या तैयार होती हुई रचनाओं का पूरा विवरण होता है। उन्हें प्रकाशकों की आवश्यकताओं की जानकारी होती है। दोनों के बीच संबंध उत्पन्न करके ये एजेंसियां उनका अनुबंध कराती हैं और अपना पारिश्रमिक प्राप्त करती हैं। यह परंपरा यदि हिंदी में विकसित हो जाए तो लेखकों को प्रकाशकों की अनुचित शर्तें मानने और उनकी न सुनने और प्रकाशक को न कहने की शर्मिंदगी से बचाया जा सकता है। देश में लेखकों की अनेक संस्थाएं भी हैं और लेखकों के संबंध में प्रकाशकों की शिकायतें भी कम नहीं हैं। कुछ लेखक प्रकाशक से अपनी किसी पुस्तक के लिए अग्रिम धन लेकर यह अनुबंध करते हैं कि वे एक निश्चित अवधि में अपनी

पांडुलिपि प्रकाशक को दे देंगे, किन्तु वे ऐसा नहीं करते। प्रकाशक उन्हें बार-बार याद दिलाता है, किन्तु लेखक अपना वचन पूरा नहीं करता। यदि करता है तो अत्यन्त विलंब से। कभी-कभी कोई लेखक एक प्रकाशक से अपनी पुस्तक प्रकाशित करवा कर कुछ समय बाद उसका नाम बदलकर और कुछ पृष्ठों में अंतर करके उसे दूसरे प्रकाशक से प्रकाशित करा लेता है अथवा किसी अन्य प्रकाशक को उसके पेपर बैक संस्करण के अधिकार दे देता है। लेखकों के मध्य आपसी विवाद के रोचक प्रसंग भी कभी-कभी उभर आते हैं। कुछ वर्ष पूर्व अमृता प्रीतम और कृष्णा सोबती में अपनी-अपनी पुस्तकों के नाम को लेकर एक विवाद उत्पन्न हो गया था।

कृष्णा सोबती का उपन्यास 'ज़िंदगीनामा' हिंदी में बहुत चर्चित हुआ था। उसके लिए लेखिका को साहित्य अकादमी का पुरस्कार भी मिला था। उन्हीं दिनों अमृता प्रीतम का हिंदी में एक उपन्यास प्रकाशित हुआ–'हरिदत्त का जिंदगीनामा'। अमृता का तर्क था जिंदगीनामा शब्द पर किसी का कापीराइट नहीं है। साथ ही मेरे उपन्यास का नाम 'हरिदत्त का ज़िंदगीनामा' है, जो कृष्णा के उपन्यास के भिन्न है। इस प्रश्न पर दोनों लेखिकाएं आपस में भिड़ गईं। कृष्णा सोबती ने अदालत का सहारा लिया। अमृता प्रीतम ने भी इसे अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया। वर्षों तक अदालत में मुकदमा चलता रहा। परिणाम क्या हुआ, मुझे पता नहीं। अब तो अमृता प्रीतम हमारे बीच में नहीं हैं। लेखन-कार्य से कुछ धन की प्राप्ति भी होती है, किन्तु हमारे देश में वह अभी तक लेखक के आत्म सुख का साधन हैं। प्रकाशन कार्य आम व्यवसायों जैसा व्यवसाय नहीं है। उसमें कुछ आदर्शों और नैतिकताओं का समावेश नहीं होगा तो वह दूषित हो जाएगा।

(दैनिक जागरण, 30 मार्च, 2006)

75

अनुवाद बड़ी सशक्त प्रक्रिया है

मैं मानता हूं कि आज संसार में ग्लोबलाइजेशन की जो बात हो रही हैं, इस संसार का वैश्विक निर्माण हो रहा है, इसमें अनुवाद ने संसार के बीच दोहरा संवाद स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। मैं मानता हूं कि हमारे देश में काफी अच्छा अनुवाद कार्य होता है, खासतौर से हिंदी में मैंने जो अनुवाद पढ़े हैं वे भी लगभग उतना ही आनंद देते हैं जितना कि मौलिक रचना देती है। अनुवादक को जहां दोनों भाषाओं का ज्ञान होना जरूरी है वहीं दोनों भाषाओं के सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों का बोध भी आवश्यक है। इस बारे में मैं पंजाबी और हिंदी भाषा से उदाहरण देना चाहूंगा। पंजाबी में 'विधवा स्त्री' को 'रंडी' कहते हैं जबकि हिंदी में 'रंडी' कहना बिल्कुल एक भिन्न अर्थ देता है। पंजाबी में विधवा हो जाने के लिए 'रंडी' कह देना बड़ी सहज-सी बात है, लेकिन हिंदी में 'रंडी' कहना कितनी बड़ी गाली हो जाती है। इसलिए भाषाओं का, धीरे-धीरे उसके मानस का, उसके मुहावरे का, उसकी अपनी संरचना का मर्म समझना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि शब्द एक जैसे लगते हुए भी कई बार अर्थों में अलग-अलग होते हैं। यदि इन सब बातों से अनुवादक परिचित नहीं है तो वह भयंकर गलती करेगा और यदि वह ऐसी भूलें करेगा तो उसके द्वारा किया गया अनुवाद एकदम भ्रष्ट हो जाएगा। मुझे एक बात याद आती है, एक मुहावरे की बात। मैं मुंबई के एक छात्रा कॉलेज में पढ़ाता था। वहीं पास के एक कॉलेज में एक गुजराती महिला भी पढ़ाती थी। वह जब कभी मिलती तो पूछती थीं कि 'कैसा चल रहा है' तो मैं वैसे ही जैसा आम बोलचाल में कह देते हैं, कह देता था कि 'गुजर रहा है'। यह अभिव्यक्ति उसके मन में बैठ-सी गई। महिला बड़ौदा की थी और बीच-बीच में बड़ौदा जाती थी अपने परिवार से मिलने। एक बार वहां से आई तो मैंने उनसे पूछा कि आपके परिवार में कैसा चल रहा है, उत्तर में उन्होंने कहा, 'घर

में सब गुजर रहे हैं'। अब यह उत्तर तो बड़ा विकट था। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि अनुवादक को यह देखना होता है कि वह उस भाषा के मानस में कितना प्रवेश कर जाता है।

अनुवाद बड़ी सशक्त प्रक्रिया है और अगर अनुवादक इस सशक्त प्रक्रिया से पूरी गहराई में जाकर नहीं जुड़ता तो उसे अनुवाद कार्य में बहुत कठिनाई होगी। इसके बिना अनुवादक 'मक्खी पर मक्खी मार देने' वाला अनुवाद करेगा। इसलिए मुझे कई बार लगता है कि अनुवाद सृजन-कार्य यानी मौलिक सृजन-कार्य से कहीं अधिक कठिन और जिम्मेदारी भरा है। लेखक अपनी भाषा में पचास गलतियां कर सकता है। साहित्य जगत् के बड़े-से-बड़े लेखकों की रचनाओं में व्याकरण के अनंत दोष रहे हैं। एक अच्छा लेखक अच्छा व्याकरण भी जानता हो, यह आवश्यक नहीं है। लेखक वर्तनी की गलतियां भी कर देते हैं, यह बात मैं अपने निजी अनुभवों से भी कह सकता हूं क्योंकि मैं एक पत्रिका का संपादक हूं और मेरे पास अनेक लोगों के लेख आते हैं। मैंने अक्सर अच्छे नामी लेखकों की रचनाओं तक में भी वर्तनी की अनेक गलतियां देखी हैं। इनके अलावा, कई बार वाक्य की रचना में भी गलतियां होती हैं। संपादक का कार्य भी यही है कि वह उन गलतियों को ठीक करके ही सामग्री प्रकाशित करे और संसार के सभी प्रकाशनों के यहां लेखक होते हैं पर साथ ही उनके पास संपादक के रूप में एक व्यक्तिगत-संस्था भी होती है। संपादक प्रत्येक रचना सही ढंग से संपादित करता है अगर रचना को संपादित किए बिना यानी उसे उसी रूप में प्रकाशित कर दिया जाए तो बहुत कठिन हो जाए। हमारे अपने ही देश में जिसे हम हिंदी-भाषी प्रदेश कहते हैं वहां भी वाक्यों की संरचना के स्तर पर अंतर नजर आता है। उदाहरण के लिए, बिहार राज्य के हिंदी-भाषियों की वाक्य रचना और मानक हिंदी की वाक्य संरचना में बहुत अंतर है। हमारा एक कर्मचारी है। उससे अगर पूछें कि 'क्या कर रहे हो' तो वह कहता है—'आज मैंने बहुत सारा कपड़ा धोया'। सामान्यतः मानक हिंदी में हम ऐसा प्रयोग नहीं करते। मैं दिनकर जैसे बहुत बड़े कवि की भाषा को सुनता था तो मुझे लगा कि ऊपर जो बिहार दोष कह रहा हूं वह दोष उनकी भाषा में भी है और उनकी भाषा भी पूरी तरह से दोष-मुक्त नहीं है। इसलिए वहां भी संपादन की आवश्यकता पड़ती है। मेरे कहने का अर्थ यही है कि लेखक तो इस प्रकार की गलतियां कर सकता है किन्तु अनुवादक नहीं। इसलिए उसे अनुवाद कार्य करते समय निरंतर एक प्रक्रिया से गुजरना होता है, एक प्रयास करना होता है, उसमें सिद्धता प्राप्त करनी होती है, भाषा का मुहावरा जानना होता है। अनुवादक जिस भाषा में अनुवाद कर रहा है उसे उस भाषा के मुहावरे से परिचित होना आवश्यक हो जाता है। तभी वह अच्छा अनुवाद कार्य कर सकता है। अनुवाद के क्षेत्र में प्रवेश करते हुए अनुवाद कार्य का प्रारंभ करना एक प्रारंभिक स्थिति है परंतु इसे जीवन-भर के लिए अपने साथ स्वीकार कर लेना एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है और जिम्मेदारी का वहन तभी ठीक ढंग से हो सकता है जब अनुवादक इसे निरंतर प्रक्रिया मानकर अपनाएं और अनुवाद

करते हुए कुछ न कुछ सीखने की जिज्ञासा रखें। अनुवादक को चाहिए कि उसे मूल में जहां कहीं भी संदेह हो तो मूल को लिखने वाले व्यक्ति से या उस भाषा को जानने वाले व्यक्ति से संपर्क करके संदेह दूर करे। अनुवादक में इस प्रकार की जागरूकता होनी चाहिए। अनुवाद-कर्म का मार्ग वास्तव में अत्यन्त सजग और सचेत होकर निरंतर चलने रहने की अपेक्षा करता है और अनुवादक इस जिम्मेदारी को सहर्ष स्वीकार करता है।

(अनुवाद, जनवरी-मार्च, 2006)

76

क्या हो गया है साहित्यिक गोष्ठियों को?

किसी भाषा में साहित्यिक गतिविधियां कैसी हैं, उनका एक पैमाना इस बात में भी है कि उस भाषा के लेखक किस माध्यम से आपस में मिलते हैं, एक-दूसरे की रचनाओं से परिचित होते हैं। विचार-विमर्श करते हैं, अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त करते हैं। यह सब कुछ उन गोष्ठियों में होता है जो किन्हीं साहित्यिक संस्थाओं द्वारा आयोजित की जाती हैं।

लेखकों का अनौपचारिक मिलन टी हाउसों या काफी हाउसों में भी होता रहा है। दिल्ली, इलाहाबाद, लखनऊ के ऐसे स्थान एक समय बहुत लोकप्रिय थे। नगर के छोटे-बड़े अनेक साहित्यकार यहां आते थे। काफी तो मात्र एक साधन होती थी। अनेक मेजों को घेरे हुए लेखक काफी के प्याले सामने रखे हुए बहसें करते थे, हंसी-ठट्ठा करते थे, एक दूसरे की टांगें भी खींचते थे। दूसरे नगर से आया हर लेखक यह जानता था कि यदि एक साथ बहुत से लेखकों से मिलना है तो अत्यन्त उपयुक्त स्थान सन्ध्या समय काफी हाउस ही है।

चार दशक पहले मैं मुंबई से दिल्ली आया था। उस समय कनाट प्लेस की रीगल बिल्डिंग का टी-हाउस बहुत गुलजार था। शाम होते ही लेखकों का जमघट वहां शुरू हो जाता था। बिल्कुल दरवाजे के पास पत्र-पत्रिकाओं की एक छोटी-सी दुकान थी। वहां दूर-दूर से प्रकाशित होने वाली अनेक साहित्यिक लघु-पत्रिकायें भी प्राप्त हो जाती थीं। अंदर आकर अपना स्थान लेने से पहले हर लेखक वहां रुकता था।

आज जहां नई दिल्ली का पालिका बाजार बन गया है वहां टैन्टों के नीचे एक काफी हाउस था। उसमें सदा ही असंख्य लेखकों/अलेखकों की भीड़ लगी रहती थी।

कुछ समय बाद इन दोनों स्थानों का रंग रूप बदल गया। टी हाउस बंद हो गया। वहां साड़ियों का एक बड़ा शो रूम बन गया। टैंट काफी हाउस की जगह एक शानदार बाज़ार बन गया।

धीरे-धीरे लेखकों ने अपने लिए दूसरा ठिकाना ढूंढ लिया। कनाट प्लेस में ही मोहन सिंह प्लेस की तीसरी मंजिल पर बना काफी हाउस लेखकों का प्रिय स्थान बन गया। वहां छत के नीचे बना स्थान तो बड़ा नहीं हैं, किन्तु बाहर की खुली छत पर सैकड़ों लोग बैठ सकते हैं। यह स्थान भी अनेक वर्षों तक लोकप्रिय रहा। जैसे-जैसे दिल्ली नगर बड़ा होता गया और काफी हाउस के अभ्यासी लेखकों की आयु बढ़ती गई, इस स्थान की लेखकीय रौनक भी घटने लगी।

इसी के साथ लेखकों की गंभीर गोष्ठियों की गिनती भी कम होने लगी। मुझे याद है कि एक समय कनाट प्लेस के ही क्षेत्र में राजस्थान सूचना केन्द्र साहित्यिक गोष्ठियों का केन्द्र बन गया था। गोष्ठी करने के लिए यह स्थान सरलता से उपलब्ध हो जाता था। चाय-बिस्कुट की व्यवस्था संयोजक कर लेते थे। इसलिए हर दूसरे-चौथे दिन वहां किसी संस्था द्वारा कोई-न-कोई गोष्ठी आयोजित होती थी—कभी किसी साहित्यिक प्रश्न को लेकर, कभी किसी नई पुस्तक के प्रकाशन पर, कभी बाहर से आए किसी लेखक का स्वागत करने के लिए, कभी कुछ लेखकों से उनकी नई रचनाएं सुनने के लिए।

कुछ समय बाद वह स्थान भी लेखकों के हाथ से निकल गया।

एक दिन हम कुछ लोग-कन्हैया लाल नंदन, कुसुम अंसल, नासिरा शर्मा, सुनीता जैन, सरोज वशिष्ठ, शामा-जनपथ काफी हाउस में बैठे काफी पी रहे थे। बातचीत चल पड़ी कि दिल्ली का साहित्यिक वातावरण बहुत ठंडा हो गया है। न अधिक साहित्यिक आयोजन होते हैं, न गोष्ठियां होती हैं। विभिन्न दलों और गुटों में बंटे लेखक आपस में कुछ साहित्यिक चर्चा कर लेते हैं, किन्तु व्यापक लेखक समुदाय से उनका अधिक सरोकार नहीं होता है। साहित्य अकादमी द्वारा आयोजित कार्यक्रमों में बहुत से लेखक इकट्ठा होते हैं, किन्तु उनके वार्षिक कार्यक्रमों में अनेक भाषाओं के लेखक भागीदार होते हैं और साहित्य अकादमी पर छाए हुए कुछ लेखकों का ही वहां वर्चस्व होता है।

निश्चय हुआ कि नियमित रूप से एक साहित्यिक गोष्ठी का आयोजन किया जाए।

दिल्ली में किसी भी साहित्यिक आयोजन की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यहां किसी केन्द्रीय स्थान की उपलब्धि नहीं होती। जो कुछ स्थान है उनका शुल्क लेखकों की संस्था वहन नहीं कर पाती, किन्तु उस समय यह समस्या कुसुमजी ने हल कर दी। कस्तूरबा गांधी मार्ग पर बने अंसल भवन में ग्यारहवीं मंजिल पर बने एक कमरे में वहां के उच्च अधिकारियों के लिए दोपहर के भोजन की व्यवस्था होती है। शाम को यह स्थान खाली रहता है। गोष्ठी का आयोजन वहां किया जा सकता है।

वहीं संस्था का नाम भी तय हो गया—संवाद। गोष्ठियों का आयोजन प्रारम्भ

हो गया। यह भी निश्चित हुआ कि 'संवाद' को कोई औपचारिक रूप न दिया जाए, न उसका किसी प्रकार का सदस्यता शुल्क रखा जाए, न पदाधिकारी हों, न किसी प्रकार का कोई चुनाव हो। सभी लोग मिलकर एक संयोजक चुन लिया करें। लेखकों की एक सूची बना ली जाए। संयोजक उन्हें गोष्ठी से संबंधित पत्र लिख दिया करे। वहीं यह भी निश्चित हो गया कि प्रारम्भ में संयोजन का दायित्व सुश्री नासिरा शर्मा संभालें। यह भी निश्चित हो गया कि पहली गोष्ठी में वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. रामदरश मिश्र समकालीन हिन्दी साहित्य की स्थिति पर अपने विचार प्रकट करें और सिम्मी हर्षिता अपनी नई कहानी सुनाएं।

इस प्रकार संवाद की गोष्ठियों का सिलसिला शुरू हो गया। लगभग प्रतिमास अंसल भवन में ऐसी गोष्ठियां निरन्तर दस वर्ष तक चलती रहीं। मार्च-अप्रैल में वार्षिक संगोष्ठी को विशेष छवि दी गई। उसके लिए विशिष्ट विषय और विशिष्ट वक्ताओं को आमंत्रित किया गया।

कुछ वर्ष पहले हिमाचल प्रदेश के साहित्य एवं संस्कृति विभाग के निदेशक से संपर्क हुआ। उन्होंने संवाद के सहयोग से शिमला में दिल्ली और हिमाचल प्रदेश के लेखकों का एक संयुक्त आयोजन किया। उस गोष्ठी में दोनों स्थानों के लेखकों ने अपनी रचनाओं का पाठ किया और उन पर भरपूर चर्चा हुई। इसी प्रकार हिमाचल प्रदेश के लेखक दिल्ली आमंत्रित किए गए। कई बार इस क्रम को दोहराया जा चुका है।

संवाद का जैसा-अनौपचारिक चरित्र प्रारम्भ में बनाया गया था, आज भी वैसा ही है। दो वर्ष तक नासिरा शर्मा इसकी संयोजक रही। फिर कुसुम अंसल ने दो वर्ष यह भार संभाला। उसके पश्चात् सुनीता जैन और प्रताप सहगल इसके संयोजक रहे। गत तीन-चार वर्ष से कथा-लेखिका मीरा सीकरी ने बड़ी सफलता से यह दायित्व संभाला हुआ है।

संवाद में साहित्य के अनेक पक्षों पर चर्चा होती रहती हैं। देश के विभिन्न भागों तथा विदेशों से आए हिन्दी लेखक भी इन गोष्ठियों के प्रमुख अतिथि रहते हैं। विदेशों में बसने वाले ऐसे लेखकों के अंदर भारत में रहने वाले लेखकों से मिलने, उनकी नई से नई कृतियों से परिचित होने और नवीनतम साहित्यिक प्रवृत्तियों की जानकारी प्राप्त करने की उत्कट इच्छा होती है। साहित्य अकादमी इस दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण माध्यम है। संवाद जैसी संस्थाएं जब उन्हें मंच प्रदान करती हैं तो उनका कार्य बहुत सुगम से जाता है।

एक समय यहां प्रगतिशील लेखक संघ, जनवादी लेखक संघ, आथर्स गिल्ड, भारतीय लेखक संगठन जैसा विधिवत संगठित लेखक-संस्थाएं बहुत सक्रिय थीं। प्रगतिशील लेखक संघ और जनवादी लेखक संघ द्वारा आयोजित कार्यक्रमों में एक खास विचारधारा के लेखक एकत्र होते रहे हैं और साहित्य के मूल्यांकन का आधार भी उसी को बनाते रहे हैं, किन्तु अब इनकी गतिविधियां भी बहुत शिथिल हो गई है। हमारे

बहुत तेज-तर्रार लेखक भी सुविधा प्राप्त होते ही अपना रंग-रूप और भाषा बदलने में तनिक भी विलम्ब नहीं लगाते और किसी सहारे की छांव मिलते ही उसके नीचे आ जाते हैं।

वामपंथी लेखकों का संकट सोवियत संघ के टूटने के पश्चात् बहुत बढ़ गया है। जिन विश्वासों और आस्थाओं की ज़मीन पर खड़े होकर अपने साहित्यिक तर्कों को उभारा था, अब वह ज़मीन उनके नीचे से खिसक गई है। इसलिए ऐसी मतिभ्रम की स्थिति में चुप होकर बैठ जाना या सुविधा भोगी बन जाना उनकी नियति बन गई है। यही कारण है कि प्रगतिशील लेखक संघ अथवा जनवादी लेखक संघ की जितनी चर्चा या शोर कुछ दशक पहले सुनाई देता था, अब नहीं सुनाई देता।

भारतीय साहित्य परिषद् जैसी संस्था राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ द्वारा संचालित एक घटक संस्था की छवि से बाहर नहीं निकल पा रही है, न निकलना चाहती है। उसके कार्यक्रम भी उसी प्रकार के होते हैं।

यह निश्चित है कि राजनीतिक दलों की छाया में पलने वाली साहित्यिक संस्थाएं न अधिक समय तक सक्रिय रह पाती हैं न उनकी प्रासंगिकता स्थिर रह पाती हैं। ऐसी संस्थाएं तो विशुद्ध साहित्यिक सरोकारों से जुड़कर ही सार्थक साहित्यिक माहौल का सृजन कर सकती हैं।

मेरी दृष्टि में 'संवाद' एक ऐसा ही प्रयास है। साहित्यिक प्रश्नों को लेकर लेखक आपस में वाद-विवाद करें एक-दूसरे की कटु आलोचनाएं करें और अपनी मत-भिन्नता व्यक्त करें—स्वस्थ साहित्यिक मानसिकता के विकास में यह आवश्यक हो सकता है, किन्तु जब ऐसे प्रश्न राजनीतिक दलों के घेरे में आ जाते हैं तब प्रायः उनका सरोकार बदल जाता है।

आज 'संवाद' भी संकटग्रस्त हो गया है। दस वर्ष तक अंसल भवन में गोष्ठी करने का जो स्थान उसे मिला हुआ था, अब उसे उपलब्ध नहीं है। उसमें एक आफिस खुल गया है। गत तीन वर्षों से इसकी गोष्ठियां लेखकों के घरों में हो रही हैं। बाराखंभा रोड का रूसी सांस्कृतिक केन्द्र बहुत सुविधाजनक स्थान है, किन्तु उसमें एक गोष्ठी करने पर जितना व्यय होता है, उसे क्या लम्बे समय तक वहन किया जा सकता है? साहित्य अकादमी इस दृष्टि से बहुत सहायक हो सकती है।

(दैनिक जागरण, 15 जून, 2006)

77
विष्णु प्रभाकर :
मूल्यहीनता के घटाटोप में एक चेहरा

श्री विष्णु प्रभाकर ने अपने कृती जीवन के 94 वर्ष पूर्ण कर लिए हैं और 95वें वर्ष में प्रवेश कर लिया है। इस समय वे हमारे बीच सबसे वयोवृद्ध साहित्यकार हैं। इस आयु में भी उनकी लेखकीय सक्रियता बनी हुई है। आज भी वे 6 से आठ घंटे तक नियमित लेखन-कार्य करते हैं।

विष्णु जी ने अपने जीवन में कोई सरकारी या गैर सरकारी नियमित नौकरी नहीं की। यदि कोई की भी तो कुछ समय बाद उससे त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन एक मसिजीवी लेखक के रूप में व्यतीत किया। स्वतंत्र लेखन से जो अर्जित किया उसी से अपने परिवार का भरण-पोषण किया। कभी सम्मान और पुरस्कार की चिंता नहीं की, कभी उसके लिए कोई प्रयास नहीं किया। दो वर्ष पूर्व ही उन्हें भारत सरकार की ओर से 'पद्म भूषण' से सम्मानित किया गया था, किन्तु जब कुछ समय पूर्व उन्हें राष्ट्रपति भवन में आयोजित एक आयोजन में, निमंत्रित होने के बावजूद सम्मिलित होने में कुछ कठिनाई उपस्थित की गई तो वे न केवल वापस आ गए उन्होंने पद्म भूषण सम्मान लौटाने का मन बना लिया। राष्ट्रपति की सद्भावना के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं हुई।

प्रायः समाज के प्रत्येक वर्ग में एक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जब कोई व्यक्ति अपनी कतिपय उपलब्धियों के कारण विशिष्ट बन जाता है, वह अपने आसपास के साधारण लागों से कटना शुरू हो जाता है। इस कार्य में उसे अपनी विशिष्टता की सार्थकता दिखाई देती है। यह स्थिति धन के कारण उत्पन्न होती है, पद के कारण

उत्पन्न होती है। इसके अन्य अनेक कारण होते हैं। दुर्भाग्य से यह स्थिति लेखकों के मध्य भी आ जाती है। अपने आपको विशिष्ट लेखक, आलोचक अथवा संपादक मान लेने वाले रचना कर्मी भी सामान्य और नये लेखकों से कुछ अंतर बनाए रखने में अपना गौरव मानने लगते हैं।

विष्णु प्रभाकर इस दृष्टि से पूरी तरह अपवाद हैं। उनके पुराने साथी उन दिनों का आज भी स्मरण करते हैं जब रीगल बिल्डिंग के टी हाउस में अथवा मोहन सिंह प्लेस के काफी हाउस में हर शाम को विष्णु जी के आसपास सभी पीढ़ियों के लेखकों का जमघट लगा रहता था। उन दिनों वे अजमेरी गेट के पास कुंडेवालान में रहते थे। सारा दिन लिखने-पढ़ने के पश्चात् वे शाम को घर से निकलते थे और पैदल ही टी -हाउस या काफी हाउस पहुंच जाते थे। वहां साहित्य और राजनीति के गंभीर प्रश्नों के साथ ही चुटकुलेबाजी का ऐसा दौर चलता था कि वातावरण हंसी-ठट्ठों से गूंज उठता था। आयु की बाध्यताओं, दिल्ली में बढ़ी हुई ट्रैफिक की समस्या और अनेक कारणों से अब काफी हाउसों की रौनक नहीं रही है, जो उस समय हुआ करती थी। अब विष्णु प्रभाकर जी भी कुंडेवालान छोड़कर प्रताप बाग (पीतम पुरा) आ गए हैं, किन्तु नए-पुराने सभी लेखकों के लिए उनके द्वार पूरी तरह खुले हुए हैं।

विष्णु जी ने बहुत कुछ लिखा है—कहानियां, उपन्यास, नाटक, रेडियो नाटक, जीवनियां आदि। एक मसिजीवी लेखक को चाहे अनचाहे बहुत कुछ लिखना पड़ता है। यदि स्वतंत्र लेखन (फ्रीलासिंग) करके अपने आजीविका अजित करनी हो तो उसे बहुत सा दूसरे दर्जे का लेखन भी करना पड़ता है विष्णु जी ने भी ऐसा किया है, किन्तु यह भी सच है कि संसार के सभी लेखकों का मूल्यांकन उनके द्वारा रचित सर्वोत्तम से होता है। विष्णु जी ने कुछ बहुत अच्छी कहानियां लिखी हैं। उनकी कहानी-धरती अब भी घूम रही है,' हिन्दी कहानी में मील का पत्थर है। उनकी कहानियां जीवन के प्रति एक गहरी अन्तर्दृष्टि को और उसकी सहज प्रस्तुति को रेखांकित करती हैं। गांधीवाद का प्रभाव होने के कारण उनकी कहानियों में आदर्शीकृत दृष्टि है, किन्तु वह पाठक पर कहीं भारी नहीं पड़ती है। जिस प्रकार ''धरती अब भी घूम रही'' है, समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार को उघाड़ती है उसी प्रकार 'ठेका' कहानी ठेकेदार के माध्यम से समाज के उस वर्ग और व्यक्ति को चित्रित करती है जो अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए रिश्वत में धन को नहीं अपनी पत्नी को भी दांव पर लगा देने से नहीं चूकता।

देश-विभाजन और साम्प्रदायिक समस्या पर विष्णु प्रभाकर ने कुछ बहुत अच्छी कहानियां लिखी हैं। इनमें 'मेरा बेटा', 'अधूरी कहानी', और 'मेरा वतन' की चर्चा प्रायः होती रहती है।

विष्णु प्रभाकर मूलरूप से मानव मन की कोमल भावनाओं का अंकन करते हैं, इसलिए हृदय-स्पर्शी होते हैं। 'अगम अथाह' कहानी देश के लिए जीवन देने वाले एक युवक की ही कहानी नहीं है, वह उसके माता-पिता के मर्म की कहानी भी है जो यह जानते हुए भी वह वापस नहीं लौटेगा, इस आशा में जी रहे हैं कि वह लौटेगा।

विष्णु प्रभाकर ने कई उपन्यासों की रचना की है। इस आयु में भी वे एक और उपन्यास की रचना करना चाहते हैं। 'कोई तो' उनका बहुचर्चित उपन्यास है। यह उपन्यास मध्यवर्ग की यौन-नैतिकता का प्रश्न उठाता है। समाज और पुरुष से प्रताड़ित अनेक नारियों की इसमें व्यथा-कथा है। इस उपन्यास के केन्द्र में है वर्तिका, जो निरन्तर जलती रहती है और औरों को प्रकाश देती है। व्यक्ति की कितनी बड़ी विडम्बना है कि वह जो नहीं है वह अपने भद्र समाज द्वारा बना दिया जाता है। वर्तिका बहुत सीधी-सादी लड़की है किन्तु किन्हीं कारणों से वह असद नाम के एक मुसलमान लड़के के साथ यात्रा करती है, किन्तु शंकालु समाज द्वारा वह लांछित कर दी जाती है। यह घटना, उसके निर्दोष होते हुए भी, उसके जीवन को आच्छादित कर देती है। यह अतीत को ढोने में वह जीवन का बहुत बड़ा भाग गवां देती है।

इस उपन्यास के केन्द्र में वर्तिका है किन्तु इसी के साथ अनेक लांछित, अपमानित और प्रताड़ित नारियां इस उपन्यास में उभरती हैं और मध्यवर्ग की खोखली नैतिकता, दोगले चरित्र और अमानवीय आचरण को हमारे सामने रखती हैं।

'कोई तो' उपन्यास महज एक नैतिक प्रश्न ही नहीं है। यह एक मानवीय पक्ष है। लेखक ने इस प्रश्न की अलग-अलग प्रसंगों और संदर्भों में गहरी संवेदना के साथ उभारा है।

विष्णु प्रभाकर के अन्य उपन्यास भी इसी प्रकार की व्यापक मानवीय दृष्टि से सम्पन्न रचनाएं हैं, किन्तु यह भी सच है कि उन्हें अधिक ख्याति उनके नाटकों, एकांकियों और रेडियो-नाटकों के कारण प्राप्त हुई। हिन्दी का ऐसा कौन-सा विद्यार्थी है जिसने अपने पाठ्य क्रम में उनका कोई एकांकी न पढ़ा हो। उनके प्रारंभिक नाटकों 'डाक्टर' और 'युगे-युगे क्रांति' के विषयगत और मंचीय विधान के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी वैचारिक अनुशासन का कलात्मक बोध एक विशेष प्रकार के स्वतन्त्र-चिंतन और आत्मगत चेतना को जन्म देता है। 'युगे-युगे क्रान्ति' निरंतर परिवर्तनशीलता के संदर्भ में लिखा गया है। इसमें लेखक ने प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक पीढ़ी प्रचलित समाज-व्यवस्था, नियम, उपनियम को लांघकर कोई नया कदम उठाना चाहती है। टूटते-परिवेश, बन्दिनी गान्धार की भिक्षुणी, सत्ता के आर-पार नव प्रभात आदि अनेक नाटक रंगमंच की दृष्टि से अत्यन्त सफल नाटक माने जाते हैं।

विष्णु प्रभाकर को सर्वाधिक ख्याति और प्रतिष्ठा उनकी बहुचर्चित रचना 'आवारा मसीहा' के कारण प्राप्त हुई। बांग्ला भाषा के बहुख्यात कथाकार शरत्‌चंद्र चट्टोपाध्याय की मान्यता भारत के सभी भागों में स्वीकृत हुई है। सभी भाषाओं में उनकी रचनाएं अनूदित हुईं और असंख्य पाठकों में उन्हें अद्‌भुत लोकप्रियता प्राप्त हुई।

हिन्दी के नए कथाकारों पर लम्बे समय तक शरत् चंद्र का प्रभाव रहा है बांग्ला भाषा में उनकी कुछ जीवनियां प्रकाशित हुई हैं। शरत् चंद्र का जिस प्रकार का लेखन था, उसके कारण बंगाल में ऐसे लोगों की कभी कमी नहीं रही जो उन्हें आवारा और चरित्रहीन मानते थे। विष्णु जी ने उसकी सम्पूर्ण जीवनी लिखने का बड़ा जोखिम भरा

निर्णय लिया। ऐसी जीवनी वही व्यक्ति लिख सकता था जिसने शरत् चंद्र को आत्मसात् किया हो, लेखक की अंतरात्मा को उसके मूलगत और यथार्थ रूप में पकड़ा हो। विष्णु प्रभाकर ने जब यह दायित्व अपने कंधों पर लिया तो संभवतः उन्हें स्वयं पता नहीं था कि यह कितना दूभर कार्य है।

वर्षों की कठिन साधना के पश्चात् जब 'आवारा मसीहा' का प्रकाशन हुआ तो वह अपने आप में साहित्य की एक महत्वपूर्ण घटना कही गई। इस कृति पर उन्हें 'पाब्लो नेरूदा' सम्मान देने की घोषणा हुई तो दिल्ली में विष्णु जी का सम्मान करने के लिए एक आयोजन हुआ। उस आयोजन में बहुत बड़ी संख्या में लेखक आए थे। उस अवसर पर प्रस्तुत प्रशस्ति पत्र में कहा गया था—''जीवन में व्यावसायिक और नैतिक समझौतों से मुक्त रचना धर्म के प्रति उकान्त निष्ठावान् कृतिकार विष्णु प्रभाकर की प्रतिनिधि अभिव्यक्ति 'आवारा मसीहा' (1974-75) में प्रकाशित) भारतीय साहित्य की समृद्धि और उसका संस्कार है—यह लेखकों के इस खुले अधिवेशन का निर्णय है। 'आवारा मसीहा' और उसके रचनाकार विष्णु प्रभाकर को पाब्लो नरूदा सम्मान द्वारा सत्कार लेखकीय आत्म सम्मान और सर्जनात्मक मूल्यबोध का प्रतीक है।

संचेतना (त्रैमासिक) ने 1982 में विष्णु प्रभाकर व्यक्ति और साहित्य शीर्षक से 200 पृष्ठ से अधिक का एक विशेषांक प्रकाशित किया था। उनके 95वें जन्म दिवस पर मासिक कल्पांत ने एक विशेषांक प्रकाशित किया है।

पुरस्कार, सम्मान, अभिनंदन जैसे शब्द आज भी शब्द-टकसाल से बड़ी संख्या में ढलकर हमारे सामाजिक के बाजार में आ गए हैं। बहुत बड़े राजनेता से लेकर किसी छोटे-से नगर की छोटी-सी गली के छोटे से नेता की छोटी-सी उपलब्धि भी इन सिक्कों को हथियाती है और जोर-शोर से भुनाती है। दिल्ली की सड़कों पर आए दिन झुण्ड के झुण्ड पैदल चलते, बसों की छत पर चढ़े, ट्रकों में ठुसे लोगों का हजूम दिखाई देता है। पता लगता है कि अमुक नेता का अभिनंदन करने के लिए इतने लाख लोग देश के कोने-कोने से आए (लाए) हैं। शहर की दीवारें प्रायः उन पोस्टरों से भरी होती हैं जिन पर किसी जमें, किसी उखड़े, किसी (लगभग) मरे नेता का चित्र होता है, जिन्हें उनके अद्‌भुत कारनामों के लिए तथाकथित प्रशंसकों की ओर से सम्मानित किया रहा होता है।

किन्तु विष्णु प्रभाकर जैसे साहित्यकार इस प्रकार के कृत्रिम सम्मान के सहभागी नहीं बनते। आज जब वे अपने जीवन का शतक पूरा करने से कुछ ही कदम पीछे हैं, अपनी साधना में लीन हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन लेखकीय अस्मिता का जीवन है। हमारे सामाजिक जीवन से अपने कर्म के प्रति समर्पित व्यक्तियों का लोप होता जा रहा है। सभी मानवीय कार्यों और लक्ष्यों को उसकी व्यावसायिक अथवा सत्तापरक सफलता के साथ जोड़कर देखना अत्यन्त सहज हो गया है। इस स्थिति में विष्णु प्रभाकर जैसे कृती साहित्यकारों का जीवन सामाजिक मूल्यों और आदर्शों के लिए सतत् प्रेरणा-स्रोत है।

(दैनिक जागरण, 13 जुलाई, 2006)

78

पुस्तक समीक्षा की ऐसी उपेक्षा क्यों?

किसी भी भाषा के विकास के लिए यह बहुत आवश्यक है कि उसमें निरन्तर साहित्य सृजन हो, नए लेखकों की पीढ़ी सतत् आगे आती रहे, पुस्तकों का नियमित प्रकाशन होता रहे और जागरूक पाठक वर्ग को उसकी सूचना मिलती रहे।

हिन्दी में अन्य सभी बातें न्यूनाधिक रूप से उपलब्ध हैं। साहित्य सृजन भी हो रहा है, नए लेखक भी आगे आते रहते हैं, पुस्तकें भी प्रकाशित होती है, किन्तु नई से-नई पुस्तकों के प्रकशन की पूरी सूचना पाठकों तक नहीं पहुंच पातीं। आम पाठक अपनी रुचि की अच्छी पुस्तकों की सूचना विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तक-समीक्षाओं से प्राप्त करता है। उन समीक्षाओं को पढ़कर किसी पुस्तक के सम्बन्ध में उसकी राय बनती है और उसे प्राप्त करने तथा पढ़ने के लिए वह प्रयत्नशील होता है समीक्षाएं पढ़कर ही मैंने बहुत-सी पुस्तकें खरीदी और पढ़ी हैं।

किन्तु आज पुस्तक समीक्षा पूरी तरह हाशिए पर चली गई है। हिन्दी की ही बात लें। दो-तीन दशक पहले हिन्दी के सभी दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक पत्र अपने कालमों में पुस्तक-समीक्षा को बड़ा महत्व देते थे। उस समय दैनिक पत्रों के साथ ही धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, दिनमान जैसे साप्ताहिक पत्रों तथा कल्पना, अवन्तिका कहानी, नई सारिका, माध्यम जैसी मासिक पत्रिकाओं की व्यापक स्वीकृति थी। ये सभी पत्रिकाएं पुस्तक समीक्षा को पहल देती थीं। दैनिक समाचार-पत्रों के पृष्ठों में भी साहित्य को महत्व मिलता था। कहानी, कविता के अतिरिक्त पुस्तक समीक्षाएं भी उनके साप्ताहिक साहित्य पृष्ठों में दिखाई देती थी।

फिर एकाएक ऐसी हवा चली कि साहित्य और साहित्य को महत्व देने वाली

हिन्दी पत्रिकाएं धड़ाधड़ बंद होने लग गईं। टाइम्स आफ इंडिया समूह ने धर्मयुग, दिनमान सारिका, पराग जैसी पत्रिकाओं का प्रकाशन बंद कर दिया। हिन्दुस्तान टाइम्स समूह द्वारा प्रकाशित साप्ताहिक हिन्दुस्तान जैसे लोकप्रिय पत्र का प्रकाशन रोक दिया गया। दैनिक नवभारत टाइम्स ने साहित्य-पक्ष को लगभग तिलांजलि दे दी। उसके साप्ताहिक पृष्ठ से कविता-कहानी गायब हो गई और पुस्तक समीक्षा के नाम पर दो-चार पंक्तियों की सूचना मात्र छपना शेष रह गया।

दैनिक जागरण इस देश में सबसे अधिक पढ़ा जाने वाला समाचार-पत्र है। पहले इसमें पुस्तक समीक्षाएं भी प्रकाशित होती थीं। पिछले कुछ समय से यह स्तंभ भी लगभग समाप्त कर दिया गया है। कभी-कभार किसी पुस्तक की इसके माध्यम से सूचना मिल जाती है। कुछ वर्ष पहले तक राष्ट्रीय सहारा में अच्छी कहानियां, कविताएं और पुस्तक समीक्षाएं पढ़ने को मिल जाती थीं। अब उसका साप्ताहिक परिशिष्ट बहुत रंगीन होकर फिल्मों, फैशनों, पकवानों की बात करता है। साहित्य के नाम पर संपादकीय पृष्ठ पर एक पृष्ठ होता है। उसी में साहित्य-विमर्श, एक-दो छोटी-छोटी पुस्तक समीक्षाएं, एक लघुकथा और कविताएं मिल जाती हैं। इस पृष्ठ पर पुस्तक-समीक्षा सबसे अधिक उपेक्षित होती है।

जितने समाचार-पत्र मैं देखता हूं उनमें जनसत्ता ने ही साहित्य-ध्वज को आज भी पूरी तरह से पकड़ा हुआ है। हर रविवार को दो-तीन पुस्तकों की अच्छी समीक्षा के साथ एक कहानी, कुछ कविताएं, कुछ साहित्यिक चर्चाएं और विवादग्रस्त प्रश्न पढ़ने को मिल जाते हैं।

ऐसा क्यों हुआ है? क्यों इतनी सारी पत्र-पत्रिकाएं बंद हो गई हैं? क्यों दैनिक पत्रों में साहित्य हाशिए पर चला गया है?

इसका सबसे बड़ा कारण समाचार-पत्र जगत् में आई हुई व्यावसायिकता है। समाचार पत्रों की होड़ इस बात में है कि उनका पत्र कितना बड़ा व्यवसाय करता है। उसे कितने अधिक विज्ञापन मिलते हैं। अधिक विज्ञापनों का मिलना पत्र की वितरण संख्या पर निर्भर करता है। इसलिए अंत में सारी बात बिक्री की संख्या पर आ टिकती हैं सभी प्रयास इस बात के लिए किए जाते हैं कि बिक्री कैसे बढ़े। पत्रों के मालिक जब सर्वेक्षण कराते हैं तो उन्हें रिपोर्ट मिलती है कि पाठक चटपटा मसाला पसंद करता है समाचारों में अपराध की ख़बरें, अनहोनी घटनाएं, घोटाले, यौन समाचार, फिल्मी गपशप आदि को अधिक पढ़ा जाता है। महिलाओं में नवीनतम फैशन, पति को रिझाने की युक्तियां और नए पकवानों को बनाने के ढंग लोकप्रिय होते हैं। कुछ अख़बारों में (विशेष रूप से अंग्रेजी) में महिलाओं की रंग-बिरंगी, अर्द्धनग्न, उत्तेजक तस्वीरें छापने की होड़ सी लगी रहती है।

उनका सर्वेक्षण यह भी बताता है कि साहित्य रसिकों की संख्या बहुत सीमित है। पहले समाचारपत्रों के मालिकों में ऐसे व्यक्ति भी थे जो पाठक की रुचियों का परिष्कार करना भी अपना दायित्व मानते थे, किन्तु नई पीढ़ी के मालिकों के लिए यह

पूरी तरह एक व्यवसाय है, जैसा कपड़ा बनाने अथवा सीमेंट तैयार करने का उद्योग है। इसलिए कविता-कहानी और पुस्तक समीक्षा छापने में जो जगह चली जाती है, उसे किसी विज्ञापन को छापने में क्यों न लगाया जाए।

हिन्दी में पुस्तक-समीक्षा का विकास एक कला के रूप में हो रहा था। जाने-माने विद्वानों और आलोचकों के पास पुस्तकें भेजी जाती थीं। वे उन्हें पूरी तरह पढ़कर उसके मर्म तक पहुंचने का प्रयास करते थे और समीक्षा लिखते थे। लगभग प्रत्येक लेखक अपनी रचना की समीक्षा छपी हुई देखना चाहता है। पाठक को तो उस पुस्तक के संबंध में जानकारी मिलती ही है, स्वयं लेखक उससे बहुत लाभान्वित होता है।

आज स्थिति यह है कि पुस्तक-समीक्षा की गंभीरता बहुत घट गई है। पत्र-पत्रिकाओं में एक समीक्षा का स्तम्भ महत्वहीन हो जाने के कारण अब बहुत से प्रकाशक अपने यहां से प्रकाशित पुस्तकों की समीक्षा के लिए भेजने में अधिक रुचि नहीं लेते। लेखक अपने प्रयास में से अपनी रचनाओं की समीक्षा के लिए इधर-उधर भिजवाते हैं। अनेक प्रकाशकों ने अपनी गृह पत्रिकाएं प्रारम्भ कर ली है। इन्हीं पत्रिकाओं में वे अपने नए प्रकाशनों की सूचना देते हैं और बहुत अनुकूल समीक्षाएं लिखवाकर प्रकाशित कर देते हैं। पुस्तक-समीक्षक भी अब इस कार्य को गंभीरतापूर्वक नहीं लेते। अनेक समीक्षक पुस्तक के फ्लैप कर पुस्तक के संबंध में छपी हुई सामग्री पढ़कर ही अपने दायित्व का निर्वाह कर देते हैं।

कुछ समय पूर्व हिन्दी में ऐसी पत्रिकाएं प्रकाश में आई थीं जो केवल पुस्तक समीक्षाएं ही प्रकाशित करती थीं। ऐसी पत्रिकाओं में मासिक-'प्रकर' और 'समीक्षा' की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। 'प्रकर' का प्रकाशन तो वंद हो गया है। डॉ. गोपाल राय 'समीक्षा' के प्रकाशन का दायित्व अभी संभाले हुए हैं। कितने आर्थिक संकट के दवाव में वे अपना कार्य करते हैं, मैं जानता हूं।

व्यावसायिकता की इस अंधी दौड़ में संपूर्ण संसार की साहित्यिक गतिविधियां बाधित हुई हैं। कुछ वर्ष पहले तक लंदन से प्रकाशित टाइम्स का लिटरेरी सप्लीमेंट सारे संसार में बहुचर्चित था। साहित्य और साहित्यिक प्रवृत्तियों से परिचित होने के लिए असंख्य साहित्य प्रेमी इस सप्लीमेंट की प्रतीक्षा करते थे। अब इसका प्रकाशन भी स्थगित हो गया है।

इस समय पुस्तकों के संबंध में अधिक जानकारी पुस्तक मेलों से प्राप्त होती है नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया द्वारा देश के विभिन्न भागों में पुस्तक मेले लगाए जाते हैं, जिनमें बड़ी मात्रा में पुस्तकें बिकती हैं। साहित्य अकादमी और सूचना-प्रसारण मंत्रालय का प्रकाशन विभाग भी इस दिशा में प्रयास करता रहता है। इन प्रयासों के सार्थक परिणाम भी निकलते हैं, किन्तु इससे पुस्तक-समीक्षा की कमी नहीं पूरी होती।

इस तथ्य से सभी परिचित हैं कि हिन्दी में पुस्तक-संस्कृति (बुक कल्चर) विकसित नहीं है। पुस्तकों के पाठक बहुत कम हैं और कीमतें बहुत ज़्यादा। इस स्थिति का भी विश्लेषण किया जाना चाहिए कि एक समय हिन्दी में सस्ती जेबी पुस्तकों (पाकेट

बुक्स) का चलन तेज़ी से बढ़ा था। अनेक प्रकाशन इस क्षेत्र में आ गए थे। इनमें अधिसंख्य पुस्तकें पाठकों का सस्ता मनोरंजन करती थीं, किन्तु इससे यह लाभ अवश्य हुआ था कि सामान्य कम पढ़े-लिखे लोगों के हाथों में पुस्तकें दिखाई देने लगी थीं।

फिर एकाएक इन पुस्तकों का पाठक पुस्तक-संसार से बाहर निकल गया। पॉकेट बुक्स के प्रकाशक निराश होने लगे। एक-दो को छोड़कर ऐसे सभी प्रकाशनों ने अपना कारोबार बंद कर दिय। हिन्दी का विशाल पाठक समुदाय (विशेष रूप से महिलाएं) टी.वी. सेटों की गिरफ्त में आ गया।

इस समस्या का एक सकारात्मक पक्ष भी है। सभी प्रतिकूल स्थितियों के बावजूद हिन्दी में साहित्य को समर्पित मासिक-त्रैमासिक पत्रिकाएं निकलती रहती हैं। इनका प्रकाशन कुछ संस्थाओं द्वारा भी होता है किन्तु अधिसंख्य पत्रिकाओं का प्रकाशन निजी प्रयासों द्वारा होता है। किसी साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन किसी जुनून से कम नहीं है और जुनूनी व्यक्ति यह कार्य करते रहते हैं। पुस्तक समीक्षा अब ऐसी ही पत्रिकाओं का काम रह गया है।

यह बात तो सभी जानते हैं कि ऐसी पत्रिकाओं की वितरण संख्या बहुत सीमित होती है। यदि हम चाहते हैं कि अच्छी पुस्तकों की जानकारी व्यापक जनसमुदाय तक पहुंचे तो इस कार्य में दैनिक समाचार-पत्रों की भागीदारी बहुत आवश्यक है।

(दैनिक जागरण, 7 सितम्बर, 2006)

79
दलित साहित्य : कुछ सवाल

दलित साहित्य पर चर्चा करते समय यह प्रश्न उभर आता है कि क्या दलित लेखन के लिए दलित वर्ग का होना आवश्यक है? मुझे ऐसा नहीं लगता। दलित वर्ग के संबंध में बहुत कुछ और बहुत अच्छा साहित्य, गैर दलित लेखकों द्वारा लिखा गया है। प्रेमचंद, नागार्जुन, अमृतलाल नागर की अनेक रचनाओं का उल्लेख इस दृष्टि से किया भी जाता है किन्तु इसमें भी कोई संदेह नहीं कि दलित साहित्य को सही पहचान दलित वर्ग में जन्मे लेखकों ने ही दी है। गैर-दलित लेखकों ने दलितों की पीड़ा को बहुत गहराई से अनुभव किया और लिखा, किन्तु जो पीड़ा अपनी हथेली पर रखे हुए जलते हुए अंगारे की तरह दलित लेखकों ने महसूस की, उसे वही महसूस कर सकते हैं।

इस संबंध में गलतफहमी उत्पन्न होने की संभावना भी हो सकती है। प्रेमचंद की बहुचर्चित कहानी है 'कफन'। इस कहानी के मुख्य पात्र घीसू और माधो दलित वर्ग के हैं। वे प्रसव पीड़ा से ग्रस्त बहू/पत्नी के प्रति जैसा अमानवीय रुख अपनाते हैं, वह अपने पेट की आग को बुझाने की दृष्टि से कितना ही मजबूरी भरा क्यों न लगता हो, उसके लिए हम समाज व्यवस्था को कितना भी दोषी ठहराएं, यह बात तो चुभती ही है कि ऐसे अमानवीय व्यवहार के लिए दलित वर्ग के लोगों को ही पात्र बनाया गया है। इसलिए यदि कुछ दलित लेखक इस कहानी को 'दलित विरोधी' मान लें, तो उसे झुठलाया नहीं जा सकता।

दलित लेखन में उपेक्षा, अपमान और पीड़ा की अभिव्यक्ति तो है ही, उसके माध्यम से इस देश के एक विशाल वर्ग की मानसिकता का अध्ययन बहुत आवश्यक है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में से गुजरते हुए उस दूषित समाज-व्यवस्था की ओर हमारा ध्यान बरबस आकर्षित हो जाता है जिसमें एक पूरे का पूरा वर्ग उपेक्षा, अपमान और पीड़ा झेलने के लिए मजबूर कर दिया जाता है। विडम्बना यह भी है कि इस वर्ग को

ऐसी अमानवीय स्थिति में धकेल देने वाली व्यवस्था इसे 'धर्म' मानती रही है और इसके औचित्य का ढिंढोरा पीटती रही है। इसलिए मैं मानता हूं कि दलित साहित्य एक वर्ग की उपेक्षा, अपमान और पीड़ा को अभिव्यक्ति देते समय इसके बृहत्तर समाजोपयोगी निहितार्थों की ओर भी संकेत करता है।

इस देश की समाज व्यवस्था में जाति-भेद खून में बसे हुए कोढ़ की तरह है। जाति-भेद के विरुद्ध जितने भी आंदोलन इस देश में हुए वे कुछ समय बाद उसी जाति भेद में फंसे हुए दिखाई दिए। इस्लाम और ईसाइयत जैसे दूसरे देशों से आए हुए धर्मों ने जाति भेद को नकारा, किन्तु इस देश मैं उनके अनुयायी इस व्याधि से मुक्ति नहीं पा सके। इस्लाम की समतामूलक विचारधारा का यह कैसा क्रूर मज़ाक़ है कि हाल में ही बिहार के एक गांव में जब एक मुसलमान जुलाहे की बेटी ने दूसरे मुसलमान धानुक के बेटे से शादी कर ली तो धानुक से अपने आपको ऊंची जाति समझने वाले जुलाहों ने अपनी लड़की को पहले खूब पीटा फिर उसे छत से लटका कर फांसी दे दी।

इस देश का जाति-भेद किसी से ऊंचे या बड़े होने और किसी से नीचे या छोटे होने का अहसास देता है। इसलिए अपने को भू-देवता मानने वाला ब्राह्मण, अपने ही वर्ग में किसी से बड़ा और किसी से छोटा होने की मानसिकता में जीता है। विडम्बना यह है कि दलित वर्ग भी इसी मानसिकता से ग्रसित है। उसका जाति-भेद भी किसी से बड़े होने (छोटा होना तो उसकी नियति बना दी गई है) का छलावा पालता है। इसलिए दलित साहित्य की जाति-भेद विरोधी लड़ाई, अपने सभी अन्तर्विरोधी के साथ व्यापक स्तर की लड़ाई है। यही उसका औचित्य है।

मराठी के दलित साहित्यकारों ने जिस प्रकार का आत्म-कथात्मक लेखन किया है वह सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में अप्रतिम है। आत्म-कथात्मक लेखन की कोई परम्परा हमारे साहित्य में नहीं है। ऐसा लेखन जिस बेबाकी, ईमानदारी और अपने प्रति जिस कठोरता और क्रूरता की मांग करता है, वह भारतीय-चरित्र में है ही नहीं, क्योंकि उसके धार्मिक और सामाजिक संस्कार उसे अधिकतर पाखंडी बनाते हैं।

इस पाखंड को मराठी के दलित लेखकों ने बड़ी हिम्मत से तोड़ा। इसीलिए उसमें अक्करमाशी (शरण कुमार लिंबाले), वाणी का स्वाद (दया पवार), बबूल की टहनियां (लक्ष्मण भाने) और हकीकत (केशव मेश्राम) जैसी आत्मकथाएं लिखी जा सकीं। हिन्दी में जिन (गैर दलित) लेखकों ने अपनी आत्मकथाएं लिखी हैं वे अधिकतर या तो आत्मवृत्तांत हैं या आत्म-रचनाएं हैं या आत्म-रति से पीड़ित हैं।

मुझे लगता है कि हिन्दी में ही सही अर्थों में आत्म-कथात्मक लेखन दलित लेखकों के माध्यम से हो जाएगा। मोहनदास नैमिशराय की रचना 'अपने-अपने पिंजरे' और ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' हिन्दी में आत्म-कथात्मक लेखन के सर्वथा अछूते आयाम हैं।

हिन्दी भाषी प्रदेश में ज्योति बा फूले और डॉ. अम्बेडकर जैसे व्यक्तित्व नहीं जन्मे, किन्तु कबीर और रविदास जैसे व्यक्तित्वों को जन्म देने का गौरव इसे प्राप्त

है। अकेले कबीर इस प्रदेश में दलित साहित्य के सृजन का प्रेरणा स्रोत बन सकते हैं। यह भी विडम्बना ही है कि अभी तक फूले या अम्बेडकर जैसा कोई व्यक्ति इस प्रदेश मे पैदा नहीं हुआ। यह भी कहा जा सकता है कि कबीर के बाद, दलित चेतना को उजागर करने वाला कोई भी व्यक्ति इस प्रदेश में नहीं जन्मा, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यहां दलित-साहित्य के सृजन की संभावना कम है। मुझे हमेशा ही लगा है कि इस प्रदेश में ऐसे साहित्य की संभावना और आवश्यकता कहीं अधिक है। यह तर्क भी सही नहीं है कि यहां दलितों पर वैसे जुल्म नहीं हुए जैसे पेशवाओं के समय महाराष्ट्र में हुए। मेरी मान्यता यह है कि वर्ण-व्यवस्था, ऊंच-नीच और जाति-पांति की भावना का जितने लम्बे समय तक, शास्त्राधारित पुष्ट तर्क हिंदी-भाषी प्रदेश से प्राप्त होते रहे उतने अन्य किसी प्रदेश से नहीं। दलित वर्ग को शारीरिक पीड़ा चाहे महाराष्ट्र में अधिक मिली हो, मानसिक यातना हिंदी भाषी प्रदेश में अधिक मिली।

इस स्थिति के प्रति कुछ संतोष व्यक्त किया जा सकता है कि आज हिंदी संसार में दलित लेखन को लेकर अच्छी-खासी चर्चा है और इस चर्चा में दलित वर्ग से आए हुए लेखक/बुद्धिजीवी बहुत खुलकर भाग ले रहे हैं, उन्हीं के साथ कुछ गैरदलित लेखक भी पूरी संजीदगी के साथ इस चर्चा के भागीदार बन रहे हैं। यह अपने आपसे बहुत महत्वपूर्ण बात है कि दलित वर्ग समाज में अपना योग्य स्थान प्राप्त करने, अपने प्रति सहस्त्राब्दियों से निरन्तर किए जाने वाले अन्याय का प्रतिकार करने और यथास्थिति बनाए रखने वाले सभी प्रयासों को पूरी तरह निष्फल करने के लिए जागरूक हो रहा है। इस जागरूकता की प्रतिछाया राजनीति के साथ ही साहित्य और संस्कृति क्षेत्र की गतिविधियों में उभर कर आए, यह स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी।

किन्तु हिन्दी समाज (पूरे भारतीय समाज) के उस मानस में कैसे सेंध लगे जो कितनी ही सदियों से लोहे और पत्थर की अभेद्य दीवार की तरह अविचलित खड़ा है। इस मानस में दलित वर्ग का बिम्ब एक ऐसे घृणित व्यक्ति का बिम्ब है जिसे सिर्फ गाली का पर्याय ऐसे बनाया जा सकता है। चमार, भंगी, चांडाल आदि सदियों से केवल दलित जातियां ही नहीं हैं, वे ऐसी गालियों के रूप में प्रयुक्त होती हैं जिन्हें सवर्ण वर्ग के प्रबुद्ध और प्रगतिशील व्यक्ति भी बोलते तनिक भी हिचकिचाहट नहीं अनुभव करते हैं, आज भी।

साहित्य से एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। जयशंकर प्रसाद का नाटक 'चंद्रगुप्त' महत्व और कलेवर की दृष्टि से सर्वाधिक स्वीकृत और चर्चित नाटकों में है। यह नाटक देश-विदेश के हिन्दी पाठ्यक्रम में अनेक दशकों से लगा हुआ है। इस नाटक की विषय-वस्तु क्या है? चाणक्य-चंद्रगुप्त के समय इस देश में ब्राह्मण-बौद्ध विवाद और कलह अपने चरम पर था। समाज के पिछड़े वर्गों, शूद्रों में बौद्ध, धर्म अपने ऊंच-नीच और वर्ण-व्यवस्था विरोधी मत के कारण लोकप्रिय हुआ था और राजसत्ता भी इस वर्ग के हाथों में आ गई थी जिसे सहन कर पाना वर्ण-व्यवस्था समर्थक चाणक्य के लिए विष-घूंट की तरह था। चाणक्य जैसे व्यक्ति के लिए सिकन्दर अथवा सैल्यूकस जैसे

विदेशी इतने घृणास्पद नहीं थे, जितना नीचकुल में जन्मा और बौद्ध धर्म का अनुयायी मगध सम्राट नंद था। प्रसाद का यह नाटक वर्ण-व्यवस्था पोषक ब्राह्मण को महिमामंडित तो करता ही है, बौद्ध और शूद्र को पृष्ठ-दर-पृष्ठ अपशब्दों और गालियों से प्रताड़ित करता है। नंद के सामने खड़ा होकर चाणक्य घोषणा करता है—"समय आ गया है कि शूद्र राजसिंहासन से हटाए जाएं और सच्चे क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त हों।"

ऐसे कटुवचन सुनकर जब नंद किसी प्रतिहार को आज्ञा देता है कि इसकी (चाणक्य) शिखा पकड़कर इसे बाहर करो तो चाणक्य की प्रतिक्रिया है—"खींच ले ब्राह्मण की शिखा! शूद्र के अन्न पर पले हुए कुत्ते! खींच ले। परन्तु यह शिखा नंद कुल की काल-सर्पिणी है।" एक स्थान पर सुवासिनी अमात्य राक्षस को बताती है कि चाणक्य ने कठोर व्यंग करते हुए उससे कहा—"वेश्याओं के लिए भी धर्म की आवश्यकता थी, चलो अच्छा ही हुआ, ऐसे धर्म (बौद्ध धर्म) के अनुकूल पतितों की भी कमी नहीं है।"

यह नाटक बार-बार बौद्धधर्म का खंडन करता है, उसे वेश्याओं, पतितों और शूद्रों का धर्म बताता है। चाणक्य की इस मान्यता का पोषण इस नाटक द्वारा होता है कि राष्ट्र का शुभचिंतन केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं...बौद्ध धर्म की शिक्षा मानव-व्यवहार के लिए पूर्ण नहीं हो सकती। नाटक की ध्वनि यह है कि बौद्ध होना, ब्राह्मण विरोधी होना और देशद्रोही होना एक ही बात है।

प्रसाद का यह नाटक केवल एक कृति ही नहीं है, एक मानसिकता है जिससे हिन्दी मानस ग्रसित है। ऐसी मानसिकता को दलित साहित्य के प्रति सहृदय और संवेदनशील बनाना कितना दूभर कार्य है जिसके लेखक शूद्र हैं और (अधिसंख्य) बौद्ध हैं।

इसलिए मुझे यह बात अधिक महत्वपूर्ण नहीं लगती कि आज चारों ओर दलित साहित्य की चर्चा हो रही है अथवा उसके प्रति बड़े-बड़े सम्मानित आलोचक, समीक्षक मानसिकता से कैसे छुटकारा पाया जाए। कैसे तुलसीदास से लेकर जयशंकर प्रसाद तक द्वारा रचित उस साहित्य से हिन्दी की नई पीढ़ी को बचाया जाए जो वर्ण-व्यवस्था, ऊंच-नीच, सवर्ण-शूद्र, ब्राह्मण-बौद्ध (और आधुनिक संदर्भ में हिन्दू-मुसलमान) समस्या और सम्बन्धों के प्रति अपना पुरातनपंथी रवैया अपनाए हुए हैं?

असमानता पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का विरोध करते हुए मानवीय समता, गौरव और प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष करना दलित साहित्य की रीढ़ है। इस देश की सर्वभक्षी और सर्वसम्पन्न ब्राह्मणवादी व्यवस्था ऐसे किसी भी प्रयास को सम्पन्न नहीं होने देती जो उसे चुनौती देता हो। इसके लिए वह सभी प्रकार के उपाय अपनाती है सदियों से इस प्रदेश में यही हो रहा है। जब भी इस देश में दलित चेतना में कुछ उभार आया इस व्यवस्था ने उसके दाएं हाथ का अंगूठा काटकर उसे नकारा कर दिया। महाभारतकालीन एकलव्य के साथ जो कुछ हुआ, वह बाद में तीन हज़ार वर्षों तक निरन्तर दोहराया जाता रहा।

मेरी समझ में दलित साहित्य का संदेश है वर्णवादी व्यवस्था का न केवल विरोध करना, बल्कि उसके प्रति व्यापक असंतोष और आक्रोश भी उत्पन्न करना और उसे

सार्थक दिशा देना और ऐसे स्वस्थ समाज के निर्माण की ओर अग्रसर होना जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सम्मान के साथ जी सके और अपनी सभी प्रकार की उन्नति और प्रगति के लिए समान अवसर प्राप्त कर सके।

व्यक्ति के दुख-दर्द की अभिव्यक्ति ही तो साहित्य है। संस्कृत साहित्य में संभवतः इसीलिए करुण रस को इतना महत्व दिया गया है। दलित लेखक अपने सदियों के दुख-दर्द को लोगों के सामने रख रहे हैं। यह पीड़ा किसी एक व्यक्ति की पीड़ा नहीं है। यह उस पूरे समूह की पीड़ा है जिसे यह हज़ारों सालों से जीता चला आ रहा है।

वर्ण-व्यवस्था की मानसिकता में पले लेखक सदा ही ऐसे साहित्य को जिसमें दलितों की भावनाओं की अभिव्यक्ति मिलती है, नाम-भौं चढ़ाकर देखते रहे हैं। मध्ययुग में कबीर इसका बड़ा उदाहरण है। प्रारम्भ में यह नाक-भौं चढ़ाना आगे चलकर विरोध में परिणत हो जाता है।

साहित्य के मूल्य और प्रतिमान परिवर्तित होते रहते हैं और कला संबंधी नई कसौटियां भी निर्मित होती रहती हैं। दलित साहित्य जब हमारे पाठ्यक्रम का भाग बनेगा तो साहित्य प्रतिमानों की भी पुनर्व्याख्या होगी।

मात्र दलित जाति में जन्म लेने से ही व्यक्ति की अभिव्यक्ति दलित भावना को व्यक्त कर सकती है, ऐसा मुझे नहीं लगता। साहित्य सृजन को अपनी कुछ बुनियादी ज़रूरतें होती है। भाषा के विचारों को मूर्तरूप देना और उसे सभी वर्गों के पाठकों के लिए आस्वाद योग्य बनाना ऐसी ही एक ज़रूरत है। अपने सभी बदलाव के बावजूद साहित्य सदा ही कुछ प्रतिमानों को साथ लेकर चलता है। दलित साहित्य भी ऐसे प्रतिमानों को पूरी तरह नकार नहीं सकता।

कोई भी परिवर्तनकामी साहित्य सामाजिक स्थितियों में से ही जन्म लेता है। मराठी का दलित साहित्य इन्हीं स्थितियों में उभरा। दलित साहित्य के लेखक यदि आरक्षण की छत्रछाया में, सभी सरकारी सुविधाओं को भोगते हुए (जैसा कि कुछ-कुछ दिखाई दे रहा है) सृजन करेंगे तो उसमें वह धार नहीं रहेगी जैसी कि दलित साहित्य से उपेक्षित है।

दलित राजनीति ने सामाजिक न्याय की बात अवश्य उठाई है। इस अवधारणा से दलित साहित्य को सकारात्मक प्रोत्साहन भी मिल सकता है, किन्तु मुझे खेद है कि दलित राजनीति ने भी, इस देश की राजनीतिक विकृति से ग्रस्त होकर, अनेक बार भौंडी अवसरवादिता का परिचय दिया है।

80

सूर्योदय के देश की ओर : देश से बाहर देशवासियों की खोज

भारत से बाहर भारतीयों से मिलना अपने आप में बहुत रोचक अनुभव है। मेरे अनुभव का प्रारंभ अपनी यात्रा के पहले पड़ाव हांगकांग से हुआ।

हांगकांग उपनिवेश के कोवलून भाग का शानदार होटल मीरामार।

पिछली रात को मैं वहां पहुंचा था। घर छोड़े मुश्किल से चौबीस घंटे हुए थे, परन्तु लग रहा था जैसे अपने स्वजनों से, अपनी भूमि से बिछुड़े एक लंबा अरसा गुजर गया है। होटल में तेरहवीं मंजिल के अपने कमरे की खिड़की से झांककर देखा। चारों ओर ऊंची-ऊंची अट्टालिकाएं दिखाई दे रही थीं और दिख रहे थे उनमें बने छोटे-छोटे फ्लैट और उनमें से झांकती चीनी शक्लें। एकाएक उदासी का तेज झोंका सारे शरीर की हड्डियों को चीरता हुआ निकल गया।

तभी संगीत की झंकार करती हुई कमरे की घंटी बजी। मैंने दरवाजा खोला—सामने छरहरे बदन का एक लंबा-सा युवक खड़ा था।

"आय एम डैनी...डैनी टेकचंद।'

'प्लीज कम इन।'

वह अंदर आकर सोफे पर बैठ गया। उसे देखकर अजीब-सा मोह उमड़ आया—यह अपने देश का व्यक्ति है, यह भाव इतना सुख देने वाला, इतना मोहग्रस्त करने वाला है, यह मैं जीवन में पहली बार महसूस कर रहा था।

उसने अंग्रेजी में बात शुरू की—'आपके यहां पहुंचने के विषय में मुझे डॉक्टर माथुर ने लिखा था। टोकियो में उन्होंने मुझे आपके लिए तीस हजार येन भी दिए थे, जिससे आप अपनी ज़रूरत की चीजें यहां से खरीद सकें।'

रमेश माथुर ने भी मुझे अपने पिछले पत्र में लिखा था कि हांगकांग में मुझे डैनी मिलेगा। उसकी अपनी कपड़े और सिलाई की दुकान है। मैं वहां से अपने लिए कुछ कमीजें बनवा लूं। जापान की सर्दी का सामना करने के लिए हांगकांग से अपने लिए एक ओवरकोट भी खरीद लूं।

हम दोनों होटल से बाहर निकले। कल रात जब मैं यहां पहुंचा था, तो यह शहर सचमुच मुझे मोती की तरह चमकता दिखाई दिया था, परन्तु उस समय तक मुझ पर घर से बिछुड़ने का अवसाद काफी भारी था, इसलिए यह जगमगाहट मुझे बाहर ही बाहर छूती हुई निकल गई थी। डैनी मुझे कावलून की सड़कों से घुमाता हुआ अपनी दुकान की तरफ ले चला। सुबह की रौनक सड़कों पर थिकरने लगी थी। दुकानें खुल रही थीं और सड़कों पर कारों-बसों का तांता काफी तेज हो गया था। फुटपाथों पर पश्चिमी परिधानों में सजी-संवरी चीनी लड़कियां बिल्कुल चिकनी मछलियों की तरह अगल-बगल से गुजर रही थीं। बीच-बीच में अमरीकी-यूरोपीय सैलानी स्त्री-पुरुष कंधों पर कैमरे लटकाए दिखाई दे रहे थे और उस सारी भीड़-भाड़ में कहीं-कहीं दो-एक साड़ियां भी नज़र आ रही थीं।

डैनी की दुकान खुल चुकी थी। एक कर्मचारी सफाई कर रहा था। काउंटर पर खड़ी लड़की कभी काउंटर की धूल झाड़ने लगती थी और कभी साथ लगे आईने में अपने आपको देखकर अपना मेकअप ठीक करने लगती थी। काउंटर के पीछे छोटी-छोटी कई तस्वीरें लगी थीं—राम-सीता, राधा-कृष्ण, शिव-पार्वती, लक्ष्मी, ईसा, गुरु नानक, महात्मा गांधी...मुझे उन चित्रों की ओर इतने ध्यान और रुचि से देखते देखकर डैनी मुस्कराया—'यू सी...माई फादर इज एक्लेवर मैन। ही डजंट वांट टु टेक रिस्क विद एनी गॉड.' (देखिए मेरे पिता एक चतुर व्यक्ति हैं। वे किसी भी देवता के संबंध में जोखिम नहीं उठाना चाहते।)

इतने में ही टेकचंद जी आते हुए दिखाई दिए। फुटपाथ पर चढ़कर दुकान के दरवाजे पर आए, झुककर अपने दाहिने हाथ से चौखट का स्पर्श किया और बड़ी श्रद्धा से उसे अपने माथे से छुआया। अंदर आकर काउंटर के पीछे सजे सभी देवताओं-महापुरुषों को बारी-बारी से प्रणाम किया और फिर मेरी ओर उन्मुख हुए। हाथ मिलाते हुए पूछा, 'आप कब आया?'

'मैं कल शाम को आ गया था।'
'किसी तरह का कोई तकलीफ तो नहीं हुआ।'
मैंने कहा, 'नहीं, कोई तकलीफ नहीं हुई।'

टेकचंद जी के व्यक्तित्व में सिंधीपन पूरी तरह कायम था—अच्छी स्वस्थ, गौरवर्ण काया, पेट थोड़ा बढ़ा हुआ, दो-तीन दांतों पर सोना चढ़ा हुआ और लंबे व्यापारिक अनुभव से बनी भाव-भंगिमा।

मैं कपड़ा पसंद करने लगा। हांगकांग में बसने वाले भारतीय, विशेष रूप से सिंधी, सिलाई का काम तुरंत करते हैं—अभी नाप दीजिए, चार घंटे बाद सिले कपड़े

लीजिए।

टेकचंद जी मुझसे अधिकतर हिंदुस्तानी में ही बोल रहे थे, परन्तु डैनी उनसे अंग्रेजी में ही बातचीत कर रहा था। दुकान के दो-एक कर्मचारियों से वे सिंधी में भी बात कर रहे थे। उन्होंने बताया, उनकी चार लड़कियां हैं और एक लड़का (डैनी)। काउंटर पर खड़ी लड़की भी उन्हीं की बेटी थी।

'मैं छोकरी को मैट्रिक तक पढ़ाता हूं। उसके पीछू दो-तीन बरस तक उससे दुकान पर काम लेता हू। इस काम की उसे पगार देता हूं, जो उसके हिसाब में बैंक में जमा होती जाती है। पीछू उसी पैसे से उसकी शादी कर देता हूं। दो लरकी का शादी बना चुका हूं। ये लरकी इसी बरस से काउंटर पर आई है। अब ये इस काउंटर को दो-तीन वरस संभालेगी।'

मैंने पूछा, 'आपके बच्चे सिंधी बोल लेते हैं?'

वे बोले, 'इन सबका जनम हांगकांग में हुआ। लरकियां तो कुच-कुच सिंधी बोल सकता है, पर डैनी नहीं बोलता।' फिर वे बोले, 'मैं डैनी को बोलता हूं...मैन, तुम भी सिंधी सीख लो। मानो, कबी अपनी दुकान पर कोई आफीसर जांच करने आ जाए। मैं दुकान से कोई माल या कागज हटाना मांगू या और कोई प्राइवेट बात डैनी को बोलना मांगू...तो कैसे बोलूं? अंग्रेजी में बोलूं...चीनी में बोलूं, तो वो अफसर सब समझ जाएगा...अबी इसकू सिंधी आता होइंगा, तो मैं सिंधी में बोल सकता हूं...नहीं तो हम पकरा जायगा...तब क्या होयगा...बाप जेल में...बेटा रेल में।'

दिल्ली से चलते समय मुझे मेरे एक संबंधी ने हांगकांग के भारतीय आयोग के एक अधिकारी के लिए कुछ दवाएं और मिठाई का एक डिब्बा दिया था। मेरे संबंधी महोदय ने बड़े विश्वास से मुझसे कहा था कि वे अधिकारी उनके घनिष्ठ मित्र हैं और वहां से मेरी बहुत मदद करेंगे।'

हांगकांग में मुझे कुल दो दिन रहना था। होटल में पहुंचते ही मैंने उन्हें फोन से सूचित कर दिया था कि मैं आपके लिए दिल्ली से कुछ चीज़ें लाया हूं।

वे बड़े खुश हुए। बोले, 'आप हांगकांग पहली बार आ रहे हैं?'

मैंने कहा, 'जी हां।'

वे कुछ सोच में डूब गए—आप आए यह बड़ी खुशी की बात है, परंतु यदि आप वीकेंड (साप्ताहांत) में आते तो बहुत अच्छा रहता। मैं आपकी कुछ सहायता कर सकता।'

मैंने कहा, 'आप इसकी चिंता न कीजिए। केवल यह बताइए कि ये चीज़ें आप तक कैसे पहुंचाऊं।'

उन्होंने दूसरे दिन शाम को होटल में आने का वायदा किया। मैं शाम को होटल की रिसेप्शन पर आ गया। वे आए। साथ में उनकी पत्नी भी थीं। वे बड़े तापक से मिले। चीजें भेजने के लिए अपने मित्र का और लाने के लिए मेरा बार-बार धन्यवाद करने लगे और बार/बार कहने लगे—'आप वीकेंड में आते तो मैं आपकी कुछ सेवा कर सकता।'

मैं उनके साथ ही होटल से बाहर निकल आया। सड़क पर आकर उनकी आंखों में प्रश्न उभरा, अब? मतलब था कि मैं उनका पिंड छोड़ूं, जिससे वे अपने घर वापस जा सकें। मैं पूछ बैठा, 'आप रहते कहां हैं?'

'हांगकांग साइड में, वे बोले, 'कोवलून से हांगकांग द्वीप में जाने के लिए फेरी सर्विस है। वैसे अब तो दोनों भागों को मिलाने के लिए टनेल भी बन गई हैं।

मेरे मन में आया, क्यों न मैं इनके साथ हांगकांग की ओर चला जाऊं। कुछ देर उधर घूम-फिर वापस आ जाऊंगा। मैंने कहा, 'चलिए, मैं भी आपके साथ उस तरफ चलता हूं।'

मैंने देखा पति-पत्नी दोनों के चेहरे पर बड़ी परेशानी उभर आई है। वे बोले, 'हमें तो इसके बाद और किसी से मिलने जाना है...आप?'

मैंने कहा, 'चिंता न कीजिए, मैं स्वयं ही इधर-उधर घूमकर वापस आ जाऊंगा।'

'चलिए।' उनकी आवाज़ उदास हो गई थी।

हम लोग फेरी टरमिलन की तरफ बढ़े। सामने हांगकांग द्वीप की बहुमंजिली इमारतें ऊंची-नीची पहाड़ियों पर जगमगा रही थीं।

अधिकारी महोदय को दस सेंट (सोलह पैसे) का मेरा फेरी भाड़ा भी देना पड़ा। मैं देने लगा तो पति-पत्नी दोनों ही बड़े आग्रह से बोले—'नहीं...नहीं...कुछ हमें भी तो सेवा का अवसर दीजिए।'

कुछ मिनटों की यह फेरी यात्रा में बहुत-बहुत आकर्षक थी। पीछे छूटता हुआ कावलून और निकट आता हांगकांग, दाएं-बाएं दूर-दूर तक फैला हुआ समुद्र—सब कुछ बहुत लुभावना लगा।

इस यात्रा के दौरान अधिकारी महोदय ने दो-एक बार फिर खेद भरी सफाई दी—'आप वीकेंड में आते, तो हम अपकी कुछ सेवा कर सकते।'

फेरी से उतरकर हम बाहर निकले, तो मैंने देखा कि उनकी पत्नी ने उन्हें चिकोटी काटी है और इशारे से कुछ कहा है। वे जैसे चौंक-से पड़े। बोले, 'हमारी बड़ी इच्छा थी कि हम इस समय आपको अपने घर ले चलते। असल में तो आपको होटल में रुकने की जरूरत ही नहीं थी...हमारा घर आपका अपना घर है, पर इस समय हमें कहीं और जाना है। खैर, आइए कोई ड्रिंक तो ले ही लें।'

वे फेरी स्टेशन पर बनी एक दुकान की ओर बढ़ गए। मेरे मन में उभरा, 'भाई, कुछ पिलाना ही है, तो एक प्याला चाय पिला दो।' मैंने शाम की चाय नहीं पी थी और मुझे उसकी खासी तलब महसूस हो रही थी।

हम लोग स्टाल पर जाकर खड़े हो गए और सबने ऑरिंज पी। स्टेशन से बाहर निकलकर मैंने उनसे विदा ली। जाते-जाते उन्होंने एक बार फिर दोहराया 'आप वीकेंड में आते तो...'

अब? बिना कुछ सोचे मैं सीधा चलता चला गया। सामने एक बड़ी सड़क आ गई। बीच में ट्राम की पटरी बनी हुई थी। मैं ट्राम पटरी पर बने ट्राम स्टैंड पर आकर खड़ा हो गया। इतने में एक ट्राम आकर रुकी। कुछ सवारियां चढ़ीं, तो मैं भी चढ़

गया। सोचा मंथर गति ट्राम से हांगकांग की सैर कर लें। फिर किसी दूसरी ट्राम से वापस आ जाएंगे। बीस सेंट का टिकट लेकर मैं बैठ गया। कुछ देर बाद ट्राम दाहिनी ओर मुड़कर ऐसी सड़क पर आ गई, जहां से समुद्र दिखाई दे रहा था और सामने बंबई की चौपाटी जैसा बाजार जगमगा रहा था। मैं उतर पड़ा और बाजार की ओर चल दिया। एक ओर बहुत-से छोटे-छोटे स्टाल बने हुए थे। उनके आगे कुर्सियां रखी हुई थीं, बड़े-बड़े तवों पर खाद्य पदार्थ तले जा रहे थे और बहुत-से लोग बड़ी तन्मयता से खा-पी रहे थे। चारों तरफ मछली की गंध उड़ रही थी। ध्यान से देखने की कोशिश की, तो सब ओर छोटी-बड़ी मछलियां, केंकड़े, ओक्टोपस के कटे अंग ही दिखाई दे रहे थे। गंध इतनी तेज कि उबकाई-सी आने लगी।

परन्तु दूसरी ओर कई पंक्तियों में अन्य वस्तुओं की दुकानें लगी थीं। सिले हुए कपड़े, टाइयां, रेडियो, घड़ियां, टेपरिकार्डर, म्यूजिक टेप, नेल कटर, कैंचिया ताले और दुनिया भर की चीजें। मैं दुकानों पर घूम-घूमकर चीजें देखने लगा। मुझे कानपुर का परेड बाजार याद आ गया।

मैंने एक घड़ी की कीमत पूछी।
'सेवेंटी फाइव डालर।'
मैं आगे बढ़ा।
चीनी दुकानदार ने झटपट पूछा—'व्हाट पे?'
मैंने कहा, 'ट्वेंटी डालर।'
'नो...पे सिक्स्टी डालर।'
मैंने कहा, 'नो, ट्वेंटी फाइव डालर।'
'ऑलराइट, पे फिफ्टी डालर।'
मैं आगे बढ़ा, तो उसने फिर बुलाया—पे फार्टी डालर।'

मैं तेजी से आगे बढ़ा तो वह जोर-जोर से बुलाने लगा। मैंने तय कर लिया कि अब किसी दुकान से किसी चीज़ का मूल्य नहीं पूछूंगा।

घने बाजार से बाहर आया, तो देखा फलों का रस बिक रहा है। उस बाजार की याद में मैंने पचास सेंट खर्च किए और एक गिलास अन्नानास का रस पिया।

स्नेह-संबंध : अव्यक्त संघर्ष

ओसाका की फ्लाइट लेने के लिए मैं एयरपोर्ट के लाउंज में बैठा था कि मैंने देखा मेरे पास के ही एक सोफे पर दो सरदार जी आकर बैठ गए हैं। कुछ देर में उनमें से एक उठकर मेरे पास आए। 'सत श्री अकाल।'

'सत श्री अकाल।'
उन्होंने पंजाबी में पूछा, 'कहां जा रहे हैं?'
मैंने कहा, 'मैं दिल्ली से आ रहा हूं और अब जापान जा रहा हूं।'

'आप हांगकांग में रहते हैं?' मैंने पूछा।

उन्होंने बताया कि उन्हें और उनके बड़े भाई को हांगकांग में रहते चालीस वर्ष से अधिक हो गए हैं। उन्होंने अपना कार्ड दिया। एक ओर चीनी में और दूसरी ओर अंग्रेजी में छपा था—हाकिम सिंह मनी लैंडर।

मैंने पूछा—'काम कैसा चल रहा है?'

वे बोले—'पहले तो बहुत अच्छा था, पर अब यहां चीनी लोग बहुत लड़ाकू और बेईमान हो गए हैं। रुपया ले लेते हैं, देने का नाम नहीं लेते। फिर भी किसी तरह काम चल रहा है।'

मैंने उन्हें ध्यान से देखा—आयु पचास-पचपन के आसपास। उनके भाई जो दूसरी ओर बैठे थे उनसे पांच-सात वर्ष बड़े लगते थे। दोनों भाइयों के सिर पर बहुत सादे ढंग से बंधी सफेद पगड़ी थी। दाढ़ी नीचे से गांठ लगाकर बंधी हुई थी। वे लंबी सफेद बुश्शर्ट और पैंट पहने हुए थे। उनकी बातचीत, बोली, वेशभूषा सभी से ऐसा लगता था, जैसे वे कुछ महीने पहले ही दिल्ली के पहाड़गंज से निकलकर आए हों।

मैंने पूछा—'आप कहीं जा रहे हैं?'

वे बोले—'मेरी लड़की एक ट्रेनिंग के सिलसिले में कुछ दिन के लिए भारत जा रही है।' और उन्होंने एक दूसरे सोफे पर बैठी महिलाओं में से एक की ओर इशारा कर दिया। मैंने उधर देखा, परंतु उनमें सरदार हाकिम सिंह की कोई लड़की हो सकती है, ऐसा नहीं लगा। उस सोफे पर चालीस-पचास के बीच की आयु की एक चीनी महिला और उसके साथ दो चीनी लड़कियां बैठी थीं—बीस-बाईस वर्ष की, तीनों के बाल कटे हुए थे। तीनों ने बहुत आधुनिक ढंग की शर्ट-पैंट पहन रखी थी, और चीनी भाषा में ही आपस में कुछ बातचीत कर रही थीं। कहीं आसपास भी पंजाबी ढंग की कोई लड़की नज़र नहीं आ रही थी।

मैं अपनी उत्सुकता नहीं दबा सका, 'आपकी लड़की तो कहीं दिखाई नहीं देती।'

'वह सामने ही तो बैठी है।' वे बोले, 'बीच में बैठी औरत मेरी बीवी है और बाकी दोनों मेरी लड़कियां हैं।' फिर वे मुस्कराते हुए बोले, 'मैंने चीनी औरत से शादी की है।'

मुझे लगा जैसे हांगकांग में सरदार हाकिम सिंह और उसकी चीनी पत्नी पिछले बीस-पचीस वर्ष से निरंतर एक सांस्कृतिक युद्ध करते रहे हैं। हांगकांग की चीनी भूमि में सरदार हाकिम सिंह अपनी चीनी पत्नी को पंजाबी रंग नहीं दे सके और अपने सारे प्रयत्नों के बावजूद वह चीनी महिला सरदार हाकिम सिंह को आधा इंच भी चीनी नहीं बना सकी, परंतु बच्चे मां और भूमि के ही रंग में रंग गए।

परन्तु इससे भिन्न प्रकार का एक उदाहरण मुझे जापान में मिला। एक बार कोबे के गुरुद्वारे में मैंने दो छोटे-छोटे बच्चे देखे। एक की आयु लगभग चार वर्ष और दूसरे की पांच वर्ष होगी। दोनों ही बहुत सुंदर थे—गोरा रंग, सिर पर बंधी हुई छोटी-छोटी जूड़ियां, नुकीली नाक और पतले होंठ, पर जब मेरा ध्यान उनकी आंखों की तरफ गया, तो लगा कुछ गड़बड़ है। उनकी आंखें जापानी सम्मिश्रण की खुली घोषणा कर रही

थीं। मैंने पूछा तो पता लगा, ये दोनों बच्चे सरदार जगजीत सिंह खुराना के हैं और उनकी पत्नी एक जापानी महिला हैं। गुरुद्वारे में उनकी पत्नी भी मिलीं। खूब स्वस्थ, गोरी, ऊंची और भरी महिला। उन्होंने जार्जेट की साड़ी पहन रखी थी और बिल्कुल भारतीय महिलाओं जैसा बालों का बड़ा जुड़ा बना रखा था। उनकी केवल नाक और आंखें जापानी होने का सबूत दे रही थीं। अन्यथा वे पूरी तरह खुराना जी के रंग में रंगी जा चुकी थीं। मुझे पता नहीं था कि दिल्ली छोड़ते ही मैं इस बुरी तरह से गृहातुर (नॉस्टैलजिक) अनुभव करने लगूंगा। जापान पहुंचने पर तो मेरा यह अहसास और तीव्र हो उठा। मेरे मित्र डॉ. रमेश माथुर उसी विश्वविद्यालय में थे, आज भी हैं, जहां मुझे एक वर्ष रहना था। जापानी भाषा का उनका ज्ञान मेरे भाषा अज्ञान को ढंके रहता था। उस नगर (हीराकाता) में वे पहले भारतीय थे और मैं दूसरा, बिल्कुल अलग-सा दिखने वाला। मेरी पगड़ी और दाढ़ी को देखकर यूनिवर्सिटी कैंटीन की महिला कर्मचारी अक्सर डॉ. माथुर से कहती थीं कि भारत से आया हुआ आपका यह मित्र बहुत फैशनपरस्त है। इसके सिर की टोपी कैसी है और इसकी दाढ़ी किस ढंग से चिपकी रहती है!

कोबे में तंदूरी का स्वाद : कितना महंगा!

रमेश के अतिरिक्त किसी भारतीय से हिंदी बोलने का अवसर मुझे तब मिला जब हम कोबे के गेलार्ड होटल में भारतीय खाना खाने गए। जापान पहुंचे मुझे अभी मुश्किल से दस-बारह दिन ही हुए थे, पर ऐसा लगने लगा था कि दाल-रोटी खाए वर्षों गुजर गए हैं और मैं न जाने कब से भूखा हूं। हमारे साथ उस विश्वविद्यालय में स्वीडन से आयी एक शोध-छात्रा मिस विदेउस भी थी। जैसे ही हम गेलार्ड में घुसे सामने काउंटर पर एक जापानी लड़की के साथ एक भारतीय युवती भी दिखाई दी—सांवले रंग की तीखे नैन-नक्शों वाली। लगातार कई दिन तक जापानी महिलाओं का गोरा रंग देखने के बाद सांवला-सलोना रंग देखा, तो बहुत आकर्षक लगा। हमें देखकर उस युवती के भाव पर औपचारिक मुस्कराहट आना, तो दरकिनार, उसका मुंह और सिकुड़ गया और वह दूसरी तरफ देखने लगी।

हम लोग एक कोने की मेज की तरफ बढ़ गए। मैंने इधर-उधर दृष्टि दोहरायी। अंदर बहुत कम लोग थे और जो थे भी, वे सभी जापानी थे। वे भारतीय भोजन का स्वाद लेने आए थे।

इतने में एक युवक हमारी मेज पर छपा मीनू रखने लगा। वह युवक मुझे उत्तर भारत के किसी स्थान का लगा। मैंने हिंदी में पूछा, 'बताइए, क्या-क्या बनाया है?'

'आप क्या खाएंगे,' बोलिए! उसने पूछा।

उसका उच्चारण मुझे बहुत साफ लगा। मैंने पूछा, 'आप कहां के रहने वाले हैं?'

वह बोला, 'जन्म और शिक्षा-दीक्षा क़ानपुर में हुई है।'

'कानपुर में?' मैं और रमेश दोनों चौंके। मैं तो कुछ अधिक ही उत्तेजित हो गया। मैंने कहा, 'हम दोनों के जीवन का भी एक बहुत बड़ा भाग कानपुर में गुजरा है। कुछ क्षणो में ही वह युवक (ललित मोहन पंत) और हम एकदम निकट आ गए। पंत ने हमें बड़े प्रेम से खाना खिलाया, परंतु जब मैं बिल अदा कर रहा था, तो पैरों में कुलबुलाहट-सी होने लगी थी। तीन व्यक्तियों के भोजन का बिल लगभग तीन सौ रुपए था। एक तंदूरी रोटी 200 येन (लगभग पांच रुपए), उड़द की दाल-एक प्लेट-400 येन (दस रुपए), पत्ता गोभी की सब्जी एक प्लेट-550 येन (लगभग पंद्रह रुपए), पनीर कोफ्ता-एक प्लेट 750 येन (लगभग बीस रुपए)। ऊपर से दस प्रतिशत सरचार्ज और दस प्रतिशत बिक्रीकर। मैंने चीज़ों की ये दरें अपने एक पत्र में श्री कन्हैयालाल नंदन को लिखीं तो उत्तर मिला–'ये भाव देखकर तो, बाप-दादों की भूख भी हवा हो गई है।'

कुछ दिन बाद मेरी भेंट संदीप टैगोर से हुई। वे जापान के एक विश्वविद्यालय में अंग्रेजी पढ़ाते हैं और तकात्सुकी नगर में अपने मकान में रहते हैं। उन्होंने भी जापानी महिला से विवाह किया है और माया तथा कृष्टि नाम की उनकी दो लड़कियां हैं। एक दिन वे अपनी बच्चियों सहित रमेश से मिलने आए। मुझसे भेंट हुई, तो उन्होंने हाथ जोड़कर कहा–'नमस्कार।' मैंने हिंदी में पूछा–'कहिए कैसे हैं?' उन्होंने अंग्रेजी में उत्तर दिया। मैंने सोचा, शायद वे 'नमस्कार' तक ही भारतीय (या बंगाली) हैं, परंतु जल्दी मुझे यह धारणा बदलनी पड़ी। संदीप को टूटी-फूटी हिंदी बोलने का काफी शौक है। पांच-छह वर्ष यूरोप में गुजारने के बाद वे बारह-चौदह वर्ष से जापान में हैं, परंतु अपने बंगालीपन को उन्होंने बहुत आग्रहपूर्वक बचा कर रखा है।

कुछ दिन बाद मैं, रमेश, संदीप और उनकी दोनों लड़कियां तथा संदीप के एक मित्र सुशांत बसु और उनकी पत्नी जापान के एक पर्यटन स्थल 'कातायामाजू' की सैर के लिए गए, 300 किलोमीटर की इस यात्रा में संदीप का 'नॉस्टैलजिया' भी जैसे पूरे उभार पर आ गया। मैंने उससे अंग्रेजी में बात की, तो उसने उत्तर हिंदी में दिया–'महीप, मेरा हिंदी में बात करने का मन करता है। मैं टूटा-फूटा हिंदी बोलता हूं, पर ऐसा बोलना भी मुझे अच्छा लगता है। अभी तुम मिला, तो हम हिंदी में बोलने सका। पीछू हम किससे बोलेगा?' फिर तो हम हिंदी में ही बातचीत करते रहे।

तभी संदीप ने तान छेड़ दी, 'अंखिय मिलाइके जिया भरमाइके चले नहीं जाना. ..ओ चले नहीं जाना।' और गाड़ी चलाते-चलाते मेरी ओर मुंह कर के पूछा, 'अच्छा गाया ना?'

मैंने कहा, 'बहुत अच्छा, पर इतना पुराना गाना कहां से याद आ गया?'

'बहुत बरस पहले मैंने इलाहाबाद में वो फिल्म देखा था...रतन। उसका गाना मुझे याद है। फिर संदीप ने सहगल, पंकज मलिक, जगमोहन के दशाब्दियों पुराने गानों की धुनें छेड़ीं और हम लोग बीच के अनेक शहरों में रुकते हुए अपनी मंजिल तक पहुंचे।

घर की याद : विदेश में आजादी की सालगिरह

जापान के भारतीयों में से कुछ से एक साथ मिलने का पहला अवसर मुझे स्वतंत्रता दिवस (15 अगस्त, 1974) के दिन मिला। जापान के अंग्रेजी समाचार-पत्र 'माइनीची डेली न्यूज' में एक दिन पहले मैंने पढ़ा कि कोबे के इंडिया क्लब में स्वतंत्रता दिवस के उपलक्ष्य में एक समारोह होगा। मैंने और रमेश ने उस समारोह में शामिल होने की योजना बनाई। रमेश को यह पता ही था कि मैं किस कदर 'नॉस्टैलजिक' हो रहा हूं। समारोह में अनेक लोगों से भेंट हुई। एयर इंडिया के दयाल गिडवानी और कृष्ण चावला चावला की पत्नी दिल्ली विश्वविद्यालय की पूर्व छात्रा थीं और मुझे जानती थीं। इंडिया क्लब के प्रेसीडेंट श्री किशन सिंह सचदेव, इंडियन सोशल सोसाइटी के अध्यक्ष मि. मोतवानी, इंडियन चेंबर आफ कामर्स के अध्यक्ष सरदार बलवंत सिंह सेठी तथा व्यापारी वर्ग में दिनेश झबेरी, स्वर्णपाल सिंह, क्वातरा बंधु, बलदेव पावा आदि। सरदार बलवंत सिंह सेठी से मैंने पूछा, 'आप जापान में कब से हैं?'

वे बोले, 'लगभग बीस वर्ष से।'

मैंने कहा, 'तब तो आप पूरे जापानी हो गए होंगे।'

उनके रौबीले चेहरे पर मुस्करहाट उभरी और वे अपनी उठी हुई नोकदार मूंछों पर उंगली फेरते हुए बोले, 'मैं तो पूरा पंजाबी आं।'

सरदार अमर सिंह क्वातरा ने हांगकांग से ओसाका तक मेरे साथ ही हवाई यात्रा की थी। वे भी वहां मिले। इसके बाद जितनी बार भी वे मिले, मैंने उनकी आंखों में स्नेह का वह रस झलकते पाया, जो मुझे सदैव सिक्त करता रहा।

वहीं जापान में भारत के कौंसुल जनरल श्री मेनन से भेंट हुई। वे कुछ दिन पूर्व ही कनाडा से स्थानांतरित होकर आए थे—अत्यंत हंसमुख और मिलनसार। वे हर व्यक्ति से औपचारिक रूप से मिल रहे थे, परंतु ऐसा लग रहा था कि वे सचमुच हर व्यक्ति को जानना चाहते हैं और उससे संबंध बनाना चाहते हैं। कुछ दिन बाद जापान की वेदांत सोसाइटी में श्रीमती सुब्बुलक्ष्मी के गायन का कार्यक्रम था। वहां हमारी उनसे भेंट हुई। उन्होंने हमें हमारे नामों सहित पहचाना। इसके बाद कई बार उनसे भेंट हुई और हर बार मैंने उन्हें अधिक आत्मीय पाया। कौंसुलेट के एक अन्य अधिकारी श्री अमर सिंह भी बहुत हंसमुख व्यक्ति थे।

गाईजिन...इंदोजिन!

अपने लगभग एक वर्ष के जापान-निवास में मेरी भेंट बहुत से भारतीयों से हुई। अधिकांश भारतीय (लगभग 600) कोबे में रहते हैं। विदेशों के अधिकांश कौंसुलेट इस नगर में हैं। साथ ही यह जापान का एक प्रमुख बंदरगाह है, इसलिए भी इस नगर में विदेशी बड़ी मात्रा में दिखाई देते हैं। जापान में विदेशी किसी-न-किसी रूप में आज भी एक अजूबा है। विशेष रूप से छोटे शहरों में किसी भी विदेशी को देखकर बच्चे

'गाईजिन, गाईजिन (विदेशी...विदेशी) कहकर चिल्लाने लगते हैं। मुझे देखकर वे 'इंदोजिन इंदोजिन (भारतवासी...भारतवासी) कहने लगते थे। कोबे में प्रतिवर्ष 'कोबे फेस्टिवल' नाम का एक समारोह होता है, जिसमें हजारों जापानी स्त्री-पुरुष विभिन्न वेशभूषाओं में जुलूस की शक्ल में शहर की सड़कों पर से गुजरते हैं। इस समारोह में विदेशियों की टोलियां भी भाग लेती हैं। गत वर्ष भारतीय टोली में रामराज्य की कल्पना से संयुक्त राम, लक्ष्मण और सीता की झांकी थी और सड़क पर भंगड़ा और गिद्धा नृत्य करते हुए भारतीय चल रहे थे।

कोबे के अधिकांश भारतीय व्यापारी हैं और वे अधिकतर आयात-निर्यात का काम करते हैं। भारतीय व्यापारियों में अधिकांश सिंधी, पंजाबी और गुजराती हैं। 'इंडिया क्लब' और 'इंडियन सोशल सोसाइटी' नाम की इनकी दो सामाजिक संस्थाएं हैं। भारतीय व्यापारियों की 'इंडियन चेंबर ऑफ कामर्स' नाम की संस्था है, जो उनके व्यापारिक हितों की देखभाल करती है। कोबे में एक गुरुद्वारा है, जिसमें हर रविवार को प्रातः दीवान सजता है। जैसा स्वादिष्ट कढ़ाह-प्रसाद और लंगर मैंने कोबे के गुरुद्वारे में खाया, मुझे याद नहीं, वैसा इससे पहले मैंने कभी खाया हो। कोबे के गुरुद्वारे की एक अच्छी बात यह है कि वहां कीर्तन आदि करने के लिए कोई पेशेवर रागी जत्था नहीं है। गुरुद्वारे में आनेवाले स्त्री-पुरुष स्वयं कीर्तन करते और 'शबद' गाते हैं।

जापान के ये भारतीय व्यापारी अपने व्यावसायिक क्षेत्र में बहुत सफल होते हैं। कोबे में ही एक व्यक्ति ने मुझसे कहा—इस नगर में आपको जो भी बहुमंजिली शानदार इमारत नजर आ जाए, समझ लीजिए वह किसी भारतीय की है। इनमें थोड़ी-बहुत धार्मिकता तो है, परंतु इनकी सांस्कृतिक-बौद्धिक चेतना बहुत सामान्य स्तर की है। डॉ. माथुर और मैंने मिलकर कुछ प्रयत्न किए कि किसी तरह भारतीय समुदाय की कुछ दिलचस्पी हम अपने विश्वविद्यालय के भारतीय अध्ययन विभाग में पैदा करें, जहां भारत संबंधी अनेक शोध-विषयों पर काम हो रहा है या होने जा रहा है और जहां प्रतिवर्ष लाखों येन भारत संबंधी विविध विषयों की पुस्तकों की खरीद पर खर्च किया जा रहा है, परंतु अपने प्रयत्नों में हम बहुत कम सफलता प्राप्त कर सके। हमें जो भी थोड़ी बहुत सफलता मिली उसका श्रेय 'इंडियन चेंबर ऑफ कॉमर्स' के अध्यक्ष सरदार बलवंत सिंह सेठी को था। श्री सेठी ने पहली मुलाकात में ही मुझसे कहा था कि मैं अभी भी पूरा पंजाबी हूं। उनका यह कहना निरी गर्वोक्ति ही नहीं थी। पंजाबियों जैसा खुला दिल, परेशान कर देने की हद तक की मेहमाननवाजी, हाथ में लिए हुए काम को पूरा करने की लगन आदि गुण उनके 6 फुटी व्यक्तित्व के साथ इस तरह गुंथे हुए लगे कि भारत से बीस वर्षों का विलगाव उस पर धूल की हल्की-सी परत भी नहीं जमा सका।

जापान के बुद्धिजीवी भारतीयों से मेरी अधिक भेंट न हुई। एक दिन ओसाका से लक्ष्मीधर का फोन आाय। वे ओसाका विश्वविद्यालय में हिंदी पढ़ाते हैं। टेलीफोन पर उनसे बातचीत करके लगा—मैं जापान में नहीं, बल्कि इलाहाबाद में हूं। दो-चार दिन बाद दोपहर के भोजन के लिए उनके घर पर जाना था। मैं और रमेश माथुर

जब भूमिगत ट्रेन की यात्रा पूरी करके उनके बताए स्टेशन की सीढ़ियां चढ़कर ऊपर आए, तो सड़क के दूसरी ओर मालवीय जी हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी, जापानी किमोनो और जापानी खड़ाऊं उन्होंने पहन रखे थे और कंधे पर एक झोला लटक रहा था। घर पहुंचने पर मालूम हुआ कि उनकी जापानी पत्नी अपने मायके गई हुई है। हमारे लिए मालवीय जी ने स्वयं भोजन तैयार किया था।

बुद्धिजीवियों के अपने-अपने घेरे

अपने संपूर्ण निवास के दौरान मुझे यह बात हमेशा याद आती रही कि अपने घोर व्यापारिक स्वार्थों की सीमाओं में बद्ध होने के बावजूद भारतीय व्यापारी आपस में मिलते हैं, एक-दूसरे की कुछ मदद भी करते हैं, शाम को क्लब में आकर विलियर्ड या ताश खेलते हैं। उन्होने अपने सामाजिक, धार्मिक और व्यापारिक संगठन भी बनाए हैं, परंतु भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग का आपसी संबंध नहीं के बराबर है। इनके अपने नितांत वैयक्तिक 'सेल' हैं। जिन्हें पूरी तरह सुरक्षित रखने और किसी दूसरे को उनकी हवा भी न लगने देने के लिए ये पूरी तरह सतर्क हैं। हर व्यक्ति अपने ही बनाए घेरे में घिरा हुआ है और दूसरे को लेकर सदैव शंकित रहता है। ऐसा लगता है जैसे ये सबके सब गहरी असुरक्षा-भावना से पीड़ित हैं।

ऐसा भी नहीं कि भारत में रहने वाले भारतीय बुद्धिजीवी इसके अपवाद हों!

(धर्मयुग, 25 जनवरी, 1976)

81
दर्द और उदासी का सफर

कई सदियों से अमृतसर के लिए एक उक्ति प्रसिद्ध है—अमृतसर सिफती दा घर। सिफ़त अरबी शब्द है जिसका अर्थ है प्रशंसा, तारीफ या गुण अर्थात् अमृतसर गुणों का घर है। इसका यह भी अर्थ है कि अमृतसर वह स्थान है जहां परमात्मा के गुण गाये जाते हैं। उसकी प्रशंसा होती है। इस नगर की तुलना में लाहौर शहर सवा पहर कहर। कहर शब्द अरबी का है जिसका अर्थ है क्रोध या दैवी कोप अर्थात् लाहौर शहर तो सदा दैवी कोप से घिरा रहता है, परंतु आज बात बिल्कुल उल्टी दिखाई दे रही है। दैवी कोप वाला लाहौर शांत है और समृद्धि की ओर अग्रसर है, परंतु दैवी गुणों वाले अमृतसर पर कहर छा गया है।

पिछले कुछ वर्षों में क्या हो गया इस नगर को? दूध, लस्सी, पूड़ी, कुलचों और पापड़-बड़ियों वाले नगर में जैसे जहर बेचने वाली दुकानें खुल गई हैं। गायों के कटे सिर इधर उधर दिखाई देने लगे, मंदिरों की मूर्तियां टूट-टूटकर बिखरने लगीं, अमृतसर स्टेशन पर लगा हुआ, नगर के संस्थापक चौथे गुरु, गुरु रामदास का चित्र पैरों तले रौंद दिया गया, वहीं रखी हुई स्वर्ण मंदिर की बहुत खूबसूरत प्रतिकृति के टुकड़े-टुकड़े कर दिए गए। सारे शहर में गोलियों की आवाज मौत की गर्जना बनकर गूंजने लगी और मौत जिस किसी के भी सिर पर अफ्रीकी जंगलों का खून चूसने वाली मक्खियों की तरह मंडराने लगी। पता नहीं किसकी टेढ़ी नजर लगी कि 'सिफती दी घर, कहर की अंधी गली में तब्दील हो गया।

सरला (मेरी पत्नी) कब से कह रही थी : चलिए, एक बार अमृतसर हो आएं। मैं भी सोचता, हा एक बार अमृतसर हो आयें, परंतु हर बार बना हुआ इरादा तोड़ना पड़ता, हर बार यही लगता कि अमृतसर कुछ मील और दूर हो गया है और हमारे इरादे का टिकट उस दूरी के लिए छोटा हो गया है।

5 जून तक गलियों-बाजारों में से अमृतसर पर कहर फूट रहा था, उस दिन वह आसमान से बरपा होने लगा। सारा शहर किसी भयत्रस्त कुत्ते की तरह अपने कोनों में दुबक गया और सुनता रहा गोलियों और गोलों की आवाज, जो लोगों के कानों को चीरती थी और दिलों में पहुंचकर भयंकर विस्फोट में बदल जाती थी। जब यह शोर कुछ थमा तो दबी-घुटी मानवीय दर्द की आवाजें चीख, विलाप और रुदन में फूटने लगी। इन आवाजों में एक आवाज मेरी बहन की थी।

मेरी ममेरी बहन अमृतसर में सुलतान विंड गेट के पास रहती है। उसके पति मेरी बड़ी भाभी के भाई हैं, इसलिए उस पर से मेरा दोहरा रिश्ता है। 8 जून को मुझे पता लगा, गोलियों की अदम्य भूख जिन सैकड़ों लोगों को वहां खा गई, उनमें एक वह भी थे। सरला ने कहा, 'अब तो हमें अमृतसर जाना ही चाहिए।' मैं जानता था वहां मुझे अपनी बहन की सूनी, उदास आंखों का सामना ही नहीं करना पड़ेगा, वह सब कुछ भी झेलना पड़ेगा जो दरबार साहब को देखकर मुझ पर गुजरेगी।

14 जुलाई की शाम को जब हम अमृतसर स्टेशन पर उतरे तो लगा सचमुच किसी अजनबी शहर में आ गए हैं। स्टेशन पर यात्रियों की मद्धिम आवाज पर सेना और सीमा सुरक्षा बल के जवानों के फौजी बूटों की धमक गूंज रही थी। स्टेशन के बाहर जवानों से भरी हुई फौजी गाड़ियों की छाया में पांच सात तिपहिया स्कूटर और इतने ही रिक्शे थोड़ी-सी उतरी हुई सवारियों में से अपनी रोजी तलाश कर रहे थे।

किसी धीमी सवारी में बैठकर आप अमृतसर की सड़कों-गलियों से गुजरें तो लगता है संपूर्ण शहर पर एक ही स्थायी भाव छाया हुआ है—सहम। सहम, भय नहीं है। घूमते, फिरते आपस में बातचीत करते, हंसी-मजाक करते लोग डरे हुए नहीं हैं, सहमे हुए हैं।

हमारा रिक्शा अकाली फूलासिंह के बुर्ज के पास से गुजर रही था। दाहिनी ओर पार्कनुमा चौराहे में सीमा सुरक्षा बल के जवान स्टेनगनों से लैस मुस्तैद और गंभीर खड़े थे, बायीं ओर कुछ खोखेनुमा दुकानें थीं। दो तीन लोग सड़क पर खड़े कुछ बातें करते हुए हंस रहे थे। हमारे देखते-देखते एक दो लोग उनके पास और जा जुटे। उनकी गिनती पांच हुई नहीं कि सुरक्षा बल का नायक हरकत में आ गया। उसका एक हाथ स्टेनगन की बट पर पहुंचा और दूसरा हाथ बंदूक की नली की तरह उन लोगों की ओर उठा—'हट जाओ...हट जाओ..इतने लोग मत जमा हो...हट जाओ...' पांचों लोग बिखरकर अलग-अलग हो गए।

कोट रलियाराम वाली गली में जब हम अपनी बहन के दरवाजे के बाहर खड़े हुए तो मुझे लगा कि अभी मुझे क्रंदन और रुदन के सैलाब से गुजरना होगा, परंतु उससे और उसकी बूढ़ी सास से मिलने पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। सरला बारी-बारी से दोनों के गले लगकर रोयी भी, पर उनकी आंखों के आंसू सूख चुके थे या वे दोनों उन आंसुओं को जब्त कर चुकी थीं। उस घर में उदासी तो थी, लेकिन मातम नहीं था। कुछ अघटित घट जाने, कुछ असह्य सह जाने और आगे अब जो कुछ और होगा उसे सहने, उसमें जीने का भाव और निश्चय मुझे उन दोनों महिलाओं के चेहरे पर

और उनकी बातचीत में दिखाई दिया।

स. चतरसिंह (मेरे बहनोई) नित्य दरबार साहब में मत्था टेकने जाते थे। दरबार साहब में नित्य मत्था टेकने जाना अमृतसर के असंख्य लोगों की दिनचर्या रही है। 3 जून को वह मत्था टेकने गए थे। उसी दिन संपूर्ण पंजाब में कर्फ्यू लग गया। किसी तरह वह घर वापस आ गए। 4 जून की भोर से ही सेना की ओर से दरबार साहब परिसर में उग्रवादी ठिकानों पर गोलाबारी शुरू हो गई। उस दिन अमृतसर में कोई चिड़िया भी बाहर नहीं फड़क रही थी। 5 जून की प्रातः वह अपने तिमंजिले मकान की बरसाती की छत पर चढ़ गए। वहां से हरमंदिर साहब का सुनहरी गुंबद साफ दिखाई देता है। उन्होंने सोचा, यहीं से दर्शन कर लें। साथ में उनका बीस वर्ष का भतीजा और सत्रह वर्ष का बेटा भी था। गोलियों की आवाज़ से सारा शहर गूंज रहा था। नगर की सभी ऊंची इमारतों पर अपने मोर्चे बनाए सुरक्षा सैनिक उस हर किसी को उग्रवादी मानकर अपनी बंदूक का निशाना बना रहे थे जो उनकी नज़र की सीमा में आ जाता था। कहीं से एक गोली आई और स. चतरसिंह की कल्पनाओं को चीरती हुई निकल गई। वह छत पर ही औंधे मुंह गिर गए।

उनके घर के पास ही शहीद बाबा दीप सिंह का गुरुद्वारा है जो आजकल अकाली गतिविधियों का केंद्र है। मैंने अमरजीत (भांजा) से कहा, 'चलो गुरुद्वारे होकर आते हैं।' वह झटपट तैयार हो गया। हम तीनों गुरुद्वारे की ओर चल दिए। शाम के आठ बज चुके थे, अंधेरा पसरता जा रहा था, गली की कुछ दुकानें खुली थीं, छोटे-छोटे दुकानदार अपने वर्तमान में डूबे हुए उदास बैठे थे।

गली से निकलकर हम लोग सड़क पर आ गए। इक्का-दुक्का वाहन आते-जाते दिख रहे थे। सड़क के किनारे सब्जियां, आम और आलू-बुखारे की रेहड़ियां खड़ी थीं। मुझे याद आया, यह वही इलाका है जहां रौनक शाम की झिलमिलाती रोशनी में अमृतसर की सुंदर महिलाओं की गहमागहमी से भरी होती थी। आज सड़क पर घूमते और बाजार की पक्की दुकानों की छतों पर मोर्चा बांधे सैनिक नजर आ रहे थे।

'आपने ये बंकर देखे'। अमरजीत ने गुरुद्वारे के सामने सड़क पर कुछ अंतर से खुदे हुए गड्ढे दिखाए।

मैं उन गड्ढों को देखने लगा।

अमरजीत बोला, 'कल शहीदी दिवस है ना। परसों से इसी गुरुद्वारे से शहीदी जत्थे निकलेंगे, दरबार साहब को फौजी कब्जे से मुक्त कराने के लिए।'

मैंने कहा, 'परंतु ये जत्थे तो अहिंसक आंदोलन करेंगे...अपने को गिरफ्तार करवाएंगे। इनके लिए बंकरों की क्या जरूरत है।'

वह हंस दिया, 'अमृतसर में चार सिख मिलकर कहीं छींक भी दें तो फौज बंकरों में घुसकर मोर्चा संभाल लेती है।'

गुरुद्वारे में अच्छी खासी रौनक थी। जूते जमा करने वाले स्थान पर अंदर चार पांच लाइनें लगी थीं। हर पंक्ति में आगे खड़ा सेवादार आगंतुक की ओर इस नज़र से देखता था, जैसे कह रहा हो, अपने जूते अंदर रखने की सेवा मुझे दीजिए। दूसरा

दिन (15 जुलाई) रविवार था, वहां बड़ी संगत आने की आशा थी, इसलिए शामियाने लगाए जा रहे थे।

उसी रात आठ दस सिख युवकों से मेरी एक साथ भेंट हो गई। उनमें युवा कांग्रेस (इं) का एक नेता भी था। उसने बताया कि उसका नाम भी उग्रवादियों की 'हिट लिस्ट' में था, इसलिए उसे सरकार की ओर से एक 'गनमैन' भी मिला हुआ था।

मैंने उसी से पूछा, 'पंजाब की हालत कैसी है?'

'बहुत बुरी', वह बोला, 'सेना ने उबलते हुए क्रोध और असंतोष को बंदूक की नोक पर ढंक रखा है। गांव-गांव में उग्रवादी कहकर निर्दोष लड़के मारे जा रहे हैं। इसके परिणाम बहुत भयानक होंगे।'

मैंने एक दूसरे युवक से पूछा, 'यदि पंजाब से सेना हट गई तो क्या सिखों-हिंदुओं में लड़ाई शुरू हो जाएगी?'

वह बोला, 'इसकी पूरी संभावना है।'

मैंने कहा, 'पर यह लड़ाई तो सरकार के खिलाफ है। हिंदुओं पर गुस्सा निकालना क्या बहुत गलत बात नहीं होगी।'

मेरी इस बात पर एक अन्य युवक बड़ी तीखी आवाज़ में बोला, 'हिंदू भी तो अपनी दुश्मनी निकाल रहे हैं। मिठाई बांट रहे हैं। सेना के अफसरों के पास जाकर मुखबरी करते हैं।

मैंने कहा, 'यह काम थोड़े से लोग कर रहे होंगे। बहुत से हिदुओं को भी दरबार साहब में की गई सैनिक कार्रवाई और अकाल तख्त के टूटने की उतना ही दुख हुआ है जितना हमें।

उनमें से एक जो सबसे ज्यादा संजीदा लग रहा था, बोला, 'कुछ लोगों के कामों का फल लाखों लोगों को भुगतना पड़ता है। आखिर हम सिख भी तो आज कुछ लोगों के दुष्कर्मों का ही फल भोग रहे हैं।'

आधी रात तक हम बैठे रहे। निष्कर्ष यही था—इस कार्रवाई से हिंदू-सिख आपस में बुरी तरह बंट गए हैं—उनकी हार-जीत भी बंट गई है...उनका इतिहास भी बंटने लगा है। चलते-चलते एक बात मैंने युवा इंका नेता से पूछी थी, 'भई, तुम तो कांग्रेसी हो, तुम्हारा नाम भी 'हिट लिस्ट' में था, उग्रवादियों ने सारे आतंक को जिस सीमा तक पहुंचा दिया था, क्या उसमें सैनिक कार्रवाई के अलावा भी कोई चारा था?'

उसके चेहरे पर अजीब-सी मुस्कराहट उभरी थी। 'आप भी कमाल की बात करते हैं डाक्टर साहब। जो भारतीय सेना बंगला देश में नब्बे हज़ार आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित, पाकिस्तानी सैनिकों से आत्मसमर्पण करवा सकती है, वह तीन सौ उग्रवादियों को दरबार साहब से नहीं निकाल सकती थी? लगता है, आप पर भी हमारे नेताओं के भाषणों का काफी असर है!

दूसरे दिन सुबह 6 बजे दरबार साहब जाने के लिए निकले। हमारे साथ स. चतर सिंह का भतीजा और उसका एक संबंधी भी था। बच्चे, बूढ़े जवान, स्त्री-पुरुष

झुंड के झुंड बनाकर उस ओर जा रहे थे। मुख्यद्वार से काफी पहले ही कंटीली तारों की रोक बनी हुई थी और सीमा सुरक्षा दल के सैनिक तैनात थे; जिस किसी पर उन्हें शक होता था, उसकी वे तलाशी लेते थे।

मोहन ने बताया, बाहर का यह सारा भाग गोलियों से छलनी हो गया था। उग्रवादियों ने भी काफी मोर्चे यहां लगा रखे थे। सरकार ने गोलियों के निशान भरकर मरम्मत कर दी है और उस पर पेंट पोत दिया है।

जूते चप्पल जमा करवाकर और हाथ पैर धोकर हम उस बड़ी दर्शनी ड्योढ़ी में आ गए जहां से सामने झिलमिलाता स्वर्ण मंदिर या हरमंदिर दिखाई देता हैं सीढ़ियां जैसे उदासी का एक तेज झोंका किसी ओर से आया है और हड्डियों को कंपाता हुआ निकल गया है। दायीं ओर अकाल तख्त की ध्वस्त इमारत दिखाई दे रही थी, परंतु हम सब बायीं ओर मुड़ गए। उस भयावहता का साक्षात्कार करने से पहले मन को तैयार करना बहुत जरूरी था।

हम उस प्रवेशद्वार के पास आ गए जो लंगर भवन की ओर से है। वहां कंटीली तार लगी थी और सुरक्षा सैनिक उस ओर किसी को नहीं जाने दे रहे थे। हमने वहीं से खड़े होकर गुरु रामदास सराय, तेजासिंह समुद्री हाल और गुरुनानक निवास को देखा। आग की लपटों से झुलसी हुई वे इमारतें उजाड़ पड़ी थीं, किसी भुतहे खंडहर जैसी।

इसी रास्ते से आरमर्ड कार और टैंक ने परिक्रमा में प्रवेश किया था। संगमरमर की सीढ़ियां और परिक्रमा का वह भाग जहां तक टैंक आगे गया था सब टूट गया था जिसे अब लगभग ठीक किया जा चुका था। मोहन ने हमें वह जगह भी दिखाई जहां से टैंक ने अकाल तख्त और हरमंदिर साहब की ओर प्रवेश द्वार के रूप में बनी दर्शनी ड्योढ़ी पर गोलाबारी की थी।

इससे पहले जब भी मैं यहां आया था, भावना का संस्पर्श कुछ और ही होता था। आज लग रहा था, जैसे युद्ध भूमि से गुजर रहा हूं। पूरी तरह नष्ट हई गुरु रामदास सिख रिफरेंस लायब्रेरी, भरे अनभरे गोलियों के निशान, उग्रवादियों के बनाए हुए मोर्चे और ऊंची छतों पर स्टेनगनों से सज्जित सुरक्षा सैनिकों के बीच हरमंदिर से आता हुआ गुरुवाणी का मद्धिम स्वर। सब कुछ बहुत बेचैन और विचिलत करने वाला था।

कढ़ा प्रसाद लेकर हम टूटी-फूटी दर्शनी ड्योढ़ी के नीचे से निकलते हुए हरमंदिर साहब की ओर चले। पहली प्रतिक्रिया यही हुई कि इस क्षेत्र में बहुत कुछ नष्ट हुआ, परंतु बहुत कुछ ऐसा है जो नष्ट होने से बच गया है। सोने, संगमरमर, दीवारों, छतों पर उकेरी हुई कला पर इस दुर्घटना के निशान तो हैं, परंतु उसका वैभव सुरक्षित है। हम हरमंदिर साहब की पहली और दूसरी मंजिल पर भी गए। संगमरमर की दीवारों और सोने का मुलम्मा चढ़े पतरों पर पड़े गोलियों के बहुत से निशान भर दिए गए थे, परंतु जिनको उस दिन भी गिना जा सकता था, उनकी गिनती भी सौ डेढ़ सौ तो होगी ही।

सबसे ऊपर की छत पर एक ग्रंथी किसी यात्री पर बुरी तरह झल्ला उठा था।

मैंने उसे किसी तरह शांत किया। सरला ने चढ़ाए हुए कड़ाह प्रसाद में से उसे प्रसाद दिया। फिर मैंने उससे वही सवाल शुरू कर दिए जिनके कारण वह खीझा था :

'बाबा जी, जब फौजी कार्रवाई हुई, उस समय आप कहां थे?' मैंने पूछा।

'मैं हरमंदिर साहब में ही था। कुछ और ग्रंथी भी यहीं थे।'

'क्या उग्रवादियों ने यहां भी कोई मोर्चा बना रखा था।'

'यहां कोई मोर्चा बना आपको दिखाई देता है? सरकार अपनी करतूतों पर तो लीपापोती कर रही है, पर आतंकवादियों के मोर्च उसने सुरक्षित रख छोड़े हैं—दुनिया को दिखाने के लिए।' वह अपनी उसी तीखी आवाज़ में बोला, 'यहां कोई मोर्चा नहीं था।'

मैंने पूछा, 'हरमंदिर साहब में भी गोलियां के बहुत से निशान हैं।'

'तीन सौ के आसपास निशान हमने गिने हैं।' वह मेरी बात को बीच में ही काटकर बोला।

'लेकिन सरकार तो कहती है कि हरमंदिर साहब पर एक भी गोली नहीं चलाई गई।'

'सरकार तो यह भी कहती है कि फौज के जवान शब्दकीर्तन करते हुए गले में ढोलकिया और हाथों में मंजीरे लेकर अंदर आए।'

उसके इस व्यंग्य से हम सब की हंसी बरबस फूट पड़ी। मेरे पास एक लंबे-चौड़े सज्जन खड़े थे। उनके दाढ़ी बांधने के ढंग से लगता था कि वे रिटायर्ड फौजी अफसर होंगे। मुस्कराते हुए मुझसे बोले, 'सरकार ने क्या कहा है, यह आपने ठीक से सुना नहीं है। सरकार ने यह नहीं कहा कि हमने हरमंदिर साहब पर कोई 'गोला' नहीं चलाया है।' उनकी बात ने दुबारा हंसी की झनझनाहट बिखरे दी।

अब हम अकाल तख्त के सामने आकर खड़े हो गए। उदास, निर्वाक, गुमसुम कंटीले तारों की घेराबंदी ने हमें मजबूर कर रखा था कि हम सब कुछ वहीं से खड़े होकर देखें। ध्वस्त, खंडहर बने उस भवन में सामने वह कमरा दिखाई दे रहा था, जिसे 'कोठा साहब' कहते हैं। गुरुग्रंथ साहब की बीड़ (प्रति) को हरमंदिर से रात में लाकर यहीं 'सुखासन' कराया जाता था। कमरे के अंदर की नक्काशी दूर से दिखाई दे रही थी, परंतु दरवाजा और आगे तथा दायीं ओर का भाग टूटा हुआ था। सरला किसी तरह सरककर आगे गई और मलबे से एक मुट्ठी भरकर रूमाल में बांध लाई।

हम गलियों से निकलते गुरु रामदास सराय वाले चौक के पास आ निकले। यह भाग अभी सेना के नियंत्रण में था। सिंधी होटल का मालिक, जहां सुरिंदर सिंह सोढ़ी की हत्या हुई थी। चुपचाप बैठा कहीं अतीत में डूबा हुआ था।

यहीं चबूतरे पर एक महिला बैठी थी अट्ठाइस-तीस वर्ष की। उदास, गुमसुम और चुप। सरला उसके पास जाकर बैठ गई।

'तुम कहां रहती हो?' सरला ने पूछा।

उसने लंगर भवन के साथ की गली की ओर इशारा किया।

'तुम्हारा भी कुछ नुकसान हुआ?'

'सब कुछ बर्बाद हो गया?' वह बोली, 'पूरा घर जल गया, कुछ भी नहीं बचा, सिवा इन तीन कपड़ों के।'

'तुम्हारा पति क्या काम करता है?' सरला कुछ और उसके नजदीक सरक गई।

'फलों की रेहड़ी लगाता था। रेहड़ी भी जल गई।'

'अब?'

उसने आकाश की ओर आंखें उठा दीं।

(दिनमान, 29 जुलाई, 4 अगस्त, 1984)

82

कन्हैया लाल नंदन : झाड़े रहौ कलट्टरगंज

कन्हैया लाल नंदन से मेरी पहली भेंट हुए चार दशक से अधिक का समय गुजर गया है। मैं कानपुर से एम.ए. (हिंदी) की डिग्री लेकर बेकारी की मस्ती में झूम रहा था कि एकाएक मुझे ज्ञात हुआ कि बम्बई की एक संस्था गुरु ग्रन्थ साहब को हिन्दी में सटीक प्रकाशित करवाना चाहती है। उसे किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है जिसे पंजाबी भाषा और गुरुमुखी लिपि का पूरा परिचय हो, साथ ही हिन्दी का ज्ञान हो और संत परम्परा से भी सम्बन्ध हो। उस समय मुझे लगा था कि इस कार्य के लिए मैं सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति हूं। मैंने संस्था के अध्यक्ष को पत्र लिखा। फिर मुझे साक्षात्कार के लिए बुलावा आ गया और उस कार्य के लिए मेरी नियुक्ति भी हो गई।

किन्तु जब मैंने कार्यारंभ कर दिया तो मुझे अनुभव हुआ कि जो संस्था यह कार्य करवाना चाहती है उसका तो अभी ठीक से गठन भी नहीं हुआ है। संस्था के सर्वेसर्वा सं. जमीअत सिंह सेठी बड़े उत्साही बुजुर्ग सज्जन थे। मैं उन्हीं का अतिथि था, किन्तु उन्हें अपेक्षित सहयोग नहीं मिल पा रहा था। एक सुबह उन्होंने मुझे बताया कि स्थानीय खालसा कॉलेज में हिंदी के एक पार्ट-टाइम लेक्चरर के लिए आज ही इंटरव्यू होने हैं। यदि मेरी इस काम में रुचि हो तो वे कॉलेज के सेक्रेटरी को फोन करके मुझे प्रत्याशियों में सम्मिलित करा सकते हैं। 'अंधा क्या मांगे—दो आंखें' जैसी मेरी स्थिति थी। मैंने तुरंत अपनी सहमति व्यक्त की और झटपट खालसा कॉलेज जाकर सेक्रेटरी महोदय से मिला। संयोग ऐसा कि मुझे इंटरव्यू के लिए बुला लिया गया और मेरी नियुक्ति भी हो गई। मुझे याद नहीं आता कि जीवन में मेरा कोई कार्य कभी इतनी सरलता से हो गया हो।

मैं अपने आपको कानपुर से उखाड़कर मुंबई ले आया, किन्तु कानपुर प्रेत-छाया बनकर इस बुरी तरह मेरे पीछे लगा रहेगा, ऐसा मैंने नहीं सोचा था। तभी मेरा परिचय रामावतार चेतन से हुआ और फिर उन्हीं के माध्यम से कन्हैया लाल नंदन से। यह बात मुझे बाद में पता लगी कि ये दोनों साले-बहनोई हैं और पास के ही जिले फतेहपुर के होने के कारण इनकी जड़ों के कुछ भाग कानपुर की मिट्टी में भी धंसे हुए हैं।

सभी शहरों की ऊपरी बनावट तो एक जैसी ही दिखती है, किन्तु हर एक की स्थानीयता का एक खास रंग होता है। इसी रंग से उनका व्यवहार, उनकी बोली, उनकी ठसक और उनकी पहचान रंग जाती है। कानपुर में बहुत शातिर किस्म का व्यक्ति 'गुरु' है, बहुत काइयां व्यक्ति 'परम' है, सरपरस्त व्यक्ति 'भैया' है। दूर की हांकना यहां के व्यक्ति के स्वभाव में है और इस पूरी मानसिकता को एक वाक्य व्यक्त करता है—झाड़े रहौ कलट्टरगंज। बम्बई में मुझे चेतन और नंदन मिले तो कानपुर साकार हो गया—झाड़े रहौ कलट्टरगंज।

किन्तु दोनों के स्वभाव में एक अंतर मुझे प्रारम्भ से ही महसूस हुआ। चेतन जी कुछ रिजर्व प्रकृति के थे और किसी से भी बहुत धीरे-धीरे खुलते थे। उनके चेहरे पर 'मैं साधारण व्यक्ति नहीं हूं' की छाया बनी रहती थी और वे चाहते थे कि जो भी उनसे मिले, वह यह बात ज़रूर याद रखे। शायद यह बात इलाहाबाद की अपनी खासियत है। वहां हर व्यक्ति 'विशिष्ट' होता है और अपने विशिष्ट होने के अहसास को वह बहुत संभाल कर रखता है। फतेहपुर, कानपुर और इलाहाबाद के बीच में है। उच्च स्तर की पढ़ाई के लिए लोग इलाहाबाद जाते हैं या कानपुर। इलाहाबाद विश्वविद्यालय की सम्पूर्ण देश में प्रतिष्ठा थी, इसलिए अकादमिक क्षेत्रों में उसकी तूती बोलती थी। वहां हाईकोर्ट होने के कारण वकीलों की गहमागहमी तो रहती ही थी, उन्हीं में से मोतीलाल नेहरू, जवाहर लाल नेहरू और तेज बहादुर सप्रू जैसे व्यक्तियों की चर्चा सारे देश में हो रही थी। साहित्यिक क्षेत्रों में इलाहाबाद का जो दबदबा था, उसे नकारने की जुर्रत कोई लेखक नहीं कर सकता था। छायावाद हो या प्रगतिवाद या नई कविता—बात की शुरुआत इलाहाबाद से ही होती थी और इलाहाबाद की स्वीकृति मिले बिना किसी की साहित्य में गणना हो ही नहीं सकती, यह वहां के साहित्यक जगत की अकाट्य धारणा थी। शायद यही कारण था कि उपेन्द्रनाथ अश्क और मोहन राकेश जैसे घनघोर पंजाबियों को जालन्धर छोड़कर उस शहर से पनाह लेनी पड़ी थी। चेतन जी कवि भी थे और कलाकार भी और कुछ कर गुजरने की उत्कट भावना से ओतप्रोत थे। इसलिए वे फतेहपुर से निकलकर पहले इलाहाबाद पहुंचे और वहां से विशिष्ट बनकर बम्बई पहुंच गए।

कानपुर की प्रकृति इससे बिल्कुल विपरीत थी (आज भी है)। 1857 के सिपाही विद्रोह की कुछ स्मृतियां इस नगर से जुड़ी हैं। पास के ही एक कस्बे 'बिठूर' का पौराणिक महत्व भी है और ऐतिहासिक भी। नाना साहब पेशवा, तांत्या टोपे और लक्ष्मीबाई की यह क्रीड़ास्थली है, किन्तु कानपुर उभरा एक औद्योगिक नगर के रूप में। इसलिए यह शहर कपड़े और इस्पात की मिलों, उनकी चिमनियों से निकले वाले

काले धुएं और मज़दूरों की गन्दी बस्तियों से ही अपनी पहचान बना सका। प्रेमचंद भी कुछ समय कानपुर में रहे और प्रताप नारायण मिश्र तथा प्रताप नारायण श्रीवास्तव जैसी प्रतिभाएं भी कानपुर में रहीं, किन्तु इस नगर में कभी गंभीर साहित्यिक वातावरण नहीं पनपा। इसलिए आधुनिक साहित्य की रचना और चर्चा से यह नगर लगभग अछूता ही रहा। संवेदनात्मक स्तर पर यह नगर गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' की सीमा से कभी आगे नहीं बढ़ा और सदा गीत मानसिकता के आस-पास ही घूमता रहा। आज भी स्थिति लगभग ऐसी ही है।

'झाड़े रहौ कलट्टरगंज' की बात मैंने प्रारंभ में लिखी है। यह उक्ति इस नगर की मौज-मस्ती-फक्कड़ता-अक्खड़ता, स्वभाव को, उन्मुक्तता को उजागर करती है। कानपुर का डी.ए.वी. कॉलेज सदा ही सभी प्रकार की गतिविधियों का केन्द्र रहा जिनका सम्बन्ध छात्र राजनीति और उसमें से निकलती हई देश की सक्रिय राजनीति से था।

नंदन जी की बी.ए. तक की शिक्षा कानुपर में हुई और एम.ए. करने इलाहाबाद चले गए। इस बी.ए. तक की पढ़ाई से ही उनका व्यक्तित्व गढ़ा गया जिस पर कानपुरिया फक्कड़पन के ऊपर इलाहाबादी स्नॉबरी कभी हावी नहीं हुई।

मेरी धारणा है कि फक्कड़ आदमी बहुत भावुक होता है और मानवीय भी, जो प्रायः स्नॉब किस्म के व्यक्ति नहीं होते। नंदन के सभी तेवरों में—व्यक्तिगत सम्बन्ध हों, नौकरी हो या साहित्य हो, ये दोनों बातें बहुत मुखर दिखाई देती हैं। मुझे लगता है कि उनके सम्पूर्ण जीवन का दर्द भी यही है। किसी भी युग में मानवीय बने रहना बहुत दूभर कार्य होगा, आज तो यह असंभव-सा दिखाई देता है। सफलता की सीढ़ियां चढ़ते हुए हर पैड़ी पर किसी की निर्मम हत्या करना सफलता की अनिवार्यता बन गई है। स्नॉब अगर महत्वाकांक्षी हो तो करेला और नीम चढ़ा वाली कहावत चरितार्थ होती है। ऐसा व्यक्ति सफलता पाने के लिए सभी संबंधों, सभी मर्यादाओं और सभी मूल्यों की कदम-कदम पर हत्या करता है, किन्तु नंदन के अदंर बैठा भावुक मानव यह नहीं कर पाया और कनपुरिया ढंग की अपनी भोली सरलता को उन्होंने सदा अपने सीने से लगाए रखा।

नंदन बम्बई में आकर प्राध्यापक बन गए और हम दोनों गहरे मित्र बन गए। फिर कुछ ही समय बाद उन्होंने टाइम्स ऑफ इंडिया ग्रुप ज्वाइन कर लिया और धर्मयुग में धर्मवीर भारती के सहायक हो गए। उस समय अगणित लोगों ने उन्हें बधाइयां दी थीं, उनमें मैं भी एक था। टाइम्स ऑफ इंडिया में काम करना चकाचौंध कर देने वाले ग्लैमर से जुड़ा हुआ था। कॉलेज की प्राध्यापकी में वह चमक-दमक नहीं थी। इस पेशे का संतोष बिल्कुल अलग किस्म का है। टाइम्स ऑफ इंडिया में जाना कैरियर की दौड़ में रेसकोर्स का घोड़ा बनना था। प्राध्यापकी का घोड़ा तो सारी उमर दुलकी चाल ही चलता है।

वर्षों बाद यह बात मैं आज लिख रहा हूं। उस समय मुझे नंदन का निर्णय ठीक नहीं लगा था। उस समय मैंने अपने आप से पूछा था—यदि मुझे ऐसा अवसर मिलता तो मैं क्या करता? मेरा उत्तर नकार में था।

कानपुर में मेरा परिवार व्यापारी परिवार था और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्नता की ओर निरन्तर बढ़ रहा था। मेरे दोनों बड़े भाइयों ने उन्हीं दिनों साइकिल पार्ट्स बनाने एक कारखाना लगाया था और चाहते थे कि मैं उसका काम संभालूं। मेरे मन में लेखक बनने का भूत सवार था। मेरी धारणा थी कि मैं कारखानेदार बनकर लेखक नहीं बन सकता। मैं ऐसी नौकरी करना चाहता था जिसमें मुझे लिखने-पढ़ने का अधिक-से -अधिक समय मिले। ऐसी नौकरी किसी कॉलेज में प्राध्यापक होना ही थी। मैं अपने भाइयों की वात न मानकर प्राध्यापक बन गया। आज मैं सेवा-निवृत्त हो चुका हूं, किन्तु आज भी नौकरी की दृष्टि से गहरी तृप्ति महसूस करता हूं। आठ घंटे की दफ्तरी नौकरी से तो कारखाना चलाना कहीं बेहतर था।

धर्मयुग में जाकर नंदन का मान-सम्मान बहुत बढ़ गया। नंदन जी...कहकर उन्हें घेरने वाले चूजों की भीड़ उनके चारों ओर इकट्ठी हो गई। फिर ऐसी भीड़ उन्हें सारी उमर घेरे रही।

उन दिनों मैंने एक कहानी लिखी थी–कुर्सी। एक बड़ा यारवाश, प्यारा और घर में सभी को बेहद खुशी देने वाला व्यक्ति (चंदन सिंह) एक फर्म में टूरिंग एजेंट के रूप में काम करता है। उसके काम से बहुत खुश होकर उस फर्म का मालिक उसे मैनेजर बना देता है। मैनेजर बनकर उसका वेतन भी बढ़ जाता है और प्रतिष्ठा भी। लेकिन कुछ ही दिनों में उसकी पत्नी, बच्चे, मित्र, सम्बन्धी यह महसूस करने लगते हैं कि चंदन सिंह अपनी फर्म के काम के बोझ में पूरी तरह डूबकर सब कुछ भूल गया है–जैसे अश्वमेध के घोड़े को दफ्तरी मेज के पायों के साथ बांध दिया गया हो। धर्मयुग में जाने के बाद नंदन की भी यही दशा हुई। ठहाके लगाने, पैने मज़ाक करने, किसी की भी खिल्ली उड़ाने, मित्र के लिए कुछ भी कर गुजरने, लय के साथ कविता सुनाने और अश्वमेध के घोड़े के समान संचरित होने वाला व्यक्ति धर्मयुग के सहायक संपादक की बड़ी मेज के साथ बांध दिया गया।

धर्मवीर भारती निजी तौर पर बड़े प्यारे व्यक्ति थे। वे बहुत अच्छे लेखक थे, कुशल सम्पादक थे किन्तु इसके साथ ही बड़े कठोर (कहूं कि क्रूर) किस्म के बॉस थे। नंदन ने उनके नीचे बीस वर्ष तक नौकरी की और बॉस के रूप में उनकी क्रूरता को झेला। अनेक बार अनेक अंतरंग क्षणों में मैं उनका हमराज बना। ऐसी यातना का दसवां भाग भी यदि कभी मुझे मिलता तो मैं मैदान छोड़कर शायद भाग जाता अथवा लड़ पड़ता और ताल ठोंककर सामने खड़ा हो जाता। नंदन ने सब कुछ सहा, झेला किन्तु अपनी मधुर मुस्कराहट में रत्ती भर भी कमी नहीं आने दी और अत्यन्त पीड़ाजनक स्थितियों में कनपुरिया मस्ती नहीं छोड़ी–झाड़े रहौ कलट्टरगंज।

मुझे नंदन के सम्पूर्ण काव्य-सृजन में यह मस्ती, अक्खड़ता, भावुकता और सबसे ऊपर मानवीयता दिखाई देती है। संचेतना में प्रकाशित एक लेख 'मेरी कविता–परत-दर-परत की अन्तःयात्रा' में नंदन ने प्रारम्भ में ही लिखा है–''कविता लिखना मेरे लिए जीवंत और मानवीय बने रहने की प्रक्रिया का ही एक अंग रहा है। आदमी बना रहना मेरे लिए कवि होने से भी बड़ी चीज़ है।'' मानवीयता की बात करना, उसके प्रति

अपना सरोकार व्यक्त करना सब कुछ लोगों को पिछड़ापन लगने लगा है। नंदन ने अपनी इस मान्यता और आस्था में कभी दरार नहीं पड़ने दी—

तलाश या भटकन
रच डालो बेमानी इंद्रजाल शब्दों का
सच का पता तो हमें है
कि अपनी ही खोज हम न कर पाये जीवन भर
क्षण पर क्षण थके-थके रीतते गये
और इस रीतने में रीतने का नियम अधिक मकसद बहुत कम था
सच सच बतलाना...

आज साहित्य की स्थिति बड़ी रोचक है। नकार और स्वीकार की जैसी आपाधापी हिन्दी में है, शायद ही किसी और भाषा में हो। यह स्थिति सभी विधाओं में है। किसी कहानी या कहानीकार को नकारना हो तो कह दीजिए कि इसमें किस्सागोई भरी पड़ी है। उसकी स्वीकृति कराना हो तो फतवा दे दीजिए कि समय-सत्य की जितनी पहचान और उस पर गहरी पकड़ जितनी इस कहानीकार को है उतनी हिन्दी के किसी कहानीकार में देखने को नहीं मिलती। उपन्यास, नाटक आदि किसी भी विधा के लिए आप ऐसी भाषा का इस्तेमाल कर सकते हैं। हिन्दी में ऐसे स्वयंभू आलोचक हैं जो किसी भी रचना को विश्व-स्तर की घोषित कर सकते हैं और दूसरे ही पल उसे कूड़े में फेंकने लायक भी कह सकते हैं।

कविता में स्थिति अधिक विषम है। किसी ने यदि गाकर अपनी कविता सुना दी या उसमें गीत की ध्वनि आ गई तो वह गीतकार हो गया। हिन्दी में कुछ वर्षों से गीतकार होना सबसे बड़ा लांछन है और आधुनिक कवि-समाज से उसकी बहिष्कृति की घोषणा है। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि गीतकारों की छवि को एक समय कवि सम्मेलनों ने बहुत उभारा था और उनकी दुर्गति भी इन्हीं के माध्यम से हुई है। जब से कवि सम्मेलनों में हंसोड़ और चुटकुलेबाज़ कवियों की मांग और संख्या बढ़ी है, गीतात्मक कविता के प्रति उन लोगों ने बहुत नाक-भौं चढ़ाई हैं जो अपने आपको केवल कवि नहीं, कविता के विधाता भी मानते हें।

नंदन भी इस विषमता के शिकार हुए हैं (आज भी हैं)। वे कवि-सम्मेलनों में जाते हैं और बड़े प्रभावी अंदाज़ में कविता पढ़ते हैं। चूंकि उनकी कविता पत्थर का अचार नहीं होती, संवेदना और विचार के धरातल पर सहृदय श्रोता को अंदर तक प्रभावित करती है, इसलिए किसी भी कवि सम्मेलन में बहुत-सी वाहवाही भी लूट लाते हैं। यह वात उन्हें कवि सम्मेलनी कवियों की श्रेणी में धकेल देती है।

इस देश में प्रत्येक लेखक को जीविकापार्जन के लिए कोई धंधा करना पड़ता है। मैं अपने विषय में पहले ही लिख चुका हूं। उस समय मुझे लगता था कि किसी कॉलेज में अध्यापक न बनकर ही मैं सुगमता से उस गन्तव्य की ओर बढ़ सकता हूं,

जो मैं चाहता हूं। पत्रकारिता, प्रसारण की नौकरी और वकालत जैसे कुछ धंधे हैं जिन्हें लेखक सामान्यतया अपनाते हैं या अपनाना चाहते हैं। अपवाद अन्य क्षेत्रों में भी मिल जाएंगे। नंदन ने अध्यापन छोड़कर पत्रकारिता अपनाई और बहुत अच्छे और सुयोग्य संपादक बन गए। धर्मयुग से निकल कर पराग, सारिका, दिनमान, नवभारत टाइम्स और संडे मेल जैसे पत्रों का उन्होंने संपादन किया और बड़ी कुशलता से किया। आज यदि हिन्दी के दो-चार शीर्षस्थ पत्रकारों का नाम लिया जाए तो नंदन का नाम उनमें अवश्य आ जाएगा।

यहीं वह संकट पैदा होता है जो किसी भी व्यक्ति की सृजनात्मकता को खा जाता है। धर्मवीर भारती ने संपादक बनकर बहुत यश कमाया, किन्तु अंधायुग, ठंडा लोहा, सूरज का सातवां घोड़ा और कनुप्रिया जैसी कृतियां उस समय की हैं जब वे धर्मयुग के संपादक नहीं थे। पत्रकारिता ग्लैमर लाती है और कैरियर बनाती है। अध्यापन में यह सब कुछ नहीं है और न ही लेखन में। अज्ञेय और मोहन राकेश जैसे लेखक विरल हैं जिन्होंने लेखक बनकर वह ग्लैमर अर्जित किया जिससे कोई भी ईर्ष्या कर सकता है।

लेखक को यह संकट बहुत मारता है। किसी भी विश्वविद्यालय में विभागाध्यक्ष हो जाना, रेडियो-टीवी में स्टेशन डायरेक्टर हो जाना, किसी प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिका का संपादक हो जाना ऐसे आईने हैं जिनमें लेखक अपने विशिष्ट सृजनशील लेखक होने का अवसर देखने लगता है और भयंकर गलतफहमी का शिकार हो जाता है।

नंदन ने यह संकट झेला है और इसके हाथों मार भी खाई है। मैं सोचता हूं कि उनकी सजग पत्रकारिता ने उनके अंदर के सृजनशील रचनाकार को काफी हानि पहुंचाई है। मैं मानता हूं कि मैं स्वयं भी इस व्याधि का शिकार बना हूं। मेरे मन में कुछ उपन्यास वर्षों से पल रहे हैं, किन्तु अपने बहुविध साहित्येतर खिंचावों का शिकार बनकर मैं उन उपन्यासों को जन्म नहीं दे सका। एक अनकही व्याकुलता से मैं सदैव घिरा रहता हूं। गुरु नानक के जीवन का एक प्रसंग है। बचपन से ही वे बहुत व्याकुल दीखते थे। उनके माता-पिता की समझ में नहीं आता था कि इस बालक की परेशानी क्या है। उन्होंने एक वैद्य को बुलाकर उन्हें दिखाया। वैद्य ने नानक की नब्ज़ देखी और कहा कि इन्हें तो कोई रोग नहीं है। गुरु नानक ने अपनी एक रचना में इस बात का उल्लेख किया है—मेरे माता-पिता ने वैद्य बुलाया कि इसकी व्याधि का पता लगाओ। वैद्य मेरी बांह (नब्ज़) टटोल रहा है। भोला वैद्य यह नहीं जानता कि शारीरिक दृष्टि से मुझे कोई कष्ट नहीं है, एक कांटा है जो सदा मेरे कलेजे में चुभता रहा है—

वैद बुलाया वैदगी पकड़ि ढिंढोले बांह।
भोला वैद न जानही करक कलेजे मांह।।

किसी लेखक के कलेजे की 'करक' तो ऐसी ही होती है—निरंतर चुभने वाली, निरंतर पीड़ा देने वाली, निरंतर व्याकुल बनाए रखने वाली।

किन्तु मुझे यह देखकर बहुत अच्छा लगता है कि नंदन के कलेजे में उस कांटे की चुभन लगातार बनी हुई है। मैं यह भी जानना चाहता हूं कि जिस दिन किसी लेखक के अंदर की यह चुभन समाप्त हो जाती है, लेखक के रूप में, संसार की सारी बादशाहत पा लेने के बावजूद, वह मर जाता है। नंदन की एक कविता की कुछ पंक्तियां हैं–

अगर कबूल हो आदमी को
पत्थर बनकर
सदियों तक जीने का दर्द सहना
बेहिस
संवेदनहीन
निष्पंद
बड़े से बड़े हादसे पर
समरस बने रहना
सिर्फ देखना और कुछ न कहना
ओह, कितनी बड़ी सजा है
ऐसा ईश्वर बनकर रहना।

नहीं, मुझे ईश्वरत्व की असंवेद्यता का इतना बड़ा दर्द कदापि नहीं सहना।

ये पंक्तियां कवि-मन की बेचैनी को सार्थक शब्द तो देती ही हैं, उनके बीच से अपने निर्बाध निर्णय की घोषणा भी करती हैं।

अपने सद्यः प्रकाशित कविता-संग्रह 'समय की दहलीज़' के प्रारम्भ में नन्दन ने 'कविता : मेरे कुछ नोट्स' के अन्तर्गत अपनी कुछ काव्य-मान्यताएं अंकित की हैं। उनमें एक है–''कविता में अगर कवि ने अपनी आत्मा को ज़िंदा रखा है तो कविता हजारों की आत्माओं को ज़िंदा रख लेती है। आत्मा में कोहराम मचा सकने वाला संघर्ष कविता की संभावना है।'' कविता के संदर्भ में नंदन की यह मान्यता उनकी अनेक कविताओं से उभरती हुई दिखाई देती है और उनके निरंतर जीवंत होने का साक्ष्य भरती रहती है। इसी संग्रह में नंदन की एक कविता है–

जाने क्यों
जब किसी धारदार आदमी की आंख में
किसी ओछे स्वार्थ के लिए
पानी को मरते हुए पाता हूं,
तो मैं ही खुद
अपने अंदर
मरने लग जाता हूं।
नसों में दौड़ने लग जाता है

पिघलता हुआ सीसा
मुंह में कसैलापन उतर आता है,
सोचता हूं
क्या रीढ़ का
आदमी के स्वार्थ से गहरा नाता है?

मैं अपने सम्बन्ध में सोचता हूं—जीवन में बहुत कुछ कर लिया—लिखा, पढ़ाया, हंगामे किए, बहुत-से प्रेम-प्रसंगों में भी डूबा-उतराया, देश की भ्रष्ट राजनीति की नीतियों से बहुत मुखर होकर जूझा, गालियां भी खाईं और ढेर सारा मान-सम्मान भी प्राप्त किया। अब लौट चलें...। जीवन के इन शेष वर्षों में वह लिखूं जो बहुत समय से संचित है।

सांसारिक दृष्टि से नंदन ने भी बहुत सार्थक और गतिशील जीवन जिया। अब मुझे लगता है—नंदन को सलाह दूं—तुम भी लौट चलो...फिर एकचित्त होकर ढेर सारी कविताएं लिखो, अपने विशाल अनुभव-भंडार को किसी बड़ी औपन्यासिक रचना में उड़ेल दो और अपनी सभी खट्टी-मीठी यादों को लेकर आत्मकथा लिख डालो।

मैं भी यही सोच रहा हूं।

बस...झाड़े रहौ कलट्टरगंज...
हटिया खुली बजाजा बंद...

(संचेतना)

83
क्या स्थिति है प्रकाशन व्यवसाय की

द फेडेरेशन आफ़, इंडियन पब्लिशर्स ने एक बड़ी उपयोगी पुस्तक प्रकाशित की है- भारत में पुस्तक प्रकाशन के 60 वर्ष(1947-2007)। बड़े आकार की लगभग 400 पृष्ठों की इस अंग्रेजी पुस्तक का संपादन प्रकाशन उद्योग के स्तम्भ-पुरुष श्री दीनानाथ मल्होत्रा ने किया है।

कुछ मास पूर्व ही फ्रेंकफर्ट (जर्मनी) में प्रति वर्ष की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय पुस्तक मेला लगा था। इस मेले में संसार के अनेक भागों के प्रकाशक भाग लेते हैं। इस वर्ष भारत की इस मेले की विशिष्ट भूमिका थी। उस अवसर पर इस पुस्तक का प्रकाशन अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण था।

प्रकाशन उद्योग के सम्बन्ध में हमारे देश में आम जानकारी बहुत कम है। हमारी अधिकांश जनसंख्या गाँवों और छोटे-छोटे कस्बों में रहती है जहाँ पुस्तकों के पहुचानें के साधन बहुत सीमित हैं। डाक से पुस्तकें भेजना बहुत खर्चीला होता है। कई बार तो जितना किसी पुस्तक का मूल्य होता है उससे अधिक उसका खर्च आ जाता है। पुस्तकों की नियमित दुकानें बहुत कम हैं। पाठ्य पुस्तकों को छोड़कर पुस्तक-विक्रय का धंधा बड़ी मंद गति से चलने वाला धंधा है, इस कारण इसे बहुत कम लोग अपनाते हैं।

इन सीमाओं के होते हुए भी पुस्तक प्रकाशन व्यवसाय ने गत 60 वर्षों में बहुत प्रगति की है हमारे देश में स्वतंत्रता की प्राप्ति तक साक्षरता की दर 30 प्र.श. से अधिक नहीं थी। आज यह 65 प्र.श. पहुँच गई है। केरल में यह दर 90 प्र.श. से अधिक है। इस प्रकार इस समय भारत में 65 करोड़ से अधिक साक्षर लोग हैं। इतनी बड़ी संख्या में जहाँ साक्षर हों उस देश में पुस्तक प्रकाशन की अपार संभावनाएं हैं।

भारत बहुभाषी देश है। अंग्रेजी सहित 22 भाषाएँ संविधान द्वारा स्वीकृत हैं और पुस्तक प्रकाशन का कार्य 24 भाषाओं में होता है। 16000 से अधिक सक्रिय प्रकाशकों

द्वारा सन् 2005 में प्रकाशित पुस्तकों की संख्या 82,577 थी। इनमें 25 प्र.श. पुस्तकें हिन्दी में और 20 प्र.श. पुस्तकें अंग्रेजी में प्रकाशित हुईं।

इस देश में साक्षरता वृद्धि का बड़ा लाभ भारतीय भाषाओं को प्राप्त हुआ। एक और 80 प्र.श. पुस्तकें भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होती हैं दूसरी ओर दैनिक समाचार पत्रों के प्रकाशन के क्षेत्र में कब तक अंग्रेजी अखबारों का दबदबा छाया हुआ था, आज भारतीय भाषाओं, विशेष रूप से हिन्दी के दैनिक पत्रों ने अंग्रेजी की प्रभुता तोड़ दी है।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि भारत में बंगाली, मराठी, गुजराती, तमिल, तैलुगू, कन्नड़ गुजराती आदि ऐसी कई भाषाओं वाले राज्य हैं जिनकी जनसंख्या 5 करोड़ से 10 करोड़ के बीच हैं। इनमें प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाली पुस्तकों की संख्या 5 हज़ार से 8 हज़ार के बीच होती है। इनकी तुलना में संसार के अनेक ऐसे देश जिनकी जनसंख्या इन राज्यों जैसी है, किन्तु वहाँ प्रकाशित पुस्तकों की संख्या 50 हजार से 70 के बीच होती है। हिन्दी इस देश में 45 प्र.श. भाग की राजभाषा है और लगभग 60 प्र.श. लोग हिन्दी बोलते हैं। किन्तु प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाली पुस्तकों की संख्या 22 हज़ार से कम होती है।

अंग्रेजी में पुस्तकें प्रकाशित करने वाले प्रकाशक यह संतोष अवश्य ले सकते हैं कि इस भाषा में सबसे अधिक पुस्तकें प्रकाशिंत करने वाला तीसरे नम्बर का देश भारत हैं। जिस देश में अंग्रेजी जानने और बोलने वालों की संख्या 2 प्र.श. से भी कम है वहाँ 20 प्र. श. पुस्तकें अंग्रेजी में प्रकाशित होती हैं। इस दृष्टि से गैर अंग्रेजी भाषी देशों में भारत सर्वप्रथम है।

इसमें संदेह नहीं कि गत 60 वर्षों में हिन्दी सहित सभी भारतीय भाषाओं ने बहुत उन्नति की है आज अनेक राज्यों में वहाँ की भाषाए अनेक विषयों में उच्च शिक्षा का माध्यम हैं। निचली अदालतों में सारी वहस और न्यायधीशों के फैसले इन भाषाओं में होने लगे हैं। तमिलनाडु की करूणा निधि सरकार ने तो अब यह निर्णय ले लिया है कि राज्य के उच्च न्यायलयें का सारा काम काज तमिल भाषा में किया जाएगा। उत्तर प्रदेश के उच्च न्यायलय के अनेक न्यायधीश अव हिन्दी में अपनी कारवाई करने लगे हैं। किन्तु इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि अंग्रेजी का वर्चस्व पूरी तरह कायम ही नहीं है, वरन वैश्वीकरण के निरंतर बढ़ते हुए प्रभाव के कारण वह निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

प्रकाशन की दृष्टि से भारत की गणना आज संसार के पहले सात देशों में की जाती है। इन सात में से चीन को छोड़कर जिसकी जनसंख्या भारत से अधिक है और जहाँ प्रतिवर्ष एक लाख से अधिक पुस्तकें प्रकाशित होती है, शेष 5 देशों की जनसंख्या भारत से बहुत कम है।

इन सभी तथ्यों के संदर्भ में इस पुस्तक में व्यापक चर्चा की गई है। जैसे पहले कहा जा चुका है कि सभी भारतीय भाषाओं में नई से नई और विविध पुस्तकों के प्रकाशन की असीम संभावनाए व्याप्त हैं, जिनका पूरी तरह उपयोग किया जाना चाहिए। पुस्तकों के व्यापक प्रचार में देश के विभिन्न भागों में आयोजित किए जाने वाले पुस्तक मेले बड़े उपयोगी काम करते हैं। प्रति दूसरे वर्ष दिल्ली में लगने वाला अंतर्राष्ट्रीय पुस्तक मेले में लाखों लोग आते हैं और देशी-विदेशी प्रकाशकों की पुस्तकें खरीदते हैं। दिल्ली,

कलकत्ता, पटना, अहमदाबाद, मुंबई, कानपुर, हैदराबाद, चेन्नई, जैसे नगरों में प्रतिवर्ष लगने वाले पुस्तक मेले भी बहुत सफल होते हैं।

इस दृष्टि से नेशनल बुकट्रस्ट, इंडिया की ओर से जो प्रयास किया जा रहा है। वह बहुत महत्वपूर्ण है। ट्रस्ट की ओर देश के विभिन्न भागों में ऐसे स्थानों पर पुस्तक मेले लगाए जाते हैं जो अपेक्षाकृत छोटे हैं इससे दूर दराज क्षेत्रों में भी पुस्तकें पहुँच जाती हैं। ट्रस्ट द्वारा आयोजित पुस्तक परिकमा में चल पुस्तक वाहन पुस्तकें लेकर स्थान-स्थान पर जाता है और पुस्तक प्रेमियों की तृप्ति करता है।

लगभग 50 वर्ष पहले प्रकाशन क्षेत्र में एक क्रांति आई। जब हिन्द पाकेट बुक्स का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। मुझे स्मरण है कि उस समय इनका मूल्य एक रूपया प्रति पुस्तक था इन पुस्तकों का अभूतपूर्व स्वागत हुआ था। पहला संस्करण 6 हजार प्रतियों का था जो एक महीने में समाप्त हो गया। इन पुस्तकों की इतनी माँग हुई कि उन्हें अनेक बार पुनर्मुद्रित करना पड़ा और संख्या 30 हजार प्रतियों तक पहुँच गई।

बाद में तो पाकेट बुक्स प्रकाशित करने वाले प्रकाशनों की भीड़ आ गई। अनेक भारतीय भाषाओं में ऐसी सस्ती पुस्तकें छपने लगीं। फिर पता नहीं क्या हुआ कि यह भीड़ छँटने लगी। अनेक प्रकाशकों ने ऐसी पुस्तकें छापनी बंद कर दी। एक पुस्तक का 5 लाख प्रतियों का संस्करण छापने वाली संस्था हिन्द पाकेट बुक्स को भी अपना दायरा बहुत सीमित करना पड़ा। अन्य भारतीय भाषाओं का हाल भी ऐसा ही हुआ।

मुझे मुख्य रूप से इसके दो कारण दिखाई देते हैं। लगभग सभी प्रकाशनों ने घरेलू लायब्रेरी योजना प्रारम्भ की थी। दूर गाँव में बैठे लोग भी इस योजना के सदस्य बन जाते थे उन्हें पुस्तकों के पैकेट उनके द्वारा भेजे जाते थे, जिसका खर्च प्रकाशक वहन करते थे। धीरे-धीरे उनकी दरें इतनी बढ़ गई कि प्रकाशकों के लिए यह खर्च उठाना बहुत कठिन लगने लगा। उस समय यह बहुत स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि यदि सरकार इन दरों को, पुस्तकों के संदर्भ में, नियंत्रित नहीं करेगी तो यह बहुत उपयोगी प्रयास अपना दम तोड़ देगा। वैसा ही हुआ।

दूसरा बड़ा क़ारण यह है कि नित्य बढ़ते हुए टी.वी चैनलों ने बहुत बड़े पाठक वर्ग, विशेष रूप से महिलाओं को अपनी ओर खींच लिया। विभिन्न विरोधाभास है कि इन वर्षो में दैनिक समाचार पत्रों की बिक्री बहुत बढ़ी है किन्तु पत्र पत्रिकाओं का पाठक घटा है और अपने समय की अनेक प्रतिष्ठित पत्रिकाएं बंद हो गई है।

'भारत में पुस्तक प्रकाशन के 60 वर्ष' ग्रन्थ प्रकाशन के क्षेत्र में इस देश की उपलब्धियों और संभावनाओं का व्यापक परिदृश्य हमारे सामने रखता है। यह ग्रन्थ उन समस्याओं की ओर भी इंगित करता है जो प्रकाशन उद्योग के मार्ग में आती है, यह भी कि यदि सरकार और इस क्षेत्र से सक्रिय रूप से जुड़े व्यक्ति संयुक्त रूप से प्रयास करें तो इनका समाधान ढूढ़ाँ जा सकता है।

प्रकाशन व्यवसाय मात्र एक व्यवसाय नहीं है। असंख्य लोगों के मानसिक और बौद्धिक विकास का यह प्रबल साधन है। इसलिए इसका दायित्व अन्य किसी भी व्यापार और उद्योग से कहीं अधिक है और यह व्यापक जागरूकता की माँग करता है।

(दैनिक जागरण, 30-11-2006)

84
ईर्ष्या होती थी बहुआयामी कमलेश्वर से

कमलेश्वर के देहांत का समाचार मिला तो मैं एकदम अवसन्न हो गया, प्रतिक्रियाशून्य। कमलेशवर एक ऐसा व्यक्ति था जिससे किसी को भी ईर्ष्या हो सकती थी। ऐसा कहतें है कि चार हाथों से लिखता था। उसने बहुत अच्छी कहानियां और उपन्यास तो लिखे ही, समाचार पत्रों के लिए नियमित स्तम्भ लिखे, फिल्मों के लिए 'स्क्रिप्ट' लिखीं, अनेक पत्रिकाओं का संपादन किया, अनेक पुस्तकों के लिए भूमिकाएं लिखीं, आत्मवृत लिखे और ऐसा बहुत कुछ लिखा जिसे लिखना किसी भी लेखक के लिए बहुत आवश्यक नहीं होता।

मुंबई में सारिका का संपादन करते समय कमलेश्वर की बहुविधि ख्याति और मान्यता चरम पर थी। टेलिविजन पर उसका साप्ताहिक कार्यक्रम 'परिक्रमा' बहुत लोकप्रिय था। वह सारिका का संपादक था, समान्तर कहानी आन्दोलन का मुखिय था, नयी कहानी की त्रिमूर्ती में सबसे अधिक मुखर और जीवन्त था, अपने अनेक प्रेम-प्रसंगों के लिए बहुचर्चित था और साहित्यिक चर्चाओं में अपनी भागीदारी के कारण विवादित भी रहता था।

अनेक वर्षों तक कमलेश्वर जिस स्थिति में था, उसमें उसके चारों ओर बहुत से चेलों का जमा हो जाना बहुत स्वाभाविक था उसके पीछे चलने वाले चूजों की कतार काफी लम्बी रहती थी। उसकी कृपा पाने के आंकाक्षी नए-नए लेखक सदा उसे घेरे रहते थे। यह अलग बात है कि जब वह कतार टूटी तो मोहभंग के शिकार ऐसे चूजे अपनी गर्दनें ऊँची करके उसके द्वारा शोषित किए जाने के अनेक प्रसंगों का बहुत रंजिश-भरा बखान करते थकते नहीं थे।

कमलेश्वर से मेरे कभी समरसता भरे सम्बंध नहीं रहे। मैंने और मेरे कुछ मित्रों ने जब सचेतन कहानी की बात शुरू की थी, नयी कहानी की दुदुंभि का शोर बहुत तेज़ था उस समय नयी कहानी को चुनौती देता कोई नया कथा आन्दोलन सामने आए, यह बात नयी कहानी के प्रस्तोताओं के लिए उनके स्थापित साम्राज्य को चुनौती देने और बग़ावत करने जैसा था। कमलेशवर की नज़र में सचेतन कहानी वाले बाग़ी लोग थे। इसलिए जब भी अवसर मिलता था, वह सचेतन कहानी और मुझ पर छोटी-मोटी चोट करने से चूकता नहीं था।

मैं मानता हूँ कि सभी प्रकार के साहित्यिक समयबद्ध होते हैं। वे अपने समय के साहित्यिक गतिरोध और जड़ता को तोड़ने के लिए प्रारम्भ होते हैं और कुछ समय पश्चात उनकी प्रासंगिकता समाप्त हो जाती है। साहित्यिक आन्दोलन धार्मिक आन्दोलनों की भाँति नहीं होते जो कुछ समय पश्चात पंथ का रुप धारण कर लेते हैं और उस पंथ, मत या सम्प्रदाय के अनुयायियों द्वारा स्थायी मान्यता के रुप में स्वीकृत हो जाते हैं। नयी कहानी और सचेतन कहानी की चर्चा सातवें और आठवें दशक की चर्चा थी। स्थान स्थान पर कथा समारोह और कहानीकार सम्मेलन हो रहे थे। अनेक पत्र पत्रिकाओं में उनकी भरपूर चर्चा हो रही थी। अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने अपने विशेषांक भी निकाले थे। फिर यह चर्चा मद्धिम पड़ने लगी। कहानी की दिशा दलित विमर्श और नारी विमर्श की ओर मुड़ने लगी। कहानी-लेखन के क्षेत्र में नई प्रतिभाओं ने प्रवेश किया। बड़ी संख्या में आई महिला कथाकारों ने हिन्दी कहानी को लगभग आन्दोलन-मुक्त कर दिया।

किन्तु कमलेशवर ने अपने आपको आन्दोलन-मुक्त नहीं किया। दिल्ली से मुंबई पहुंचकर उसने समान्तर आन्दोलन की छतरी के नीचे बहुत से नए उभरते कहानीकारों को जमा कर लिया। वहां एक नया मठ स्थापित हो गया।

मठ बनाने, मठाधीश बनने, धर्ममत की भाँति उसे स्थायित्व देने, उसके चारों ओर अनुगामियों की भीड़ जमा करने का कमलेश्वर को बहुत शौक था। इसमें वह सफल भी बहुत हुआ। यह भी सच है कि जिस भी काम को उसने अपने हाथ में लिया, उसमें उसे सफलता मिली।

कुछ वर्ष पूर्व 'संडे मेल' (कन्हैयालाल नदंन द्वारा सपांदित) में कमलेश्वर का कथा-आन्दोलनों के सम्बंध में एक लेख प्रकाशित हुआ था। उस लेख में सचेतन कहानी और मेरी खासी आलोचना थी और नयी कहानी के निरन्तर नये होते चले जाने की वकालत भी।

उत्तर में मैंने " संडे मेल" में ही एक लेख लिखा। शीषर्क था—"कमलेश्वर प्लीज, ग्रो ए लिटिल' उसमें मैंने लिखा था- इस समय सभी आन्दोलन पीछे छुट गए हैं। साहित्य, विशेष रुप से हिन्दी कहानी बहुत आगे आ गई है। लगता है कि कमलेशवर अभी भी 20 वर्ष पूर्व का जीवन जी रहे हैं। जैसे बंदरिया अपने मरे हुए बच्चे को अपने साथ गले में लटकाए घूमती है, इस आशा में कि वह जिंदा है, कमलेश्वर भी

नयी कहानी के मरे हुए बच्चे को गले में लटकाए हुए हैं।

हमारी ऐसी नोक - झोंक चलती रहती थी। इस सबके बावजूद हमारे बीच किसी प्रकार का दुर्भाव कभी उत्पन्न नहीं हुआ। आपातकाल के दौरान कमलेश्वर ने पटना में समान्तर लेखकों का एक सम्मेलन आयोजित किया था। उस सम्मेलन में आपातकाल की घोषणा का भरपूर समर्थन किया गया था और श्रीमती इंदिरा गांधी से यह आग्रह किया गया था कि देश में बढ़ती हुई फासिस्ट शक्तियों को पूरी तरह से दबाया जाना चाहिए।

कमलेश्वर को इसका प्रतिदान प्राप्त हुआ और उसे दूरदर्शन का अतिरिक्त महानिदेशक बना दिया गया।

उन्हीं दिनों मेरा उससे एक छोटा सा टकराव हो गया। 6 जनवरी की गणतंत्र दिवस रोड की कमेण्ट्री की जानी थी। पिछले कुछ वर्षों से इंदु जैन और मुझे इस कार्य के लिए आमंत्रित किया जाता था। इस वर्ष भी केन्द्र निदेशक का फोन आया और उसके दफ्तर में इस सदंर्भ में रखी गई एक बैठक में मुझे बुलाया गया। जब मैं वहाँ पहुँचा तो देखा कि कमलेश्वर भी वहा उपस्थित है। निदेशक ने मुझे बताया कि कमलेश्वर जी भी इस बार कमेण्ट्री करने वालों में शामिल रहेंगें। मुझे कुछ आश्चर्य हुआ-दूरदर्शन के अतिरिक्त महानिदेशक के पद पर बैठे हुए एक अधिकारी को इस प्रकार के छोटे कार्यक्रम में भाग लेने की क्या आवश्यकता है। फिर बैठक की सारी कार्रवाई कमलेश्वर ने अपने हाथों में ले ली और बोले-कमेण्ट्री मैं प्रांरभ करूँगा। मैं दूरदर्शन के दर्शकों के सम्मुख आपको इण्ट्रोड्यूस करूँगा फिर बारी-बारी से हम लोग दर्शकों को परेड का आंखों देखा हाल सुनाएंगे।

बैठक में अंग्रेजी में परेड का विवरण देने वाले कमेण्टेटर भी बैठे हुए थे। किसी को इस बात से क्या आपत्ति हो सकती थी। किन्तु मुझे आपति थी। मैंने कहा-कमलेश्वर जी, मुझे दिल्ली दूरदर्शन से यह कार्य करते हुए कई वर्ष हो गए हैं। मेरा ख्याल है कि कमेण्ट्री प्रारम्भ करने का कार्य मुझे करना चाहिए। आप दिल्ली में नए है। यहाँ के दर्शकों को मैं आपका परिचय दूँ यह बहतर होगा।

कमलेश्वर को यह स्वीकार नहीं था। वह बार बार कह रहे थे कि कमेण्ट्री मैं प्रारम्भ करूगां। अंत में मैंने कह दिया-यह स्थिति मुझे स्वीकार नहीं है और मैं बैठक छोड़कर कमरे से बाहर निकल गया।

ऐसी घटनाओं के बावजूद हमारे सम्वन्धों में कभी मनोमालिन्य नहीं आया। हम जब भी मिले, बहुत हँसते हुए मिले। कमलेश्वर के चेहरे पर अपने विशिष्ट होने का भाव तो रहता था, पर व्यवहार में शालीनता की कमी मैंने नहीं देखी और बड़े अनौपचारिक ढंग से हमारी बातचीत होती रहती थी।

मुझे याद है कि किसी लेखक मित्र के पुत्र के विवाह का स्वागत-समारोह था। वहां पीने पिलाने की भी पूरी व्यवस्था थी। कमलेश्वर ने कई पेग अपने अंदर डाल लिए थे और धुआंधार सिगरेट भी पी रहा था। मैंने कहा-कमलेश्वर, इतनी पीना और

ऊपर से चेन स्मोकिंग..... मैं जानता हूं कि तुम्हारा स्वास्थ्य भी बहुत ठीक नहीं हैं. ... इस तरह जिओगे तो जल्दी मर जाओगे।

वह पूरी मस्ती में था। बोला-महीप , चिंता न करो .... मैं तुम्हें अपने कंधो पर लेकर जाऊंगा।

काश ऐसा हुआ होता। हम वर्षो तक 'लव एण्ड हेट' सम्बन्ध में जीते रहे। उसकी आवाज में अजीब किस्म की कशिश थी। मैंने भी दूरदर्शन पर वर्षों तक 'नई आवाज' और 'पत्रिका' कार्यक्रम पेश किया है। वर्षो तक गणतंत्र दिवस की परेड और लालकिले की प्राचीर से स्वतंत्रता दिवस पर आयोजित कार्यक्रम का आंखों देखा हाल सुनाया है किन्तु कमलेश्वर के 'परिक्रमा' कार्यक्रम को जो लोकप्रियता प्राप्त हुई वह किसी के लिए भी स्पृहणीय थी। कमलेशवर का अचानक चले जाना उसके मित्रों, प्रशन्सकों, पाठकों के लिए बहुत आघातपूर्ण था। मेरे जैसे 'अमित्रों' के लिए भी वह गहरी रिक्ति उत्पन्न करने वाला है। व्यक्ति को स्पर्धा करने के लिए, आलोचना-प्रात्यालोचना करने के लिए, झगड़ने के लिए और कभी कभी निंदा करने के लिए किसी समर्थ व्यक्ति की आवश्यकता होती है। मेरे लिए वह समर्थ व्यक्ति कमलेश्वर था।

एक बात और याद आ रही है। जिस वर्ष कमलेश्वर को उसके बहुचर्चित उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' के लिए साहित्य अकादमी का पुरस्कार प्राप्त हुआ था, उस वर्ष अंतिम चयन समिति के तीन सदस्यों में एक मैं भी था। हमारे सम्मुख जाने माने लेखकों की अनेक पुस्तकें थीं, किन्तु मेरा चुनाव 'कितने पाकिस्तान' के लिए था और सारा जोर इस बात पर था कि इस वर्ष पुरस्कार कमलेश्वर को ही मिलना चाहिए। चयन समिति के अन्य सदस्यों को, जो मेरे-उसके सम्बंधों से परिचित थे, मेरे रूख से आश्चर्य हुआ था। निर्णय के पश्चात संस्तुति-पत्र मैंने अपने हाथों से लिखा था। जीवन में किसी का विरोध सहने और उसका विरोध करने का भी एक मज़ा है। कमलेश्वर के जाने के पश्चात मैं इस मज़े से वंचित हो गया हूँ।

(संचेतना, दिसम्बर, 2006, प्रकाशित मार्च, 2007)

परिशिष्ट

प्रकाशित कृतियाँ

कहानी संग्रह

1. सुबह के फूल 1959
2. उजाले के उल्लू 1964
3. घिराव 1968
4. कुछ और कितना 1973
5. मेरी प्रिय कहानियां 1973
6. भीड़ से घिरे चेहरे 1977
7. कितने संबंध 1979
8. इक्यावन कहानियां 1980
9. महीप सिंह की चर्चित कहानियां 1984
10. धूप की उगंलियों के निशान 1993
11. सहमे हुए 1998
12. महीप सिंह की समग्र कहानियां (तीन खण्ड) 2000
13. दिल्ली कहां है 2002
14. ऐसा ही है 2002

उपन्यास

1. यह भी नहीं - राजपाल एंड संस दिल्ली, 1976 (प्रथम संस्करण)
   द्वितीय संस्करण हिन्दी पाकेट बुक्स, दिल्ली 1979
   तृतीय संस्करण अभिव्यंजना प्रकाशन, दिल्ली 1983
   चतुर्थ संस्करण नया साहित्य केन्द्र, दिल्ली, 2005

(पंजाबी, गुजराती, मलयालम एवं अंग्रेजी में भी प्रकाशित)

2. अभी शेष है, 2004 (पंजाबी में भी प्रकाशित)

व्यंग्य संग्रह

एक नये भगवान का जन्म 2001

एक गुण्डे का समय बोध 2007

निबंध संग्रह

कुछ सोचा : कुछ समझा 2002

शोध कार्य

- गुरु गोबिन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता
- आदिग्रंथ में संगृहीत संत कवि
- सिख विचारधारा : गुरु नानक से गुरु ग्रंथ साहिब तक

जीवनी

- गुरु गोबिन्द सिंह : जीवन और आदर्श
- गुरु तेग बहादुर : जीवन और आदर्श
- गुरु गोबिन्द सिंह (साहित्य अकादमी के लिए)
- स्वामी विवेकानंद

बाल साहित्य

- न इस तरफ न उस तरफ
- गुरु नानक - जीवन प्रसंग
- एक थी संदूकची

सम्पादन

1. सचेतन कहानी : रचना और विचार
2. पंजाबी की प्रतिनिधि कहानियां
3. गुरु नानक और उनका काव्य
4. विचार कविता की भूमिका
5. लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता
6. हिन्दी उपन्यास : समकालीन परिदृश्य
7. साहित्य और दलित चेतना
8. जापान : साहित्य की झलक
9. आधुनिक उर्दू साहित्य
10. विष्णु प्रभाकर : व्यक्तित्व और साहित्य

महीप सिंह के साहित्य पर प्रकाशित पुस्तकें

1. महीप सिंह का कथा-संसार, डॉ. कमलेश सचदेव, अभिव्यंजना, नई दिल्ली
2. कथाकार महीप सिंह, सं. डॉ. गुरचरण सिंह, अभिव्यंजना, नई दिल्ली
3. करक कलेजे माहि, सं. डॉ. कमलेश सचदेव, भारती पुस्तक भंडार, दिल्ली

पुरस्कार एवं सम्मान

1. भाषा विभाग (पंजाव) द्वारा वर्ष का श्रेष्ठ कथा साहित्य के रूप में 'उजाले के उल्लू' और 'घिराव' कहानी संग्रह पुरस्कृत (1965 एवं 1969)
2. 'उजाले के उल्लू' कहानी संग्रह केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय द्वारा पुरस्कृत (1966)
3. हिन्दी साहित्य संस्थान, उत्तर प्रदेश द्वारा पुरस्कृत (1971 एवं 1989)
4. भाषा विभाग (पंजाब) द्वारा शिरोमणि साहित्यकार के रूप में सम्मानित (1986)
5. हिन्दी और पंजावी अकादमियों (दिल्ली) द्वारा श्रेष्ठ कहानी संग्रह ('51 कहानियां' हिन्दी तथा 'सहमे हुए' पंजाबी) के लिए पुरस्कृत (1985 एवं 1989)
6. संत निधान सिंह केसर मेमोरियल सम्मान, कथा साहित्य में योगदान के लिए (1990)
7. साहित्यिक उपलिब्धयों के लिए साखा पुरस्कार (1990)
8. हिन्दी साहित्य में विशेष योगदान के लिए अदीब इंटरनेशनल साहिर सम्मान (लुधियाना) (1990)
9. पंजावी साहित्य में विशिष्ट योगदान के लिए डॉ. साधू सिंह हमदर्द सम्मान (1992)
10. समन्वय सारस्वत सम्मान (1993)
11. हिन्दी प्रचारिणी समिति, कानपुर द्वारा साहित्य भारती (अलंकरण) से सम्मानित (1994)
12. छठे विश्व हिन्दी सम्मेलन (लंदन) में हिन्दी भाषा और साहित्य में विशिष्ट योगदान के लिए सम्मान (1999)
13. इंडो कैनेडियन टाइम्स ट्रस्ट, सरी (कनाडा) द्वारा पंजावी पत्रकारिता में विश्ष्टि योगदान के लिए विशेष सम्मान (1999)
14. राष्ट्रीय हिन्दी परिषद, मेरठ द्वारा हिन्दी रत्न उपाधि से सम्मानित (1999)
15. इंस्टीट्यूट ऑफ पंजावी लैंगवेज एण्ड कल्चर (लाहौर) द्वारा 'एवार्ड ऑफ डिस्टिंक्शन' सम्मान (2000)
16. लाहौर की इसी संस्था द्वारा कहानी सम्मान (2000)
17. केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा द्वारा हिन्दी के विकास तथा प्रसार में उल्लेखनीय सेवाओं के लिए सम्मानित (2000)
18. पत्रकारिता भूषण सम्मान उ. प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ (2001)
19. कुँवर चंद्र प्रकाश सिंह साहित्य शिरोमणि सम्मान (2002)
20. इटावा हिन्दी सेवा निधि द्वारा प्रदत्त जनवाणी सम्मान (2002)
21. हिन्दी अकादमी (दिल्ली) द्वारा 'साहित्यकार सम्मान' (2003)
22. पंजाबी अकादमी (दिल्ली) द्वारा 'परम साहित्य सम्मान' (2004)
23. विशिष्ट हिन्दी सेवा सम्मान, राष्ट्रीय हिन्दी परिषद, मेरठ (2006)
24. राष्ट्रीय भाषा गौरव सम्मान, संसदीय हिन्दी परिषद, नई दिल्ली (2006)
25. साहित्यश्री सम्मान, दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन (2006)
26. डॉ. अम्बेडकर राष्ट्रीय सम्मान (2007)
27. पं. जुगल किशोर शुक्ल, उत्कर्ष अकादमी, सम्मान कानपुर (2007)

महीप सिंह के साहित्य पर हुए/हो रहे शोध कार्य

1. महीप सिंह की कहानियों का कथ्य और शिल्प, प्रो. रतन सिंह राजपूत, हिन्दी विभाग, एस. पी. डी. एम. कालेज, शिरपुर जिला-धुलिया, महाराष्ट्र
2. महीप सिंह की कहानी कला, प्रो. हरजी भाई ना. वाघेला, हिन्दी विभाग, सौराष्ट्र यूनिवर्सिटी, राजकोट
3. महीप सिंह का कथा साहित्य : मानव मूल्यों का संदर्भ, सुश्री मनिन्द्र भाटिया, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर
4. सचेतन कहानी आन्दोलन के संदर्भ में महीप सिंह की कहानियों का मूल्यांकन, सुश्री सीमा खान, महर्षि दयानन्द सरस्वती कॉलेज, अजमेर विश्वविद्यालय, अजमेर
5. महीप सिंह का कथा संसार, एम. मनोज कुमार, श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति
6. महीप सिंह और उनका कहानी साहित्य, प्रो. श्रीमती अनिता लक्ष्मण वेताल, हिन्दी विभाग, कला वाणिज्य व विज्ञान महाविद्यालय, राहुरी, जिला-अहमदनगर, पुणे विश्वविद्यालय
7. कहानीकार महीप सिंह के कृतित्व का अनुशीलन, सुश्री सुषमा मोरेश्वर डहाटे, नागपुर विश्वविद्यालय
8. महीप सिंह के कथा साहित्य में चित्रित मध्यम वर्ग, रविन्द्र कुमार, जनता वैदिक कालेज, बड़ौत, बागपत, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ
9. कहानीकार महीप सिंह : संवेदना और शिल्प, अजित चुनिलाल चव्हाण, पुणे विश्वविद्यालय, नंदूरबार -424512
10. साठोत्तरी हिन्दी कहानी और कथाकार महीप सिंह, श्रीमती शगुफ्ता खान, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़
11. महीप सिंह की कहानियों में युग बोध, कु. सायरा बानो नवलगुंदु, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़ (कर्नाटक)
12. कहानीकार महीप सिंह : मानवीय संबंधों की सचेतन दृष्टि, अशोक यादव, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक
13. महीप सिंह तथा इनकी कहानियों का विकास, सन्तोष कुमार मिश्र, कानपुर विश्वविद्यालय, कानपुर
14. महीप सिंह की कहानियों में मानव
15. महीप सिंह के कथा साहित्य का
आगरा विश्वविद्यालय, आगरा
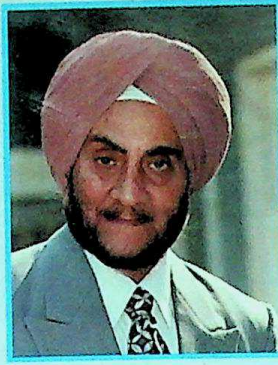
महीप सिंह

जन्म : 15 अगस्त, 1930 को उत्तर प्रदेश के जिला उन्नाव में

शिक्षा : एम. ए. (हिन्दी), डी. ए. वी. कालेज कानपुर (1954), पी-एच. डी.आगरा, विश्वविद्यालय, आगरा (1963)

अध्यापन : खालसा कालेज, मुम्बई (1955-1963), खालसा कालेज, दिल्ली (1963-1993), एक वर्ष तक कानसाई विश्वविद्यालय, हीराकाता-जापान में विजिटिंग प्रोफेसर (1974-1975)

सम्प्रति : स्वतन्त्र लेखन

कहानी संग्रह : सुबह के फूल, उजाले के उल्लू, घिराव, कुछ और कितना, मेरी प्रिय कहानियां, भीड़ से घिरे चेहरे, कितने संबंध, इक्यावन कहानियां, महीप सिंह की चर्चित कहानियां, धूप की उंगलियों के निशान, सहमे हुए, महीप सिंह की समग्र कहानियां, दिल्ली कहां है, ऐसा ही है।

उपन्यास : यह भी नहीं (पंजाबी, गुजराती, मलयालम, अंग्रेजी में भी प्रकाशित), अभी शेष है

व्यंग्य : एक नये भगवान का जन्म, एक गुण्डे का समय बोध

निबंध : कुछ सोचा : कुछ समझा

शोध : गुरु गोबिन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता, आदिग्रंथ में संगृहीत संत कवि, सिख विचारधारा : गुरु नानक से गुरु ग्रंथ साहिब तक

जीवनी : गुरु गोबिन्द सिंह : जीवन और आदर्श, गुरु तेगबहादुर : जीवन और आदर्श, स्वामी विवेकानन्द

बाल साहित्य : न इस तरफ न उस तरफ, गुरु नानक जीवन प्रसंग, एक थी संदूकची।

सम्पादन : सचेतन कहानी : रचना और विचार, पंजाबी की प्रतिनिधि कहानियां, गुरु नानक और उनका काव्य, विचार कविता की भूमिका, लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता, हिन्दी उपन्यास : समकालीन परिदृश्य, साहित्य और दलित चेतना, जापानः साहित्य की झलक, आधुनिक उर्दू साहित्य, विष्णु प्रभाकर - व्यक्तित्व और साहित्य
चार दशकों से 'संचेतना' का सम्पादन।

ISBN 81-8129-132-8

नमन प्रकाशन

4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली - 110002
फोन : 23254306, 23247003
e-mail-radhapubnitin@yahoo .com